भारतीय चित्रकला

वाचस्पति गैरोला

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थमाला–९

भारतीय चित्रकला

लेखक
वाचस्पति गैरोला

संपादक
श्रीकृष्ण दास

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९६३

प्रकाशक :
मित्र प्रकाशन प्रा० लिमिटेड,
इलाहाबाद

पृष्ठ संख्या : ३६३
चित्र : रंगीन—२७
चित्र : सादे—४३

मूल्य—पचास रुपये

मुद्रक :
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड,
इलाहाबाद

ग्रंथ के संबंध में

'भारतीय चित्रकला' में प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक की संपूर्ण चित्रकला परंपरा पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ में चित्रकला परंपरा के विकास-क्रम और उसके विभिन्न स्थलों, मोड़ों, शाखा-प्रशाखाओं की रंगीन झाँकी तो है ही, इसमें चित्रकला के शास्त्रीय पक्ष पर भी सम्यक् प्रकाश डाला गया है। यह स्वीकार करना होगा कि विद्वान् लेखक ने यथा अवसर चित्रकला के दार्शनिक एवं सौन्दर्य शास्त्र सम्मत विवेचन के साथ ही चित्रकला का क्रमिक इतिहास भी प्रस्तुत कर के अपनी अद्भुत विदग्धता, कार्य-क्षमता और रचना कौशल का परिचय दिया है। चित्रकला की विभिन्न धारा-उपधाराओं का अनुशीलन कर के ग्रंथकार ने 'भारतीय चित्रकला' को सामान्य पाठक के लिये भी बोधगम्य और सहज बना दिया है। इस दृष्टि से ग्रंथ की उपयोगिता और महत्ता और भी अधिक बढ़ गयी है।

कला क्या है? शिल्प क्या है? दोनों में क्या भेद है? चित्रकला क्या है? प्राचीन काल में 'कला' अथवा 'शिल्प' शब्द से किन विद्याओं अथवा उद्योगों, किन प्रयासों और क्रियाओं का बोध होता था? विभिन्न कलाओं के बीच चित्रकला का क्या स्थान है? वर्ण एवं तूलिका का यह चमत्कार परंपरा की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण अथवा उपयोगी, कितना सूक्ष्म और तात्विक माना जाता रहा है? संगीत, नृत्य और अभिनय; वास्तु, मूर्ति और चित्रकला में कौन अधिक प्रभावोत्पादक, अधिक स्थायी मूल्यवाला, अधिक सहज, अधिक सूक्ष्म और अधिक मंगलमय माना गया है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न विद्वानों द्वारा उठाये जाते रहे हैं, अब भी उठाये जाते हैं, शायद आगे भी उठाये जायेंगे। कुछ लोग संगीत को सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि एव सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। कुछ लोग नृत्य को और कुछ लोग अभिनय को प्रधानता देते हैं। इसी प्रकार मूर्ति, वास्तु एवं चित्रकला के सम्बन्ध में भी लोगों के अलग-अलग मत हैं। इन विभिन्न मतों का विवेचन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ हमारा सीधा संबंध चित्रकला से है और उसी सीमा एवं मर्यादा में रह कर हम यहाँ कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मूर्तिकला, वास्तुकला अथवा चित्रकला इन तीनों के लिये स्थूल आधारों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। नृत्य एवं अभिनय की भी यही बात है। केवल संगीत ही ऐसी विधा अथवा कला है जिसके लिये मात्र स्वर की आवश्यकता होती है। इसलिये संगीत की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है। संगीत ही वह भाग्यशालिनी कला-विधा है जिसे किसी स्थूल, पार्थिव साधन अथवा माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये शापेनहावर ने संगीत को सब से अधिक महत्त्व दिया है। शापेनहावर के अनुसार संगीत ही वह कला है जो बिना किसी पार्थिव, स्थूल माध्यम के, कलाकार की भावना को, उसकी अभिव्यक्ति को दूसरे व्यक्ति तक, जन समाज तक पहुँचा सकती है। यह सुविधा किसी भी अन्य कला को प्राप्त नहीं है। वास्तुकला विशारद स्वनिर्मित भवनों प्रासादों के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। मूर्तिकला विशारद उत्कृष्टतम मूर्तियों का निर्माण करता है। अपनी कला में नैपुण्य प्राप्त कर वह ऐसी रचना कर लेता है कि वह स्वयं स्रष्टा होने का दावा करने लगता है। परन्तु उसे भी अपने को अभिव्यक्त करने के लिये उस मूर्ति का आधार लेना पड़ता है। चित्रकार भी स्थूल वस्तुओं, वर्णों एवं वर्णतूलिका के सहारे ऐसे चित्र बनाता है जिन्हें हम देख सकते हैं, जिन्हें कुछ समय के लिये अपने पास रख भी सकते हैं, अपने उपयोग में ला सकते हैं। चित्रकार अपने

को अपने चित्रों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है। परन्तु संगीतज्ञ कवल अपने स्वरों के माध्यम से ही अपने को अभिव्यक्त करता है। यही विशिष्टता उसे अन्य कलाओं से अलग और उत्कृष्ट सिद्ध कर देती है।

परन्तु संगीत की उत्कृष्टता अन्य कलाओं की निकृष्टता तो सिद्ध नहीं कर देती। अन्य कलाओं के समर्थन और पक्ष में अनेक अकाट्य और पुष्ट तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। रूप, गुण आदि की दृष्टि से विभिन्न कलाओं में चाहे जितना भेद और अन्तर हो, प्रत्येक कला का उद्देश्य एक ही है—आनन्द की सृष्टि ! आनन्द की इसी सष्टि के लिये कलाकार अपनी कला के सहारे भाव रूपों अथवा स्थूल रूपों की निर्मित करता है।

ये रूप अनिवार्यतः सुन्दर होते हैं क्योंकि बिना सुन्दर हुए वे आनन्द की सृष्टि नहीं कर सकते। हम स्वर, रेखा, आकार, रूप को इसलिये चाहते हैं क्योंकि वह हमारी इन्द्रियों को भला लगता है, हमारे सौंदर्यबोध को संतुष्ट करता है। यह संभव होता है संतुलन और सामंजस्य के फलस्वरूप। संतुलन और सामंजस्य प्रत्येक कला की अनिवार्य आधारशिला है। कोई मूर्ति हो, प्रासाद हो, चित्र हो अथवा कोई राग-रागिनी हो—सामंजस्य और संतुलन के लिये एक आग्रह हमारे मनमें रहता हीं है। इस आग्रह की तुष्टि पर ही कला की सफलता निर्भर करती है।

कला और सौन्दर्य का दामन-चोली का साथ है। परन्तु क्या कला और सौन्दर्य समानार्थी अथवा पर्यायवाची हैं या हो सकते हैं ? हमारे प्राचीन विचारकों में अक्सर इस बात पर मतभेद रहा है। योरप में भी क्रोचे के पहिले विचारक कला और सौन्दर्य में भेद नहीं कर पाते थे। परन्तु क्रोचे ने इस सूक्ष्म भेद को उजागर करके सामने रखा और उसके अनुशीलन एवं आलोचनात्मक वक्तव्यों के फलस्वरूप लोगों की धारणा बदली और कला तथा सौंदर्य का सूक्ष्म अन्तर लोगों के सामने स्पष्ट होने लगा।

यह समझ, सिद्धान्त अथवा धारणा कि 'जो कुछ सुन्दर है वही कला है' अथवा 'समस्त कला-कृति अनिवार्यतः सुन्दर होती है' सर्वथा निर्दोष नहीं है। परन्तु सहसा यह निष्कर्ष भी निकाल लेना कि कलाकृति में सौन्दर्य गौण वस्तु है, निरापद बात नहीं है। वस्तुतः कला और सौन्दर्य की सत्ता अलग-अलग है। दोनों का चरम उद्देश्य आनन्द का सृजन ही है। दोनों में एक प्रकार की अन्तरनिर्भरता है. दोनों में अन्योन्याश्रित संबन्ध है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत से चित्रकला में पाँच तत्त्वों का समन्वय होता है। ये पाँच तत्त्व हैं—रेखाओं की लयकारी, रूपों का संपुंजीकरण, रिक्तता, प्रकाश और छाया तथा वर्ण। रूप के लिये रेखा अनिवार्य है। यदि रेखा सप्राण है तो उसमें लयकारी और गत्यात्मकता होगी ही। संपुंजीकरण, रिक्तता, प्रकाश और छाया का घनिष्ट अन्तर-सम्बन्ध है। रिक्तता घनत्व प्राप्त करने पर ठोस बन जाती है। प्रकाश और छाया द्वारा रिक्तता से संबन्धित घनत्व का द्योतन होता है। रिक्तता स्वयं घनत्व की अनुपस्थिति मात्र है। ये सारे तत्त्व प्रत्येक चित्र के अंग हैं, ऐसे अंग जो चित्रपट के ऊपर उभर कर स्पष्ट हो उठते हैं।

इस संबंध में भारतीय दृष्टिकोण और पाश्चात्य दृष्टिकोण में भेद है। भारतीय दृष्टिकोण से—

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्र षडङ्गकम्॥

अर्थात् रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग—आलेख्य के ये

छः भेद हैं। रूप का अर्थ है आकृति; प्रमाण का अर्थ है मान, सीमा, कद; भाव का अर्थ है आकृति की भंगिमा, लावण्य का अर्थ है रूप-निर्मिति; सादृश्य का अर्थ है मूल वस्तु से समानता; और वर्णिका-भंग का अर्थ है नाना वर्णों की सम्मिलित, समन्वित भंगिमा। यह वर्णिका-भंग ही आलेख्य (चित्रकला) से संबन्धित साधना का चरम विन्दु, अन्तिम परिणति है—ऐसी परिणति जो तूलिका सँभालने बिना संभव नहीं है।

चित्रकला के ये पाँच अथवा छः अंग हैं और इन्हीं अंगों के सफल संयोजन से किसी चित्र की रचना अथवा निर्मिति होती है। चित्रकार स्वानुभूत सत्य को, सुन्दरतम ढंग से उपर्युक्त तत्त्वों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है और उसकी अभिव्यक्ति रुचिकर, आकर्षक, मोहक और उत्प्रेरक ही नहीं होती, वरन् मंगलकारिणी भी हो तो, उसमें शिवत्व भी होता है। यह कला सत्यमेव परमानन्ददायिनी होती है। यथा—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला परा।
लीयते परमानन्दे यायात्मा सा परा कला॥

चित्रकार अपने 'स्व' को भूलकर अपनी रचना प्रस्तुत करता है। अन्ततोगत्वा उसकी रचना ही, उसकी कृति ही उसका 'स्व' बन जाती है। वह अपनी इसी स्वान्तःसुखाय रचना में तल्लीन रह कर अपने कौशल को सार्थकता प्रदान करता है। चित्र-रचना कलाकार के मानस-छवि अथवा वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है, ऐसी अभिव्यक्ति जिसके लिये उसे वर्ण और तूलिका का सहारा लेना पड़ता है। व्यक्ति जितना ही अधिक 'सामाजिक' होगा, उसकी वैयक्तिक अनुभूति उतनी ही अधिक समाजपरक और सामान्य होगी।

यदि हम आदिम समाज के चित्रों को देखें तो हमें एक विशिष्ट बात यह मिलेगी कि उनमें शिकारी, शिकार होने वाले पशु और शिकार में प्रयुक्त होने वाले हथियारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कृषि-सभ्यता के आरम्भ होते-होते हमें ऐसे चित्र मिलने लगते हैं जिनमें वृक्षों, लताओं, पुष्पों और पत्तों का अंकन बहुतायत से होता है। इस युग के चित्रों में पहिले जैसी एकांगिता नहीं मिलती, वरन् उनमें प्राकृतिक तत्त्वों की बहुलता और संपन्नता दिखायी देती है। ज्यों-ज्यों सभ्यता आगे बढ़ती गयी, त्यों-त्यों इस कला का रूप निखरता गया और आदिम शिकारी मानव अब स्नेह-सिक्त, करुणार्द्र, संवेदनशील तथा 'सामाजिक' चित्रित किया जाने लगा। अब मानव आकृतियों के साथ-साथ अन्य प्रकार के पालतू पशुओं के चित्रण की परंपरा भी आरम्भ हो गयी।

इस प्रकार के चित्रों का वर्णन हमारे प्राचीन लक्षण-ग्रंथों, शास्त्रों और साहित्य में उपलब्ध है। रामायण, महाभारत, जैन तथा बौद्ध साहित्य और इतिहास-पुराण-काव्यादि संस्कृत के अन्य ग्रंथों में ऐसे चित्रों का विशद वर्णन मिलता है। सच यह है कि हमारे यहाँ कोई ऐसा प्राचीन साहित्य नहीं जिसमें, किसी न किसी रूप में, किसी न किसी अंश में, इस प्रकार के चित्रों का वर्णन न मिलता हो।

प्रसंगतः यहाँ कालिदास कृत दो श्लोकों को उद्धृत करना समीचीन होगा। 'उत्तरमेघ' में यक्ष कहता है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

"जब मैं पत्थर की शिला पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई मूर्ति का चित्र खींच कर यह दिखाना चाहता हूँ कि तुम्हें मनाने के लिये मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ा हूँ, उस समय आँसू ऐसे उमड़ पड़ते हैं कि भर आँख तुम्हें देखने भी नहीं देते। निर्दय भाग्य को चित्र में भी हम दोनों का मिलना नहीं सुहाता।"

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठवें अंक में दुष्यन्त की उक्ति है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभिमतो निषण्णहरिणागौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

"अभी मुझे मालिनी नदी का चित्रण करना है जिसकी रेती पर हंस का जोड़ा बैठा हो। उसके दोनों ओर हिमालय की वह तलहटी चित्रित करनी है जहाँ हिरण बैठे हों। मैं एक ऐसा वृक्ष भी अंकित करना चाहता हूँ जिस पर वल्कल के वस्त्र टँगे हों और जिसके नीचे एक हरिणी बैठी अपनी बाईं आँख काले हिरण की सींग से रगड़ कर खुझला रही हो।"

भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में चित्रकला के संबन्ध में व्यापक चर्चा की है। यह इस बात का प्रमाण है कि जिस युग में उपर्युक्त कवियों ने अपनी कृतियाँ तैयार कीं उस युग में स्त्री और पुरुष समान रूप से चित्रकला में रुचि लेने लगे थे और वे स्वयं चित्रांकन भी करते थे। यह इस बात का भी प्रमाण है कि कलाकारों—चित्रकारों में भी समाजपरक चेतना पूर्णतया जाग्रत हो चुकी थी। उनके चित्रण में किसी प्रकार का एकांगीपन न था, वरन् वे प्रकृति के तत्वों तथा पशुओं आदि का भी सहारा लेकर मानवीय संवेगों का चित्रण अत्यन्त सफलतापूर्वक करने लगे थे।

विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस', श्रीहर्ष कृत 'नागानन्द' तथा 'रत्नावली', राजशेखर कृत 'विद्धशालभंजिका', बिल्हण कृत 'कर्णसुन्दरी', जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' जैसे नाटकों में चित्रालेखन की चर्चा बार-बार आती है। यह तत्कालीन समाज में चित्रकला के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि का ही प्रमाण है।

गुप्त काल से लेकर आधुनिक युग तक 'भारतीय चित्रकला' की परंपरा प्राय अक्षुण्ण और अटूट रूप चलती चली आयी है। बीच में सरस्वती की भाँति यह धारा कुछ समय के लिये लुप्त, सी हो गयी थी, मगर पाश्चात्य देशों के संपर्क में आने पर यह परंपरा फिर चल निकली। मुगल, राजपूत और पहाड़ी शैली के बाद जब आधुनिक युग का आरम्भ हुआ तो तत्कालीन राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप चित्रकला की ओर भी लोगों का ध्यान गया और अन्य कलाओं के साथ चित्रकला की भी श्रीवृद्धि हुई।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, योरप में चित्रकला के संबन्ध में विचारों का पर्याप्त मंथन हुआ। अनेक पुरानी मान्यताएँ बदलीं और नयी मान्यताओं को स्वीकृति मिली। प्रसिद्ध चित्रकार पिकासो ने कहा है, "कला का न अतीत होता है, न भविष्य। जो कला अपने को वर्तमान में जमा लेने की क्षमता नहीं रखती वह कभी भी अपनी पूर्णता को प्राप्त न कर सकेगी। यूनानी और मिस्री कला केवल अतीत की वस्तुएँ नहीं हैं। वे कल से अधिक आज भी जीवित हैं। परिवर्तन विकास नहीं है। यदि कलाकार अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को बदल देता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने अपने मस्तिष्क को, विचार और मान्यता को बदल दिया।" आगे वह फिर कहता है, "क्यूबिज़्म

चित्रकला की अन्य प्रविधियों से किसी भी अर्थ में भिन्न नहीं है। सभी कलाओं में वही तत्त्व और वही सिद्धान्त लागू रहते हैं।"

'क्यूबिज़्म' के सम्बन्ध में, इस प्रकार कहा जाता है, "प्रकृति और कला दो नितान्त भिन्न प्रकार की प्रक्रियायें हैं। क्यूबिज़्म न तो किसी नवीन कला का बीज है, न उसका अंकुर। वह केवल मौलिक चित्र-रूपों के विकास क्रम का एक सोपान मात्र है। इन रूपों को स्वतंत्र सत्ता प्राप्त करके जीवित रहने का अधिकार है। ऐसे कलाकार हैं जो सूर्य को एक पीले बिन्दु में अवतरित कर देते हैं। मगर साथ ही ऐसे भी कलाकार हैं जो अपने कौशल और प्रतिभा के सहारे एक पीले बिन्दु को सूर्य में परिणत कर देते हैं।" इस संदर्भ में पिकासो का कथन है, "कला में मंतव्य के लिये कोई स्थान नहीं है। चित्रकार का काम केवल चित्रांकन करना है। यदि उसकी कृति को कला का रूप लेना है तो वह स्वयं ले लेगी।"

इस युग म योरप में तथा योरप के सम्पर्क में आने पर और उसके फलस्वरूप भारतीय चित्रकारों में भी जो नवोन्मेष हुआ, जो नयी मान्यताएँ प्रचलित हुई और चित्रकला की जो नयी प्रविधियाँ बनीं, नये वाद और सिद्धान्त स्वीकृत हुए उनका अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन कर देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। 'क्यूबिज़्म', 'प्रतीकवाद', 'अभिव्यंजनावाद' आदि विभिन्न नामों से जो विचारधाराएँ इस युग में चलीं उन्होंने चित्रकला संबन्धी प्रायः सभी प्राचीन मान्यताओं को आमूल-चूल बदल दिया। 'प्रतीकवाद' का ही उदाहरण ले लें। 'प्रतीकवाद' क्या है? अमूर्त्त विचारों अथवा धारणाओं से साम्यमूलक उदाहरण अथवा प्रतीक ढूंढना ही प्रतीकवाद है। काव्य में इस प्रकार के अगणित प्रतीक मिलते हैं। जब हम कविता में लय की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि हम अपनी अभिव्यक्ति को तर्कसंगत नहीं बनाते, वरन् उसे भावनात्मक स्थिति को ज्यों का त्यों प्रकट करने का साधन बना लेते हैं। इसी प्रकार चित्रकला में जब हम इसका प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसी कला से होता है जो विभिन्न वर्णों एवं रंगों के समन्वय के सहारे हमारी भावनाओं पर वैसा ही प्रभाव छोड़ती है जैसा प्रभाव गीति काव्य में शब्दों की ध्वनियाँ हमारे ऊपर छोड़ती हैं। गीति-काव्यों के शब्द स्वतः चाहे निरर्थक प्रतीत होते हों, मगर उनकी ध्वनियों से जो भावनात्मक अभिव्यक्ति होती है वही उनकी सरसता का कारण है। इसी प्रकार चित्रकला में विभिन्न वर्णों की अपनी जगह चाहे जो भी स्थिति हो, मगर मिलजुल कर ये हमारी भावनाओं पर वैसा ही प्रभाव छोड़ते हैं जैसा गीति-काव्यों के शब्द। हो सकता है कि ये वर्ण प्रकृति के किसी दृश्यविशेष से संबन्धित न हों, मगर वे किसी अवचेतन कल्पना को, किसी मानसिक चित्र को, मूर्त्त बना देते हैं और वे कलाकार की दृष्टि की उर्वरता और उसके सृजनात्मक आनन्द का प्रतीक अवश्य बन जाते हैं।

आधुनिक चित्रकला में 'अभिव्यक्ति' अथवा 'अभिव्यंजना' शब्द को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। इस का सीधा अर्थ है—अन्तरतम की भावनाओं का वाह्य प्रकाशन! मगर इस प्रकाशन में सब-कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम उस वाह्य संसार को छोड़कर, जिसके सामने हम अपनी कला को प्रस्तुत करते हैं, अपनी आन्तरिक भावनाओं का ही आदर करते हैं, अथवा हम समाज की रीति-नीति और परंपराओं का विशेष आदर करते हैं और उन्हीं के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति को भी ढाल लेते हैं।

पहिली बात को ध्यान में रख कर और उसे ही महत्ता प्रदान करके कलाकारों का एक पूरा वर्ग सामने आया और जिस विचारधारा को उसने अपनाया उसे 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से अभिहित किया

गया। 'आदर्शवाद' अथवा 'यथार्थवाद' की ही भाँति 'अभिव्यंजनावाद' शब्द का भी अत्यधिक प्रचलन हुआ और इसने यह महत्ता प्राप्त की। 'प्रभाववाद' और 'अति-यथार्थवाद' आदि शब्द उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

'अभिव्यंजनावाद' से तात्पर्य उस मौलिक वृत्ति से है जिसके द्वारा हम अपने चारों ओर के संसार को अनुभव करते हैं, देखते-जानते-समझते हैं और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

सच यह है कि मूलतः तीन ही वाद हैं—'यथार्थवाद', 'आदर्शवाद' और 'अभिव्यंजनावाद'। 'यथार्थवाद' की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। संसार जैसा है उसे वैसा ही चित्रित करना यथार्थवाद है। देखने में यह काम अत्यन्त सरल मालूम पड़ता है। मगर वास्तव में यह अत्यन्त कठिन काम है। इसी से 'प्रभाववाद' का जन्म हुआ है। 'प्रभाववादी' आन्दोलन ने सहज, परंपरागत दृष्टि के वैज्ञानिक आधार को चुनौती दी और प्रकृति का चित्रण करने में उसने अधिकाधिक मात्रा में तथ्यवादी, वस्तुवा ी होने का प्रयास किया।

'आदर्शवाद' का आधार भी यथार्थ ही है। मगर उसके अन्तर्गत कलाकार यथातथ्य चित्रण न करके चुनाव करता है। वह प्रकृति को जिस रूप में देखना चाहता है उसे उसी रूप में चित्रित करता है। उसकी कला में जो विशिष्टता होती है उसे मात्र प्रकृति की अनुकृति नहीं कहा जा सकता। उसकी कला किसी आदर्श सौन्दर्य से मण्डित होकर अपने पूर्ण रूप में विकसित होती है, उद्भासित हो उठती है। ऐसा कलाकार जो कुछ रचता है वह उससे सुन्दर होता है जिसके आधार पर वह अपनी रचना करता है। कलाकार की दृष्टि में प्राकृतिक स्वरूप का एक अमूर्त्त भाव सा बन जाता है जो मूल आकृति अथवा रूप से अधिक पूर्ण और सुन्दर होता है।

स्पष्ट है कि 'आदर्शवाद' में एक प्रकार की बौद्धिकता सन्निविष्ट होती है और यही बौद्धिकता इस कलाकार को, अन्य यांत्रिक रूप से काम करने वाले कलाकारों से भिन्न और शायद ऊँचा बना देती है। 'यथार्थवाद' का आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। हमारी इन्द्रियों को जो कुछ जैसा लगता है, उसे उसी रूप में चित्रित करना 'यथार्थवाद' है। परन्तु मनुष्य में इन इन्द्रियों के अतिरिक्त भी कुछ होता है। वह है उसका संवेग, उसकी भावना। 'अभिव्यंजनावादी' कला केवल प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को ही चित्रित नहीं करती, वह उस वास्तविक स्वरूप से उत्पन्न किसी अमूर्त्त भावना को भी अभिव्यक्त नहीं करती, वरन् वह कलाकार की आन्तरिक भावना को अभिव्यक्त करती है।

पारिभाषिक दृष्टि से 'अभिव्यंजनावादी' कला व्यक्तिनिष्ठ होती है। आज के युग में 'अभिव्यंजनावाद' ने एक संगठित आन्दोलन का रूप ले लिया है। उसका कोई भी संबन्ध 'क्यूबिज़्म' अथवा किसी अमूर्त्त वादी आन्दोलन से नहीं है।

'अभिव्यंजनावाद' का जो भी शब्दार्थ है, उसे इस आन्दोलन ने पूरी तरह निभाया है। हर मूल्य पर वह कलाकार की मूल भावनाओं को ही अभिव्यक्त करता है। यदि ऐसा करते समय अंकित अथवा चित्रित वस्तु में रूप-विकृति आ जाय, वह अनगढ़ एवं कुरूप मालूम पड़ने लगे तो इसकी कोई भी चिन्ता कलाकार को नहीं होती। फलतः अक्सर उसकी कला से वितृष्णा होने लगती है। मगर उसके चित्रों की इस कुरूपता अथवा कुघड़ता से घबड़ाना नहीं चाहिये। यह परेशानी और घबड़ाहट तो उन्हीं लोगों को होती है जो परंपरागत मर्यादाओं के ग़ुलाम होते हैं। मगर यदि आप स्वीकार कर लें कि कभी कभी ऐसी भावनाओं को भी बाहर निकल जाने देना चाहिये (क्योंकि ऐसा होने से मन का कलुष धुलता है) तो आप से ऐसे कलाकार के कृतज्ञ ही होंगे।

परन्तु यहीं यह याद रखना चाहिये कि प्रत्येक अभिव्यक्ति कला नहीं है। ई० एफ़० कैरिट के शब्दों में, "पहिले इस 'अभिव्यंजना' को उन अन्य वस्तुओं से पृथक कर लेना चाहिये जिनके साथ अक्सर इसे मिला दिया जाता है। यह लक्षण नहीं है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिविशेष में ऐसे चिह्न अथवा भावनाओं के परिणाम स्पष्ट लक्षित होते हों जिन्हें केवल डाक्टर अथवा निरीक्षक ही पहिचान सकें। परन्तु हम इन्हें 'अभिव्यक्ति' नहीं कह सकते। कोई चीख़ अथवा पुकार किसी पीड़ा का ही द्योतन करे, यह सदैव आवश्यक नहीं है, यद्यपि अक्सर ऐसा ही होता है। इसी प्रकार पसीना छूटना अथवा नाड़ी की गति में परिवर्तन होना भी 'अभिव्यक्ति' के अन्तर्गत नहीं आता। 'अभिव्यंजना' ऐसी ऐन्द्रिक अथवा काल्पनिक वस्तु है जिसमें हम संवेग को अनुभव (तात्पर्य नहीं) करते हैं। दूसरे, 'अभिव्यंजना' संप्रेषणीयता नहीं है। हो सकता है कि 'अभिव्यंजना' केवल अपने तक ही सीमित हो। हमारी एक चीख़, जो कि मात्र एक लक्षण है, दूसरों तक हमारी भय की भावना को पहुँचा सकती है (हो सकता है कि उससे हम प्रभावित हो जाँय अथवा कम से कम उससे परिचित ही हो जाँय) फिर भी उसका अभिव्यंजनापूर्ण होना अनिवार्य नहीं है। अन्त में, 'व्यंजना' सही अर्थ में प्रतीक नहीं है। प्रतीक तो एक कृत्रिम चिह्न होता है जिसके भावार्थ को पहिले ही से स्वीकार कर लिया जाता है। इस अर्थ से हम परिचित भी न हों यदि हमें यह न मालूम हो कि पहिले ही से इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

अस्ल में, व्यापक अर्थ में, अभिव्यंजना ही 'आदर्शवाद', 'यथार्थवाद' और साथ ही 'अभिव्यंजनावाद' का भी आधार है। अभिव्यंजनावादी कला में 'अभिव्यंजना' का रूप संवेगों के स्रोत के बिल्कुल निकट होता है।

योरप में इन विभिन्न मतवादों के प्रणेता आचार्यों ने अपनी-अपनी चित्रकला प्रविधियाँ आरम्भ कीं। उनके अनुयायियों ने विभिन्न शैलियों का विकास भी किया। इनका प्रभाव भारतीय चित्रकारों पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा। आधुनिक युग के भारतीय चित्रकारों की कला का सम्यक् अनुशीलन यदि किया जाय तो हमें पता चलेगा कि उनमें से अधिक कलाकार किसी न किसी योरोपीय 'स्कूल' के अनुगामी अथवा पक्षधर हैं। ऐसा तो हम नहीं कह सकते कि भारतीय परंपरा से उनका कोई संपर्क नहीं रह गया है, मगर यह तो नितान्त सत्य है कि चित्रकला संबन्धी किसी न किसी योरोपीय विचारधारा अथवा मान्यता से वे अवश्य प्रभावित हैं और वे अपने लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र व्यक्तित्व का दावा नहीं कर सकते। भारतीय चित्रकला की परंपरा की दृष्टि से यह उचित है अथवा नहीं, यह दूसरी बात है।

× × ×

'भारतीय चित्रकला' में श्री गैरोला जी ने चित्रकला परंपरा के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों पर सम्यक् विचार किया है। उनके अनुशीलन का आयाम अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। ऐसा आज तक किसी भी भारतीय ग्रंथकार ने नहीं किया था। इतनी पूर्ण पुस्तक न तो किसी भारतीय भाषा में है, न किसी विदेशी भाषा में ही है। यह सही है कि समय-समय पर विशेषज्ञ-विद्वानों ने किसी शैली-विशेष, क़लम-विशेष अथवा युग-विशेष से सम्बन्धित अनुशीलन एवं शोधपूर्ण प्रबन्ध प्रकाशित किये हैं। इस प्रकार के अनेक ऐसे ग्रंथ भी हैं जो अधिकारी विद्वानों द्वारा विरचित हैं और जिन्हें मान्यता भी प्राप्त है। परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के 'कैनवेस' में जो विराटता और व्यापकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन करते समय चित्रकला से सम्बन्धित समस्त उपलब्ध सामग्री का पूरी तरह उपयोग किया है। साथ ही, उन्होंने सफल समीक्षक की हैसियत से प्रागैतिहासिक युग से

लेकर आधुनिक युग तक की चित्रकला के विकास-क्रम का इतिहास प्रस्तुत करके ग्रंथ को सर्वांगपूर्ण बना दिया है।

श्री गैरोला का कथन है, "कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उदयवेला का इतिहास कला के ही हाथों से लिखा गया। विश्वात्मा की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में उसी का आधान है। वह अनन्तरूपा है और उसके इन अनन्त रूपों की निष्पत्ति ही कलाकार (परमेश्वर) है। जितने तत्त्वविद्, साहित्य-स्रष्टा और कलासेवी हुए, उन सब ने भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसंधान किया है।"

'कला और सौंदर्यबोध' नामक अध्याय में इसी दृष्टि से कला एवं सौंदर्यबोध से संबंधित शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसमें समस्त भारतीय एवं यूनानी तथा बाद के योरोपीय विचारकों की मान्यताओं और उद्भावनाओं का अनुशीलन किया गया है। "कलाकार, कवि या शिल्पी की प्रेरणा का एक ही आधार है—सौंदय।......दार्शनिक सौंदर्य-मण्डित सत्य को उपलब्ध करना चाहता है, जब कि कलाकार या कवि केवल सौंदर्य का पुजारी होता है। कल्पना और अनुभूतियाँ दोनों ही उसका सत्य हैं। किंतु कलाकार का सौंदर्यबोध, दार्शनिक की उपलब्धि की अपेक्षा कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। इसी के द्वारा वह रसबोध और तत्त्वबोध, दोनों को प्राप्त करता है।" इन शब्दों में विद्वान् लेखक ने कला और सौंदर्यबोध का तात्त्विक विवेचन किया है और अपनी समीक्षा प्रस्तुत की है।

दूसरे अध्याय में 'शिल्प और कला के प्राचीन ग्रंथों' का एक विवरण सहित अध्ययन दे दिया गया है। इसमें संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों, पुराणग्रंथों, कोशों आदि के अतिरिक्त समस्त लक्षण ग्रंथों का भी परिशीलन किया गया है।

इसके अनन्तर चित्रकला की प्रविधियों पर विचार किया गया है। लेखक का कथन है कि, "इस प्राविधिक ज्ञान को हृदयंगम कर लेने के बाद हम भारतीय चित्रकला की परम्पराओं, उसकी तकनीकों और उसके वास्तविक ध्येयों को उचित रूप से ग्रहण कर सकते हैं; अथवा उसमें प्रविष्ट हो कर उसके जीवन्त तत्त्वों को ग्रहण कर उन्हें आधुनिक रूपों में ढाल सकने की चेष्टा कर सकते हैं।" प्राचीन युग की चित्रकला की प्रविधियों का यह अनुशीलन अत्यन्त गम्भीर, विचारोत्तेजक और किसी हद तक चमत्कृत कर देने वाला है। हमारे अतीत के इन चित्रकला-मर्मज्ञ आचार्यों ने कितनी वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य किया, सोचा, विचारा, प्रयोग किये और सिद्धान्तों तथा विधियों की स्थापना की यह देख कर हम विस्मित हो जाते हैं। ये प्रविधियाँ, "अतीत भारत के कलात्मक वैभव के उस युग में कितनी उपादेय और महत्त्वपूर्ण रही हैं! उसके बाद की शताब्दियों में और आज भी उनके शास्त्रीय मान-मूल्यों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखायी देता। उसका कारण यह है कि उनका आधार वैज्ञानिक है। अतः विज्ञान के क्षेत्र में जैसे जैसे विकास होता जायेगा, कला के क्षेत्र में इन शास्त्रीय संविधानों को उतना ही अधिक सम्मान प्राप्त होता जायेगा।"

इसके बाद ग्रंथकार ने प्रागैतिहासिक कला की चर्चा की है। इस अध्याय में आदिम मनुष्य की कलाभिरुचि का मूल्यांकन-अनुशीलन किया गया है। मध्य प्रदेश के आदमगढ़, रायगढ़, बिहार के चक्रधरपुर, सिंहनपुर तथा होशंगाबाद और मिर्ज़ापुर के लिखुनियाँ, कोहर तथा भल्डरिया आदि स्थानों में जो कलाविशेष प्राप्त हुए हैं उनसे तत्कालीन कलाकारों के नैपुण्य का परिचय मिलता है। ऋष्यमूक पर्वत के पास मिले चित्रों का काल ३००० वर्ष ई० पू० निश्चित किया जा चुका है और चक्रधरपुर से प्राप्त गुफ़ा चित्रों को भी इतना ही प्राचीन माना गया है। मिर्ज़ापुर से प्राप्त चित्रखुदी चट्टानों

का प्रागैतिहासिक महत्त्व सिद्ध हो चुका है। इस अध्याय में उस समस्त सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसे प्रागैतिहासिक युग का माना जा सकता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रकला से सम्बन्धित इतनी अधिक सामग्री प्राप्त होती है कि उसके सम्यक् अनुशीलन एवं मूल्यांकन के लिये एक विशाल ग्रंथ की रचना की आवश्यकता पड़ेगी। वैदिक युग से लेकर सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जो कुछ भी वाङ्मय है उसमें यत्र, तत्र, सर्वत्र चित्रकला की चर्चा है। यह इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला के लिये कितना आदर था और उसे कितनी अधिक महत्ता प्रदान की जाती थी।

इस युग में कला की लोकप्रियता तो निर्विवाद थी ही, राजवशों और श्रेष्ठि वर्ग द्वारा भी कलाकारों को पर्याप्त प्रश्रय और संरक्षण प्राप्त होता था। फलतः कला को फलने-फूलने और विकसित होने का अवसर सदैव मिलता रहा। राज्याश्रय की यह परंपरा बाद के युगों में भी चलती रही। इस बात के अगणित उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं कि राजा के अतिरिक्त रानियों, दरबारियों और सामन्तों, दास-दासियों में भी चित्रकला के प्रति विशेष आग्रह, मोह और लगाव था। ये राजवंश चित्रकला को मात्र अपनी कला-मर्मज्ञता प्रमाणित करने अथवा अपनी शान बढ़ाने के लिये ही नहीं, वरन् कला को संस्कृति का विशेष अंग समझ कर उसकी रक्षा करने के लिये, उसका संवर्द्धन करने के लिये भी उत्सुक और सचेष्ट रहा करते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के बाद से चित्रकला की ओर जन समाज की निरन्तर बढ़ती अभिरुचि का पता चलने लगता है। अशोक के पहिले ही चित्रकला के अध्ययन-अध्यापन की परंपरा अच्छी तरह आरम्भ हो गयी थी। बाद में तो इसकी शिक्षा पर विशेष बल दिया जाने लगा था। देव शैली और नाग शैली के नामों से इस चित्रकला का वर्गीकरण हुआ। मगध में देव शैली प्रचलित नहीं थी। अशोक के समय में यक्ष शैली का विकास हुआ और बाद में आचार्य नागार्जुन के समय में नाग शैली का प्रचलन हुआ। इन शैलियों का विकास देश के विभिन्न अंचलों में होता रहा।

चित्रकला के साथ-साथ भित्ति-चित्रों का भी विकास हुआ। जोगीमारा गुफ़ा का भित्तिचित्र अब तक प्राप्त भित्तिचित्रों में सब से अधिक प्राचीन है। यह प्रायः प्रारम्भिक काल का भित्तिचित्र है। अजंता तक पहुँचते-पहुँचते यह कला अपने विकास और उन्नति के चरम विन्दु तक पहुँच गयी। इन भित्तिचित्रों के अतिरिक्त पट-चित्रों की भी एक अतिशय पुष्ट परंपरा आरम्भ हुई। भारत में ही नहीं, भारत के बाहर चीन, कोरिया, जापान, कम्बोडिया, जावा, सायम्, लंका, बरमा, नेपाल, तिब्बत, खुत्तन, अफ़ग़ानिस्तान आदि देशों तक ये पटचित्र पहुँचे, वहाँ चित्रकला का श्रीगणेश किया अथवा वहाँ पर प्रचलित चित्रकला को प्रभावित किया।

इसी प्रकार, बौद्ध चित्रकला की ही भाँति, जैन चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट परंपरा रही है। ताड़पत्रों, वस्त्रों और क़ाग़ज़ पर बने ये चित्र अत्यन्त प्राणवन्त, रोचक और कलापूर्ण होते थे। इनका विस्तार भी काफ़ी था। 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य कथा' के आधार पर बने तीर्थंकरों के चित्रों का वर्णन मिलता है। ये चित्र बड़े आकर्षक और प्रभावशाली होते थे। इन कलाकारों ने धार्मिक कट्टरता का परित्याग कर के उदारता से काम लिया। इन्होंने 'मार्कण्डेय पुराण', 'दुर्गासप्तशती', 'रतिरहस्य' और 'कामसूत्र' से सम्बन्धित चित्रों का भी अंकन-आलेखन किया। बाद की शैलियों पर इस आलेखन-परंपरा का पूरा प्रभाव पड़ा।

इसके बाद, प्रायः समस्त उत्तराखण्ड में एक प्रकार की समन्वयात्मक शैली का विकास हुआ।

'ललित विस्तर', 'मानसार', 'अग्निपुराण' आदि में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। गुप्त काल तक चित्रकला का पूर्ण विकास हो चुका था। अजन्ता, एलोरा तथा बाघ की गुफ़ायें इसकी साक्षी हैं। 'नीतिसार', 'हरिवंश पुराण', 'वृहद्-संहिता', तथा 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' आदि ग्रंथों में तत्कालीन चित्रकला की उन्नतावस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। सच यह है कि गुप्त काल ही अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला के लिये भी स्वर्ण-युग था।

हर्ष के काल में भी चित्रकला का पर्याप्त विकासहुआ। बाण भट्ट की रचनाओं में इसके प्रमाण मिलते हैं। इस समय नेपाल, असम, बंग, कलिंग आदि में भी चित्रकला का ख़ूब विकास हुआ। इसी युग में सिन्ध, काबुल, काश्मीर आदि में भी चित्रकला पल्लवित और प्रफुल्लित हुई। बाद में त्रिपुरा के कलचुरियों, बुन्देलखण्ड के चन्देलों, मालवा के परमारों, गुजरात के चालुक्यों और कांची के पल्लवों ने भी चित्रकला के विकास में पूरा सहयोग दिया। इस प्रकार सारे देश में चित्रकला की शुभ्र परंपरा अप्रतिहत, अनवरत, अबाध रूप से चलती रही।

देश में राजनीतिक उथल पुथल और वाह्य आक्रमणों के कारण यद्यपि विभिन्न कलाओं की तरह ही चित्रकला के विकास में भी अक्सर बाधाएँ उपस्थित हुईं, परन्तु यह विकास—क्रम सर्वथा विश्रृंखलित हो गया हो, अथवा लुप्त हो गया हो, ऐसा कभी नहीं हुआ।

बारहवीं शताब्दी से ही राजपूत शैली का विकास आरम्भ हो गया था। धीरे-धीरे राजपूत चित्रकला का बहुरंगी, बहुविध विकास होता रहा। दिल्ली के सुल्तानों का राजत्वकाल जब समाप्त हुआ और मुगलों का शासन आरम्भ हुआ तो देश की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में कुछ स्थायित्व आया और जन समाज का जीवन भी कुछ शांत हुआ। इस युग में बंगाल, उड़ीसा, विजयनगर आदि में चित्रकला का जो विकास हुआ उसी क्रम में वीरभूमि राजस्थान में भी चित्रकला का उन्नयन हुआ। राजपूत शैली के अनेक रूप प्रस्फुटित होने लगे। लोकचित्रकला का तो उन रूपों पर प्रभाव था ही। ग्वालियरी, अंबर एवं मेवाड़ी, मारवाड़ी, बीकानेरी शैलियों के अतिरिक्त जयपुरी, किशनगढ़ी आदि शैलियों का भी क्रमिक विकास हुआ। कोटा-बूँदी शैली का भी विकास इसी व्यापक परंपरा के फलस्वरूप हुआ।

इस प्रकार उस राजपूत शैली का एक समन्वित रूप सामने आया जिसके विराट परिवेश में अनेक शाखायें-उपशाखायें समाविष्ट हो गयीं। अठारहवीं शताब्दी तक ये सभी शैलियाँ अपनी चरम अवस्था तक पहुँच चुकी थीं। राजस्थान में अनेक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक केन्द्र और नगर थे। इन सब की अपनी पृथक शैलियाँ थीं। इन शैलियों को जैन शैली का सहयोग भी मिला। इस प्रकार राजपूत चित्रकला का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित हुआ। राजपूत शैली पर लोकचित्रकला का प्रभाव स्पष्ट है। इस शैली के चित्रकारों में अनूठी कल्पनाशीलता और रंगीनी, माधुर्य और आडंबरहीनता, सहजता और सरलता दिखायी देती है।

मुगलों के शासन काल में यद्यपि मूर्तिकला का ह्रास हो चुका था परन्तु चित्रकला का विकास होता रहा। यहाँ भारतीय-ईरानी चित्र शैलियों का समन्वय हुआ और भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक नया दौर शुरू हो गया। अकबर ने व्यक्ति चित्रों (पोर्ट्रेट्स) और लघु चित्रों (मिनियेचर्स) को ख़ूब प्रोत्साहन दिया। इन चित्रों मे जहाँ, "अन्तः सौंदर्य की अभिव्यक्ति है उनमें भारतीय शैली को अपनाया गया है और वाह्य सौंदर्य का अभिव्यंजन ईरानी शैली के माध्यम से हुआ है। इस प्रकार भारतीय चित्रों की शैलियों में भावना की प्रधानता और ईरानी शैली के चित्रों में उत्तम रेखांकन का समावेश हुआ।"

मुग़ल शैली का विकास औरंगज़ेब के ज़माने तक होता रहा। औरंगज़ेब के दरबार में चित्रकार रहते थे और वे चित्रांकन भी करते थे। मगर उनमें पहिले जैसी प्रेरणा अब नहीं थी। औरंगज़ेब की उदासीनता के कारण चित्रकार भी अपना-अपना आश्रयदाता ढूंढने के लिये देश के विभिन्न अंचलों में बिखर गये। यहीं से मुग़ल शैली के पराभव का युग आरम्भ होता है। हाँ, इस समय भी दक्षिण में बीजापुर, गोलकुण्डा आदि राज्यों में मुसव्विरों की प्रतिष्ठा यथावत् बनी रही।

राजपूत और मुग़ल शैली में स्वभावतः भिन्नता थी। कारण यह था कि मुग़ल शैली का विकास ईरानी शैली के अधीन हुआ, परन्तु राजपूत शैली का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ।

श्री गैरोला का कथन है, "मुग़ल शैली के चित्र राजसी तथा सामन्ती परंपराओं से प्रभावित और यथार्थवादी हैं, किन्तु राजपूत शैली के चित्र कल्पना प्रचुर, तत्कालीन जनवादी विचारों से संयुक्त हैं और उनमें रूमानीपन है।......... मुग़ल शैली के चित्रों का विषय प्रायः राज उद्यान, राज परिवार, राज दरबार और युद्ध आदि के दृश्यों का चित्रण करना था। किन्तु कल्पना-प्रचुर राजपूत शैली के चित्रों का विषय ग्रामीण जन-जीवन का चित्रण, काव्यमय प्रेमकथाओं, लोककथाओं और धार्मिक रीति-रिवाजों से मुख्यतया संबद्ध रहा है।"

मुग़ल चित्रकला को शासकों ने प्रश्रय दिया और उसके विकास में उन्होंने पूरी रुचि दिखायी। यह उनकी सहज उदारता और कला प्रेम का ही परिचायक था। मुग़ल चित्रकला का भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

मुग़ल और राजपूत शैली की ही भाँति पहाड़ी शैली भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जम्मू, गढ़वाल, पठानकोट, कुल्लू, चम्बा, बसौली, काँगड़ा, गुलेर और मंडी आदि तक पहाड़ी शैली का विस्तार रहा है। अठारहवीं शताब्दी में इस शैली का विकास हुआ और शीघ्र ही यह शैली अपने सर्वोच्च सोपान पर पहुँच गयी। पहाड़ी शैली में ही वे समस्त शैलियाँ सन्निहित हैं जिन्हें उनके स्थानीय नामों से जाना जाता है। काँगड़ा शैली को गुलेर और बसौली शैली के कलाकारों से अत्यधिक सहयोग मिला। उस पर राजपूत और मुग़ल शैलियों का भी प्रभाव अवश्य है। समस्त पहाड़ी शैलियों में काँगड़ा शैली का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। काश्मीर, बसौली और चम्बा शैलियों का विकास कुछ पृथक हुआ, मगर उन्हें सामान्य पहाड़ी शैली के अन्दर ही मानना समीचीन होगा। काश्मीर शैली को अन्य पहाड़ी शैलियों से प्राचीन माना जाता है। काश्मीर शैली में समन्वयमूलक आदर्शवाद है। यही उसकी विशेषता है। बसौली शैली में किसी सीमा तक काश्मीर शैली का प्रभाव लक्षित होता है।

पहाड़ी शैली की गढ़वाल शाखा का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी में हो चुका था। इस आरम्भिक काल के चित्रों और चित्रकारों के संबंध में बहुत कम जानकारी मिलती है। इसके बाद अठारहवीं शताब्दी के मध्य में फिर गढ़वाल शैली की नवोन्नति आरम्भ हुई। गढ़वाल शैली पर काँगड़ा एवं गुलेर शैली का भी प्रभाव पड़ा है।

मध्य प्रदेश की चित्रकला का इतिहास तो बाघ के गुफाचित्रों से हो आरम्भ हो जाता है। इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में हमें चित्रकला के कुछ अवशेष मिलते हैं। ये बीना-भिलसा स्टेशन के बीच उदयेश्वर अथवा नीलकण्ठेश्वर के मन्दिर में है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच यहाँ जैन शैली का प्रभाव रहा। मध्य प्रदेश के दतिया, ओरछा, ग्वालियर आदि रियासतों में विभिन्न चित्र प्राप्त हुये हैं। इनमें ग्वालियरी शैली का महत्त्व सर्वाधिक है।

हमने बिहार की सरगुजा रियासत में स्थित जोगीमारा चित्रों की चर्चा की है। नालंदा के बौद्ध

विहारों में भित्तिचित्र मिले हैं। बोधगया के मन्दिर के शिखर की चारो ओर समकोण चतुर्भुजाकार दीवारें मोती की लड़ियों के चित्रों से अलंकृत थीं। यह वर्णन चीनी यात्री यूआन-चुआंग का है। बिहार में पालकालीन चित्रों के नमूने बहुतायत से मिले हैं।

बिहार में पटना शैली की भी बड़ी ख्याति रही है। अठारहवीं से बीसवीं शताब्दी के बीच पटना शैली में जो चित्र निर्मित हुए उनके अगणित उदाहरण आज भी मिलते हैं। अनेक राजे-रजवाड़ों ने पटना के इन चित्रकारों को प्रश्रय दिया और उनके चित्रों को अपने दरबारों, राजमहलों में सजा कर रखा। अभी कुछ ही वर्षों पहिले तक यह परंपरा चलती रही है। पटना शैली के चित्रों का विस्तार लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, मुर्शिदाबाद, पूना और सतारा तक हुआ। इस शैली चित्रकारों के ने श्रमिक, ग़रीब जनता के प्रतिनिधियों, कमकरों को भी अपने अंकन-आलेखन का आधार बनाया।

'लोककला' नामक अध्याय में श्री गैरोला ने आरम्भिक काल से वर्तमान् युग तक में प्राप्त लोक-कलाओं का सम्यक् पर्यवेक्षण किया है और विभिन्न तथाकथित शिष्ट कलाओं के प्रेरणा-स्रोत के रूप में आपने लोककलाओं का अनुशीलन किया है। श्री गैरोला का कथन है, "भारतीय लोक-जीवन में प्राचीन काल से ही धरती के प्रति अथाह पूजा-भाव रहा है। धरती के प्रति लोक-जीवन की इस उत्कट आस्था को श्रुतियों ने अनेक तरह से बताया है। ......हमारी लोकरुचियों को जीवित रखने के लिये भारत के विभिन्न प्रदेशों में लोककला ने जो कार्य किया, विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। हमारे अज्ञानतनामा लोक-कलाकारों ने, जिनमें नारियों की मुख्यता रही है, धरती के प्रति अपनी पवित्र निष्ठा को अपने हृदय की अजस्र रस-धारा द्वारा अभिसिंचित करके कुछ ऐसी सहज, सुन्दर कलाकृतियाँ हमें दीं, जो हमारे राष्ट्र की संपूर्ण चेतना को आह्लादित करती हैं।"

इस अध्याय में भारत के विभिन्न अंचलों में प्राप्त लोक-कलाओं की विभिन्न शैलियों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अनुशीलन अत्यन्त शोधपूर्ण एवं मार्मिक है।

'आधुनिक एवं समसामयिक चित्र शैली' नामक अध्याय में विद्वान् ग्रंथकार ने उन समस्त आधुनिक प्रवृत्तियों एवं शैलियों की विवेचना की है जिनसे हमारे कलाकारों ने प्रेरणा ग्रहण की। आधुनिक चित्रकला के तीनों स्कूलों––कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली––का अनुशीलन करने पर लेखक का मत है कि यह वर्गीकरण सर्वथा उचित नहीं है। इसलिये कि अनुशीलन का आधार वास्तविक धाराओं और उनके प्रणेताओं की शैली होनी चाहिये। अलाग्री नायडू, राजा रवि वर्मा, ई० बी० हैवेल, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल बसु, यामिनी राय, अमृत शेरगिल, असित कुमार हालदार तथा क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार जैसे कलाचार्यों की कृतियों की समीक्षा कर के लेखक ने कुछ स्थापनायें की हैं जिनसे बरबस सहमत होना पड़ता है।

अपने निष्कर्ष में लेखक ने कहा है, "श्री अलाग्री नायडू से श्री मजूमदार तक जिन कलाकारों का उल्लेख किया गया है उनके द्वारा चित्रकला के आधुनिक युग का प्रवर्तन हुआ। इस दृष्टि से उनको कलाचार्य के रूप में स्मरण किया जाता है। उनके सामने जो परिस्थितियाँ और दायित्व थे उनका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया। तत्कालीन चित्रकला में जो सांकर्य व्याप्त होता जा रहा था और 'भारतीयता' के नाम पर जिन कलाकृतियों का निर्माण हो रहा था उनका उन्होंने उचित समाधान किया। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया उन्होंने सैकड़ों नये कलाकारों को तैयार करके। ये नवोदित कलाकार ही समसामयिक चित्रशैली के सृजक एवं प्रवर्तक हैं।"

प्रस्तुत अध्याय के अन्त में समसामयिक चित्रकारों की 'संक्षिप्त परिचयी' भी दे दी गयी है। साथ ही चित्रकला के संवर्द्धन से संबंधित विशेष समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

परिशिष्ट में भारतीय संग्रहालयों में सुरक्षित कला-निधियों की चर्चा की गयी है और आधुनिक चित्रकारों की नामानुक्रमी भी दे दी गयी है। 'ग्रंथानुक्रमी' देने से सहायक साहित्य का अच्छा परिचय मिल जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ श्री गैरोला की विद्वत्ता, अनुशीलन-क्षमता, संलग्नता, अध्यवसाय और परिश्रम का अद्भुत प्रमाण और उदाहरण है। इस ग्रंथ का प्रणयन करके श्री वाचस्पति गैरोला ने सहज ही चित्रकला-प्रेमियों और पाठक समाज की कृतज्ञता अर्जित की है और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

पुस्तक में ४३ सादे और २७ रंगीन चित्र भी हैं जिनका चयन करते समय ग्रंथकार महोदय ने यह ध्यान रखा है कि प्रत्येक युग और प्रत्येक भारतीय शैली के प्रतिनिधि चित्रों का उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किया जा सके।

'भारतीय चित्रकला' को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हम ग्रंथकार श्री वाचस्पति गैरोला को साधुवाद देते हैं और आशा करते हैं कि वे आगे भी ऐसी ही महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना करके हिन्दी साहित्य की शोभा-संवर्द्धना करते रहेंगे।

गाँधी जयन्ती
२ अक्तूबर, १९६३

—श्रीकृष्ण दास

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्–४, १

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥
—कठोपनिषद्–६, ५

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
—मुण्डकोपनिषद्–३, १, १

'भारतीय चित्रकला' के प्रेमियों को

अनुक्रम

चित्र-सूची

२९. अमीर हम्ज़ा का एक पृष्ठ
अकबरकालीन, १६वीं शताब्दी

३०. चित्रकार बिचित्तर द्वारा निर्मित 'संगीत प्रेमी'
मुग़ल शैली, शाहजहाँकालीन, १६२८-१६५८ ई०

३१. मीर हाशिम द्वारा निर्मित 'एक संभ्रान्त व्यक्ति'
मुग़ल शैली, १६५० ई०

३२. तानसेन
मुग़ल शैली, १७वीं शती ई० का मध्यकाल

३३. बहादुरशाह
मुग़ल शैली, १७०७-१७१२ ई०

३४. शृङ्गारमण्डित नायिका
मुग़ल शैली, १७६०-१७८० ई०

३५. उद्यान में मुल्लाह
मुग़ल शैली, १७वीं श०

३६. लैला मजनूँ
मुग़ल शैली, १८वीं श० ई०

पहाड़ी शैली

३७. अज्ञात रागिनी
बसौली शैली, १७१० ई०

३८. पालतू हिरण के साथ महिला
पहाड़ी शैली, काँगड़ा, १७८० ई०

३९. परशुराम द्वारा सहस्रबाहु वध
बसौली शैली, १८वीं श० ई०

४०. राधा माधव
पहाड़ी शैली, १८वीं शताब्दी

४१. वियोग
काँगड़ा शैली, १८वीं श० ई० के लगभग

४२. गुलेर की माण्डियाल रानी
काँगड़ा शैली, गुलेर, १८वीं शती ई० का उत्तर काल

४३. उमा की उपासना
प्राचीन चित्र

४४. कैलाश पर्वत पर शिव-पार्वती
काँगड़ा शैली, १८-१९वीं श० ई०

४५. दीर्घा पर अवस्थित राधा और कृष्ण
पहाड़ी शैली, काँगड़ा, १९शती ई० का आरंभ

४६. भाँग छानते हुए शिव परिवार
पहाड़ी शैली, १९०० ई०

४७. राधा और सखी
पहाड़ी शैली, काँगड़ा, १९वीं श० ई० के बाद

बंगाल शैली—बाज़ार शैली

४८. चैतन्य का संकीर्तन (लकड़ी का पुस्तक-वेष्ठन)
बंगाल शैली, १८वीं श० ई०

४९. हाथी पर सवार अँग्रेज़
बाज़ार शैली, १८३० ई०

५०. संगीतज्ञ
कालीघाट, १८४५ ई०

५१. शिव और सती
कालीघाट, १८६० ई० के लगभग

आधुनिक शैली

५२. शकुन्तला का पत्र लेखन
चित्रकार—राजा रवि वर्मा

५३. परशुराम
राजा रवि वर्मा, १९०८ ई०

५४. भारतमाता
चित्रकार—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

५५. कल्कि अवतार
गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

५६. नारी
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

५७. उड़ीसा की एक दुकान
नन्दलाल बसु

५८. उडकट
जगदीश मित्तल

५९. नैपाली हाट (जलीय चित्र) ११।"×७॥", १९४९ ई०
विनोदबिहारी मुकर्जी

६०. सह-अस्तित्व
असितकुमार हालदार, १९५७ ई०

६१. हुक्का पीते
सुधीर ख़ास्तगीर, १९५९ ई०

६२. विरहिणी राधा की दशम दशा
क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, १९५० ई०

६३. ढोलकिया (जलीय चित्र) १८"×१०"
मक़बूल फ़िदा हुसैन, १९५३ ई०

६४. शबीह
अकबर पदमसी, १९५३ ई०

६५. गाँव
रज़ा

६६. कैफ़े
रामकुमार

६७. चरवाहे (तैल चित्र) २२"×३०"
प्राणनाथ मागो, १९५२ ई०

६८. चुम्बन (टेम्परा)
प्रानकृष्ण पाल, १९१५ ई०

६९. सिनाई
दिनकर कौशिक

उपोद्घात

डा० सम्पूर्णानन्द

राज्यपाल, राजस्थान

अपने प्रारम्भिक और परिचायक निबन्ध में ग्रन्थकार महोदय ने जो कुछ लिखा है उसने मेरे काम को बहुत हल्का कर दिया है। जैसा कि उन्होंने बतलाया है, हमारे प्राचीन वाङ्मय में कला शब्द का वह अभिधेय नहीं था जो आजकल उसको प्राप्त हो गया है। कला और शिल्प का भेद भी बहुत स्पष्ट नहीं था और इन दोनों का स्तर भी ऊँचा नहीं था। बहुधा तो कला की पहुँच उन वाह्य और आभ्यन्तर चेष्टाओं और क्रियाओं तक ही सीमित रहती थी, जिनको शृंगार रस का उपकरण कह सकते हैं। इसी प्रसंग में ६४ कलाओं का नाम लिया जाता है। साहित्य और संगीत का स्थान कलाओं से पृथक् और ऊँचा था साधारण व्यवहार में आनेवाला यह पद्यांश इस बात की साक्षी देता है :

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

आज इस शब्द का व्यवहार अँग्रेज़ी के 'आर्ट' के अर्थ में होने लगा है। परन्तु 'आर्ट' शब्द का अर्थ भी बहुत व्यापक है। रून्स और हैरी जी० ए० श्रीकेल की 'एन्साइक्लोपेडिया आव दि आर्ट्स' के अनुसार, इसके अन्तर्गत मनुष्य के सारे ही काम, शिल्प, गृह-निर्माण, उद्योग, चिकित्सा, शासन विधान, धर्म और शिक्षा आ जाते हैं।[1] इस बात को ध्यान में रखकर ग्रोम्ब्रिच ने लिखा है "वस्तुतः कला जैसी कोई चीज़ नहीं है। कलाकार अवश्य होते हैं।"[2]

व्यापक अर्थ में कला (आर्ट) का व्यवहार अब भी होता है। विश्वविद्यालयों में विज्ञान के अतिरिक्त प्रायः सभी पाठ्य विषय कला के अन्तर्गत आते हैं। जब किसी विषय के पठन-पाठन में नाप-तोल करने की प्रवृत्ति बढ़ती है तो वह अपनी मर्यादा बढ़ाने के उद्देश्य से अपने को विज्ञान कहने लगता है। मनोविज्ञान इसका अद्यकालीन उदाहरण है। कुछ दिन तक यह दर्शन का एक अंग था, तब तक उसकी गणना कला में थी। अब मनोविज्ञान के पण्डित अपने को विज्ञानवेत्ता कहने में गौरवान्वित समझते हैं।

इस व्यापक क्षेत्र के भी भीतर एक सीमित क्षेत्र है, जिसकी ओर संकेत करने के लिए साधारण बोल-चाल में 'कला' शब्द का व्यवहार किया जाता है। पश्चिम में उसे फ़ाइन आर्ट्स (Fine Arts) के नाम से इंगित किया जाता है। उसको हम लोग ललित कला कहते हैं। ललित कला में

1. It would cover the range of human enterprise in handicrafts and architecture, industry and medicine, government and law, religion and education.
2. There, really, is no such thing like Art. There are only artists.

चित्र-निर्माण, मूर्ति-निर्माण और गृह-निर्माण तथा साहित्य और संगीत का समावेश है। यह स्पष्ट ही है कि इस दृष्टि से कला शब्द अपने प्राचीन अर्थ से बहुत दूर चला आया है और बहुत ऊपर उठ गया है। गृह-निर्माण के वस्तुतः दो भाग हैं। एक का सम्बन्ध सौन्दर्य से है और दूसरे का उपयोगिता से। जिन लोगों में मृतक को गाड़ने का दस्तूर है वे शव पर मिट्टी डालकर किसी प्रकार की क़ब्र बनाया करते हैं। क़ब्र चाहे किसी की हो, उसके लिए ६ फ़ुट लम्बी, २ फ़ुट चौड़ी और २ फ़ुट ऊँची भूमि चाहिए ही। वर्षा आदि से रक्षा के लिए उसे ईंट, पत्थर से पक्की बना सकते हैं। रक्षा का और ख़्याल हो तो उसके ऊपर छोटी सी कोठरी बना सकते हैं। यहाँ तक तो उपयोगिता है। इसके ऊपर और अतिरिक्त जो कुछ बनाया जाय उसका लक्ष्य सौन्दर्य ही हो सकता है। क़ब्र मात्र की दृष्टि से ताजमहल का बनाना व्यर्थ था, धन का अपव्यय था। शाहजहाँ की पत्नी को भी एक भिक्षुक की पत्नी से अधिक स्थान की आवश्यकता नहीं थी। सौन्दर्य के लिए जो कुछ भी किया जाय वह थोड़ा है।

सच्चा कलाकार फ़ोटो नहीं खींचता। वह भौतिक वस्तुओं की यथावत् अनुकृति नहीं बनाता। उसकी कृतियों में, उसके बनाये फूलों और पशु-पक्षियों में उसकी बनायी इमारतों में, भौतिक वस्तुओं से अनुरूपता होती है; पर उस अनुकृति के साथ-साथ कुछ और भी होता है। उनके भीतर से कोई अनिर्वचनीय पदार्थ झाँकता सा है। उसका फूल, फूल है; पर ऐसे फूल पृथ्वी पर कहीं नहीं मिलते। उसके शब्द, शब्द हैं; पर शब्दों के संचय से जो अर्थ निकलता है वह किसी कोश और व्याकरण से नहीं बाँधा जा सकता। बात यह है कि कलाकार निम्न प्रकार का योगी है। योगी को समाधि की अवस्था में उस तत्त्व का साक्षात्कार होता है जो इस विश्व में ओतःप्रोत है; जिसकी लीला सभी मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों में निरन्तर होती रहती है; जो असंख्य शक्तियों के, वैदिक शब्दों में असंख्य देवताओं के रूप में इस जगत् का संचालन कर रहा है; जिसके भ्रूनिक्षेप मात्र से विश्व में क्षण-क्षण पर पट-परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः जो अनुभूति योगी को होती है वह वाणी की शक्ति के बाहर है। यदि योगी उसका कुछ वर्णन करना चाहे तो समाधि भाषा से काम लेना पड़ता है। जिस अनुभूति की इस जगत् में कोई प्रतिमा नहीं है उसकी चर्चा करना, एक महात्मा के शब्दों में :

'ज्यों गूँगा गुड़ खाय'

के समान है।

कलाकार योगी नहीं होता; उसको एकाग्रता की उपलब्धि होती है और समाधि के निम्न स्थलों में उसका प्रवेश होता है। इसलिए उसको भी विश्व के रहस्य की कुछ झलक मिल जाती है। वह भी अपने अनुभव को यथावत् व्यक्त नहीं कर सकता। एक तो विषय अप्रतिम, दूसरे जिन साधनों के द्वारा व्यक्त करना है उनमें क्षमता की कमी!

परन्तु जो कुछ इस दिशा में सफलता होती है उसी के कारण कलाकार और फ़ोटोग्राफ़र की कृतियों में अन्तर होता है। कहीं खेत में सूकरी अपने बच्चे को दूध पिला रही हो; साधारण सा विषय है, रोज़ ही देख पड़ता है। कैमरा से बहुत सुन्दर फ़ोटो लिया जा सकता है। इस दृश्य का चित्र कोई कलाकार भी खींच सकता है। फ़ोटो में सूकरी होगी और उसका बच्चा। कलाकार द्वारा निर्मित चित्र में सूकरी के परदे में उस देवता, उस शक्ति की झलक देख पड़ेगी, जो समस्त प्राणि-जगत् का, ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक का, परिपोषण कर रही है। सूकरी के शरीर से भगवती जगद्धात्री की आभा फूट रही होगी। कवि केवल कली के चटकने और खिले फूल से सौरभ के बिखरने को अपना विषय नहीं बनाता। शब्द तो इन्हीं वस्तुओं तक रह जाते हैं परन्तु उनकी ध्वनि नाद-ब्रह्म से जगत् के आविर्भाव

का परिचय देती है। कलाओं का सम्राट् तो संगीत है। उसमें कलाकार का जो माध्यम है वह सबसे सूक्ष्म है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उनका ऐसा करना अनुचित नहीं था। फिर भी काव्य संगीत की तुलना नहीं कर सकता। अपनी पुस्तक 'जीवन और दर्शन' में मैंने इस सम्बन्ध में जो लिखा है वह यहाँ उद्धृत करता हूँ :

"कवि की सामग्री शब्द है। शब्द में जहाँ बड़ी तरलता है वहाँ एक यह दोष है कि वह उन्हीं लोगों के काम का है जो उस भाषा को जानते हों, जिसका वह अंग है। केवल कोश और व्याकरण से काम नहीं चलता, क्योंकि अपने सैकड़ों वर्षों के इतिहास में शब्द अपने साथ ऐसा बहुत सा बारीक अर्थ समेट लेते हैं जो न तो व्युत्पत्ति से समझ में आ सकता है, न सन्धि-समास के नियमों से निकल सकता है। सती या सहधर्मिणी शब्द जो भाव हिन्दू संस्कृति में निमग्न व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न करते हैं, वह क्या किसी कोश में मिल सकता है ? गंगा, यमुना, सरस्वती नदियों के नाम नहीं हैं, आर्य-जाति की सहस्त्र भावनाओं और आशाओं के नाम हैं। इसलिए काव्य का पूरा आनन्द अनुवाद में नहीं मिलता। परन्तु संगीत शब्दों से उठकर स्वरों से काम लेता है। शब्दों का प्रयोग होता भी है तो थोड़ा। ध्यान शब्दों पर कम, स्वर-संचरण पर अधिक रहता है। ऊँचा संगीत चाहे वह गेय हो या वाद्य, केवल स्वरों से काम लेता है। स्वरों की भाषा सार्वभौम है, इसलिए अच्छा संगीत मनुष्यों को ही नहीं, पशु पक्षी तक को आकर्षित करता है। भाषा के बन्धन से मुक्त होकर मनुष्य के हृदय के गम्भीर प्रदेशों में प्रवेश करता है और चित्त की ऊँची भूमिकाओं को स्पर्श करता है। चतुर गायक अपने स्वरों को प्रत्येक हृदय के अन्तर्निनाद के स्वरों से मिलाता है। जो वाणी के तार छेड़ना जानता है वह उन शक्तियों को दोलायित करता है जो इस विश्व को प्रकंपित कर रही हैं; नटवर के चरण ब्रह्माण्डों के स्पन्दन के साथ ताल देते हैं।"

संगीत और साहित्य के बाद चित्रकला का स्थान है। जहाँ तक चित्रकार अपनी प्रतिभा को कुबेर-पुत्रों या राज्याधिकारियों के मनोरंजन की सामग्री नहीं बनाता वहीं तक वह कलाकार है। उसकी कठिनाई यह है कि जिस माध्यम से उसे काम लेना पड़ता है वह स्थूल है। वह अपनी रचना द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति कराता है। सौन्दर्य कहाँ है ? वह केवल दृश्य का गुण नहीं, प्रत्युत, द्रष्टा का भी गुण है। जब द्रष्टा का चित्त एकाग्र होता है तभी तो वह जगत् के वास्तविक स्वरूप को देखने की क्षमता पाता है। जगत् का अर्थ ही परिवर्तनशील है। प्रकृति प्रतिक्षण पट-परिवर्तन करती रहती है। यही अनुभूति सौन्दर्य की अनुभूति है :

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं कमनीयतायाः।

परन्तु चित्रकार की सामग्री है क़ाग़ज़ या कपड़ा और थोड़े से रंग। चल को अचल में कैसे उतारा जाय ? फिर जगत् कम से कम तीन, वस्तुतः अनेक दिशाओं में फैला हुआ है। परन्तु क़ाग़ज़ या कपड़ा दो दिशाओं के आगे नहीं जाता। चित्रकार के लिए यह बड़ा बन्धन है। वह प्रकृति-नटी के किसी एक रूप, नटराज की किसी एक मुद्रा, को ही अंकित कर पाता है। उसकी कृति इस बात का संकेत मात्र दे सकती है कि इसके अतिरिक्त और भी मुद्राएँ हैं।

भारत में चित्रकारिता की परंपरा पुरानी है। भारतीय चित्रकारी को समझने के लिए प्रागैतिहासिक काल की रचनाओं को भी देखना होगा। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की कारीगरी पर भी दृष्टिपात करना होगा। राजस्थानी, मुग़ल आदि शैलियों को देखने से ही प्रतीत होता है कि इस देश

में कुशल चित्रकार होते आये हैं। परन्तु इनमें से कितने चतुर शिल्पी थे और कितने सच्चे अर्थ में कलाकार, यह विचार का विषय है। जिस काल में इन शैलियों का उदय हुआ वह कहाँ तक कला के विकास के लिए अनुकूल था यह भी विचार का विषय है। मेरा अपना मत यह है कि पिछले एक हज़ार वर्ष कला के लिए अनुकूल नहीं थे। सम्भव है मेरा विचार भ्रान्त हो; परन्तु मुझको ऐसा लगता है कि कलामूलक भावनाओं का उद्‌बोधन श्रद्धा के धरातल में ही होता है और जिस काल के निदर्शन हमारे सामने आते हैं उसमें श्रद्धा के लिए बहुत कम स्थान था। कोई ऐसी विचारधारा नहीं थी जो चरित्र का उन्नयन करती, ओज और स्फूर्ति देती; फिर श्रद्धा किस पर हो? एकाग्रता और अन्तर्मुखता के लिए सहारा नहीं था। भक्ति काल में श्रद्धा के लिए कुछ सहारा मिला। साहित्य के क्षेत्र में वास्तविक कला का उदय हुआ भी, परन्तु साहित्य के समान चित्रकला आदि के प्रांगण में स्वान्तः सुखाय रचना के लिए कम स्थान है। चित्रकार और मूर्तिकार को आश्रयदाता की अधिक खोज रहती है। ऐसे समय में जब कि राजनीतिक उथल-पुथल और धार्मिक संघर्ष मचा हो, हिन्दू नरेश स्वाधीनता खोकर अपनी लज्जा को विलासिता से ढँक रहे हों, गुणग्राही आश्रयदाता कहाँ मिलता? इसलिए सच्चे अर्थ में चित्रकला, मूर्तिकला या स्थापत्य पनप न सका।

परन्तु कला का एक और भेद भी है। वह उस स्तर तक तो नहीं पहुँचती, जहाँ कला योग की भूमिकाओं का स्पर्श करती है; परन्तु वह मनुष्य के मनोभावों के भीतर बैठती है और इस प्रकार मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप, उसके चित्त की प्रवृत्तियों, उसकी वासनाओं का साक्षात्कार कराती है। ऐसा करके वह रसों का उद्‌बोधन कराती है और मनुष्य को दैनंदिन के स्थूल जीवन के ऊपर उठाती है। इतना ही नहीं, वह भावनाओं को शुद्ध करती है और उनको गिरावट के आधार के स्थान पर चित्त-शुद्धि का साधन बनाती है। पुरुष और स्त्री एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होते ही रहते हैं। मनुष्य मात्र में काम-वासना व्याप्त है, परन्तु काम-वासना से ही एक-दूसरे के साथ सहनशीलता का बर्ताव, एक-दूसरे के लिए ऐसा प्रेम जो केवल शारीरिक भोग की अपेक्षा न करता हो, ये सब गुण भी उत्पन्न होते हैं। चित्रकार इस भाव को सामने लाकर रख सकता है और जब वह साधारण स्त्री-पुरुष के बदले शंकर-पार्वती या राधा-कृष्ण की कल्पना करता है तो फिर इस भावना को व्यक्ति के धरातल से उठा कर विश्व के धरातल पर पहुँचा देता है और जैसा कि मनोविज्ञान के आचार्य कहते हैं, वासना पुनीत होकर भक्ति का रूप धारण कर लेती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो पिछले वर्षों में कई अच्छे कलाकार हुए हैं और प्रसिद्ध शैलियों के द्वारा चित्रकला की सराहनीय पुष्टि हुई है।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक चित्रकला के प्रेमियों का आप्यायन तो करेगी ही, जिन लोगों की अभी तक इस विषय में विशेष अभिरुचि नहीं रही है, उनको भी इस ओर आकृष्ट करेगी।

भूमिका

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

अध्यक्ष, ललितकला तथा वास्तु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'भारतीय चित्रकला' के रूप में श्री वाचस्पति गैरोला ने हिन्दी साहित्य की जो अभिवृद्धि की है उसे देखकर प्रसन्नता होती है। इसमें प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय चित्रकला के इतिहास का सांगोपांग परिचय दिया गया है। लेखक ने सामग्री के संकलन में पर्याप्त परिश्रम किया है। सौभाग्य से भारतीय चित्रकला की दो प्रकार की सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है : एक शास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में और दूसरी वास्तविक चित्रों के रूप में। निस्सन्देह आज जितना बच गया है उससे उतने ही गुना अधिक शास्त्र और प्रयोग दोनों का सृजन हुआ था; किन्तु आज उसका कुछ अंश ही बचा है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि चित्रकला के क्षेत्र में भारतवर्ष की रचनात्मक प्रवृत्ति संसार के अन्य देशों की अपेक्षा सबसे अधिक थी। चित्रकला का इतना लम्बा इतिहास और ऐसा व्यापक क्षेत्र अन्य किसी देश में नहीं पाया जाता। यह एक विशिष्ट नागरिक कला थी, जिसमें नागर स्त्री-पुरुष स्वांतःसुखाय अभ्यास करते थे। उसी प्रकार जनपदीय स्त्री-पुरुषों में भी चित्रकला के लिये रुचि थी। अपने रहने के घरों को और वस्त्रों तक को वे रेखा और वर्ण के चित्रात्मक विन्यासों से अलंकृत करते थे। घरों के चित्रात्मक अलंकरण की यह प्रथा आज भी कहीं-कहीं बच गयी है। बाँधनूँ और पटोले की रँगाई के वस्त्र तो चित्रकला के ही विकसित रूप थे। इनके अतिरिक्त एक अन्य रूप में भी चित्रकला का व्यापक प्रचार भारत की निजी विशेषता रहा है—वह है भूमि को नाना चित्रात्मक आकृतियों से मण्डित या अलंकृत करना। यह एक ऐसी कला थी जिसमें समस्त देश के स्त्री समाज ने बहुत अधिक रुचि ली। सौभाग्य से आज भी जहाँ नयी सभ्यता का प्रहार नहीं हुआ है वहाँ इस कला में अभिरुचि देखी जाती है। बंगाल में इसे अल्पना, बिहार में ऐपन, उत्तर प्रदेश में चौक पूरना, राजस्थान में माड़ना, गुजरात और महाराष्ट्र में रंगोली (सं० रंगवल्ली) और दक्षिण में कोलम् कहते हैं। इनमें जो आकृतियाँ लिखी जाती हैं उनकी ओर कुछ थोड़ा ही ध्यान अभी दिया गया है; किन्तु समस्त सामग्री का विशेष तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। इसी प्रकार राजस्थान में मेंहदी के रूप में शरीर को भी सुन्दर चित्रात्मक आकृतियों से अलंकृत करने की प्रथा आज तक पायी जाती है। इसे प्राचीन काल में 'विशेषक' रचना कहते थे। स्त्रियाँ अपने ललाट, कपोल, स्तन और हाथों पर इस प्रकार के सुरुचिपूर्ण अलंकरण बनाती थीं। धूलि-चित्र के रूप में भी इस कला का भारतवर्ष में बहुत विकास हुआ और मथुरा, वृन्दावन आदि केन्द्रों में आज भी यह जीवित कला है। विविध सूखे रंगों की सहायता से भूमि पर अनेक देव-लीलाओं का चित्रण किया जाता है, जिनमें 'भागवत' सम्बन्धी कृष्ण-लीलाएँ मुख्य हैं; किन्तु किसी भी मानवीय दृश्य या प्राकृतिक दृश्य को लेकर धूलि-चित्र या साँझी का निर्माण किया जाता है और देवीलीला के साथ ऐसा प्रायः करते भी हैं। न केवल भूमि पर बल्कि किसी चौड़े पात्र में भरे हुए स्थिर जल के ऊपर भी धूलि-चित्रों की रचना युक्ति से की जाती है। इस प्रकार के चित्र लिखने के लिये खाके काटकर रख लिये जाते हैं, जिन्हें बहुत वर्षों तक अनेक बार काम

में लाते रहते हैं। संस्कृत में इन्हें 'छेद्य' या 'पत्रछेद्य' कहते थे और आजकल अँग्रेज़ी में 'स्टेंसिल' कहते हैं। किसी समय खाके काटने का शौक़ यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि सीमन्त लोग दरबार में पहुँचकर सम्राट् की प्रतीक्षा करते हुए पत्रच्छेद बनाने में अपना मनोविनोद करते रहते थे। बाण ने 'कादम्बरी' में इस प्रथा का उल्लेख किया है। तरह-तरह के मिट्टी के पात्रों को भी चित्रों से सजाया जाता था और उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग तथा बिहार में आज भी ऐसे अलंकृत या प्रतिमण्डित पूर्णघट बनाने की प्रथा है। कहने का आशय यह है कि भित्ति-चित्र, पट-चित्र, ग्रन्थ-चित्र आदि नाना रूपों में भारतवर्ष में चित्रकला का लगभग ढाई सहस्र वर्षों तक देश भर में व्यापक प्रचार रहा।

चित्रकला के विषयों का विस्तार तो जीवन के विस्तार के सदृश ही था। जितना जीवन उतने ही चित्रों के विषय। बाण के शब्दों में चित्रों को त्रिलोकी संपुंजन समझा जाता था, अर्थात् तीनों लोकों में मानव-जीवन और देवों के जीवन के जितने विषय हैं वे सभी चित्रों के विषय भी हैं। उज्जयिनी के भित्ति-चित्रों में देव, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, असुर, मानव, पशु-पक्षी आदि के अनेक रूप, चरित्र और विधान लिखे जाते थे। प्रायः अभिजात पुरुषों के आवासों में नव दम्पति के लिये चित्रशाला नामक एक विशेष कक्ष ही बनाया जाता था। उसकी भित्तियों पर अनेक प्रकार के दृश्यों के अतिरिक्त कामदेव और उसकी रति और प्रीति नामक स्त्रियों के चित्र भी लिखे जाते थे। 'उत्तररामचरित' में पूरी रामकथा को अयोध्या के राजमहल की भित्तियों पर चित्रित करने का उल्लेख आया है। अनेक नाटकों में नायक और नायिका की प्रेम-कथा चित्र-लेखन के अभिप्राय द्वारा पुष्टि पाती है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रतिकृत चित्र बनाने का वर्णन आया है। ज्ञात होता है कि सुसंस्कृत नागरिक पुरुष और स्त्रियाँ छवि-चित्र या शबीह अंकित करने में अभ्यस्त होती थीं। वात्स्यायन ने विशेष रूप से नागरिक संस्कृति के अंतर्गत चित्रकला के अभ्यास का उल्लेख किया है; ऐसे ही अन्यत्र साहित्य में 'आलेख्य शास्त्रविद्' नागर लोगों का उल्लेख आया है। 'मेघदूत' में यक्ष अपनी प्रणय-कुपिता या मानिनी स्त्री का उत्तम चित्र लिखने का प्रयत्न करता है। एक प्रथा यह भी थी कि राज-सभाओं में प्रसिद्ध चित्रकारों का सम्मान किया जाता था और स्वयं राजा उनकी कृतियों में रुचि लेते थे। 'तिलकमंजरी' नामक गद्य-ग्रन्थ में उल्लेख है कि स्वयं सम्राट् निपुण चित्रकारों द्वारा लिखित रूपशालिनी राजकन्याओं के प्रतिबिम्ब चित्र देखने में समयापन करते थे।[1]

भारत के चित्रविद्याचार्यों ने विषय और कला दोनों के आतीवन की दृष्टि से जिस उच्चता को प्राप्त किया उसका विश्वविदित उदाहरण अजन्ता की गुफ़ाओं के भित्ति-चित्र हैं। कितने अधिक विस्तार से शिला में उत्कीर्ण-गुफ़ाओं के भीतर, विशाल मण्डपों की छतों पर, भित्तियों पर और स्तम्भों पर तिल-तिल स्थान को वर्ण, रेखा और भावों के कौशल से पाट दिया गया है! चित्रकला के क्षेत्र में ऐसा उदात्त प्रयत्न सम्भवतः संसार में अन्यत्र नहीं है। अजन्ता की चित्र-भित्तियाँ भारतीय चित्रकला, धर्म और जीवन की महती विधि प्रस्तुत करती हैं। गुप्तकला के दिव्य भाव और दिव्य प्रयोग उन चित्र-सद्मों में जैसे सदा के लिए बस गये हैं। मध्य प्रदेश में जातिगुम्फा के भित्ति-चित्रों में गोपाल-गूजरी नृत्य का अत्यन्त सुन्दर अंकन सुरक्षित रह गया है। एवं दक्षिण भारत की सिद्ध-निवास गुफ़ा (वर्तमान सितन्नवासल) की छत तथा भित्तियों पर नृत्य करती हुई अप्सरा और अमलवन में विहार करते हुए मत्तगजों का आलेखन अत्यन्त सुन्दर है। किसी समय एलोरा के कैलास मन्दिर में और

१—निपुणचित्रकारैश्चित्रपटेष्वारोप्य सादरमुपायनीकृतानि रूपातिशयशालिनीनामवनिपालकन्यकानां प्रतिबिम्बानि परित्यक्तान्यकर्मा दिवसमालोकयत्—तिलकमंजरी पृ. १८।

तंजोर के वृहदीश्वर मन्दिर में भी अनेक भित्ति-चित्र विद्यमान थे, जिनमें से आज कुछ ही शेष बचे हैं। ज्ञात होता है कि गुफ़ाओं और देवालयों की भित्तियों पर चित्र लिखने की प्रथा को राष्ट्रीय स्वरूप ही प्राप्त हो गया था और न केवल भारत में बल्कि बाहर भी जहाँ-तहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रसार हुआ, चित्र बनाने की प्रथा भी साथ-साथ फैल गयी। सुदूर सिंहल की सिंहगिरि पर्वत की गुफ़ाओं में किसी सम्राट् के अन्तःपुर की स्त्रियों के भावपूर्ण चित्र प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार उत्तरी छोर पर अफ़ग़ानिस्तान की वामियाँ घाटी में पहाड़ को काटकर एकाश्मक बावनग़ज़ी बुद्धमूर्तियाँ बनायी गयी थीं। उनसे सटी हुई गुफ़ाओं में बहुत से भित्ति-चित्र मिले हैं। इन चित्रों पर अजन्ता शैली का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार के चित्र उत्तर की ओर मध्य-एशिया में भी बनाये जाते थे। तूरफ़ान-नगर के भूमि-ध्वस्त अवशेषों में सर आरल स्टाइन को अनेक भित्ति-चित्र प्राप्त हुए थे। वे उन कच्ची भीतों को असि से काटकर अपने साथ ले आये थे और इस समय वे चित्र सांगोपांग रूप से नई दिल्ली के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उनमें कई शैलियों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है, जैसा कि सांस्कृतिक चतुष्पथों के उस प्रदेश में स्वभावतः होना चाहिये। भारतीय, ईरानी, चीनी और मध्य-एशियाई शैलियों के समन्वय से उन चित्रों का अंकन हुआ है। मध्य-एशिया और चीन की सीमा पर तुनुह्वान नामक अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था, जहाँ आने-जाने वाले व्यापारी पड़ाव डालते थे। वहाँ के पहाड़ में सहस्रबुद्ध गुफ़ा नामक चित्र और शिल्प की एक नगरी ही मानो बना दी गयी। वहाँ की महाप्रमाण पाषाणघटित मूर्तियाँ और भित्ति-चित्र एशिया की कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अवश्य ही वहाँ चीनी प्रभाव सविशेष है; किन्तु अजन्ता के चित्राचार्यों ने रेखा और वर्ण का जो सौष्ठव अपने यहाँ विकसित किया था उसी आदर्श और प्रेरणा से ओतःप्रोत तुनुह्वान के चित्र भी हैं। बौद्ध-धर्म ही दोनों की भाव-कल्पना का विषय है।

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के अन्तर्गत तृतीय खण्ड में एक सौ अठारह अध्यायों का एक प्रकरण है, जिसे 'चित्रसूत्र' यह सामान्य नाम दिया है। उसके अन्तर्गत देव-प्रतिमा विषय का भी विस्तार से वर्णन है; किन्तु सबसे रोचक चित्रविद्या-सम्बन्धी नव अध्याय हैं (अध्याय ३५–४३)। उनका भी सविशेषनाम चित्रसूत्र है। उनसे गुप्त-कालीन चित्र कला के सिद्धान्तों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। वहाँ कहा है कि सब कलाओं में चित्रकला उत्तम है और चित्रकला की साधना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों की प्राप्ति हो सकती है। घरों में चित्र लिखने के समान अन्य कुछ मंगलदायक नहीं है:

> कलानां प्रवरं चित्रं
> धर्मकामार्थमोक्षदम्।
> मांगल्यं प्रथमं ह्येतद्
> गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥
>
> —चित्रसूत्र, ४३।३८

एक भारतीय लेखक के लिये चित्रकला की प्रशंसा में इससे अधिक कहना सम्भव न था। गुप्तयुग में कलाओं के प्रति जो ऊँचे सम्मान की भावना थी उसका यह एक उदाहरण है। और भी कहा है, जैसे पर्वतों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़ और मनुष्यों में राजा का स्थान श्रेष्ठ है वैसे ही सब कलाओं में चित्रकला का उच्चपद है। कला का माध्यम कुछ भी हो, वह भाव को मूर्त रूप देती है। मूर्तरूप ही आकृति है। आकृति का प्राण आकारजनिका रेखा है। प्रत्येक कला में आकार-जनिका रेखा की मूलतः आवश्यकता है। उसी के विधान पर कला का सौष्ठव निर्भर है। इसी कारण 'चित्रसूत्र' के विद्वान् लेखक ने कहा है—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः
वर्त्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति
वर्णाढ्यमितरे जनाः ॥
—चित्रसूत्र, ४१।११

अर्थात् रेखा, वर्ण, वर्त्तना और अलंकरण, इन चारों से चित्र का स्वरूप निष्पन्न होता है। इनमें भी रेखा मुख्य है। चित्रविद्या के आचार्य चित्र की प्रशंसा में रेखा को प्रधान गुण मानते हैं। विचक्षण या सहृदय रसिकों की दृष्टि में वर्त्तना या चित्र की गोलाई प्रशंसा का कारण है। यद्यपि चित्र समतल पृष्ठभूमि पर बनाया जाता है किन्तु उसमें रंगों की सहायता से जो नतोन्नतभाव या गोलाई पैदा की जाती है उसे वर्त्तना कहते थे। मुग़लकला में उसे ही परदाज़ कहा जाता था। अँग्रेज़ी में उसी के लिए स्टेन्सिल शब्द है। 'चित्रसूत्र' में तीन प्रकार की वर्त्तना मानी है: विन्दुवर्त्तना, पत्रवर्त्तना और हैरिकवर्त्तना। ज्ञात होता है कि मुग़ल उस्ताद जिसे दानापरदाज़ कहते थे वही विन्दुवर्त्तना थी जो तूलिका को सीधी मुद्रा में रखकर (स्तम्भनायुक्त) बनाये जाते। उत्तरकालीन खतपूरदाज़ पत्रवर्त्तना और धुँआधार परदाज़ हैरिकवर्त्तना ज्ञात होती है। धुँआधार परदाज़ के अन्तर्गत वर्त्तना या रंगों का प्रयोग इतने सूक्ष्म रूप से किया जाता था कि उसे एक-दूसरे से अलग पहचानना कठिन था। रेखा और वर्त्तना कौशल के द्वारा चित्र मानो बोलने वाला है। अच्छे चित्र की प्रशंसा में कहा गया है:

नृत्यतीव च भूलम्भो श्लिष्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते॥
—चित्रसूत्र, ४३।२१

इसमें चित्रगत चारुत्व तत्त्व के चार अंग बताये गये हैं। भूलम्भ ब्रह्मसूत्र या बीच की रेखा है। प्रत्येक चित्र और मूर्ति के लिए वह आवश्यक है। उस मध्यवर्ती रेखा के दोनों ओर अंग-प्रत्यंगों की जितनी भाव-भंगिमा या मोड़-मुड़क चित्रकार साध सकता है वही उसकी सामर्थ्य और चित्र की शोभा है। अच्छे चित्र में ऐसा ज्ञात होता है मानो बीच ही की भूलम्भ रेखा दोनों पार्श्वों में नृत्य कर रही है। अच्छे चित्र का दूसरा गुण वर्त्तना द्वारा प्रतिपादित वह गोलाई का भाव है जिसके कारण चित्र अपनी पृष्ठभूमि से उठकर आलिंगन करता हुआ जान पड़ता है। यह गुण अजन्ता के चित्रों में अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। चित्र का तीसरा गुण उसका हँसता हुआ माधुर्य है। इस गुण के कारण चित्र में ऐसा आकर्षण रहता है कि उसे पुनः-पुनः देखने की इच्छा होती है और देखते हुए मन नहीं भरता। चित्र का चौथा गुण उसकी सजीवता है। मानो आकृति में प्राण डाल दिया गया हो। इसी के लिए कहा है:

सश्वास इव यच्चित्रं
तच्चित्रं शुभलक्षणम्।
—चित्रसूत्र, ४३।२२

इन संक्षिप्त शब्दों में समीक्षक ने उत्तम चित्र की प्राणवत्ता के सब लक्षण गिना दिये हैं। वस्तुतः रेखा, वर्ण, वर्त्तना और अलंकरण इन सब का पर्यवसान सुन्दर भाव की अभिव्यक्ति के लिए है। अतएव सर्वोत्कृष्ट चित्र वही होता है जो भावोपपन्न हो। जिस चित्र में रेखा उचित प्रकार से लिखी हुई हो, जिसमें वर्णों का समुदाय सम्यक् व्यवस्थापित हुआ हो, जिसमें चित्र के निम्न और उन्नत विभाग

स्फुट रूप से व्यक्त किये गये हों; वह सचेतन जैसा प्रतीत हो, तभी वह सच्चा चित्र है और तभी उसकी चारुता उत्कृष्ट मानी जाती है। भास कृत 'दूतवाक्य' नाटक में द्रौपदी के साम्बर-कर्षण नामक चित्रपट का अवलोकन करते हुए दुर्योधन के मुख से कहलाया गया है—

अहो अस्य वर्णाढ्यता !
अहो भावोपपन्नता !
अहो युक्तलेखता !

रेखा, वर्ण और भाव इन तीनों की समष्टि के कारण ही चित्र दर्शनीय बनता है। जैसा उसी चित्रपट को देखकर कृष्ण ने कहा था :

अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः !

चित्रलेखन और चित्रदर्शन दोनों ही संस्कृति के अंग हैं। भारतवर्ष में चित्रित पुस्तकों के पृष्ठों पर अथवा पृथक् बने हुए छोटे चित्रों के रूप में विशेषतः राजस्थानी और हिमाचल शैली के चित्रों की जो विपुल सामग्री सुरक्षित है वह मध्य-कालीन साहित्य के समान ही अध्ययन करने योग्य है। रेखाओं का कौशल, टटके रंगों की सजावट और भावों की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति के लिए राजस्थानी और पहाड़ी-चित्र विशेष सम्मान के योग्य हैं। उनके अध्ययन की परिपाटी क्रमशः परिष्कृत होनी चाहिएँ। अभी उस सामग्री का शतांश भी प्रकाशित नहीं हुआ है। अनेक भारतीय और विदेशी संग्रहों में वह सामग्री बिखरी हुई है। मध्यकालीन भक्ति-काव्य और रीतिकाव्य के भावगाम्भीर्य और वैचित्र्य को समझने के लिये ये चित्र व्याख्या स्वरूप हैं। जो साहित्यिक प्रयत्न हमें उस दिशा का ज्ञान कराता है, वह स्वागत के योग्य है।

सम्मतियां

डा० मोतीचन्द्र, संचालक, प्रिंस आव वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई

स्वाधीनता के बाद भारतीय कला का निजस्व उसके विरोधियों तक ने स्वीकार कर लिया। १९४७ के बाद देशी और विदेशी विद्वानों और कला के पारखियों में भारतीय कला को निकट से जानने का उत्साह बढ़ा और इसके फलस्वरूप लोगों की जानकारी के लिए अनेक ग्रंथ लिखे गये। पर अभाग्यवश यह सारा का सारा साहित्य अँग्रेज़ी अथवा फ्रेंच में ही प्रकाशित हुआ। हिन्दी के लेखक प्रायः कला के इतिहास से दूर ही रहे। इसका कारण स्पष्ट है। कला पर पुस्तकें लिखना तो शायद उतना मुश्किल नहीं, पर उन्हें अच्छे ढंग से छपाना आसान नहीं; क्योंकि उसमें काफ़ी पैसे लगते हैं और दाम इतना बढ़ जाता है कि पुस्तक बिकने में कठिनाई हो जाती है। पर इन सब कठिनाइयों को देखकर भी यह प्रसन्नता होती है कि हिन्दी के कुछ विद्वानों का ध्यान इस ओर है।

श्री वाचस्पति गैरोला ने अपनी पुस्तक में चित्रकला तथा आनुषंगिक रूप से और भी कलाओं के बारे में बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर दी है। अगर यह कहा जाय कि उन्होंने 'गागर में सागर' भरने का प्रयत्न किया है तो अत्युक्ति न होगी। पुस्तक में कला के शास्त्रीय पक्ष पर भी काफ़ी प्रकाश डाला गया है। कला और सौन्दर्यबोध पर श्री वाचस्पति ने चर्चा की है। इस संबंध में अगर वह भारतीय दृष्टिकोण अथवा रस-सिद्धान्त की ओर खुल कर विवेचना कर देते तो वह सोने में सुहागा का काम करता। चित्रकला और प्रविधि प्रकरण में उन्होंने 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' का अनुवाद दे दिया है; पर प्रश्न यह उठता है कि उसमें चित्रकला-सम्बन्धी जो सारी सामग्री है उसका वास्तविकता से कहाँ तक संबंध है और क्या 'विष्णुधर्मोत्तर' किसी ऐसी कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जिसका संबंध मध्य प्रदेश और दक्खिन की कला से न होकर कश्मीर अथवा गांधार की कला से है? 'चित्रसूत्र' पढ़ने में तो इतना कठिन नहीं लगता पर उसमें पारिभाषिक शब्दों का इतना मसाला भरा पड़ा है कि बिना उनको ठीक तरह समझे शाब्दिक अनुवाद बेकार सा बन जाता है।

साहित्य में चित्रकला वाले प्रकरण में कला सम्बन्धी सन्दर्भों की जाँच-पड़ताल की गयी है। संभव है कि वैदिक युग में कला रही हो पर अभाग्यवश अभी तक उसका पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिला है। लगता तो यह है कि वैदिक ऋषि कला के वाह्य उपकरणों की ओर विशेष ध्यान न देकर उन प्रतीकों और लक्षणों की कल्पना करते रहे जिनका आश्रय लेकर बाद की कला प्रस्फुटित हुई। उसी तरह राजवंशों द्वारा पल्लवित और संवर्द्धित चित्रकला का शीर्षक भ्रामक हो सकता है। कला के पुराने इतिहासकारों ने यह मान लिया था कि राजाश्रय से ही कला फूली-फली। जाँच-पड़ताल से तो यही पता चलता है कि कला के प्रोत्साहन में सबसे बड़ा हाथ व्यापारियों का था। राज्य के ज़िम्मे और भी बहुत से काम थे, जिनमें आय का अधिक भाग व्यय हो जाता था। पर व्यापारियों और धर्म में इतने पास का गठबंधन था कि स्तूपों, बिहारों और मन्दिरों के बनाने में वे सबके आगे रहते थे। इसी तरह धर्म के नाम

पर शैलियों की कल्पना भी पुरानी पड़ गयी है, क्योंकि धर्म से कला का कितना ही निकट का संबंध क्यों न हो, तकनीकी दृष्टि से वह उसका प्रतीक नहीं बन सकती।

इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक के लिखने में श्री गैरोला ने काफ़ी परिश्रम किया है। मुझे पूरी आशा है कि वह कला के इतिहास का अध्ययन भविष्य में भी जारी रखेंगे।

राय कृष्णदास, भारत-कला-भवन, बनारस

श्री वाचस्पति गैरोला हिन्दी साहित्य में उपादेय ग्रंथों के निर्माण का कार्य बड़ी तेज़ी और लगन से कर रहे हैं। वह आधे दर्जन से ऊपर रचनाएँ हमें दे चुके हैं। उनकी 'भारतीय चित्रकला' इसी दिशा में सबसे अद्यतन प्रयोग है, जिसका मैं हृदय से स्वागत करता हूँ।

हिन्दी में अभी तक इस विषय पर बहुत कम लिखा गया है; अतएव गैरोला जी का यह प्रयास स्तुत्य है। उन्होंने इतनी अधिक सामग्री इस कृति में भर दी है कि जिसका ठिकाना नहीं। यद्यपि इस पर मतभेद होना स्वाभाविक है, फिर भी इससे बड़ा उपकार हुआ है, क्योंकि इससे कितनी ही विवादग्रस्त समस्याओं की ओर ध्यान जाता है जिसके फलस्वरूप तत्वबोध होना स्वाभाविक है। एसी कृति के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

डा० सतीशचन्द्र काला, संचालक, प्रयाग संग्रहालय, प्रयाग

श्री वाचस्पति गैरोला द्वारा लिखित 'भारतीय चित्रकला' नामक पुस्तक मैंने देखी। पुस्तक हिन्दी साहित्य के लिए निस्सन्देह एक ठोस देन है। इसमें अनेक ऐसे विषयों का भी समावेश किया गया है जिनको चित्रकला-विशेषज्ञों ने सदैव गौणरूप में प्रस्तुत किया। इसी सम्बन्ध में पुस्तक का प्रथम अध्याय अति महत्त्वपूर्ण है। भारतीय चित्रकला की विभिन्न शाखाओं तथा उपशाखाओं का पुस्तक में सुन्दर विवेचन किया गया है। लेखक ने विवादास्पद धाराओं का जान-बूझ कर उल्लेख नहीं किया है। मुझे आशा है कि हिन्दी साहित्य के अध्येता एवं प्रेमी ऐसे पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथ का स्वागत करेंगे।

डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

'भारतीय चित्रकला' के लेखक पं० वाचस्पति गैरोला बड़ी लगन के साथ काम करने वालों में हैं। उन्होंने हिंदी संसार को कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें दी हैं। यह पुस्तक उनकी सब से नवीन और सब से उत्तम देन है। उन्होंने विशाल भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करके चित्रकला विषयक ज्ञान संग्रह किया है। यद्यपि भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से ही चित्रकला का बड़ा मान रहा है और जीवन के हर क्षेत्र को इसने समृद्धि दी है तथापि इसके संबंध में लिखी गई पुस्तकें कम ही उपलब्ध होती हैं। हमारे पुराने साहित्य में इसका जिस प्रकार उल्लेख मिलता है उससे तो निश्चित है कि इस विषय का साहित्य बहुत अधिक लिखा गया होगा, पर दुर्भाग्यवश अब इस विपुल साहित्य का थोड़ा ही अंश बच रहा है। गैरोला जी ने उपलब्ध साहित्य का पूरा उपयोग किया है। हमारे पुराने

साहित्य में प्रसंग-क्रम से चित्रविद्या की चर्चा नाना भाव से आई है। संस्कृत का तो शायद ही कोई ऐसा नाटक हो जिसमें कथा को अभीप्सित दिशा में मोड़ देने के लिये चित्रकला का उपयोग न किया गया हो। ऐसे अवसरों पर इस विद्या के संबंध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख भी मिल जाते हैं जो इस विषय के विवेचन के लिये बहुत काम के सिद्ध होते हैं। अन्य साहित्यांगों में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। कई पुराणों में इसकी चर्चा आती है और शिल्पग्रंथों का तो यह एक विषय ही है। इस प्रकार अनेक प्रकार की साहित्यिक कृतियों में चित्रकला विषयक विचारों और आदर्शों का उल्लेख मिल जाता है। सबको संग्रह करके उनमें अन्विति खोजना कठिन कार्य है। पं० वाचस्पति जी ने बड़े उत्साह और लगन के साथ यह कार्य किया है।

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के उल्लास को प्रकट करने वाली समस्त कलाओं में एक अन्तर्निहित संबंध खोजा था। यही कारण है कि उन्होंने नृत्य, चित्र, मूर्त्ति, नाट्य आदि में एक ही आनंदिनी वृत्ति को देखा था। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नृत्य को श्रेष्ठ चित्र कहा गया है—'नृत्यं चित्रं परं स्मृतम्!' और कालिदास ने नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ कहा है—'देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।' चित्र नृत्य है और नृत्य यज्ञ है। इन बातों से इन कलाओं की महिमा और लोकोत्तर रूप को समझाया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी का एक यूरोपियन मनीषी आदिम मनुष्य के चित्र-लेखन प्रयास को भय-मूलक प्रवृत्ति कहना चाहता था। फ्रेज़र ने जब अनेक जातियों के अध्ययन से इस बात को ग़लत सिद्ध किया तो वहाँ यह बात तुरंत स्वीकार करने योग्य नहीं मानी गई। परन्तु अब पुराजनवृत्त के अध्येता स्वीकार करने लगे हैं कि चित्रांकन का हेतु भय नहीं, आनंद है। जैसे जैसे संसार के प्राचीनतम चित्रांकन प्रयासों का पता लगता गया है वैसे वैसे स्पष्ट होता गया है कि भयमूलक रूप सृष्टि की बात कोरी कल्पना है। वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं है।

वस्तुतः भयमूलक रूपों की कल्पना और रचना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है। प्रागैतिहासिक युग में चित्रित दीवारों और गुफ़ाओं आदि के अध्ययन से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदि मानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे— प्रथम यह कि आदि-मानव का यह विश्वास था कि जिस चीज़ का चित्र बनाया जाता है वह बढ़ा करती है। अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया तो बन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी; एक बादल का चित्र उरेहा गया तो आकाश में अनेक बादल मँडराएँगे? दूसरा यह कि आदि मानव चित्र को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि मानता था और समझता था कि किसी वस्तु के चित्र के अधिकार में रहने का फल होता है उस वास्तविक वस्तु का अधिकार में रहना। गाय का चित्र जिसके पास होगा उसके पास गाय भी होगी। संक्षेप में कह सकते हैं कि आदि-मानव की रूपरचना मांगल्य-मूलक थी, भयमूलक नहीं। जब फ्रेज़र ने पहले-पहल इन निष्कर्षों को प्रकाशित किया तो यूरोप में एक तहलका मच गया। दीर्घकाल से प्रचलित तर्कलब्ध निष्कर्षों की जड़ हिलने लगी। उन दिनों इस प्रकार की मांगल्य-मूलक रूपरचना को तांत्रिक सृष्टि या 'मैजिकल क्रिएशन' कहा जाता था।

फ्रेज़र के निष्कर्षों से विचार-जगत् में जो क्षोभ पैदा हुआ वह देर तक लोगों को आलोड़ित करता रहा। पर जब सन् १९०३ ई० में एस. रैनेक ने लगभग बारह सौ प्रागैतिहासिक चित्रों को प्रकाशित किया तो फ्रेज़र के निष्कर्षों की ही पुष्टि हुई और विरोध का वेग शिथिल हो गया। तांत्रिक सृष्टि या 'मैजिकल क्रिएशन' मांगल्य-मूलक थी। उसके आधारभूत मानसिक हेतु भय और असुरक्षा-कातरता नहीं, उल्लास और आनन्द ही थे। मनुष्य की प्रथम रूप-सृष्टि आनन्दहेतुक सिद्ध हुई। भयमूलक रूप-सृष्टि इसके बाद हुई थी। मनुष्य में जब तर्क-बुद्धि का विकास हुआ होगा तो उसने सोचा

होगा कि केवल चित्र बनाने मात्र से अभिलषित वस्तु नहीं मिल जाती, कहीं कुछ और बाधक कारण है। यही विचार-भय-जनक रूप कल्पना के मूल में रहे होंगे। उन बाधक तत्त्वों के प्रसादन के लिये उनकी रूप-कल्पना और रूप-सर्जना हुई होगी। आगे चल कर भय-मूलक रूपरचना का सिद्धान्त अमान्य हो गया। उपनिषद् के ऋषियों ने जिस प्रकार संपूर्ण सृष्टि को आनन्दजन्य माना है उसी प्रकार आधुनिक मानव-विज्ञानी प्रारंभिक काल के आदि मानव की रूप कल्पना को भी आनन्दजन्य मानता है। सारी सृष्टि को देख कर उल्लास-मुखर ऋषि ने कहा था—"आनन्दाद्ध्येव खलु भूतानि जायन्ते" (आनन्द से ही भूतमात्र उत्पन्न होते हैं) और आज का मानव-विज्ञानी उसी स्वर में आदि-मानव की रूप-रचना को आनन्दोत्थ मानने लगा है।

जिन लोगों ने आदिम जातियों की नीति, रीति का निपुण अध्ययन किया है उन्होंने देखा है कि कदाचित् भावावेग की अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ। संगीत और भाषा के साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति-प्रयत्नों में सर्व पुरातन है। विद्वानों ने आश्चर्य के साथ लक्षित किया है कि जहाँ अन्यान्य कलाएँ क्रमशः विकसित होती गई हैं या विकसित होती जा रही हैं वहाँ नृत्य का अपनी आदिम अवस्था में ही चरम उत्कर्ष हुआ होगा। आदिम जातियों के अध्ययन से विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। विवाह, शस्यागम, वर्षा, बसन्त आदि के अवसरों पर मनुष्य की अन्तर्निहित चेतन-सत्ता ने अपना उल्लास प्रकट करने के लिए इन माध्यमों का सहारा लिया होगा।

परन्तु आदि मानव का प्रथम उल्लास-नर्तन क्या सचमुच कला के क्षेत्र में आता है? मूर्तियों, चित्रों, काव्यों और शब्दों के माध्यम से मनुष्य कुछ अर्थों की व्यंजना करता है। व्यापक अर्थों में ये सभी एक प्रकार की 'भाषा' हैं। सभी किसी लक्ष्यीभूत श्रोता या द्रष्टा के चित्र में कुछ अर्थ प्रेषण करते ह। प्रेषण-सामर्थ्य के कारण ही इन्हें व्यापक अर्थ में 'भाषा' कहा गया है।

आजकल कलाओं को रचनात्मक कला कहते हैं। मध्यकाल में भी माना जाता था कि कवि या कलाकार कुछ नई 'रचना' करता है। किसी ने कहा था कि विधाता से कवि बड़ा होता है क्योंकि विधाता की सृष्टि में छः ही रस होते हैं जब कि कवि-सृष्टि में नौ रस होते हैं—षट् रस विधि कीं सृष्टि में 'नवरस कविता माँहि' अर्थात् कवि विधाता की सृष्टि से भिन्न कोई दूसरी ही सृष्टि करता है। यही बात अन्य कलाकारों के बारे में भी कही जा सकती है। इसका अर्थ है कि कवि या शिल्पी वास्तव जगत् की वस्तुओं को देखकर पहले अपने चित्त में एक मानसी मूर्ति बनाता है और फिर उसे एक नया रूप देता है। मानसी मूर्ति कवि या शिल्पी की इच्छा-शक्ति का विलास है और रूप-रचना उसकी क्रिया-शक्ति का। मानसी मूर्ति को ही भाव कहा जाता है। कवि या शिल्पी भावगृहीत रूप को शब्दों, तूलिका या छेनी आदि के द्वारा जड़ आधारों पर उतारता है। यही उसकी नई सृष्टि है। इसी अर्थ में उसकी कला 'रचनात्मक' होती है।

भारतीय कलाएँ महामाया के बंधनजयी रूप को अभिव्यक्ति देने का प्रयास हैं। पं० वाचस्पति जी ने बड़े परिश्रम से इसके विपुल और विचित्र प्रयासों का व्योरा संग्रह किया है। हज़ारों वर्ष के भारतीय इतिहास में इस प्रयास के विविध रूपों का संधान मिल जाता है। इस प्रकार की पुस्तक केवल लाभदायक ही नहीं प्रेरणादायक भी होती है। मेरा विश्वास है कि 'भारतीय चित्रकला' सहृदय पाठकों को इस ओर सक्रिय रूप से अभिमुख करेगी। मैं हृदय से इसका स्वागत करता हूँ। परमात्मा वाचस्पति जी को और भी अधिक शक्ति दें जिससे वे और भी उपयोगी ग्रंथ दे सकें।

चण्डीगढ़ —हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
२४–४–६३

कृतज्ञता ज्ञापन

इस देश के विशाल जन-मानस में पुरातन काल से कला के प्रति जो अपरिमित अनुराग और सौन्दर्य के लिए अगाध अभिरुचि रही है उसी का परिणाम है कि आज हमें इतनी विपुल कला-थाती उपलब्ध है। इस अथाह निधि के बारे में आज हम ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगा सकते। यह कला-धारा निरन्तर आगे बढ़ती गयी और दैवी तथा मानुषी अवरोधक प्रयत्न भी उसकी गति तथा नियति को विफल न कर सके। हमारी सामाजिक चेतनाओं को सदा ही उससे स्फूर्ति और गति प्राप्त होती रही। समाज के सभी वर्गों के लोगों ने कला के प्रति अपनी समान अभिरुचि प्रकट की और उसके लिए एक जैसा सम्मान प्रदर्शित किया। अपने देश के इस पुरातन कलानुराग की जब हम वर्त्तमान से तुलना करते हैं तो इस सम्बन्ध में हमारे सामने कुछ नयी बातें स्पष्ट होती हैं।

कला के सम्बन्ध को लेकर आज जो विभिन्न विचारधाराएँ सामने आयी हैं उनके सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा कर देनी अनुचित न होगी। दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियाँ आज हमारे सामने हैं। एक ओर तो यह कहा जा रहा है कि परंपरा से प्राप्त जो कुछ है, वर्तमान के लिए उसका कोई उपयोग न होने के कारण वह अनपेक्षित है और इस दृष्टि से भविष्य के लिए भी वह अनावश्यक है। परंपरा की रूढ़ियों को लाँघे बिना रचनात्मक भविष्य की स्थापना हो ही नहीं सकती। आज के लिए जो आवश्यक उपादेय और यथार्थ है उसी का मूल्य एवं महत्त्व है, अन्यथा वह उपेक्षणीय है।

इस विचारधारा के विपरीत कलानुराग का दूसरा दृष्टिकोण परम्परा की उपलब्धि को ही वर्तमान और भविष्य की प्रेरणादायिनी शक्ति स्वीकार करता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि साहित्य, कला तथा संस्कृति की जो ऐतिहासिक निधि हमें प्राप्त है उसको किसी व्यक्तिविशेष तथा कालविशेष से नहीं बाँधा जा सकता। उसका महत्त्व तो सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। यदि ऐसा न होता तो जिसको आज हम वर्त्तमान तथा भविष्य का अभिधान दे रहे हैं, एक दिन वह भी भूतकाल में परिणत हो जायगा और उसकी सारी थाती तब ऐतिहासिक रूप धारण कर निरर्थक हो जायगी। यदि परंपरा से प्राप्त सारे ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशलों को यह कह कर टाल दिया जायगा कि वर्तमान से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी अवस्था में कभी भी इतिहास का निर्माण न हो सकेगा।

अतः कला की जो विपुल विरासत या थाती हमें उपलब्ध है उसका त्रिकालव्यापी महत्त्व है और प्रत्येक कलानुरागी के लिए समान रूप से वह प्रेरणाप्रद, स्फूर्तिदायी एवं उपादेय है।

भारतीय चित्रकला के अध्येताओं एवं अनुरागियों को सुविदित है कि प्रस्तुत विषय पर वर्त्तमान शती में जो कार्य हुआ है वह प्रायः अँग्रेज़ी, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं तक ही सीमित है। किन्तु हमें यह जानकर और भी प्रसन्नता होती है कि भारतीय कलाचार्यों ने इस क्षेत्र में जो कार्य किया उसकी तुलना

में उक्त कार्य नगण्य सा है। हमारे यहाँ कला और चित्रकला पर जितनी पुस्तकें लिखी गयीं वे सभी संस्कृत में हैं और उन्हें देखकर हमें अपने देश की कलानुरागिता तथा साहित्य में उसके सम्मानित स्थान का सहज ही पता लग जाता है।

इस दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं तो हमें स्पष्ट दिखायी देता है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी की यह दिशा अभी तक अछूती ही है। हिन्दी में अब तक जो कार्य हुआ है, दो-एक पुस्तकें ही उसके प्रमाण-स्वरूप हमारे सामने हैं। ऐसी स्थिति में कलाविषयक मौलिक पुस्तकों का हिन्दी में आना जितना आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता इस बात की भी है कि हिन्दी के विकास-विस्तार के लिए कार्य करने वाली संस्थाओं द्वारा संस्कृत और विदेशी भाषाओं की कला-विषयक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हो।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय चित्रकला की अपरिमित रूप-राशि की एक झलक मात्र दर्शित है, उसकी व्यापकता को रेखाबद्ध भर किया गया है। उसका वास्तविक अध्ययन और अनुशीलन तो तभी संभव है, जब उन सैकड़ों कलाविषयक ग्रंथों की गवेषणा की जाय, जो संस्कृत में ही सुरक्षित हैं और जिनमें अधिकतर कृतियाँ अप्रकाशित रूप में विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में वेष्टनों में बँधी सामान्य अध्येता की पहुँच से दूर हैं। इनके अतिरिक्त भारतीय चित्रकला की यथार्थ जानकारी के लिए उन कलाकृतियों का सर्वेक्षण होना भी आवश्यक है, जो लाखों की संख्या में आज भी देश-विदेश की कला-वीथियों में सुरक्षित हैं और जिनकी जानकारी कुछ ही लोगों तक सीमित है।

अपने देश के कलाविदों और नयी पीढ़ी के कला-समीक्षक विद्वानों को इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। विशेष रूप से राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्री–समृद्धि के लिए इस ओर ध्यान देना और भी आवश्यक है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के सांस्कृतिक विभागों को चाहिए कि वे इस राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य को अँग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में संपन्न कराएं, क्योंकि संस्कृत की प्रकृति को, जिसमें हमारी सम्पूर्ण कला थाती सुरक्षित है, अँग्रेज़ी की अपेक्षा अपनी भाषाओं के माध्यम से अधिक सुगमतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है और समझा जा सकता है। इस तथ्य से हम सभी सुपरिचित हैं कि हमारे राजपूत, मुग़ल और पहाड़ी शैलियों के चित्रकारों की प्रेरणा का विषय हिन्दी साहित्य की मध्ययुगीन भक्ति-विषयक तथा रीतिविषयक कृतियाँ रही हैं। इन्हीं की भाव-भूमि को लेकर समस्त मध्ययुगीन चित्रशैलियों का निर्माण हुआ है। अतः हिन्दी के माध्यम से कला-विषयक पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता युक्तिसंगत होने के साथ-साथ समीचीन भी है और इस देश के जन-मानस के अनुरूप भी।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता और आवश्यकता के सम्बन्ध में इस पुस्तक के पाठकों के विचार ही मेरे लिए सर्वोपरि हैं। उसकी त्रुटियों के लिए अपने दायित्व को मैं स्वीकार करता हूँ और उनकी ओर संकेत कर देना भी मैं आवश्यक समझता हूँ।

चित्रों की दृष्टि से पुस्तक उतनी सर्वांगीण एवं संतोषप्रद नहीं बन पायी है, जितनी कि होनी चाहिए थी और जैसा कि हमारा विचार था। उसका एक कारण यह भी है कि विभिन्न कला-संग्रहों से महत्त्वपूर्ण चित्रों और ब्लाक्स को प्राप्त करना हमें अत्यन्त दुःसाध्य प्रतीत हुआ। उन लोगों के लिए तो यह कार्य सर्वथा असंभव सा है, जो स्वयं 'महत्त्वपूर्ण' नहीं हैं और जिनमें उन असंभव शर्तों को संभव बनाने का 'प्रभाव' नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में भी हमने प्रायः समस्त चित्रशैलियों के चित्र ऐतिहासिक क्रम से पुस्तक के अन्त में दे दिये हैं। इन चित्रों के लिए हम प्रयाग संग्रहालय के निदेशक डा० सतीशचन्द्र काला, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, के स्वामी श्री हरिप्रसन्न घोष (धूनी बाबू) और कामर्शियल प्रिंटिंग प्रेस, हैदराबाद, के स्वामी श्री बदरी विशाल पित्ती के विशेष रूप से आभारी हैं, जिनके सहयोग और अनुग्रह से हमें कुछ अच्छे प्लेट्स प्राप्त हो सके हैं। श्री पर्सी ब्राउन, श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर, श्री स्टेला क्रामरिश, श्री एवान स्टोकिन, श्री माधोस्वरूप वाट्स और श्री उमाकान्त पी० शाह प्रभृति कलामर्मज्ञ विद्वानों और देश-विदेश के कला-संग्रहालयों में सुरक्षित उन चित्रों के लिए भी हम अनुगृहीत हैं, जिनका उपयोग हमने इस पुस्तक में किया है। पुस्तक में समसामयिक कलाकारों के अद्यतन एवं प्रतिनिधि कलाकृतियों को देने का यत्न किया गया है; फिर भी यह इतना कठिन और विवादास्पद कार्य है कि उस पर एकमत से कुछ कहना संभव नहीं है। जिन कलाकारों के चित्रों का इस पुस्तक में हमने उपयोग किया है उनके प्रति भी हम अपना सादर आभार प्रकट करते हैं।

भारतीय चित्रकला के मर्मज्ञ उन विद्वानों का भी मैं ऋणी हूँ, जिन्होंने इस दिशा में अनवरत कार्य किया और अपनी प्रेरणाप्रद कृतियों के द्वारा इस विषय को उजागर किया। इस दृष्टि से श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर, डा० हरमन ग्वेत्स, डा० मोतीचन्द्र, पद्मविभूषण राय कृष्णदास और श्री कार्ल खाण्डेलवाल की पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनाओं से मैंने विशेष सहायता ली है। एतदर्थ इस पुस्तक में जो कुछ भी श्रेयस्कर है वह इन्हीं विद्वानों के ऋण का फल है।

इस पुस्तक के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री राय कृष्णदास, डा० मोतीचन्द्र और डा० सतीशचन्द्र काला ने अपनी सम्मतियाँ भेज कर मेरा जो उपकार किया है उसके लिए मैं इन आदरणीय विद्वानों का चिर उपकृत हूँ। इसी प्रकार हमारे तनिक अनुरोध पर अनेक कार्यों की व्यस्तता और समयाभाव के बावजूद उपोद्घात और भूमिका लिख कर डा० सम्पूर्णानन्द और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो अनुग्रह किया है उससे पुस्तक की उपयोगिता तो बढ़ी ही, साथ ही इन कलावेत्ता विद्वानों के विचारों से पुस्तक के एक अछूते अंग की भी पूर्ति हो गयी। अतः इन विद्वानों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

'मित्र प्रकाशन गौरव ग्रंथमाला' के सम्पादक आदरणीय सुहृद् श्री श्रीकृष्ण दास जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने मात्र से ही उनकी कृपाओं का ऋण नहीं चुकाया जा सकता; उसको चुकाना भी नहीं चाहता। इस ग्रंथमाला द्वारा उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक कृतियों से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में जो योगदान किया है और जिस आदर्श की प्रतिष्ठा की है वह श्लाघनीय एवं अनुकरणीय हैं। इस प्रसंग में यह कह देना भी अनुचित न होगा कि लेखकों के सम्मान और हित को सर्वोपरि महत्व देकर उन्होंने अपने कर्तव्य को भलीभाँति निभाया है। कदाचित् यह इसलिए भी संभव हो सका कि उनको उदार, सहृदय और सुपात्र प्रकाशक का सहयोग प्राप्त है। श्री दास बाबू के संपादन, सत्परामर्श, सहयोग और सुझावों के परिणामस्वरूप ही यह पुस्तक इस रूप में सामने आयी है।

और, अन्त में मैं मित्र प्रकाशन के संचालकों श्री बी० एन० घोष तथा श्री आलोक मित्र के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मेरे सभी सुझावों तथा परामर्शों को वरीयता दी और पुस्तक के प्रकाशन में उत्साह, सहृदयता तथा तत्परता का परिचय दिया।

३३/९ करेला बाग़ कालोनी
इलाहाबाद

—वाचस्पति गैरोला

भारतीय चित्रकला

आस असाढ़
प्राचीन चित्र
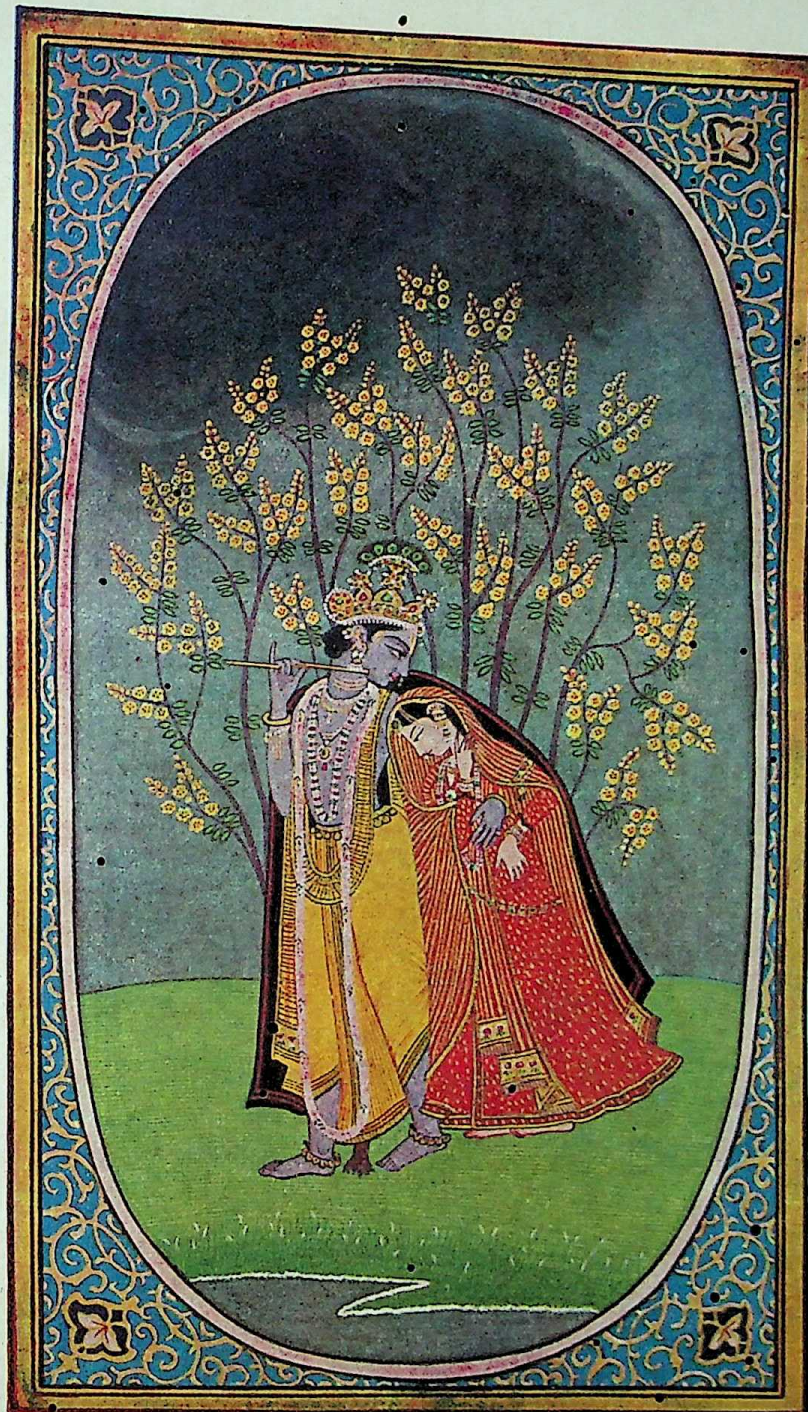
आस असाढ़
प्राचीन चित्र

कला और सौन्दर्यबोध

भा. चि.-४

कला की उपलब्धि

कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उदयवेला का इतिहास कला के ही हाथों से लिखा गया। विश्वात्मा की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में उसी का आधान है। वह अनन्तरूपा है और उसके इन अनन्त रूपों की निष्पत्ति ही कलाकार (परमेश्वर) है। जितने भी तत्त्वविद्, साहित्यस्रष्टा और कलासेवी हुए, उन सब ने भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसंधान किया है।

कला की आज जो परिभाषा की जा रही है वह पहले की अपेक्षा भिन्न है। शिल्प और कलाविषयक प्राचीन ग्रंथों में कला को 'हस्तकौशल', 'चमत्कारप्रदर्शन' या 'वैचित्र्य' से बढ़कर ऊँचा दर्जा नहीं दिया गया; अवश्य ही उसको साहित्य से अलग करके देखा जाता रहा है। उसको 'वस्तु का रूप सँवारने वाली विशेषता' कहा गया है, जैसा कि क्षेमराज की **'शिवसूत्रविमर्शिणी'** से स्पष्ट है **'कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा'**। किन्तु परवर्ती युगों और वर्तमान काल में कला को जिस रूप में ग्रहण किया जा रहा है उसका दायरा न तो 'वस्तु सँवारने' मात्र तक ही सीमित है और न उसका उद्देश्य 'हस्तकौशल' ही माना जाता है।

कला के लिए 'कौशल' कहने की इस सस्ती मनोवृत्ति का प्रचलन तब हुआ जब उसका एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन माना जाने लगा। इसीलिए चकोर-तीतर-बटेर लड़ाना और मल्लयुद्ध तक को कला के अन्तर्गत माना जाने लगा। इस प्रकार के सभी कौशलों का संबंध मनोरंजन से था; और यद्यपि कला के चौंसठ या इससे भी अधिक भेद करके तब यह समझा गया कि कला का क्षेत्र इतना व्यापक है, किन्तु वास्तव में इस प्रवृति ने कलाबोध और कलामान, दोनों की स्वस्थ गवेषणा को व्यर्थ के बौद्धिक विलास में खो दिया। कला के संबंध में यह विलासिता की प्रवृत्ति थी, जिसका व्यापक पैमाने पर प्रचार रहा।

किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि समाज, साहित्य तथा संस्कृति की समस्त दिशायें इस सस्ती मनोवृत्ति से ही आच्छन्न थीं; बल्कि कला की धार्मिक और आध्यात्मिक परम्पराओं को स्वीकार किये जाने के साथ-साथ उसको व्यावहारिक जीवन के साथ एकरस करने के लिए भी यत्न होते रहे। कौटिल्यकालीन (४०० ई० पूर्व०) समाज में कला को चारु और कारु, दो रूपों में स्वीकार किया गया था, जिसको बाद में क्रमशः ललित और उपयोगी नाम से कहा गया। ललितकला के अन्तर्गत संगीत (नृत्य, गायन, वाद्य), काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला (भवननिर्माण) और अभिनय का समावेश हुआ। कला का यह वर्ग-विभाजन न केवल मनोरंजन के लिए था; बल्कि सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक उपयोगिता के साथ-साथ उसका एक सूक्ष्म पहलू भी था। उसका वह सूक्ष्म पहलू धर्म और अध्यात्म के समन्वय से उत्प्रेरित था।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि भारतीय साहित्य और जनजीवन में कला की आराधना सूक्ष्म और स्थूल, दो रूपों में की जाती रही है। इसलिए कला की साधना सूक्ष्म से स्थूल की ओर भी हो सकती है और स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी। विद्यारण्य मुनि की **'पंचदशी'** के 'चित्रदीप' प्रकरण में कला के इन दोनों रूपों को भली भाँति समझाया गया है।

दर्शन और धर्म की सतह पर कला के स्वरूप पर विचार करने वाले विद्वानों ने कला को महामाया का चिन्मय विलास कहा है। वह महाशिव की सिसृक्षाशक्ति है, जिससे समस्त चराचर की सृष्टि हुई है। शैव दर्शन में कला के आध्यात्मिक महत्व को व्यापक पैमाने पर स्वीकार किया गया है। वहाँ महामाया के पाँच कंचुक गिनाये गये हैं : काल, नियति, राग, विद्या और कला। शिव के लिए यह रूपशक्ति प्रेरणा का कार्य करती है, जिससे शंकर लीलाभूमि (आनन्दातिरेक की अवस्था) में अवतरित होकर सृष्टि-रचना के लिए प्रवृत्त होते हैं।

'ललितास्तवराजस्तोत्र' में इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तब महाशक्तिरूपा महामाया से प्रेरित होकर वह जगत् की सृष्टि करते हैं। इसलिए शिव की लीलासहचरी होने के कारण महामाया को 'ललिता' कहा गया है। इसी महामाया, शक्तिस्वरूपा ललिता द्वारा समस्त ललित कलाओं की उत्पत्ति हुई।

क्योंकि कला की अधिष्ठातृ देवी, अपार सौन्दर्य की स्वामिनी (रूपविधायिनी शक्ति) स्वयं ललिता हैं, अतः उनके द्वारा प्रसूत कलाओं का प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि के अतिरिक्त दूसरा हो भी क्या सकता है? यह सौन्दर्य अखण्ड, व्यष्टिस्वरूप, सूक्ष्म और एकरस है। उसकी अनुभूति के माध्यम भौतिक आधार नहीं, क्योंकि वह सार्वत्रिक और निःसीम है।

इस प्रकार 'लीला' आनन्द की अनुभूति है और उसमें कला (चिन्मय विलास) सौन्दर्यस्वरूप है। इन दोनों के समन्वय से ही महामाया का सूक्ष्म ललितास्वरूप जाना जा सकता है; और साथ ही कला में सौन्दर्यबोध का यही भारतीय दृष्टिकोण है।

यद्यपि योरप के देशों में आज कला के महत्त्व को बड़े पैमाने पर स्वीकार किया जाने लगा है और साथ ही यह भी कहा जाने लगा है कि भारत में कला की वास्तविकता को समुचित रूप में नहीं समझा गया; किन्तु पश्चिम के उन विद्वानों की यह धारणा कितनी निरर्थक है, इसका स्पष्टीकरण कलाविषयक भारतीय साहित्य का सिंहावलोकन करने पर स्वतः ही हो जाता है। इसी प्रकार का आरोप सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध में भी है। सौन्दर्यबोध का जो दृष्टिकोण पश्चिम के विचारकों का रहा है, यदि हम उसकी तुलना भारतीय विचारकों से करते हैं तो हमें लगता है कि पश्चिम की अपेक्षा भारत की सौन्दर्यजिज्ञासा अधिक व्यापक एवं अनुभूतिपूर्ण है।

सौन्दर्य को तत्त्वज्ञान का आधार और उसमें लोकमंगल की अभीप्सा करने वाले योरोपीय विचारकों में प्लेटो, अरस्तू, प्लोटीनस, टालसटाय, रस्किन और काण्ट का नाम प्रमुख है। प्लेटो के मत से सौन्दर्याभिरुचि के कारण ही मनुष्य को दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है और तब वह सामान्य धरातल से ऊँचा उठ कर सब में समान प्रेम, समान सौहार्द का दर्शन करता है। प्लोटीनस का कहना है कि परमेश्वर का मंगलमय स्वरूप ही सौन्दर्य है, जिसको प्राप्त कर लेने के बाद संसार की समस्त वस्तुओं में सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है। टालसटाय का विचार है कि किसी भी कलाकृति के निर्माण का उद्देश्य लोक में धर्मबुद्धि का अधिष्ठान करना या नैतिक अभ्युत्थान की भावना की स्थापना करनी होनी चाहिए। कला, पहले जीवन के लिए है और तब उसका अन्य प्रयोजन है। कलाकृति को मनोरंजन का सस्ता माध्यम मानकर उसकी समीक्षा करना सौन्दर्यनिरीक्षण नहीं है। कला तो मानवता में ऐक्य का साधन है—ऐसा साधन, जिसमें एक ही प्रकार की भावनायें तथा अनुभूतियाँ गुंफित हैं और इसलिए इसके द्वारा मानवजाति के कल्याण की आशा की जा सकती है।

रस्किन के अनुसार धर्म, अर्थ और मोक्ष, इस त्रिवर्ग का समन्वित रूप ही सौन्दर्य है। जिस कलाकृति के द्वारा हमें इन तीनों अभीप्साओं का एकसाथ समावेश हुआ दिखायी देता है वही सौन्दर्यमंडित कलाकृति है। कला को रस्किन आन्तरिक सुखबोध के रूप में स्वीकार करता है।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू के सौन्दर्यबोध का सिद्धान्त कुछ विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। अरस्तू ने कला का अस्तित्व अधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से कला एक अनुकृति है और काव्य भी उसी के अन्तर्गत है। उनकी दृष्टि से नैसर्गिक सौन्दर्य के भीतर से बोलने वाली तथा जीवन में प्रेरणा जगा देने वाली रचना ही श्रेष्ठ कला है। कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ, स्थपति आदि सभी कलाकार हैं; किन्तु उनके अनुकरण का माध्यम या रचनाविधान की रीति एक जैसी नहीं है। यद्यपि अरस्तू की दृष्टि से समस्त कलायें प्रकृति की अनुकृति हैं; किन्तु उनकी यह अनुकरणप्रक्रिया यांत्रिक न होकर जीवन का काल्पनिक पुनर्निर्माण है।

अरस्तू के इस सिद्धान्त का यद्यपि तत्कालीन साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा और उसके परिणामस्वरूप जीवन की यथार्थ घटनाओं को भी रंगमंच पर दर्शित किया जाने लगा; किन्तु बाद के विचारकों ने अनुकृतिमात्र को श्रेष्ठ कला स्वीकार करने पर आपत्ति प्रकट की। कला में मानवस्वातंत्र्य की निष्ठा का समावेश भी आवश्यक समझा जाने लगा। कैमरे से उतारे गये किसी दृश्य को यदि चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा घर पर बैठे ही कैनवस पर अंकित कर दे तो इन कैमरे-कैनवस दोनों की अनुकृतियों में यद्यपि कैमरे से उतारी गयी अनुकृति मूल विषय से अधिक निकट है तब भी तूलिका द्वारा अंकित की गयी अनुकृति को ही श्रेष्ठ समझा गया। ऐसा इसलिए कहा गया, क्योंकि कैमरे की आकृति में यांत्रिक प्रक्रिया है, जब कि तूलिका द्वारा उतारे गये चित्र में मानवीय भावनाओं का अपनापन भी सन्निविष्ट है। इसलिए इस मत के विचारकों ने कला को यथार्थ का दर्पण नहीं, बल्कि उसमें मानवीय कल्पनाओं के अभिनिवेश का होना ही आवश्यक बताया।

अरस्तू की अपेक्षा काण्ट का मत कुछ कम प्रभावशाली नहीं है। काण्ट की सौन्दर्यजिज्ञासा एकसाक्षिक होती हुई भी सर्वसाक्षिक है। जब कि कोई कलाकार अपनी कृति को देखकर स्वयमेव आत्मविभोर हो जाता है, तो निश्चित ही वह कलाकृति सभी के लिए समानरूप से आनन्ददायी सिद्ध होगी। किन्तु काण्ट के मत से कलाकार में पहली योग्यता निरपेक्षता की होनी चाहिए। दूसरे उस में उसका कोई स्वार्थ निहित नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से, काण्ट का सौन्दर्यबोध व्यक्तिगत रुचिनिरपेक्ष, अतएव सर्वजनवेद्य है।

क्रोचे तथा उसके अनुयायी स्पिन गार्न आदि विचारकों के मत से, टालसटाय के विपरीत, कला एक सौन्दर्यानुभूति है और सौन्दर्य अपना प्रयोजन स्वयमेव है। उसको दूसरे प्रयोजन की आवश्यकता ही नहीं। नैतिक दृष्टि से कला में उपयोगिता को खोजना परम्परा का पूर्वाग्रह मात्र है। कला का एकमात्र उद्देश्य है अभिव्यक्ति, जो कि मूलतः एक मानस व्यापार है। क्रोचे ने 'अभिव्यक्ति' को 'सौन्दर्य' के पर्यायार्थ में स्वीकार किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि से सौन्दर्य अपने आप में एक अखण्ड अनुभूति है।

इसलिए कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि अपनी कृतियों के लिए वह किसी शिक्षाप्रद या आदर्श विषय को ही चुने;

बल्कि रेल के इंजिन से लेकर घर के आँगन में उगे हुए कुकुरमुत्ते तक किसी भी विषय को लेकर यदि वह अपने रंगों तथा रेखाओं द्वारा उसकी सहज अनुभूति को दर्शक के मन में जगा देता है तो वही वास्तविक कृति है।

यद्यपि इरविन एडीसन आदि विद्वानों ने क्रोचे के सौन्दर्यदर्शन को 'कार्यव्यग्र, नीरस जीवन की प्रतिक्रिया मात्र' कह कर उसकी आलोचना की; फिर भी योरप के कलाधरातल पर उसके व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन विचारकों के अतिरिक्त लेसिंग, बर्क, रीड, ज्वायफ्रे, बोसां, हेगेल, सेफ्ट्सबरी, श्लेगल और शिलर प्रभृति विद्वान् वीक्षाशास्त्रियों का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। योरप के इन सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्यबोध के लिए अपने अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किये; किन्तु उनके दृष्टिकोणों का यदि हम कोई सर्वमान्य हल खोजना चाहें तो वह असंभव है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि सौन्दर्य का निश्चित स्वरूप या उसकी परिभाषा को निर्धारित करना संभव ही नहीं है।

भारतीय दृष्टि से सौन्दर्यबोध का संबंध वस्तुजगत् के बाहर और भीतर, दोनों ओर से रहा है। भौतिक और आध्यात्मिक उसके दो पक्ष रहे हैं। वस्तुतः इन दोनों पक्षों को समान दर्जा दिये बिना सौन्दर्य की जो खोज होगी उसको सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के सौन्दर्यदर्शन के लिए विशेष दृष्टि का होना आवश्यक है। यह विशेष दृष्टि ही किसी कलावस्तु का गुण है, जो कि प्रत्येक कलाकृति में सूक्ष्म या स्थूल रूप में विद्यमान रहती है और जो दर्शक को कलाकार की अनुभूति तक ले जाने का माध्यम बनती है।

कला के वाह्य सौन्दर्य के स्वरूप की पहचान और परख के लिए पहला गुण है 'समानरूपता'। इस समानरूपता से ही कलाकार कलाकृति में सुरुचि का समावेश करता है। उदाहरण के लिए यदि चित्र में आकृति के प्रत्येग अंग-उपांग को समुचित ढंग से चित्रित न किया जायगा तो निश्चित ही देखने वाले के हृदय में उससे विरुचि पैदा होगी। यही सुरुचि कलागत सौन्दर्य है, जो कि उसमें समानरूपता के कारण बनी रहती है।

सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए दूसरा अनिवार्य गुण है 'सुव्यवस्था'। सुव्यवस्थित ढंग से रखी हुई कोई भी वस्तु सभी को भली लगती है। कला में संयोजन, संघटन और अन्विति, इसके अपर नाम हैं। चित्र में रंगों का संयोजन उसकी सुव्यवस्था का परिचायक है। इसी प्रकार विषय के अनुसार अनुकूल वातावरण और उचित भूमिका उसकी अन्विति है। अतः चित्र में सौन्दर्यबोध के लिए सुव्यवस्था का होना आवश्यक है।

सुरुचि या सौन्दर्य के समावेश के लिए चित्र में 'विविधता' का होना भी आवश्यक है। मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि किसी भी वस्तु में अनेकता की प्रक्रिया से वैचित्र्य की उद्भावना होती है; और उस वैचित्र्य के कारण वस्तुगत सौन्दर्य एक के बाद दूसरा परिवर्त्तित होता रहता है, जिससे कि आनन्दानुभूति का तारतम्य बना रहता है। चित्र में यह विविधता कभी तो परस्पर-विरोधी तत्त्वों के समावेश से और कभी वक्रता के कारण उत्पन्न होती है। चित्र में छाया-प्रकाश और गौरवर्ण मुख पर श्यामवर्ण अलकें—ये विरोधी भाव सौन्दर्य के ही पोषक हैं। लक्षणा और व्यंजनापरक आचार्य कुन्तक की वक्रोक्तिप्रणाली इसी आनन्दानुभूति को दृष्टि में रखकर स्थापित की गयी।

आनन्दानुभूति या सौन्दर्योत्कर्ष के लिए चित्र में रेखा-रंग-आकृति और भाव, इन सब का ऐसा संयोजन होना चाहिए कि वे एक-दूसरे के उत्कर्ष को व्यक्त करें। यही 'संगति' है; और इसका चित्रकला में वही स्थान है, जो संगीत में लय तथा वादन में गति का है।

इनके अतिरिक्त भी संयम, कोमलता आदि अनेक सौन्दर्यपोषक गुण हैं।

किन्तु सौन्दर्य का यह वस्तुनिष्ट स्थूलपक्ष एकांगी है; क्योंकि इसका आधान रूप को लेकर हुआ है। इसी एकांगिकता के परिणामस्वरूप योरप में साहचर्यवाद की सृष्टि हुई, जिसके जनक थे जेफ्रे, एलिसन, बेन आदि। इन सौन्दर्यशास्त्रियों ने इस रूपाधृत सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि हमें किसी वस्तु की अनुभूति उसके वर्तमानस्वरूप के आधार पर नहीं, उसके पूर्वानुभूत स्वरूप के आधार पर होती है। जब हम एक वस्तु को सुन्दर और दूसरी वस्तु को असुन्दर कहते हैं तो उस समय हमारी दृष्टि के मूल में पूर्वकालीन अनुभूतियाँ विद्यमान रहती हैं। उन्हीं अनुभूतियों के कारण हमारे भाव और हमारी संवेदनायें उभरती हैं और तब हमें सुखदुःखातिरेक का भान होता है।

किन्तु योरप के इस साहचर्यवाद को भी एकांगी कह कर उसकी कम आलोचना नहीं हुई। सौन्दर्य को मानसजात मानने वाले क्रोचे आदि विद्वानों ने लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा वस्तु के अन्तर को स्वीकार किया है और उनकी दृष्टि से कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार ही सौन्दर्य है। क्रोचे ही एक ऐसा विद्वान् हुआ, जिसने गंभीरतापूर्वक प्रामाणिक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कला का सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ न होकर आध्यात्मिक है।

कलागत सौन्दर्य का विवेचन प्रस्तुत करने वाले भारतीय विद्वानों ने क्रोचे के विचारों की विस्तृत व्याख्या करके उस में अभिव्यक्त अन्तर्विरोध को भली भाँति समझाया है। क्रोचे के मत में जो त्रुटि है, वह है, उसकी अतिशय आध्यात्मिकता। वस्तुतः कला का संबंध जितना आध्यात्मिक जगत् से है उतना ही भौतिक जगत् से भी है। कला के भौतिक अस्तित्व को मानने के बाद ही उसकी पारमार्थिकता जानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कला की उपयोगिता जितनी पारमार्थिक है उतनी ही जागतिक भी है। इन दोनों पक्षों को साथ लेकर ही उसके सर्वांगीण स्वरूप को जाना जा सकता है।

जहाँ तक सौन्दर्यवीक्षा के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण का प्रश्न है, वेदों और वेदोत्तर बृहद् वाङ्मय में सौन्दर्य के लिए अनेक तरह के विचार व्यक्त किये गये हैं। ऋग्वेद में 'सुन्दर' शब्द की पर्यायवाची लम्बी शब्दावली और स्थान-स्थान पर अलंकृत प्रयोग, उपनिषदों में आनन्दस्वरूप परमेश्वर के लिए प्रयुक्त अनेक सौन्दर्यपूर्ण उक्तियाँ, सौन्दर्य के प्रति भारतीय साहित्यकारों के सुचिन्तन का परिणाम है। **'भागवत'** का सौन्दर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्ण का स्वरूपवर्णन भारतीय विचारकों की सौन्दर्योपासना का उत्कृष्ट प्रमाण है।

भारतीय दृष्टि से काव्यरचना का उद्देश्य सौन्दर्योपलब्धि ही बताया गया है। हमारे काव्यशास्त्रियों ने इसी सरस एवं रमणीय रचना को काव्य नाम दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो समस्त संस्कृत वाङ्मय में सौन्दर्य एवं आनन्द की आराधना के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

क्योंकि भारतीय साहित्यकारों और कलाकारों ने एक-दूसरे से प्रेरणा प्राप्त कर अपने-अपने रचनाविधान को परिपुष्ट किया है, अतः सौन्दर्य की जो चाह भारतीय साहित्य में अभिव्यक्त है, भारतीय कला पर भी उसका व्यापक प्रभाव लक्षित है। किन्तु यह प्रभाव यूनानी कला की भाँति केवल वाह्य परिवेष की अलंकृति तक ही सीमित नहीं है; बल्कि कला के आन्तर स्वरूप पर भी चरितार्थ है। भारतीय कलाकारों ने सौन्दर्य के आदर्श पक्ष को ग्रहण किया है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने वस्तुगत सौन्दर्य की उपेक्षा की हो।

भारतीय दृष्टि से कला और सौन्दर्य का नित्यसहचर संबंध रहा है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है। जिस कलाकृति में सौन्दर्य नहीं उसको कला के अन्तर्गत रखा ही नहीं जा सकता है। सृष्टा या कलाकार की सौन्दर्यमयी सर्जना का नाम ही कला है।

कला में सत्यानुभूति उसका आवश्यक अंग है। तभी तो कलाकृति के द्वारा शुद्ध विचारसृष्टि संभव है। उसी को सौन्दर्यबोध कहा गया है। वही कला का व्यापक धर्म है।

किसी प्रतिमा या चित्र के निर्माण में मूल वस्तु का अविकल अंकन ही सत्य के समावेश की परख नहीं है; बल्कि बहुधा ऐसा भी संभव होता है कि विशिष्ट प्रतीकों तथा संकेतों द्वारा आकारों और रंगों के प्रभाव से कलाकृति द्वारा दर्शक के मन में अपेक्षित भावों को उत्प्रेरित किया जा सकता है और उनसे शृंगार, हास्य, करुण आदि नवरसों की अनुभूति जगायी जा सकती है। इसी को कला में सौन्दर्यदर्शन या सत्यानुभूति कहा गया है।

कला में अनुकरणप्रक्रिया वस्तु के वाह्य स्वरूप को ही अभिव्यक्ति दे सकती है; इसलिए उससे दृष्टिसुख भले ही प्राप्त हो, अन्तस् पर उसका स्थायित्व क़ायम नहीं किया जा सकता। कला में सौन्दर्यबोध के लिए न केवल रेखाओं की स्पष्टता और रंगों की बहार अपेक्ष्य है; बल्कि उसके लिए वस्तु के गुण, धर्म, आवेग और संवेग की योजना भी अपेक्षित है। इसलिए चित्रकर्म संबंधी प्राचीन प्राविधिक ग्रंथों में भिन्न-भिन्न आकृतियों के लिए समुचित वातावरण और यथोचित रसभाव की सृष्टि का विशेष विधान किया गया है।

किसी कलावस्तु में सत्यानुभूति के लिए उसके प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पहले तो यह संभव ही नहीं और दूसरे समस्त आकार या आकृतियाँ, जो हमारे दृष्टिपथ में आती रहती हैं उनको अन्तस् में संग्रह करके रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। इसलिए वस्तुओं को नहीं, वस्तुओं के अन्तर्साक्ष्यों को ग्रहण करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार की सत्य साधना ही किसी कलावस्तु का तत्त्वदर्शन है। इस साधना के लिए अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है। यह अन्तर्ज्ञान इंद्रियों के माध्यम से बुद्धि तक पहुँचता है और निरन्तर अभ्यास के द्वारा बुद्धितत्त्व के सहारे कला में सत्य की खोज की जा सकती है।

किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि आनन्द, सौन्दर्य का अव्यभिचारी लक्षण नहीं है। यद्यपि सुन्दर वस्तु को देखकर आनन्द की अनुभूति होती है; किन्तु आनन्द को सौन्दर्य का अवच्छेदक धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसी स्थिति में हमें सौन्दर्यजनित आनन्द और दूसरे प्रकार के आनन्द का अन्तर स्पष्ट करना होगा। ऐसा संभव ही नहीं है। इसलिए सौन्दर्य की परिभाषा में रस या आनन्द का समावेश नहीं हो सकता।

यदि हम आनन्द को ही सौन्दर्य मानते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि सभी प्रकार के सौन्दर्यबोध में आनन्द की प्राप्ति होनी ही चाहिए। किन्तु ऐसा भी संभव नहीं है। उदाहरण के लिए किसी सामान्य व्यक्ति के सामने अति सुन्दर चित्र उपस्थित किये जाने पर भी उसको आनन्द का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि सभी सुन्दर चित्रों को समझने के लिए जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है वह सभी के पास नहीं होती। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे दृश्य होते हैं, जिनको देखकर सामान्य व्यक्ति भी आनन्द का अनुभव करने लगता है; किन्तु एक शिल्पी या कलाकार उससे वंचित रह जाता है। अतः सौन्दर्यबोध आनन्दानुभूति से भी ऊपर की वस्तु है।

सौन्दर्य का आधार रूप भी नहीं है, क्योंकि कालिदास के कथनानुसार जिस रूप का व्यवहार उमा ने किया था वह मात्र रूप का व्यवहार था; रूप के गर्व का व्यवहार था। इसलिए वह शंकर को रिझाने में असफल रहा। इसीलिए **'कुमारसंभव'** के पाँचवें सर्ग में रूप की अवहेलना करते हुए पार्वती ने कहा है :

'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'

वास्तविक सौन्दर्य तो वह है जो प्रिय को आकृष्ट कर ले। यह सौन्दर्य चंचलता या उच्छृंखलता में नहीं, बल्कि स्थिरता में है। ऐसी स्थिरता में जिससे वृक्ष तक निष्कंप हो जाते हैं :

'चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे'

कालिदास के अनुसार सौन्दर्य का उद्देश्य पापवृत्ति के लिए नहीं है। वह तो जीवन में सदाचार के अभ्युदय के लिए है, क्योंकि :

'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः'

अतएव भारतीय दृष्टि से कला में सौन्दर्यबोध की जो मान्यतायें रही हैं वे बड़ी सूक्ष्म, तर्कनिश्चित और मौलिक रही हैं। वे दार्शनिक दृष्टि से जितनी सुविचारित हैं, भौतिक दृष्टि से भी उनकी उतनी ही उपयोगिता है।

सौन्दर्यबोध के प्रसंग में कवि और कलाकार को लेकर विद्वानों के अनेक मत रहे हैं। अनेक विचारकों ने कला के साथ कविता या कलाकार के साथ कवि की अनुभूतियों का साम्य बताने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इन युक्तियों में कहाँ तक साम्य और कहाँ तक वैषम्य है, इसकी रूपरेखा जान लेनी भी आवश्यक है।

कवि और चित्रकार

हमारे सामने प्रश्न यह है कि एक कवि अपनी कविता में जिस बात को कहता है, एक चित्रकार उसी बात को उतने ही प्रभावशाली ढंग से अपने चित्र में अभिव्यक्ति दे सकता है या नहीं? दूसरे शब्दों में कहा जाय तो एक कवि की अपेक्षा एक चित्रकार किसी अनुभूति, भाव या संवेदना को अधिक कुशलता से चित्रित कर सकता है या कि एक चित्रकार की अपेक्षा एक कवि की कविता में एक ही तरह की अनुभूतियाँ अधिक सौष्ठवतापूर्ण होती हैं। उदाहरण के लिए कालिदास ने **'मेघदूत'** में जिस अलका का वर्णन किया है, क्या यह संभव है कि एक चित्रकार उन्हीं अनुभूतियों को चित्र में साकार कर दे; अर्थात् क्या वाणी को रेखाओं में बाँधा जा सकता है?

इसका उत्तर अनेक युगों में अनेक दृष्टियों से दिया जा चुका है। वस्तुतः देखा जाय तो काव्य और चित्र में बड़ा अन्तर है। यदि शब्दचित्र तैयार कर देना भर ही कवि का उद्देश्य माना जाय तो किसी नायिका के अंगों का वर्णन कर देना मात्र ही यथेष्ट है; इसलिए उसी को उत्कृष्ट काव्य माना जाना चाहिए। किन्तु इसको स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार तटस्थ रह कर रचा गया काव्य, काव्य नहीं है। काव्य उसी को कहा गया है, जिसमें कवि की आन्तरिक संवेदनायें कविता के माध्यम से प्रकट हो समूचे जीवन दर्शन की संवेदनाओं और अनुभूतियों को स्पर्श करें। एक सर्वांगपूर्ण और सुन्दर व्यक्तित्व जितनी प्रभावोत्पादकता से काव्य के द्वारा अभिव्यक्ति पा सकता है और संवेदनशील हो सकता है उतना चित्र के माध्यम से नहीं।

चित्र की अपेक्षा काव्य का क्षेत्र भी विस्तृत है। लेसिंग के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो कहना चाहिए कि चित्रकला पदार्थों की दृष्टिगोचर विशेषताओं का ही अंकन करती है, जब कि काव्य में क्रियाशील प्रवाहित व्यापारों का वर्णन होता है। किसी विशेष क्षण में पदार्थों के आपसी सौष्ठवयुक्त संबंधों तक ही एक चित्रकार की सीमायें होती हैं, जब कि एक कवि अपने काव्य की कथावस्तु को कलाओं

की अन्तरधाराओं में स्वतंत्र होकर ले जा सकता है। चित्रकला में कथावस्तु स्थानगत होती है, जिसकी निश्चित सीमायें हैं; किन्तु काव्य की कथावस्तु कालगत होती है, जिसकी व्याप्ति का कोई अन्त नहीं।

इसके विपरीत कई अर्थों में चित्रकार की स्थिति, एक कवि से बढ़कर है। कवि जहाँ अपनी गूढ़ वाणी से मनुष्य की आत्मा को प्रभावित एवं प्रफुल्लित करता है, वहाँ चित्रकार अपनी कणिका तथा वर्त्तिका की सहायता से चक्षुमार्ग द्वारा प्रवेश कर मानवहृदय पर अपना अधिकार कर लेता है। कवि के चित्रांकन का माध्यम भाषा है; किन्तु चित्रकार के कौशल का माध्यम रूप है। वही कला सार्थक है, जो अपने परिवेश में निहित भावों, उद्देश्यों तथा उपमानों की इस प्रकार व्याख्या करके सामने रख दे कि देखने वाला गद्‌गद् हो जाय।

इस प्रकार यद्यपि कवि और चित्रकार की स्थिति अपने-अपने उद्देश्यों या कार्यों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है, तथापि भारतीय कवियों और चित्रकारों ने जिस रूप में एक-दूसरे के विचारों को ग्रहण किया है उसको देखते हुए अधिक उपयुक्त यही जान पड़ता है कि उनमें परस्पर श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा न होकर सामंजस्य की भावनायें विद्यमान रही हैं। कालिदास ने **'कुमारसंभव'** के प्रथम सर्ग में लिखा है कि जिस प्रकार कूंची से उचित ढंग से उपयुक्त स्थानों पर रंग भरने से चित्र की आभा निखर उठती है उसी प्रकार पार्वती जी का शरीर भी नवयौवन का संसर्ग पाकर खिल उठा :

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं
सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दं
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन'

इस श्लोक से विदित होता है कि एक ओर तो कवि की लेखनी ने चित्रकार की तूलिका से प्रेरणा प्राप्त की और दूसरी ओर चित्रकार की तूलिका ने कवि की लेखनी से दिशायें ग्रहण कीं। इसलिए भारतीय दृष्टि से कवि और चित्रकार की पारस्परिक दृष्टि सौहार्दपूर्ण रही है।

विहंगम दृष्टि से बिचार किया जाय तो कवि भी एक कलाकार ही है, जो अपनी कविता में आकाश, नदी, चन्द्र, मेघ, वन, उपवन, ऋतु, पुष्प, पल्लव, गिरि, निर्झर और विहग आदि प्राकृतिक, पार्थिव वस्तुओं का चित्रण करके पाठक में सौन्दर्यानुभूति जगाकर उसको रसविभोर कर देता है।

कलाकार, कवि या शिल्पी की प्रेरणा का एक ही आधार है सौन्दर्य। यह सौन्दर्य गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में भी देखा जा सकता है और फूस की झोपड़ियों में भी। कलाकार प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्यमंडित करके रखना चाहता है, जब कि दार्शनिक प्रमाण की सत्यता पर विश्वास करता है। सत्य ही उसकी दृष्टि में सब कुछ है। दार्शनिक भी सत्य का अन्वेषी होता है; किन्तु वह भी सुन्दर का परित्याग नहीं करता। उसके समक्ष सत्य असुन्दर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि दार्शनिक सौन्दर्यमंडित सत्य को उपलब्ध करना चाहता है, जब कि कलाकार या कवि केवल सौन्दर्य का पुजारी होता है। कल्पना और अनुभूतियाँ, दोनों ही उसका सत्य हैं।

किन्तु कलाकार का सौन्दर्यबोध, दार्शनिक की उपलब्धि की अपेक्षा कुछ कम महत्व नहीं रखता। उसी के द्वारा वह रसबोध और तत्त्वबोध, दोनों को प्राप्त करता है।

★

शिल्प और कला के प्राचीन ग्रंथ

शिल्प और विश्वकर्मा

संस्कृत साहित्य में चित्रकला संबंधी प्रचुर सामग्री विद्यमान है। संस्कृत के महाकाव्य, काव्य, नाटक, कोश, पुराण और जातक आदि अनेक विषय के ग्रंथों द्वारा भारतीय चित्रालेखन की प्राचीन परम्परा और जन-सामान्य में उसकी लोकप्रियता का पता लगता है। इनके अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिनमें स्वतंत्र एवं व्यापक रूप से चित्रकला के विधि-विधानों की गंभीर व्याख्या की गयी है; किन्तु इस प्रकार के लक्षणश्रेणी के ग्रंथ इने-गिने हैं। तीसरे प्रकार के वे ग्रंथ हैं, जिनमें चित्रकलाविषयक एक अध्याय सम्मिलित कर अन्य कलाओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस कोटि के ग्रंथों की संख्या निःसंदेह अधिक है। भारतीय चित्रकला के लाक्षणिक स्वरूप पर इन्हीं ग्रंथों में विस्तार से विचार किया गया है।

चित्रकला के विधि-विधानों पर प्रकाश डालने वाले अधिकतर लक्षणश्रेणी के ग्रंथ हमें शिल्पविषयक ग्रंथों के साथ जुड़े हुए मिलते हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आगम, तंत्र, गृह्यसूत्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पंचरात्र और प्रतिमाविज्ञान आदि अनेक विषय के प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथों में भारतीय शिल्पसंबंधी सामग्री व्यापक रूप में मिलती है। शिल्पशास्त्र पर स्वतंत्र रूप से रचे गये ग्रंथ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी कुल संख्या २०० से अधिक है। और इनमें अधिकतर ग्रंथ हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हो चुके हैं।

भारतीय शिल्प के जनक, वास्तुशास्त्र के पुरातन अठारह आचार्यों की नामावली **'मत्स्यपुराण'** में इस प्रकार दी गयी है : (१) भृगु (२) अत्रि (३) वशिष्ठ (४) विश्वकर्मा (५) मय (६) नारद (७) नग्नजित् (८) विशालाक्ष (९) पुरन्दर (१०) ब्रह्मा (११) कुमार (१२) नन्दीश (१३) शौनक (१४) गर्ग (१५) वासुदेव (१६) अनिरुद्ध (१७) शुक्र और (१८) वृहस्पति।

इन अठारह आचार्यों में विश्वकर्मा का नाम उल्लेखनीय है। पुराणों, अर्थशास्त्र और शिल्पशास्त्र विषय के ग्रंथों में विश्वकर्मा को बड़ी निष्ठा से स्मरण किया गया है। ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदान्त तथा अन्य दर्शनों के ग्रंथों में उल्लिखित सृष्टिकर्मा, अपरनाम विश्वकर्मा, दोनों भिन्न थे। शिल्पशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रथम प्रतिनिधि होने के कारण विश्वकर्मा की आज भी प्रति वर्ष पूजा होती है। उनकी यह लोकप्रियता गुप्त युग से भी पहले प्राप्त हो चुकी थी। उस समय तक वे शिल्पशास्त्र के अपूर्व आचार्य के रूप में विश्रुत हो चुके थे। अन्य सत्रह पुरातन आचार्यों की अपेक्षा विश्वकर्मा की ख्याति का एक कारण यह भी रहा है कि उन्होंने शिल्प की दिशा में नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों और नयी लोकप्रिय पद्धतियों को प्रचलित किया।

'मानसार' नामक शिल्पविषयक ग्रंथ में विश्वकर्मा को ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने चार मुखों से जिन चार स्थपतियों को जन्म दिया उनमें विश्वकर्मा का प्रथम स्थान था। वह देवताओं का शिल्पी था। पुराणों में उसके पिता का नाम प्रभास लिखा मिलता है। राजप्रासादों, उद्यान-उपवनों, मूर्तियों, आभूषणों, सरोवरों तथा कूपों आदि के निर्माता के रूप में उसकी बड़ी प्रशस्ति गायी गयी है।

आचार्य भरत के **'नाट्यसूत्र'** से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने एक सुन्दर नाट्यशाला का निर्माण कर अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया था। रावण की अनुपम लंकापुरी का निर्माता भी विश्वकर्मा को ही बताया गया है। ब्रह्मा के 'दैवीरथ पुष्पक' का निर्माण भी उसी ने किया था। गिरिराज हिमालय के आग्रह पर उसने ऐसा सभाभवन बनाया जो स्थान-स्थान पर घोड़ों, मयूरों तथा हरिणों की दिव्य आकृतियों से चित्रित और अनेक देवमूर्तियों से सज्जित था।

विश्वकर्मा अद्भुत शिल्पी होने के अतिरिक्त, असामान्य लेखक भी था। शिल्पशास्त्र पर उसने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया था। उसको **'विश्वकर्माप्रकाश'** का निर्माता माना गया है। यह ग्रंथ संप्रति कई संस्करणों में उपलब्ध है। इस ग्रंथ की पुष्पिका से विदित होता है कि विश्वकर्मा समग्र शास्त्रों का ज्ञाता तथा स्वभाव से महात्मा था। इस ग्रंथ के निर्माण का उद्देश्य स्वयं उसने लोकहित बताया है। ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, में सुरक्षित **'विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र'** नामक कृति भी विश्वकर्मा की ही रचना मानी जाती है।

प्रथम चित्राचार्य वर्धकी

'मानसार' के उल्लेखानुसार महाविश्वकर्मा (ब्रह्मा) के चार मुखों से विश्वकर्मा, मय, त्वष्टा और मनु उत्पन्न हुए। विश्वकर्मा ने इन्द्र की पुत्री से विवाह किया। उससे जो संतति उत्पन्न हुई उसको स्थपति कहा गया। इसी प्रकार मय तथा सुरेन्द्रतनया के सहयोग से सूत्रग्रह, त्वष्टा तथा वैश्रवणसुता द्वारा वर्धकी और मनु तथा नलकन्या से तक्षक उत्पन्न हुआ।

स्थपति सब में प्रधान है। वह समस्त शास्त्रों में पारंगत है। उसी के संरक्षण में मय आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। सूत्रग्रह का कार्य नापना-जोखना तथा मानचित्र बनाना है। उसके अधीन वर्धकी और तक्षक कार्य करते हैं। वर्धकी का कार्य चित्रकर्म और तक्षक का कार्य काटना-जोड़ना है।

इसलिए विश्वकर्मा की परम्परा में कला के विकास का जो क्रम रहा उसमें चित्रविद्या को ऋषिस्थानीय महापुरुष वर्धकी को सौंपा गया। आचार्य वर्धकी का नाम यद्यपि प्रमुख शिल्पियों में है और उनके नाम से कुछ कलाविषयक ग्रंथों का नाम भी हस्तलिखित ग्रंथों के सूचीपत्रों में देखने को मिलता है किन्तु सुनिश्चित रूप से उनके नाम पर आज कोई ग्रंथ रूढ नहीं है। इसी प्रकार प्रथम चित्राचार्य होने के नाते, चित्रविद्या पर, उनकी कोई कृति अब तक नहीं मिली है।

शिल्प और वास्तु

इन दोनों शब्दों को समानार्थक या लगभग एक ही समझा जाता है। वस्तुतः यह बात नहीं है। वास्तु, शिल्प का एक अंश है; शिल्प की सत्ता बहुत व्यापक है। शिल्प के दस विभाग किये गये हैं, जिनके नाम हैं :- (१) कृषि (२) जल (३) खान (४) नौका (५) रथ (६) विमान (७) वास्तु (८) प्राकार (९) नगर रचना और (१०) यंत्र। ये दसों विभाग एक ही शिल्पशास्त्र के अनुशास्त्र हैं, जिनमें वास्तु का भी एक स्थान है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में 'शिल्प' शब्द को कला-कौशल के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। भवननिर्माणसंबंधी प्रसंगों में 'शिल्प' शब्द से वास्तु-कला को ग्रहण किया गया है; किन्तु वास्तुविद्यासंबंधी शास्त्र में केवल भवन-निर्माण (वास्तु) का ही वर्णन नहीं है; बल्कि **'मानसार'** में उसको **हर्म्य** (भवन-निर्माण), **धरा** (भू-परीक्षा), **यान** (रथ, यंत्र आदि की रचना) और **पर्यंक** (शयन पीठ) आदि अनेक विषयों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसलिए भी दोनों शब्दों की पृथक्ता स्पष्ट है।

शिल्पिक और कलाकार

'शिल्प' अति प्राचीन शब्द है; किन्तु विभिन्न युगों में उसका अर्थबोध अनेक नामों से होता रहा। शिल्प और कला की प्राचीनता वैदिक युग तक पहुँचती है। वैदिक युग का यह शिल्प-कला-विधान भौतिक धरातल पर अवस्थित हुआ प्रतीत होता है; किन्तु बाद में अन्य विषयों के समान उसको भी धर्म, अध्यात्म तथा शास्त्र के बंधनों से जकड़कर उसकी गति में रोक लगा दी गयी। वैदिक युग के बाद ब्राह्मण युग में 'शिल्प' शब्द नृत्य, गीत तथा वाद्य के लिये प्रयुक्त होता था, यथा **'त्रिविधो शिल्पं, नृत्यं-गीतं-वादित्रमिति'** (**कौषीतकी** २९।५)। ये नृत्य, गीत आदि ललितकला के अन्तर्गत परिगणित होने लगे। **'रामायण'** में 'शिल्प' और 'कला' इन दोनों शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया गया है **'नाना शिल्पकलाज्ञश्च'** (**रामायण**, १।३०१।५)।

इस युग के शिल्पियों के प्रमुख कार्य यज्ञवेदियों का निर्माण करना (**रामायण**, बाल० १४।२५) तथा मार्ग बनाना (अयो० ७९।१३) था। इस प्रकार शिल्पियों की एक पृथक् श्रेणी बन गयी, जिसको कारीगरों की श्रेणी कहा जाने लगा। बाद में शिल्पी के अन्तर्गत **स्थपति** (भवन-निर्माता), **सूत्रग्राही** (बढ़ई), **तक्षक** (मूर्तिकार) और **मृणमर्मज्ञ** (कुंभकार) आदि भी गिने जाने लगे। **'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण'** में विश्वकर्मा के जिन नौ पुत्रों को **'शिल्पकारिणः'** के नाम से संबोधित किया गया है उनके नाम थे (१) मालाकार (माली) (२) कर्मकार (लुहार) (३) शंखकार (शंख पर काम करने वाला) (४) कुविन्दक (कोरी या जुलाहा) (५) कुम्भकार (कुम्हार) (६) काँसकर (कसेरा) (७) सूत्रधार (बढ़ई) (८) चित्रकार और (९) स्वर्णकार (सुनार)। **'अग्निपुराण'** (२८।४०-४२) में एक सहस्त्र शिल्पों का निर्देश है और उन्हें जीविकोपार्जन का माध्यम बताया गया है। इन पुराणग्रंथों में चित्रकला को शिल्प का ही एक अंग मानकर उसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इनमें **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें चित्रकला और मूर्तिकला को स्वतंत्र दर्जा दिया गया है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में प्रयुक्त 'शिल्प' शब्द अनेकार्थक है। आज जिस रूप में शिल्प का आशय ग्रहण किया जाता है, प्राचीन काल में उसको दूसरे ही अर्थ में लिया जाता था। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पूर्व) की **'अष्टाध्यायी'** में शिल्प को **चारु** (ललित) और **का** (उद्योग), इन दोनों के लिए लिया जाता था। आचार्य कौटिल्य (४०० ई० पूर्व) के **'अर्थशास्त्र'** के 'धर्मस्थीय' नामक अधिकरण में **कारुक** शिल्पियों की नामावली और उनके कार्यों की तालिका दी गयी है।

ज्योतिषशास्त्र के आचार्य वराहमिहिर (५०० ई०) की **'बृहत्संहिता'** के ५३, ५६, ५७, ५८ और ७९ अध्यायों में वास्तु, शिल्प और कला का सुन्दर विवेचन किया गया है। उसके 'प्रासादलक्षण' नामक ५६वें अध्याय में बीस प्रकार के प्रासादों का वर्णन और मंदिर की भूमि, द्वार, गर्भद्वार, चित्रण, प्रतिमाप्रमाण तथा भूमिकाउच्छ्रय आदि विषयों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'प्रतिमालक्षण' नामक ५८वें अध्याय में पाषाणकला पर प्रस्तुत वराहमिहिर के विचार पठनीय हैं। इस ग्रंथ में वास्तु शिल्प के पुरातन सात आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है, जिनके नाम हैं : (१) गर्ग (२) मनु (३) वशिष्ठ (४) पराशर (५) विश्वकर्मा (६) नग्नजित् और (७) मय।

भोज के समय (१०१०--१०५५ ई०) तक चित्रकला का स्वतंत्र रूप से इतना विकास हो चुका था और उसका इतना महत्त्व बढ़ चुका था कि उसको शिल्प की सीमाओं से तो अलग किया ही गया, उसको समग्र शिल्पों में प्रमुख और लोक के अनुरागविनोद का भी विषय माना जाने लगा था :

'चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्'

--समरांगणसूत्राधार

शिल्पशास्त्रविषयक प्राचीन ग्रंथ

शिल्पशास्त्रविषयक उपलब्ध ग्रंथों के संबंध में पहले संकेत किया जा चुका है। इन ग्रंथों की संख्या अनुमानतः दो-सौ से अधिक है। पुराने हस्तलेख-संग्रहों से इस विषय के ग्रंथों का उद्धार करनेवाले विद्वानों में महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। उनके द्वारा शिल्पशास्त्र पर संपादित ग्रंथों के नाम हैं : (१) **'वास्तुविद्या'** (२) **'मयमतम्'** (३) **'मनुष्यालयचन्द्रिका'** (४) **'शिल्परत्नम्'** और (५) **'समरांगणसूत्राधारम्'**। प्राचीन पद्धति से शिल्पशास्त्र के विधानों के अनुसार मूर्तियों का निर्माण करने वाले उड़ीसा के वर्तमान शिल्पकारों के पास आज भी अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथ इस विषय पर हैं। इस प्रकार के ग्रंथों में **'भुवनप्रवेश'**, **'शिल्पसदाज्य'** और **'शिल्पशास्त्र'** आदि का नाम लिया जा सकता है। उड़िया लिपि में लिखा हुआ सभाष्य **'शिल्पशास्त्र'** नामक एक ग्रंथ को कुछ दिन पूर्व प्रो० फणीन्द्रनाथ वसु ने संपादित कर 'पंजाब संस्कृत सीरीज़' से प्रकाशित कराया था। इस संबंध में वसु महोदय का कथन है ('भारतीय शिल्पशास्त्र' शीर्षक लेख, **विशाल भारत**, कला अंक, भाग ७, अंक १, १९३१) कि नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में आज भी ऐसी शिल्पशास्त्रविषयक दुर्लभ पोथियाँ सुरक्षित हैं, जिनके संबंध में अब तक यह अनुमान किया जाता था कि वे ग्रंथ विलुप्त हो चुके हैं। नेपाल दरबार द्वारा विश्वभारती पुस्तकालय को प्रदत्त कुछ मूल्यवान् पाण्डुलिपियों में वसु महोदय ने एक **'प्रतिमालक्षण'** नामक शिल्पशास्त्रविषयक पुस्तक को भी उक्त सीरीज़ में संपादित कर प्रकाशित कराया। इसी प्रकार गुजरात में **'अपराजित'** और **'गृहवास्तुसार'** आदि ग्रंथों के होने की संभावना बतायी जाती है।

महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा की पुस्तक **'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'** (पृ० १०७, १९५१) में (१) **'वास्तुसौख्य'** (२) **'अपराजित वास्तुशास्त्र'** (३) **'प्रासादानुकीर्तन'** (४) **'चक्रशास्त्र'** (५) **'चित्रपट'** (६) **'जलार्गल'** (७) **'पक्षिमनुष्यालयलक्षण'** (८) **'रथलक्षण'** (९) **'विमानविद्या'** (१०) **'विमानलक्षण'** (११) **'विश्वकर्मीय'** (१२) **'कौतुक लक्षण'** (१३) **'मूर्तिलक्षण'** (१४) **'प्रतिमाद्रव्यादिवचन'** (१५) **'सकलाधिकार'** (१६) **'सारस्वतीय समरांगण सूत्राधार'** (१७) **'विश्वविद्याभरण'** (१८) **'विश्वकर्मप्रकाश'** (१९) **'समरांगणसूत्राधार'** (२०) **'मयशिल्प'** और (२१) **'विश्वकर्मीय शिल्प'** आदि अनेक शिल्पविषयक ग्रंथों की नामावली दी हुई है।

शिल्पशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र विषय के ग्रंथों में मयमाचार्य का **'मयमत शिल्पशास्त्र'** (ओरि० मन्यु० लाइ० मद्रास), कश्यप की **'अंशुमद्भेद'**, **'विश्वकर्मीय शिल्प'** (या **विश्वकर्मा प्रकाश, विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र**), अगस्त्य कृत **'अगस्त्य सकलाधिकार'**, सनत्कुमार कृत **'सनत्कुमार वास्तुशास्त्र'**, मंडन कृत **'शिल्पशास्त्र'** (या **वास्तुशास्त्र, प्रसादमण्डन वास्तुशास्त्र**) आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त इस विषय पर एक ऐसा संग्रह ग्रंथ भी प्राप्त है, जिसमें **मानसार, मयमत, कश्यप, विश्वकर्मा,**

अगस्त्य, भृगु, पौलस्त्य, नारद, नारायण, मौषल्य, शेषभाष्य, चित्रसार, सारस्वत, विश्वसार, चित्रज्ञान, कपिंजल संहिता, कौमुदी, ब्रह्मशिल्प, ब्रह्मयामल, दीप्तितंत्र और **दीप्तिसार** आदि २१ ग्रंथकारों एवं ग्रंथों के मतों का उल्लेख किया गया है। उनमें प्रथम पाँच ग्रंथों का ही अब तक पता लग सका है।

डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने भोज के **'समरांगणसूत्राधार'** पर शोधकार्य किया है और उसे पाँच खण्डों में प्रकाशित कराया है। अपने इस शोध प्रबंध में उन्होंने शिल्पशास्त्र पर यथासंभव समस्त सामग्री का विश्लेषण किया है। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में उन्होंने शिल्पशास्त्रविषयक १९४ ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त डॉ० पी० के० आचार्य द्वारा सात भागों में संपादित **'मानसार'** ग्रंथ भी दृष्टव्य है। **'मानसार'** में भी पूर्ववर्ती ३२ आचार्यों का उल्लेख हुआ है, जिससे पता चलता है कि वास्तुशिल्प पर लक्षण ग्रंथों की रचना बहुत प्राचीन काल से होने लगी थी।

इस प्रकार शिल्प-विषयक ग्रन्थों की भी रचना विश्वकर्मा से लेकर लगभग १६वीं शताब्दी तक निरन्तर होती रही। श्री कुमार का **'शिल्परत्न'** इस कड़ी का अंतिम प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसकी रचना १६वीं शताब्दी में हुई।

चित्रकर्मविषयक विशिष्ट ग्रंथ

ऊपर जिन शिल्पशास्त्र-विषयक ग्रंथों का उल्लेख किया गया है उनमें वार्ता, शिल्प, व्यवसाय, राजनीति, धर्मशास्त्र, पशुपालन और अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयों का एक साथ समन्वय है। इनमें से कुछ ग्रंथों में चित्रकर्म पर भी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। जिन ग्रंथों में चित्रकर्म पर विशेष रूप से विचार किया गया और वस्तुतः जिनको पढ़कर भारतीय चित्रकला की प्राचीन समृद्धि का सहज ही में परिचय मिलता है, उन ग्रन्थों में **'विश्वकर्मप्रकाश', 'मयमत', 'मानसार', 'चित्रसूत्र', 'चित्रलक्षण', 'चित्रकर्म शिल्पशास्त्र', 'समरांगणसूत्राधार', 'कलाविलास', 'मानसोल्लास', 'वृत्तांतप्रकरण'** और **'शिल्पकलादीपिका'** का नाम लिया जा सकता है। इनमें भी **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** का 'चित्रसूत्र', नग्नजित् या भयजित् का **'चित्रलक्षण'**, भोज का **'समरांगणसूत्राधार'** और सोमेश्वर का **'मानसोल्लास'** प्रमुख है। आगे चित्रकला का विवेचन प्रस्तुत करने वाले जितने भी सैकड़ों प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं उन सब में **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** का 'चित्रसूत्र' एक प्रौढ़ और सर्वांगीण रचना है। इस ग्रंथ में वर्णित चित्रकला-विषयक प्राविधिक सामग्री का आगे विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विषय का दूसरा प्रौढ ग्रंथ नग्नजित् का **'चित्रलक्षण'** है। इन दोनों ग्रंथों की रचना का लगभग एक ही समय (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) है।

नग्नजित् का चित्रलक्षण

तिब्बत से प्रकाशित तंजूर ग्रन्थमाला के १२३ खण्डों में चार खण्ड शिल्पविषयक है। ये शिल्पसंबंधी चार ग्रंथ हैं : (१) **'दशतल न्यग्रोध परिमण्डल बुद्ध प्रतिमा'** (२) **'संबुद्धभाषित प्रतिमालक्षण विवरण'** (३) **'प्रतिमामानलक्षण'** और (४) **'चित्रलक्षण'**। यद्यपि प्रथम तीन ग्रंथों में चित्रविद्या पर भी विचार किया गया है; किन्तु उनमें प्रमुखता प्रतिमाविज्ञान की ही है। चित्रकला पर **'चित्रलक्षण'** ही प्रौढ़ रचना है। यह ग्रंथ तीन अध्यायों तक ही उपलब्ध है। उसके अध्ययन से स्पष्ट है कि वह अधूरी रचना है। उसके मंगलाचरण में कहा गया है कि वह विश्वकर्मा और नग्नजित् द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह है। ग्रंथ का जो तिब्बती अनुवाद आज उपलब्ध है वह मूल ग्रंथ से ही संबंधित है अथवा उसका संस्करणमात्र है, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि छठीं-सातवीं शताब्दी के आसपास प्रस्तुत ग्रंथ की प्रसिद्धि हो चुकी थी।

प्रस्तावना के उल्लेखानुसार यदि यह ग्रंथ विश्वकर्मा और नग्नजित् द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह है तो उसका संग्रहकर्ता कोई तीसरा ही व्यक्ति होना चाहिए; किन्तु यदि यह सही है तो विश्वकर्मा और नग्नजित् ने निश्चित ही चित्रकला की भिन्न-भिन्न शैलियों का निर्माण किया होगा।

राजा नग्नजित् का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। **'शतपथब्राह्मण'** की एक कथा में नग्नजित् को गांधार देश (सीमाप्रांत) का राजा बताया गया है। इसी प्रकार **'महाभारत'** और जैनसूत्रों में भी नग्नजित् का यही परिचय दिया गया है; किन्तु उसकी जीवनी के साथ कहीं भी उनके उक्त ग्रंथ का उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी इस संबंध में अधिक युक्तिसंगत यही जान पड़ता है कि नग्नजित् गांधार का ही राजा था; क्योंकि गांधारशिल्प में चित्रकला के लक्षणों का जो स्वरूप पाया जाता है उस पर **'चित्रलक्षण'** के विधानों का ही प्रभाव है। साथ ही खोतान तथा मध्य एशिया के चित्रों में गांधार शैली के प्रभाव से भारतीयता की झलक

अधिक है। इसके अतिरिक्त तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर इस ग्रंथ के संविधानों का इतना प्रभाव है कि वे सभी चित्र भारतीय मालूम होते हैं।

ग्रंथ के प्रथम अध्याय की कथा से ज्ञात होता है कि नग्नजित्, विश्वकर्मा का शिष्य था और ब्रह्मा के समक्ष जब राजा नग्नजित् ने चित्रविद्या की शिक्षा पाने के लिए जिज्ञासा प्रकट की तो ब्रह्मा ने उसे विश्वकर्मा के पास भेज दिया। विश्वकर्मा ने इस विषय में उसको विधिवत् दीक्षित किया।

चित्रलक्षण के अनुसार चित्रविद्या की उत्पत्ति का आख्यान

'**चित्रलक्षण**' के प्रथम अध्याय में चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि पुराकाल में भयजित् नामक किसी धर्मपरायण राजा के राज्य में अकस्मात् एक ब्राह्मणपुत्र की मृत्य हो गयी। पुत्रशोक से विकल ब्राह्मण, तत्कालीन प्रथा के अनुसार, राजा के पास गया और उसने राजा को यह कह कर प्रताड़ित किया कि यदि वह क्षत्रिय है और धर्म तथा ब्राह्मणों पर उसका किंचित् भी विश्वास है तो वह उसके मृतपुत्र को जीवित करे। यह सुनकर उस धर्मात्मा राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने योगबल से यमराज को बुलाया और उसके समक्ष मृत ब्राह्मणपुत्र को जीवित कर देने की प्रार्थना की। किन्तु यमराज ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। फलतः दोनों में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें यमराज की पराजय हुई। पराजित होने पर भी यमराज ने जब ब्राह्मणपुत्र को जीवनदान करने के लिए इन्कार कर दिया तो स्वयमेव ब्रह्मा ने अवतरित होकर राजा भयजित् को यमराज की पराजय की असमर्थता का कारण बताया और राजा से कहा कि वह ब्राह्मण के मृतपुत्र का चित्र अंकित करे। राजा के द्वारा चित्र बनाये जाने के बाद ब्रह्मा ने उसमें प्राणसंचार कर दिया। तदनन्तर ब्रह्मा ने राजा भयजित् से कहा 'तुमने नग्न प्रेतों को जीत लिया है। आज से तुम्हारा नाम नग्नजित् हुआ। तुम्हारा यह चित्र सृष्टि का पहला चित्र है। मर्त्यलोक में इस कल्याणकारी चित्रकला के तुम पहले आचार्य कहे जाओगे। चित्रविद्या से संसार का इसी प्रकार कल्याण होता रहेगा और इसी हेतु तुम मर्त्यलोक द्वारा सदा पूजित होते रहोगे।'

इसी प्रकार चित्रकला की दैवी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए दूसरे अध्याय के विश्वकर्मा-नग्नजित्-संवाद में बताया गया है कि संसार की कल्याण-कामना के हेतु ब्रह्मा की प्रेरणा से इन्द्रादि देवताओं ने अपने अस्त्र-शस्त्रों और मुद्राओं सहित अपनी-अपनी प्रतिकृतियाँ बनाकर ब्रह्मा को दीं, जिनको ब्रह्मा ने अर्चन-पूजन हेतु मर्त्यलोक में भेज दिया।

चित्रलक्षण का चित्रविधान

ग्रंथ के तीसरे अध्याय में चित्रकला के संविधानों पर गंभीरता से प्रकाश डाला गया है। उसमें पुरुषों, स्त्रियों, पशु-पक्षियों और प्रकृति आदि के लिए भिन्न-भिन्न रीतियाँ बतायी गयी हैं। विभिन्न आकृतियों के अंग-उपांगों के लिए कितनी लम्बाई-चौड़ाई होनी चाहिए, इसका भी उल्लेख है। ग्रंथकार का कहना है कि एक चित्रकार के लिए प्राकृतिक नियमों की जानकारी करना आवश्यक है। भावप्रधान चित्रों की उसने सराहना की है। इसलिए इन भावप्रधान चित्रों में छवि के आन्तरिक व्यापार की प्रतिक्रिया को उचित रूप से अंकित करने के लिए वहाँ अनेक वैज्ञानिक तरीके बताये गये हैं।

चक्षुचित्रण पर ग्रंथकार ने बारीकी से विचार किया है। वहाँ आकार भेद के अनुसार पाँच प्रकार के चक्षु कहे गये हैं : (१) **धनुराकृति** (२) **उत्पलपत्राकृति** (३) **मत्स्योदराकृति** (४) **पद्मपत्राकृति** और (५) **कटिसदृशाकृति**। भोगवृत्ति को अभिव्यक्त करने वाली आँखें **धनुराकृति**; सामान्य स्वरूप को बताने वाली आँखें **उत्पलपत्राकृति**; राजा, आदर्श पुरुष, प्रेमी तथा रमणी की आँखें **मत्स्योदराकृति**; भय तथा क्रंदन की सूचक आँखें **पद्मपत्राकृति** और मोही, क्रोधी आदि वृत्तियों को व्यक्त करनेवाली आँखें **कटिसदृशाकृति** की (कटि के समान दोनों किनारों पर चौड़े, किन्तु बीच में पतले) होनी चाहिएँ। आँखों का चित्रण ऐसा होना चाहिए, जिससे मानस का संपूर्ण व्यापार स्पष्ट हो।

भोज का समरांगणसूत्राधार

प्राचीन भारत के इतिहास में परमारवंशीय राजा भोज (१०१०—१०५५ ई०) का नाम अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कनिष्क आदि यशस्वी सम्राटों की कोटि में स्मरण किया गया है। उनको यह सम्मान उनकी राजनीति कुशलता या उनके सुधार कार्यों के

कारण नहीं, बल्कि उनके विद्यानुराग के कारण दिया गया है। दूसरे बड़े-बड़े ख्यातिनामा सम्राटों की अपेक्षा भोज के व्यक्तित्व की एक असामान्य विशेषता यह भी थी कि वह विद्वानों का परम अनुरागी और साथ ही अनेक विषयों के बड़े-बड़े ग्रंथों का निर्माता भी था। उसके लिखे हुए लगभग ३४ ग्रंथ अब तक प्राप्त हो चुके हैं, जो कि ज्योतिष, काव्यशास्त्र, योगशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र, काव्य, नाटक, व्याकरण, आयुर्वेद, शैवमत और कोष आदि अनेक विषयों से अनुबद्ध हैं।

उन्होंने शिल्पशास्त्र पर दो ग्रंथों का निर्माण किया, जिनके नाम हैं : **'समरांगणसूत्राधार'** और **'युक्तिकल्पतरु'**। पहला ग्रंथ बड़े ही महत्त्व का है। उसमें ८४ अध्याय हैं और उसकी विषय-सामग्री सात अवान्तर भागों में विभक्त है, जिनके नाम हैं : प्राथमिका, पुरप्रवेश, भवननिवेश, प्रासादनिवेश, प्रतिमानिर्माण, यंत्रघटना और चित्रकर्म। **'समरांगणसूत्राधार'** का 'चित्रकर्म' बड़ी ही विदग्धता से लिखा गया है। उसको इन छह अवान्तर अध्यायों में विभक्त किया गया है : **चित्रोद्देश्य, भूमिबंधन, लेप्यकर्मादि, अण्डक प्रमाण, मनोत्पत्ति** और **रसदृष्टिलक्षण**। इसके **लेप्यकर्म** और **रसदृष्टिलक्षण** नामक अध्याय चित्रकला के लक्षण ग्रंथों की परम्परा में सर्वथा अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

सोमेश्वर का मानसोल्लास

कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर ने ११३१ ई० में **'अभिलषितार्थ चिन्तामणि'** नामक एक विश्वकोषात्मक ग्रन्थ लिखा, जिसका अपर नाम **'मानसोल्लास'** भी है। यह ग्रन्थ श्री जी० कें० गोंडेकर की विस्तृत भूमिका सहित गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा से, तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें राजाओं के रहन-सहन की विधियाँ तथा उनके मनोरंजन की वस्तुओं का बड़ा ही रसभावपेशल वर्णन है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्राप्त ज्ञान और कला की कोई भी ऐसा विभाग बाक़ी नहीं बचा है, जिसके प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख इस ग्रंथ में न हुआ हो। इसमें राज्यव्यवस्था, गणित, फलित ज्योतिष, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, संगीत, आयुर्वेद, वास्तुकला, चित्रकला आदि अनेक विषयों का समावेश है।

'मानसोल्लास' की तीसरी विंशति के प्रथम अध्याय में चित्रकला पर भी विचार किया गया है। इस ग्रंथ का चित्रकर्म-वर्णन बड़े ही क्रमबद्ध ढंग से है, जिसकी रूपरेखा इस प्रकार दी गई है : **चित्रकारस्वरूप, चित्रभित्ति, लेखनीलेखन, शुद्धवर्ण, मिश्रवर्ण, चित्रवर्ण, पक्षसूत्रलक्षण,ताललक्षण, तिर्यङ्मानलक्षण** और **सामान्य चित्रप्रक्रिया**।

सोमेश्वर के उक्त चित्र-विधान पर यद्यपि **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** के 'चित्रलक्षण' का प्रभाव है; फिर भी युग के परिवर्त्तन की दृष्टि से उसकी प्रत्येक बात में कुछ मौलिकता भी है। उसके 'सामान्य चित्रप्रक्रिया' के अन्तर्गत चित्रकला के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया गया है। सोमेश्वर की मान-प्रणाली भी अपनी है, जैसा कि नीचे की तालिका को देखकर ज्ञात किया जा सकता है :

			×			
८ परमाणु	=	१ त्रसरेणु	×	८ यव	=	१ अंगुल या मात्रा
८ त्रसरेणु	=	१ बालाग्र	×	२ मात्रा	=	१ गोलक या कला
८ बालाग्र	=	१ लिक्षा	×	३ मात्रा	=	१ अध्यर्द्धकला
८ लिक्षा	=	१ यूका	×	४ मात्रा	=	१ भाग
८ यूका	=	१ यव	×	३ भाग	=	१ वितस्ति या ताल

इसी प्रकार उसने एक सम्पूर्ण शरीर का ढाँचा प्रस्तुत करने के लिए उसका प्रमाण इस तरह निर्धारित किया है—

		×		
ग्रीवा	—४ अंगुल	×	ग्रीवा से हृदय	—१ ताल
हृदय से नाभि	—१ ताल	×	नाभि से मेढ़्र	—१ ताल
उरु	—२ ताल	×	जानु	—४ अंगुल
जंघा	—२ ताल	×	चरण	—२ अंगुल

सोमेश्वर भूपति के **'मानसोल्लास'** में **'वज्रलेप'**, (पलस्तर), या **कूंची** और नानाभाव के रंगों को बनाने की विधियाँ बतायी गयी हैं। **वज्रलेप** के सम्बन्ध में कहा गया है कि पहले दीवाल को चौरस बनाया जाता था और फिर उस पर एक लेप-द्रव्य लगाया जाता था। यह लेप-द्रव्य भैंस के चर्म को पानी में घोंटकर तैयार किया जाता था। इससे एक प्रकार का ऐसा **वज्रलेप** बनाया जाता था, जो गर्म करने

पर पिघल जाता था और सफ़ेद मिट्टी मिलाकर या शंख का चूर्ण और मिश्री (सिता) डालकर भित्ति को चिकना बनाया जाता था; अथवा फिर नीलगिरि में उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थ को पीसकर उसमें मिलाया जाता था। स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी इन भित्तियों पर 'सूक्ष्मरेखा-विशारद, विद्युन्निर्माणकुशल, पत्रलेखनकोविद', रंग भरने की कला में निपुण, (वर्णपूरक) कलाकार नाना रंग के चित्र अंकित किया करते थे।

तिन्दुक तथा तूलिका के सम्बन्ध में लिखा गया है कि घने बाँस की नलिका के आगे तामे का एक सूच्यग्र शंकु लगाया जाय। वह जौ भर भीतर और इतना ही बाहर की ओर रहे। इसे 'तिन्दुक' कहा जाता है। तूलिका में बछड़े के कान के पास के रोएँ लगाये जायँ। वंशनाली के आगे लगे हुए ताम्रशंकु से महीन रेखा खींचने का कार्य किया जाय। पहले रेखाचित्र बनाये जायँ और उन्हें रंग कर चित्रित किया जाय। रेखाओं के लिए मोम और भात में काजल रगड़कर काला रंग तैयार किया जाय।

रंग-योजना के सम्बन्ध में कहा गया है कि आधारभित्ति या आधारभूमि का जो स्थान निम्नतर हो वहाँ एकरंगे चित्र में श्यामल वर्ण का प्रयोग होना चाहिए और जो स्थान उन्नत हो वहाँ उज्जवल या फीके रंग का उपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार रंग-निर्माण के बारे में कहा गया है। सोमेश्वर के अनुसार सफ़ेद, लाल, पीला और काला, चार प्रमुख रंग हैं। श्वेत रंग शंख के चूर्ण से बनाया जाता था। इसी प्रकार दरद से शोण रंग, अलक्तक से लाल रंग, गेरू से लोहित रंग, हरताल से पीत रंग और काजल से काला रंग बनाया जाता था। इनके मिश्रण से **कमल, सौराभ, घोरारव, धूमच्छाय, कपोताश्व, अतसीपुष्पाभ, नीलकमलाभ, हरित, गौर, श्याम, पाटल** और **कर्बुर** आदि अनेक रंगों का निर्माण किया जाता था।

चित्रों के प्रमाण के लिए भी **'मानसोल्लास'** में अनेक तरीके बताये गये हैं। उसके अनुसार बीच की रेखा का नाम **'ब्रह्मसूत्र'** था और अगल-बगल की दो रेखाओं को **'पक्षसूत्र'** कहा जाता था। **'ब्रह्मसूत्र'** से उसकी दूरी छः-छः अँगुल होती थी। उसमें मानवाकृति के पाँच मोटे मान उल्लिखित हैं, जिनके नाम हैं : **ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्षि** और **भित्तिक**। इसके अतिरिक्त शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की नाप और उसकी दूरी-सामीप्य के लिए भी उक्त ग्रंथ में पूरा ब्योरा दिया गया है।

चित्रकर्म के सम्बन्ध में सोमेश्वर भूपति की मौलिक दृष्टि रही है। उसकी इस मौलिक दृष्टि के भीतर उसका क्रियात्मक अनुभव झाँकता है। उसने स्वयं को चित्रविद्या का विरंचि कहा है (विं ३७, श्लो० ९०५)। अपने इस ग्रंथ में चित्रकला के लिए उसने जो महत्त्वपूर्ण बातें सुझायी हैं निश्चित ही वे उसके प्रकाण्ड चित्र-कौशल का परिचय देती हैं।

कलाओं की प्राचीनता और संख्या

प्राचीन ग्रंथों में जब हम कलाओं के सम्बन्ध में दृष्टिपात करते हैं तो हमें लगता है कि वहाँ प्रत्येक चमत्कारपूर्ण या चतुराई से कही गयी बात को 'कला' नाम दिया गया है। संभवतः यही कारण है कि जितने भी ग्रंथों में कलाओं की संख्या गिनायी गयी है, हेर-फेर से यद्यपि उनकी संख्या ६४ की बैठती है; फिर भी विषय की दृष्टि से या क्रम की दृष्टि से उनमें कोई तारतम्य नहीं है। जिस भी ग्रंथकार को जो बात विशिष्ठ या आश्चर्यकारी जान पड़ी उसी को उसने 'कला' नाम दे दिया। इसी लिए व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, आयुर्वेद, राजनीति आदि से लेकर उछलना, कूदना, तलवार चलाना, घुड़सवारी, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, प्रहेलिका, श्रृंगार रचना, रंगसाजी, चोली सीना, सेज बिछाना, मणियों को पहचानना, पक्षियों के लक्षण जानना, बटेर लड़ाना, तोता-मैना पढ़ाना और जुआ खेलना आदि सभी को कलाओं की संज्ञा दी गयी। वस्तुतः ऐसा कहना कठिन है कि कलारसिक उन ग्रंथकारों ने किस विषय को ऐसा अछूता रखा है, जिसका समावेश कला के अन्तर्गत नहीं किया। इसलिए इस दृष्टि से कला की एक निश्चित परिभाषा दे सकना कुछ कठिन-सा है।

कलाओं की प्राचीन स्थिति का अध्ययन करने के लिए हमें शिल्प-विषयक ग्रंथों का ही आश्रय लेना पड़ता है; क्योंकि प्रारंभ में कला को शिल्प के ही अन्तर्गत रखा गया था, जैसा कि हम इस प्रकरण के आरंभ में देख चुके हैं। बौद्धकाल से पूर्व कलाओं की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त शिल्पग्रंथ ही अवलोकनीय हैं। बौद्धयुगीन कलाओं का प्रामाणिक इतिहास और उसकी विस्तृत चर्चा हमें **'ललितविस्तर'** में देखने को मिलती है। महायान धर्म से सम्बद्ध इस बौद्धग्रंथ का रचनाकाल और रचनाकार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चलता; किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ दूसरी शताब्दी से भी पहले का है और ९वीं शताब्दी में उसका चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था।

'ललितविस्तर' का प्रथम संस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने संपादित किया। वह १८७७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। दूसरा संस्करण जर्मन-विद्वान् एस० लेफ़मान ने दो भागों में संपादित किया है। ये दोनों भाग क्रमशः हाल नगर से १९०२ तथा १९०८

ई० में प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों संस्करणों के समन्वय से तीसरा विशुद्ध संस्करण मिथिला विद्यापीठ के प्रधान श्री परशुराम शर्मा वैद्य ने मिथिला इंस्टिट्यूट, दरभंगा (बिहार) से १९५८ ई० में संपादित कर प्रकाशित किया है। यह संस्करण अधिक परिमार्जित एवं प्रामाणिक है।

यह ग्रंथ २७ अध्यायों (परिवर्त्तों) में विभाजित है। इस ग्रन्थ में दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख देखने को मिलता है। एक प्रकार की कलाएँ वे थीं, जो कुमार सिद्धार्थ को सिखायी गयी थीं और दूसरे प्रकार की वे कलायें थीं, जिनका सम्बन्ध कामशास्त्र से था। **'ललितविस्तर'** के 'शिल्प संदर्शन' नामक १२वें परिवर्त्त में राजकुमार सिद्धार्थ और शाक्यकन्या यशोधरा का विवाह-प्रसंग वर्णित है। इस प्रसंग में कलाओं की संख्या ८९ बतायी गयी है।

महाराज शुद्धोदन ने छान-बीन करके जब इस रहस्य को भली-भाँति समझ लिया कि कुमार को यशोधरा पसन्द है तो एक दिन उन्होंने अपने पुरोहित को यशोधरा के पिता दण्डपाणि के पास सम्बन्ध तय करने के लिए भेजा। पुरोहित ने जाकर दण्डपाणि के समक्ष महाराज का प्रस्ताव रखा। किन्तु दण्डपाणि ने उसको जो उत्तर दिया वह विस्मयजनक था। उसने पुरोहित से कहा, **"आर्य कुमारो गृहे सुखसमृद्धः। अस्माकं चायं कुलधर्मः, शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति। कुमारश्च न शिल्पज्ञ, नासिधनुष्कलापयुद्ध-सालम्भविधिज्ञः। तत्कथं अशिल्पज्ञाय अहं दुहितरं दास्यामि?"** दण्डपाणि का यह कहना कि "अपनी कुलमर्यादा के अनुसार अपनी कन्या का मैं अशिल्पज्ञ राजकुमार के साथ विवाह करने में असमर्थ हूँ", बड़े साहस की बात थी। एक सामान्य व्यक्ति का अपने राजा को ऐसा उत्तर देना इसी लिए संभव हो सका कि उसको नैतिक और सामाजिक दृष्टि से इतनी स्वतंत्रता थी कि ऐसे सुशासन में रहकर वह अपने कुलकर्म पर इतना अभिमान कर सके। शिल्प की श्रेष्ठता का इतना सुन्दर उदाहरण कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिल सके।

पुरोहित ने दण्डपाणि का यह दो-टूक उत्तर महाराज को सुनाया। महाराज भी विवश होकर भीतर-ही-भीतर कुमार के विवाह की चिन्ता में दुःखित रहने लगे। पिता की इस दुःखितावस्था की सूचना किसी प्रकार कुमार के कानों तक पहुँची। उसने तुरन्त ही पिता के पास आकर जो बात सुनायी उससे शुद्धोदन का सारा दुःख दूर हो गया। कुमार ने कहा, 'पिता जी, क्या इस नगर भर में कोई ऐसा व्यक्ति है जो शिल्प-प्रतियोगिता में मेरी प्रतिस्पर्धा रख सके?' **(देव, अस्ति पुनरिह नगरे कश्चिद्यो मया सार्धं समर्थः शिल्पेन शिल्पमुपदर्शयितुम्?)**

इसके बाद नगर भर में राजा की ओर से मुनादी कर दी गयी कि कला-कौशल शिल्प का ज्ञाता कोई भी व्यक्ति सिद्धार्थ कुमार की प्रतिस्पर्धा में शामिल हो सकता है। तदन्तर नगर में बड़ा भारी आयोजन किया गया और उसमें बड़े-बड़े कलाकुशल व्यक्तियों ने भाग लिया। इस प्रतियोगिता में कुमार जिन शिल्पों में सर्वजित रहे और जिनमें उन्होंने निपुणता प्राप्त की उनकी नामावली **'ललितविस्तर'** में इस प्रकार दी गयी है :

१ लङ्घिते, २ प्राग्वाल्लिपिमुद्रागणनासंख्यसालम्भ धनुर्वेदे, ३ जविते, ४ प्लविते, ५ तरणे, ६ इष्वस्त्रे, ७ हस्तिग्रीवायामश्व-पृष्ठे, ८ रथे, ९ धनुष्कलापे, १० स्थैर्यस्थाम्नि, ११ सुशौर्ये, १२ बाहुव्यायामे, १३ अंकुशग्रहे, १४ पाशग्रहे, १५ उद्याने, १६ निर्याणे, १७ अवयाने, १८ मुष्ठिबन्धे, १९ पदबन्धे, २० शिखाबन्धे, २१ छेद्ये, २२ भेद्ये, २३ दालने, २४ स्फालने, २५ अक्षुण्णवेधित्वे, २६ मर्मवेधित्वे, २७ शब्दवेधित्वे, २८ प्रहारित्वे, २९ अक्षक्रीडायां, ३० काव्यकरणे, ३१ ग्रन्थे, ३२ चित्रे, ३३ रूपे, ३४ रूपकर्मणि, ३५ धीते, ३६ अग्निकर्मणि, ३७ वीणायां, ३८ वाद्ये, ३९ नृत्ये, ४० गीते, ४१ पठिते, ४२ आख्याने, ४३ हास्ये, ४४ लास्ये, ४५ नाट्ये, ४६ विडम्बिते, ४७ माल्यग्रथने, ४८ संवाहिते, ४९ मणिरागे, ५० वस्त्ररागे, ५१ मायाकृते, ५२ स्वप्नाध्याये, ५३ शकुनिरुते, ५४ स्त्रीलक्षणे, ५५ पुरुषलक्षणे, ५६ अश्वलक्षणे, ५७ हस्तिलक्षणे, ५८ गोलक्षणे, ५९ अजलक्षणे, ६० मिश्रलक्षणे, ६१ कौटुभेश्वर-लक्षणे, ६२ निर्घण्टे, ६३ निगमे, ६४ पुराणे, ६५ इतिहासे, ६६ वेदे, ६७ व्याकरणे, ६८ निरुक्ते, ६९ शिक्षायां, ७० छन्दस्विन्यां, ७१ यज्ञकल्पे, ७२ ज्योतिषे, ७३ सांख्ये, ७४ योगे, ७५ क्रियाकल्पे, ७६ वैशिके, ७७ वैशेषिके, ७८ अर्थविद्यायां ७९ बार्हस्पत्ये, ८० आम्भिर्ये, ८१ आसुर्ये, ८२ मृगपक्षिरुते, ८३ हेतुविद्यायां, ८४ जलयंत्रे, ८५ मधूच्छिष्टकृते, ८६ सूचिकर्मणि, ८७ विदलकर्मणि, ८८ पत्रछेदे, ८९ गन्धयुक्तौ—

इत्येवमाद्यासु सर्वकर्मकलासु लौकिकादिषु दिव्यमानुष्यकातिक्रान्तासु सर्वत्र बोधिसत्त्व एव विशिष्यते स्म।

इस सूची में चित्र, रूप और रूपकर्म, चित्रकला से सम्बद्ध कलाएँ हैं। इन कलाओं का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि बौद्धयुग में वे लोक-जीवन के साथ घुल मिल गयी थीं।

इस परम्परा के श्रेष्ठ ग्रंथों में **'ललितविस्तर'** के बाद **'कामसूत्र'** का स्थान आता है। वात्स्यायन (२००—३०० ई०) का **'कामसूत्र'** कला-विषय का एक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। आचार्य वात्स्यायन के कथन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उसके पहले

तथा उसके समय तक इस विषय पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध था। प्रजापति का एक लाख अध्यायोंवाला कोई अज्ञातनामा ग्रन्थ इस विषय का प्रथम ग्रंथ था। उसको मनु, बृहस्पति, नन्दी आदि आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उपनिबद्ध किया। उसमें नन्दी का ग्रंथ एक सहस्त्र अध्यायों का था। उसको औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में और उसको भी बाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। बाभ्रव्य के ग्रंथ में सात अधिकरण थे। इन्हीं पूर्ववर्ती ग्रंथों का सार-संकलन कर वात्स्यायन ने **'कामसूत्र'** की रचना की थी।

वात्स्यायन के ग्रंथ में, **'ललितविस्तर'** के विपरीत कलाओं की संख्या ६४ है। वात्स्यायन के पहले कलाओं के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था थी उसको वात्स्यायन ने ही पहले पहल दूर किया। उन्होंने कलाओं को प्रमुख दो भागों में विभक्त किया है: ललित कलाएँ और उपयोगी कलाएँ। वात्स्यायन द्वारा निर्धारित एवं वर्गीकृत कलाओं का महत्त्व इसी में है कि परवर्ती साहित्य में जब भी और जहाँ भी कलाओं की चर्चा की गयी है, उसका संकेत वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट कलाओं की ओर ही रहा है। भारतीय साहित्य में अपने विषय के इस प्रभावशाली ग्रंथ की समकक्षता में इतने सर्वांगीण ढंग से ऐसा प्रौढ़ ग्रन्थ संसार की अन्य भाषाओं में कदाचित् ही उपलब्ध हो।

आचार्य कौटिल्य के **'अर्थशास्त्र'** की परम्परा में आचार्य कामन्दक ने **'नीतिसार'** (४०० ई० पूर्व) नामक एक ग्रंथ लिखा, जो कि शुक्राचार्य कृत किसी प्राचीन ग्रंथ **'शुक्रनीति'** का संस्करण है। वह २२०० श्लोकों का ग्रंथ है। आधुनिक विद्वानों ने उसके उन उद्धरणों का, जिन्हें मध्ययुग के बाद वाले धर्मशास्त्र के टीकाकारों ने उद्धृत किया है, मिलान करने पर पता लगाया कि कामन्दक के **'नीतिसार'** का १७वीं शताब्दी के लगभग पुनः संस्करण हुआ था।

इस ग्रंथ के चौथे अध्याय में कामशास्त्र की परम्परा के अनुसार कलाओं की संख्या ६४ ही है। उसमें कहा गया है कि यद्यपि विद्यायें और कलाएँ अनन्त हैं; फिर भी प्रमुख विद्यायें ३२ और प्रमुख कलाएँ ६४ हैं। (**विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टिकलाः स्मृताः**), **'नीतिसार'** के अनुसार कलाकारों की दो श्रेणियाँ थीं : कारु (कारीगर) और शिल्पी (शिल्पकार)। हमारे बीच आज जो अनेक जातियाँ प्रचलित हैं उनके मूल में ये ही कलाएँ हैं। वास्तव में भिन्न-भिन्न पेशों (क्रियाओं) के कारण कलाएँ भी अनेक हो गयीं। जिस कारीगरी (कला) को जिसने अपनाया, बाद में वही उसकी जाति हो गयी :

पृथक्-पृथक् क्रियाभिर्हि कलाभेदस्तु जायते।
यां यां कलां समाश्रित्य तन्नाम्ना जातिरुच्यते॥

अर्थशास्त्र एवं राजनीति का ग्रंथ होने के कारण इसकी सूची में उपयोगी कलाओं की ही अधिकता है और साथ ही वात्स्यायन की अपेक्षा कुछ नयी कलाओं का भी उसमें समावेश है। कलाओं की इस नवीनीकरण का आधार कौटिल्य का **'अर्थशास्त्र'** है।

जैन ग्रंथों में कलाओं की संख्या ६४ या ७२ बतायी गयी है। जिनभद्र मुनिकृत **'कल्पसूत्र'** की टीका (५।२२९) में ६४ स्त्री-कलाओं की तालिका दी हुई है। इन कलाओं को वहाँ 'महिला गुण' कहा गया है। जैनों के दूसरे ग्रन्थ **'कलिका पुराण'** (१० वीं-११ वीं शताब्दी) में कला की उत्पत्ति-विषयक एक कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने पहले प्रजापति तथा ऋषियों को उत्पन्न किया; फिर संध्या नामक कन्या को जन्म दिया और तदनन्तर मदन-देवता (मन्मथ) को पैदा किया। मदन देवता को ब्रह्मा ने यह वरदान दिया कि उसके वाणों के लक्ष्य से कोई बच न सकेगा। इसलिए वह सृष्टि-रचना में ब्रह्मा की मदद करे। अपने वाणों का प्रथम प्रयोग मदन ने ब्रह्मा और संध्या पर किया। फलतः वे कामक्रीड़ा से पीड़ित हो गये और अपने प्रथम समागम में ब्रह्मा-संध्या ने जिन वस्तुओं को जन्म दिया उनमें ६४ कलाएँ भी थीं।

आगे चलकर कलाओं को कौशल के अर्थ में लिया गया और उनकी स्थापना में भी ग्रन्थाकारों की अपनी-अपनी रुचि रही है। यही बात हमें क्षेमेन्द्र (११ वीं शताब्दी) के **'कलाविलास'** में देखने को मिलती है। इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की ३२ और मात्सर्य, शील, प्रभाव तथा मान की ३२; कुल मिलाकर ६४ कलाओं का उल्लेख है। ये कलाएँ कुछ तो वेश्याओं, कुछ कायस्थों, कुछ गायकों, कुछ स्वर्णकारों, कुछ ज्योतिषियों से सम्बद्ध हैं। क्षेमेन्द्र की इस कला-भावना में कपट और धूर्तताओं का पर्दाफ़ाश करने का भी उद्देश्य है। इस प्रकार कला का यह परम्परागत ऊँचा ध्येय व्यवसाय, चतुराई, चमत्कार तथा कौशल में बदलकर कुछ विकृत हो गया था। फिर भी संख्या का जहाँ तक सम्बन्ध है उसका तारतम्य बाद में भी बना रहा।

कला-विषयक एक ग्रन्थ **'प्रबन्धकोश'** है, जिसको राजशेखर (१४ वीं श०) की रचना बतायी जाती है। इस ग्रंथ में कलाओं की संख्या ७२ है; किन्तु जिन कलाओं को इस ग्रंथ में गिनाया गया है, उनमें प्रायः सब का उल्लेख उसके पूर्ववर्ती ग्रंथों में हो चुका है।

मुख्यतया ये ही ग्रन्थ हैं, जिनमें कलाओं की विस्तार से चर्चा की गयी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों में भी कलाओं की चर्चाएँ हैं; किन्तु उन सभी ग्रन्थों की सूचियों पर इन्हीं ग्रन्थों का प्रभाव है।

कला के वर्गीकरण और उसकी संख्या को निर्धारित करने के संबंध में जिन विभिन्न मतों का विश्लेषण किया गया है उनके मूल में कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। 'ललितविस्तर' की कला-परिगणना का उद्देश्य कुमार सिद्धार्थ की सर्वज्ञता का निदर्शन करना मात्र है। धनुर्वेद, व्याकरण, निगम, पुराण, इतिहास, वेद, निरुक्त, ज्योतिष, सांख्य, वैशेषिक, अर्थशास्त्र और यज्ञ-याग जैसे विषयों को कला में अभिनिविष्ट करने का एकमात्र अभिप्राय सिद्धार्थ की विलक्षण प्रतिभा का प्रतिपादन करना है। 'ललितविस्तर' के इस कलामान से कला की व्यापक भावना का तो पता चलता है; किन्तु उसका महत्त्व 'करतब' से बढ़कर नहीं है।

वात्स्यायन का कला-विवेचन, 'ललितविस्तर' की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उसने कला को 'ललित' और 'उपयोगी' दो भागों में अलग किया है और कारीगरी (कारु) तथा पेशों (क्रियाओं) के आधार पर समाज के भिन्न-भिन्न जातिसमूहों का निर्माण होना बताया है। हमारे धर्मग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था के विभाजन का आधार भी यही माना गया है।

'कल्पसूत्र टीका' और 'कालिकापुराण' आदि जैन ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें 'कला' का प्रयोग एक विशेष अभिप्राय के लिए किया गया है। कला को 'महिला गुण' बताना और संध्या नामक कन्या से कला की उत्पत्ति का आख्यान करना यह सिद्ध करता है कि उस समय कला की उपयोगिता महिलाओं के लिए विशेष रूप से थी। कला-विषयक इस जैनदृष्टि का समर्थन हमें कथा, काव्य, नाटक आदि विषयों के उन विभिन्न ग्रंथों में देखने को मिलता है, जिनमें एक दासी से लेकर राजमहिषी तक के विलक्षण कलाचातुर्य के अनेक रूप वर्णित हैं।

क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास' में यद्यपि परम्परा का ही निर्वाह किया गया है; किन्तु उसमें एक नयी बात यह भी देखने को मिलती है कि कला का एकमात्र उद्देश्य व्यवसाय, चातुर्य, चमत्कार तथा कौशल न हो कर वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग का भी साधन है। क्षेमेन्द्र ने उन कला-विशारदों के प्रति, जिन्होंने कला को विनोदमात्र का साधन माना है, तीखा व्यंग्य किया है।

इस प्रकार कला और शिल्प के प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के जन-जीवन में कला तथा शिल्प को एक लोकप्रिय विषय के रूप में सम्मान प्राप्त था और हमारे साहित्यकारों ने उस पर सैकड़ों ग्रंथों की रचना कर कला-शिल्प की तत्कालीन संविधाओं को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत किया।

★

चित्रकला की प्रविधि

चित्रकला की प्रविधि

चित्र-रचना एक लम्बी साधना है। उसकी सिद्धि के मार्ग बड़े दुर्गम हैं; किन्तु उसके परिणाम भी उतने ही श्रेष्ठ हैं। भारतीय दृष्टिकोण से श्रेष्ठ चित्रकर्म को ऐहिक लोकयात्रा का साधन और पारलौकिक निःश्रेयस का कारण बताया गया है। एक सिद्ध एवं व्युत्पन्न चित्रकार की ठीक वही स्थिति है, जो कि एक योगी तथा तत्त्वविद् की बतायी गयी है। एक दृष्टि से इन दोनों में चित्रकार को ही कुछ ऊँचा पद दिया गया है। एक तत्त्वविद् अपने लिए ऐसे लोक का निर्माण करता है, जहां सर्वसामान्य की पहुँच नहीं होती और जहां ऐहिक जीवन के सुखोपभोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती; किन्तु एक चित्रकार इस भौतिक जीवन में आनन्द-लाभ तथा यश का अर्जन कर साथ ही परम आनन्द तथा परम यश को भी प्राप्त करता है।

किन्तु उस परमावस्था तक पहुँचना सरल कार्य नहीं है। उसके लिए वर्षों के अभ्यास और अनवरत अध्ययन की आवश्यकता है। यहां हम, अभ्यास और अध्ययन की उस सामग्री को प्रस्तुत करेंगे, जिसका जानना एक चित्रकार के लिए आवश्यक बताया गया है और जिसको जान लेने के बाद वह सर्वज्ञ की कोटि में चला जाता है।

अभ्यास और अध्ययन की इसी सामग्री को हम 'चित्रकला की प्रविधि' के नाम से यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्राविधिक ज्ञान को हृदयंगम कर लेने के बाद हम भारतीय चित्रकला की परम्पराओं, उसकी तकनीकों और उसके वास्तविक ध्येयों को उचित रूप से ग्रहण कर सकते हैं; अथवा उसमें प्रविष्ट होकर उसके जीवन्त तत्त्वों को ग्रहण कर उन्हें आधुनिक रूपों में ढाल सकने की चेष्टा कर सकते हैं।

चित्रकला के छः अंग

कामसूत्र में वर्णित चौसठ कलाएँ

प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास का क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत करने वाली सामग्री में कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में कलाओं की संख्या ६४ मानी गयी है। भारत की इन चौसठविध कलाओं का परिचय यहां वात्स्यायन मुनि के **'कामसूत्र'** के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

'कामसूत्र' के तीसरे अध्याय में चौसठ कलाओं का विवेचन किया गया है और वहाँ निर्देश किया गया है कि सभी नागरिकों को इन कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इन चौसठ कलाओं की नामावली इस प्रकार है—

(१) **गीतम्** (संगीत); (२) **वाद्यम्** (वाद्य-वादन); (३) **नृत्यम्** (नाच); (४) **आलेख्यम्** (चित्रकला); (५) **विशेषकच्छेद्यम्** (पत्तियों को काट-छाँटकर विभिन्न आकृतियाँ बनाना या तिलक लगाने के लिए विशेष प्रकार के साँचे बनाना); (६) **तण्डुलकुसुमावलिविकारा** (देवपूजन के समय विभिन्न प्रकार के जौ–चावल तथा पुष्पों को सजाना); (७) **पुष्पास्तरणम्** (कक्षों तथा भवनों के उपस्थानों को पुष्पों से सजाना); (८) **दशनवसनांगराग** (दाँत, वस्त्र और शरीर के दूसरे अंगों को रंगना); (९) **मणिभूमिकाकर्म** (घर के फ़र्श को मणि-मोतियों से जटित करना); (१०) **शयनरचनम्** (शैय्या को सजाना); (११) **उदकवाद्यम्** (पानी में ढोलक की-सी आवाज निकालना); (१२) **उदकाघात** (पानी की चोट मारना या पिचकारी छोड़ना); (१३) **चित्राश्चयोगा** (शत्रु को विनष्ट करने के लिए तरह-तरह के योगों का प्रयोग करना); (१४) **माल्यग्रंथनविकल्पा** (पहनने तथा चढ़ाने के लिए फूलों की मालाएँ बनाना); (१५) **शेखरकापीडयोजनम्** (शेखरक तथा आपीड जेवरों को उचित स्थान पर धारण करना); (१६) **नेपथ्यप्रयोगा** (अपने शरीर को अलंकारों और पुष्पों से भूषित करना) (१७) **कर्णपत्रभंगा** (शंख, हाथीदाँत आदि के कर्ण-आभूषण बनना) (१८) **गंधयुक्ति** (सुगंधित धूप बनाना); (१९) **भूषणयोजनम्** (भूषण तथा अलंकार पहनने की कला); (२०) **ऐंद्रजाल** (जादू का खेल दिखाकर दृष्टि को बाँधना); (२१) **कौचुमारयोग** (बल-वीर्य बढ़ाने की औषधियाँ बनाना); (२२) **हस्तलाघवम्** (हाथ की सफ़ाई दिखाना); (२३) **विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया** (अनेक प्रकार के भोजन, जैसे शाक, रस, मिष्ठान्न आदि बनाने की निपुणता); (२४) **पानकरसरागासवयोजनम्** (नाना प्रकार के पेय शर्बत बनाना); (२५) **सूचीवानकर्माणि**

(सूई के कार्य में निपुणता); (२६) **सूत्रक्रीड़ा** (सूत में करतब दिखाना); (२७) **वीणाडमरुकवाद्यानि** (वीणा और डमरु आदि वाद्यों को बजाना); (२८) **प्रहेलिका** (पहेलियों में निपुणता); (२९) **प्रतिमाला** (दोहा-श्लोक पढ़ने की रोचक रीति); (३०) **दुर्वाचकयोग** (कठिन अर्थ और जटिल उच्चारण वाले वाक्यों को पढ़ना); (३१) **पुस्तक-वाचनम्** (सुंदर स्वर में ग्रंथ पाठ करना); (३२) **नाटकाख्यायिकादर्शनम्** (नाटकों तथा उपन्यासों में निपुणता); (३३) **काव्यसमस्यापूरणम्** (समस्यापूर्ति करना); (३४) **पट्टिकावेत्रवानविकल्पानि** (छोटे उद्योगों में निपुण); (३५) **तक्षकर्माणि** (लकड़ी, धातु आदि की चीजों को बनाना); (३६) **तक्षणम्** (बढ़ई के कार्य में निपुण); (३७) **वास्तुविद्या** (गृहनिर्माणकला); (३८) **रूप्यरत्नपरीक्षा** (सिक्कों तथा रत्नों की परीक्षा); (३९) **धातुवाद** (धातुओं को मिलाने तथा शुद्ध करने की कला); (४०) **मणिरागाकारज्ञानम्** (मणि तथा स्फटिक काँच आदि के रंगने की क्रिया का ज्ञान); (४१) **वृक्षायुर्वेदयोग** (वृक्ष तथा कृषि विद्या); (४२) **मेष-कुक्कुट-लावक-युद्धविधि** (मेढे, मुर्गे और तीतरों की लड़ाई परखने की कला); (४३) **शुक-सारिका-प्रलापनम्** (शुक-सारिका को सिखाना तथा उनके द्वारा संदेश भेजना); (४४) **उत्सादने संवादने केशमर्दने च कौशलम्** (हाथ-पैर से शरीर दबाना, केशों को मलना, उनका मैल दूर करना और उन में तैलादि सुगंधित चीजें मलना); (४५) **अक्षर-मुष्टिका-कथनम्** (अक्षरों को संबद्ध करना और उनसे किसी संकेत-अर्थ को निकालना); (४६) **म्लेच्छितविकल्पा** (सांकेतिक वाक्यों को बनाना); (४७) **देशभाषाविज्ञानम्** (विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान); (४८) **निमित्तज्ञानम्** (शुभाशुभ शकुनों का ज्ञान); (४९) **पुष्पशकटिका** (पुष्पों की गाड़ी बनाना); (५०) **यंत्रमातृका** (चलाने की कलें तथा जल निकालने के यंत्र आदि बनाना); (५१) **धारणमातृका** (स्मृति को तीव्र बनाने की कला); (५२) **संपाठ्यम्** (स्मृति तथा ध्यान संबंधी कला); (५३) **मानसी** (मन से श्लोकों तथा पदों की पूर्ति करना); (५४) **काव्यक्रिया** (काव्य करना); (५५) **अभिधान-कोश-छंदोपज्ञानम्** (कोश और छंद का ज्ञान); (५६) **(क्रियाकल्प) काव्यालंकारज्ञानम्** (काव्य और अलंकार का ज्ञान); (५७) **छलितकयोग** (रूप और बोली छिपाने की कला); (५८) **वस्त्रगोपनानि** (शरीर के गुप्तांग को कपड़े से छिपाना); (५९) **द्यूतविशेष** (विशेष प्रकार का जुआ); (६०) **आकर्षक्रीडा** (पासों का खेल खेलना); (६१) **बालक्रीडनकानि** (बच्चों का खेल); (६२) **वैनयिकीनाम्** (अपने-पराये के साथ विनयपूर्वक शिष्टाचार दर्शित करना); (६३) **वैजयिकीनाम** (शस्त्रविद्या); और (६४) **व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम** (व्यायाम, शिकार आदि की विद्याएँ)।

आलेख्य के छः अंग

वात्स्यायन के **'कामसूत्र'** में वर्णित चौसठ कलाओं में चित्रकला (आलेख्यम्) का चौथा स्थान है। **'कामसूत्र'** का रचनाकाल दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० बताया जाता है। **'कामसूत्र'** की पुष्पिका में उपसंहारस्वरूप एक श्लोक इस अभिप्राय का है, जिसमें बताया गया है कि "अपने पूर्ववर्ती शास्त्रों का संग्रह करके और उन शास्त्रोक्त विद्याओं के प्रयोग का अनुसरण करके तथा बड़े यत्न से उनका संक्षेप करके मैंने इस **'कामसूत्र'** की रचना की है।" इससे यह बात प्रकट होती है कि जिन चौसठ कलाओं का उल्लेख वात्स्यायन ने संक्षेप में किया है उनका प्रचलन बहुत पहले से था। इसलिए चित्रविद्या के साथ-साथ चित्रकला का षडंग भी इस देश में प्रचलित था। तत्कालीन समाज उससे भली भाँति परिचित था; किन्तु वे सभी ग्रंथ अब लुप्त हो चुके हैं।

'कामसूत्र' के एक प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं यशोधर पंडित। उनकी टीका का नाम **'जयमंगला'** है। यशोधर पंडित जयपुर के राजा जयसिंह प्रथम की सभा के विख्यात विद्वान् थे। अतः उनका स्थिति काल ११वीं १२वीं शताब्दी निश्चित है। भारतीय चित्रकला का जयपुर प्राचीन केन्द्र माना जाता है। इसलिए चित्रविद्या के षडंगों से पूर्णतः परिचित होना यशोधर के लिए असम्भव नहीं था। **'कामसूत्र'** के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पंडित ने **आलेख्य** (चित्रकला) के छह अंग बताये हैं : (१) **रूपभेद,** (२) **प्रमाण,** (३) **भाव,** (४) **लावण्य-योजन,** (५) **सादृश्य** और (६) **वर्णिकाभंग :**

> **रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।**
> **सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडङ्गकम्॥**

प्राचीन भारत की चित्रकला में इन छह अंगों की सुयोजना आवश्यक समझी जाती थी। सभी चित्रकार अपनी कृतियों में इसका पूरी तरह पालन करते थे। अजन्ता और बाघ आदि के गुफाचित्रों में चित्रकला के उक्त षडंगों को बड़ी सावधानी से दर्शित किया गया है। बल्कि चीन और तिब्बत के प्राचीन चित्रों में भी यही बात देखने को मिलती है। भारतीय चित्रकला के सिद्धान्तों के अनुसार यह बताया गया है कि जिस चित्र में षडंगों का सम्यक् निरूपण न किया गया हो वह चित्र कहलाने योग्य नहीं है; वह तो चित्राभास मात्र है।

इन छह अंगों का निरूपण संक्षेप में इस प्रकार है :

१. रूपभेद

रूप कहते हैं आकृति के लिए। प्रत्येक आकृति में ऐसी भिन्नता तथा विशेषता दर्शित होनी चाहिए, जो कि सर्वथा मौलिक हो और जिसकी किसी दूसरी आकृति से समानता न बैठती हो। वस्तुतः जिस विशेष गुण के समावेश से किसी आकृति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो उसी गुण विशेष का नाम 'रूप' है।

रूप अनन्त है। उसको किसी परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। रूप की पहचान के दो माध्यम हैं : एक तो आँखों के द्वारा और दूसरा आत्मा के द्वारा। दृष्टि के द्वारा हम किसी लम्बी, छोटी, चौरस, गोल, मोटी, पतली, सफेद या काली वस्तु को ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु उस वस्तु के भीतर जो व्यापक सौंदर्य, अनन्त अलंकृति और अपरिमित माधुर्य निहित है उसको हम देखकर नहीं, अनुमानकर, चिन्तनकर आत्मा के द्वारा पहचान सकते हैं। इस नाना रूप जगत् को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस अखण्ड भिन्नता को एक ही में समाहित करके देखना, ये दोनों बातें आँखों और आत्मा के द्वारा संभव हैं। रूप से पहला परिचय आँखों का होता है और धीरे-धीरे उससे आत्मा का परिचय होता है। किसी भी कलाकृति के बाह्य गुण-दोषों की विवेचना हम उसको देखकर कर सकते हैं; किन्तु उसके आभ्यन्तर गुण-दोषों की समीक्षा हम आत्मा के माध्यम से कर सकते हैं।

यह छोटा है, यह बड़ा है; यह एककोण है, यह नानाकोण है; यह कठिन है, यह कोमल है; इस प्रकार एक से दूसरी वस्तु की तुलनाकर हम अपनी आँखों से उनके रूपभेद को समझने लगते हैं। उदाहरण के लिए तीन चित्रकार अलग-अलग बैठकर किसी रमणी का चित्र बनाते हैं। किसी ने उसको पानी लाते हुए, किसी ने गीत गाते हुए और किसी ने दूध पिलाते हुए दर्शाया है। प्रत्येक देखने वाला यही कहेगा कि किसी रमणी का चित्र है। किन्तु कोई भी यह नहीं बता सकता कि वह रमणी दासी है, वियोगिनी है या माता है। कार्य की भिन्नता, वेष की भिन्नता और आकृति की भिन्नता से भी हम किसी रमणी के चित्र को माता, बहिन या दासी आदि सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में हम चित्र के नीचे उसका नाम देकर वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार के रूपभेद का निश्चय आँखों से, नाम देखकर, किया जा सकता है।

किन्तु नारी-स्वरूप की व्यापक सत्ता को आँखों के द्वारा नहीं चीन्हा जा सकता। कभी हम उसकी गोद में बच्चा देकर उसे माता कह रहे हैं, कभी उसके हाथ में झाड़ू देकर उसे दासी की संज्ञा दे रहे हैं और कभी उसको मलिन वेष में खड़ा कर दुःखिनी बना रहे हैं। किन्तु इन माध्यमों के हट जाने से न तो हम उसको माता कह सकते हैं, न दासी और न दुःखिनी ही। उसके इस अन्तर्हित रूप को आत्मा के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। उसको हम ज्ञान-चक्षु से देख सकते हैं।

किसी भी कलाकृति के बाह्याभ्यन्तर की परीक्षा हम देखकर करें या मस्तिष्क के द्वारा करें, दोनों दशाओं में हमारे अन्दर रुचि का होना आवश्यक है। जिस समय हम किसी वस्तु को देखते हैं और उसमें निहित रुचि हमारे भीतर की रुचि से मिल जाती है तभी हम उस कृति की वास्तविक सुन्दरता या असुन्दरता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। रुचि हमारे मन की चिरन्तन दीप्ति है। उसके द्वारा ही हम रूप को (वस्तु) 'सु' और 'कु' में विभाजित कर सकते हैं। इसलिए प्रत्येक वस्तु को अपनी रुचि से देखना और उस वस्तु में अन्तर्हित सौन्दर्य रुचि को अपने मन में बैठाना ही रूप का ज्ञान प्राप्त करना है।

किसी वस्तु के हमारे सामने उपस्थित होते ही हमारी रुचि की रोशनी उस पर पड़ती है और उसकी शोभा की चमक हमारे मन को प्रभावित करती है। यदि वस्तु के रूप की शोभा हमारी रुचि से मिल जाती है तो हमें वह सुरूप लगती है; अन्यथा उससे हम मुँह फेर लेते हैं।

किसी भी कलाकृति में रूप-रेखा जितनी ही स्पष्ट, स्वाभाविक और सुन्दर होगी, चित्र उतना ही उत्कृष्ट होगा। किसी भी कृति की रूप-रेखा में वह विशेष गुण सन्निविष्ट होना आवश्यक है जो भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्यों का समान रूप से मनोविनोद कर सके। ऐसा तभी संभव है, जब उसके रूपभेदों की बारीकियों पर ध्यान दिया गया हो। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि आचार्य लोग जहाँ रेखा को प्रधानता देते हैं, विचक्षण लोग वहाँ वर्त्तना की सराहना करते हैं, किन्तु स्त्रियाँ आभूषणों (साज-सज्जा) को ही पसन्द करती हैं और साधारण लोग रंगों की तड़क-भड़क की ओर आकर्षित होते हैं :

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्त्तनां च विचक्षणाः ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ॥

रूपभेदों से अनभिज्ञ होने के कारण चित्रों की वास्तविकता को नहीं आँका जा सकता। विदेशी कलाकारों द्वारा भारतीय कला-कृतियों को बहुधा रेखा-प्रधान कहने का यही हेतु रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि रूप के आधार पर ही सभी अंगों का स्पष्ट प्रदर्शन हो।

२. प्रमाण

प्रमाण कहते हैं मान, सीमा, कद, कँडा; अर्थात् वस्तु के ब्यौरे को। प्रमाण, चित्रविद्या का वह अंग है, जिसके द्वारा हम प्रत्येक चित्र का मान (लम्बाई-चौड़ाई) निर्धारित कर सकें; मूल वस्तु की यथार्थता का ज्ञान उसमें भर सकें। प्रत्येक कलाकार में पर्याप्त प्रमाणशक्ति का होना आवश्यक है। तभी वह अपनी कृति में चित्रकला के इस विशेष गुण का सन्निवेश कर सकता है।

एक छोटे से कागद पर समुद्र की अनन्तता को इस प्रकार खींचकर रख देना कि उसको देखकर समुद्र के सभी गुणों या विशेषताओं का अनायास ही भान हो सके, यह प्रमाणशक्ति के द्वारा ही संभव हो सकता है। हम चाहें कि सारे कागद को नीले रंग में डुबोकर उसको समुद्र का चित्र कहें तो यह संभव नहीं है। आकाश के साथ समुद्र का अन्तर, उसमें गहरे तथा हल्के रंगों का प्रयोग, उसकी स्थिरता का बोध और उसकी गहराई तथा अनन्तता का बोध—ये सभी बातें **प्रमा** के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं। तभी हम समुद्र का वास्तविक चित्र बना सकते हैं। यह **प्रमा** हमारे अन्तःकरण का ऐसा मापदण्ड है, जिससे हम सीमित और अनन्त दोनों प्रकार की वस्तुओं को नाप सकते हैं। **प्रमा** से केवल समीप या दूरी का ही बोध नहीं होता, अपितु किस वस्तु को कितना दिखाने से वह अधिक मनोहारी लग सकती है, इसका भी वह निश्चय कराती है। ताज महल के निर्माता स्थपतियों ने उसके गुम्बद को न जाने कैसी परिमिति दी है कि ऐसी गुम्बद अन्यत्र दुर्लभ है। ताज अपने बहुमूल्य होने के कारण सुन्दर नहीं है; उसकी परिमिति ने ही उसको श्रेष्ठ एवं सुन्दर बनाया है।

'पंचदशी' (परि० ४, श्लोक ३०) में इस विषय पर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला गया है। उसमें कहा गया है कि वस्तुरूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न होकर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती है; तब वह अन्तःकरण प्रमेय, जो वस्तुरूप है, उसमें संगत होकर तदाकार में परिणत होती है; अर्थात् मन वस्तुरूप को धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है :

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥

प्रमा के द्वारा ही हम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की भिन्नता और उनके विभिन्न भेदों को ग्रहण कर सकते हैं। पुरुष और स्त्री की लम्बाई में क्या भेद है; उनके समस्त अवयवों का समावेश किस क्रम से होना चाहिए; अथवा देवताओं और मनुष्यों के चित्रों के कद का क्या मान है—ये सभी बातें प्रमाण के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं।

३. भाव

भाव कहते हैं आकृति की भंगिमा को; उसके स्वभाव, मनोभाव एवं उसकी व्यंग्यात्मक प्रक्रिया को। भारतीय दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र में भावों की महत्ता पर बहुत ही बारीकी एवं विस्तार से विचार किया गया है। शरीर और इंद्रिय, सभी में विकार की स्थिति पैदा करना भाव का कार्य है; विभावजनित चित्तवृत्ति का नाम भाव है। निर्विकार चित्त में प्रथम विक्रिया की उत्पत्ति भाव के ही द्वारा होती है :

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः ।
भाव विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः ॥

चित्रकला में भावाभिव्यंजन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यंजना से शरीर में भिन्न-भिन्न विकारों का जन्म होता है। भाव एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसके लक्षण कायिक धर्मों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। मन में जिस रस का जो भाव पैदा होता है उसी के अनुसार शरीर में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होते हैं।

भावाभिव्यंजन के दो रूप हैं : प्रकट और प्रच्छन्न। प्रकट भावरूप को हम आँखों से पकड़ सकते हैं; किन्तु उसके प्रच्छन्न स्वरूप की व्यंजना के द्वारा अनुभव कर सकते हैं।

वसन्त के नये फूल में, उसकी सजीव भाव-भंगिमा में; समुद्र के ताण्डव गर्जन में; गालों पर हाथ रखकर बैठने में; आँखों पर आंचल डाल कर रोने में; अस्त-व्यस्त वेष के धारण करने में; पलकों के झुकने, अधरों मे कम्पन और हाथ पर हाथ रखने में; जो भाव प्रकट होते हैं उन्हें हम आँखों से देख सकते हैं।

किन्तु भाव का जो प्रच्छन्न स्वरूप है, उसका जो गूढ़ आशय है उसको हम देखकर नहीं, अनुभव करके जान सकते हैं। कोयल के कंठ में किसका आवाहन है; हृदय के भीतर पैठी हुई किसकी वेदना वसन्त की सारी खुशहाली को दुःख के वातावरण में डुबो रही है—ये बातें अनुभूतिगम्य हैं। चित्र की वे अलिखित बातें, जो आँखों से नहीं देखी जा सकती हैं, व्यंजना के द्वारा जानी जा सकती हैं। भाव-भंगिमा या बाहर के पक्ष को चित्र में रेखा या वर्ण के द्वारा खोलकर बताया जा सकता है; भाव के व्यंग्य पक्ष को या उसके भीतरी रूप को ढाँककर रखने के अतिरिक्त कलाकार के लिए दूसरा रास्ता नहीं है। भाव का कार्य है रूप को भंगिमा देना और व्यंग्य का कार्य है रूप की ओट में भाव के इशारे को अवगुण्ठित रूप से प्रकट करना।

'चित्रसूत्र' में पाँच प्रकार के नेत्रों का उल्लेख मिलता है, जिसके नाम हैं : (१) **चापाकार** (२) **मत्स्योदर** (३) **उत्पलपत्र** (४) **पद्मपत्र** और (५) **शश**। ये पाँच प्रकार की आँखें पाँच प्रकार के भाव प्रकट करती हैं। किसी कृति में यदि हमें प्रकृति के सौन्दर्यदर्शन में डूबी हुई आँखों का भाव दिखाना होगा तो उसके लिए धनुषाकार आँखें चित्रित करना उपयुक्त होगा; यदि विलासिता तथा कामुकता के भाव दिखाने होंगे तो आँखें मछली के उदर की आकृति की बनानी होंगी; यदि आँखों में शान्ति तथा गंभीरता के भाव भरने होंगे तो उनकी बनावट नील कमल के पत्र के सामान होगी; भयभीत एवं आतंकित आकृति की आँखें पद्मपत्र की भाँति होंगी; और इसी प्रकार दुःखित, क्रुद्ध तथा चंचलता का भाव दर्शित करने के लिए मृग की आँखों के सदृश आँखें बनानी होंगी।

शारीरिक अंगों के परिवर्तन द्वारा हृदयस्थ भावों को दर्शित करने की परम्परा प्राचीन चित्रों में अधिकता से देखने को मिलती है।

शारीरिक अवयवों के परिवर्तन द्वारा तीन प्रकार के भाव प्रकट होते हैं। पहले प्रकार के भाव वे हैं, जो देखने, सुनने, सूँघने या स्वाद लेने से पैदा होते हैं; दूसरे प्रकार के भाव बोलने तथा काम करने से व्यक्त होते हैं; और तीसरे प्रकार के भाव हृदय या मस्तिष्क पर किसी प्रकार की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होते हैं।

इन तीसरे प्रकार के हृदयस्थ भावों को दिखाना बड़ा कठिन होता है। इसी में चित्रकार की निपुणता की परीक्षा होती है। किसी बात को शब्दों द्वारा व्यक्त करना सरल है; किन्तु भीतरी अव्यक्त भावों को दिखाना बड़ा दुष्कर होता है।

मान लीजिए हमें किसी फ़कीर के प्याले को दर्शाना है। प्याला तो अमीर के पास भी हो सकता है। टूटा-फूटा या मैला-कुचैला प्याला दर्शाने से भी उद्देश्य ठीक तरह से प्रकट नहीं हो सकता ; क्योंकि वैसा प्याला किसी गरीब व्यक्ति का भी तो हो सकता है। चित्र में यदि फ़कीर को भी खड़ा कर दिया जाय तो प्याले की विशेषता जाती रहती है। प्रत्येक दर्शक यही समझेगा कि यह किसी फ़कीर का चित्र है। ऐसे ही समय व्यंजना से काम लिया जाता है। चित्र की पृष्ठभूमिका से हम ऐसी सहायक वस्तुओं को दर्शाने की चेष्टा करते हैं, जिनसे फ़कीर का बोध हो सके और उनमें प्याले का आकर्षण प्रमुख हो।

४. लावण्ययोजना

लावण्य कहते हैं रूप-परिमिति के लिए। रूप, प्रमाण और भाव के साथ-साथ चित्र में लावण्य का होना भी आवश्यक है। प्रमाण जैसे रूप को परिमिति देता है वैसे ही लावण्य भी परिमिति देता है। आचार्य, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने **'भारत शिल्प के षडंग'** (अनुवादक : डॉ० महादेव साहा) में लावण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "भाव की ताड़ना से भंगिमा दौड़ी जा रही है, मतवाले घोड़े की तरह असंयत, उद्दाम असहिष्णु; यहाँ तक कि अशोभन तौर से अपने को प्रमाण की सीमा से विच्छिन्न करके। लावण्य आकर उसे शांत कर रहा है, अपने मधुर कोमल स्पर्श को धीरे-धीरे उसके सारे बदन पर फेरकर। भाव की ताड़ना से रूप जब शकुन्तला-प्रत्याख्यान के समय दुर्वासा ऋषि की तरह अपरिमित तौर से हाथ-पैर हिला डुलाकर, दाँत किटकिटाकर, उद्दण्ड भंगिमा में खड़ा देख रहा है, तभी हमारा लावण्य उसके पास आकर कह रहा है : **'स्थिरी भव!'** पागल बन रहे हो!"

भाव, आभ्यन्तर सौन्दर्य का बोधक है और लावण्य बाह्य सौन्दर्य का अभिव्यंजक। चित्र में बाह्य अलंकृति का समावेश लावण्ययोजना द्वारा ही संभव है। लावण्ययोजना से चित्र में कान्ति और छाया का सुन्दर समावेश होता है। चित्र को वह नयनाभिराम बना देता है। वह निर्जीव प्रतिकृति होकर भी लावण्य का संस्पर्श पाकर प्राणवती हो उठती है। कभी-कभी भाव के द्वारा चित्रों में जो रूक्षता आ जाती है, लावण्य ही उसको दूर कर सकता है। वह भाव का अवरोधक न होकर उसकी सौन्दर्यानुभूति एवं कान्ति को बढ़ाता है।

प्रमाण और रूप की समुचित योजना के बावजूद, लावण्य का समावेश किये बिना, चित्र में सुन्दरता का अभिव्यंजन हो ही नहीं सकता है। इसी हेतु 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रंथ में कहा गया है कि मोती के रूप की भंगिमा निष्प्रभ होती है, यदि उसमें लावण्य की दीप्ति न हो तो। उसी भाँति तब तक चित्र के रूप, प्रमाण और भाव, सभी निष्प्रभ हैं, जब तक कि इन तीनों में लावण्य आकर दीप्ति प्रदान नहीं करती है :

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।।

किन्तु चित्र में लावण्ययोजना उचित रूप में होनी चाहिए। ऐसे ही उचित रूप में जैसे दाल में नमक। नमक की कमी-वेशी के कारण जैसे दाल का सारा ज़ायका ही नष्ट हो जाता है, वही स्थिति चित्र के लावण्ययोजना की है। लावण्य तो मानो कसौटी पर सोने की रेखा है; अथवा पहनने की साड़ी पर सुनहरी किनारी।

५. सादृश्य

किसी मूल वस्तु के साथ उसकी प्रतिकृति की समानता का नाम ही सादृश्य है। किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से प्रकट कर देना ही सादृश्य का कार्य है; किन्तु सादृश्य दिखाते समय वस्तु की आकृति की अपेक्षा उसकी प्रकृति या उसके स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना अधिक उपयुक्त है। उदाहरण के लिए वेणी से सर्प का सादृश्य इसलिए दिखाया जाता है कि उनमें धर्म-समानता है; प्रकृति-समानता है; किन्तु आकृति-समानता नहीं है। सिर से लटकना साँप का धर्म नहीं है और इसी भाँति रास्ते में पड़ी रहकर साँप का भय दिखाना वेणी का धर्म नहीं है।

जिस वस्तु का हम चित्र अंकित करते हैं उसमें यदि मूल वस्तु के गुण-दोष अविकल रूप से समाविष्ट न हुए हों तो वह वास्तविक कृति नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए यदि हम कृष्ण का चित्र अंकित करना चाहें तो हमें देखना है कि उसमें ऐसी क्या क्या विशेषताएँ होनी चाहिएँ, जो केवल कृष्ण में ही पायी जाती हैं। इन विशेषताओं पर यदि चित्रकार का ध्यान न होगा तो वह कृष्ण का वास्तविक चित्र नहीं आँक सकता। बहुत संभव है कि उसको राम का चित्र भी समझ लिया जाय; क्योंकि राम के शिर पर भी मुकुट होता है, राम का रंग भी साँवला है, वस्त्र भी लगभग वही होते हैं। फिर राम के और कृष्ण के चित्र में विभेद कैसे उत्पन्न किया जा सकता है? इस विभेद के लिए हमें देखना होगा कि कृष्ण का मुकुट मोरपंख का होता है, राम का नहीं; कृष्ण के हाथ में वंशी होती है, राम के हाथ में धनुष आदि आदि।

फिर भी आकृति-व्यंजक राम और कृष्ण का उक्त सादृश्य कनिष्ट सादृश्य है। उत्तम सादृश्य तो वह है, जो मनोभाव-व्यंजक हो। कवियों ने जो 'मुखचन्द्र' और 'चरणकमल' का सादृश्य योजित किया है वह आकृतिपरक न होकर प्रकृति, स्वभाव या धर्मसाम्य के कारण है। सादृश्य के लिए आकृति और भाव (स्वभाव, प्रकृति) या स्वगुण का यही अर्थ है।

ऐसी ही अनेक बातें हैं, जो कि सादृश्य के द्वारा अवगत की जा सकती हैं। चित्र चाहे कल्पना-प्रसूत हो या वास्तविक; किन्तु दर्शक उसको पहचानने में यदि भूल नहीं करता या किसी प्रकार की द्विविधा में नहीं पड़ता तो वही चित्र शुद्ध कहा जायगा। ऐसा सादृश्य के द्वारा ही संभव है।

६. वर्णिकाभंग

नाना वर्णों की सम्मिलित भंगिमा को वर्णिकाभंग कहते हैं। किस स्थान पर किस रंग का प्रयोग करना चाहिए तथा किस रंग के समीप किसका संयोजन होना चाहिए, ये सभी बातें वर्णिकाभंग के द्वारा ही जानी जा सकती हैं। रंगों के भेद-भाव से ही हम वस्तुओं की विभिन्नता व्यक्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

चित्र के षडंगो में वर्णिकाभंग का स्थान सबसे बाद में इसी लिए रखा गया है कि षडंगसाधना का वह चरम बिन्दु है। शेष पाँचों अंगों की सिद्धि हम कागद पर बिना एक भी रेखा खींचे, केवल मन और दृष्टि की गंभीर चिन्तना के द्वारा भी कर सकते हैं; किन्तु वर्णिकाभंग के ज्ञान के लिए हमें हाथ में तूलिका लेकर दीर्घ अभ्यास करना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं; बल्कि वर्णज्ञान के बिना, शेष पंच-अंगों की साधना का हमारा सारा प्रयास ही व्यर्थ है :

वर्णज्ञानं यदा नास्ति किं तस्य जपपूजनैः।

यद्यपि प्रमुख वर्ण पाँच प्रकार के माने गये हैं; किन्तु उनके सम्मिश्रण से सैकड़ों उपवर्णों की सृष्टि होती है। प्रकृति, व्यक्ति, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि अनन्त प्रकार के चित्रों में रंगों का किस भाँति उचित प्रयोग होना चाहिए, चित्रकार के लिए यह जानना परम आवश्यक है; और इसका ज्ञान वर्णिकाभंग की साधना से ही हो सकता है।

वर्णिकाभंग के लिए लघुता, क्षिप्रता और हस्तलाघव की आवश्यकता है। आँख की पुतली, भरे गालों की रेखा, हँसी की सूक्ष्म रेखा--जरा भी हाथ काँपा कि सारी साधना व्यर्थ। इसलिए केवल अक्षरों, रेखाओं या वर्णों को जान लेना ही वर्ण ज्ञान नहीं है; अथवा केवल एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण का सम्मिश्रण करना भी वर्णज्ञान नहीं है; अपितु उसका तत्त्व और उसका रूप, दोनों को जानना ही उसका ज्ञान प्राप्त करना है। केवल फूलों का रंग ही नहीं उनके सौरभ को भी दिखाना होगा; इसी प्रकार सूर्य के किरणों का रंग दिखा देना ही पर्याप्त न होगा, दिखाना यह होगा कि सुबह, दोपहर और शाम को उसके उत्ताप का स्पर्श क्या होता है।

वर्णज्ञान का यही आशय है; और इसी लिए वर्णिकाभंग, चित्र के षडंगों में, सबसे कठिन साधना होती है।

चित्रकला के जिन छः अंगों का हम ऊपर अध्ययन कर आये हैं, वस्तुतः वे भारतीय शिल्प के छः अंग हैं। शिल्प का विषय बहुत व्यापक रहा है और चित्रकला उसी का एक अंग रहा है। बाद में 'शिल्प' शब्द का अर्थ 'कला' शब्द ने ले लिया और इस प्रकार शिल्प, स्थापत्य और चित्र, कला के ये तीन भेद माने जाने लगे। आगे '**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' का चित्र-विधान संपूर्ण भारतीय शिल्प पर चरितार्थ न होकर केवल चित्रकला पर ही चरितार्थ होता है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्रविधान

'**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' का '**चित्रसूत्र**' भारतीय चित्रकला की प्रौढ़ परम्परा को दर्शित करनेवाला एकमात्र ग्रंथ है। यह इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि अनेक विद्वानों ने उसका अनुवाद किया। उसका पहला अनुवाद डॉ० स्टेला क्रामरिश ने अँगरेजी में किया। उसका एक अनुवाद डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने किया।

'**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' के तीसरे खण्ड में ३५वें अध्याय से लेकर ४३वें अध्याय पर्यन्त '**चित्रसूत्रम्**' नामक प्रकरण है। इन नौ अध्यायों को पढ़कर भारतीय चित्रविद्या की व्यापकता और उसके प्राचीन अस्तित्व के सम्बन्ध में बड़े महत्त्व की बातें जानने को मिलती हैं। इतने पुराने समय में जिस देश के मनीषियों ने अपने चित्रज्ञान को इतने सूक्ष्म ढंग से निबद्ध किया उस देश के सम्बन्ध में यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि चित्रकला के क्षेत्र में वहाँ कितनी उन्नति हो चुकी थी और लोकप्रियता की दृष्टि से उसको कितना सम्मान दिया जाने लगा था, कि उसको एक प्रधान विषय मानकर साहित्य में स्थान दिया जाने लगा था तथा उसकी बारीकियों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जाने लगा था।

'**चित्रसूत्र**' के आरंभिक श्लोकों को पढ़कर हमें यह भी जानने को मिलता है कि चित्रकला के सम्बन्ध में उससे भी पहले ही से विचार होने लगा था और मुनिवर्ग के मनीषी लोग इस क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से भाग लेने लग गये थे। इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि 'पुराकाल में उर्वशी की सृष्टि करते हुए नारायण मुनि ने लोगों की हितकामना के लिए '**चित्रसूत्र**' का निरूपण किया था। महामुनि ने, निकट आती हुई सुर-सुन्दरियों को छलने के लिए अति सुगन्धित आम्र फल का रस लेकर पृथ्वी पर एक रूपवती स्त्री का उत्तम चित्र बनाया था। चित्र में आलिखित उस अत्यन्त रूपसी स्त्री को देखकर वे सभी सुर-सुन्दरियाँ लज्जित हो गयीं। इस प्रकार चित्रशास्त्र के सभी लक्षणों से सम्पन्न उस चित्र को महामुनि ने विश्वकर्मा को सौंप दिया।'

इसी प्रसंग में आगे बताया गया है कि 'नृत्यकला की भाँति चित्रकला में भी तीनों लोकों का अनुसरण किया जाता है। इन दोनों कलाओं में चितवन, भाव और अंग-प्रत्यंग सभी दृष्टियों से समानता है। महानृत्य (ताण्डव नृत्य) के प्रसंग में पहले जिस प्रकार की हस्तमुद्राओं का उल्लेख किया गया है, वैसे ही हाथ चित्रकला के लिए भी अपेक्षित होते हैं; क्योंकि नृत्य कला को स्वयमेव एक उत्कृष्ट चित्रकृति माना गया है।'

संपूर्ण '**चित्रसूत्र**' नौ अध्यायों में विभक्त है। उन अध्यायों के नाम है : (१) आयाममानवर्णन, (२) प्रमाणवर्णन, (३) सामान्यमानवर्णन, (४) प्रतिमालक्षणवर्णन, (५) क्षयवृद्धि, (६) रंगव्यतिकर, (७) वर्त्तना, (८) रूपनिर्माण और (९) शृंगारादि भावकथन।

इन्हीं अध्यायों को हम अपने ढंग से क्रमबद्ध करके चित्रकर्म के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण-ग्रन्थ के निर्देशों का रूपान्तर यहाँ दे रहे हैं।

चित्र में छन्द और रस

चित्र में यदि गतिमयता (छन्द) और रसमयता न हो तो वह वास्तव में चित्र न होकर रंगों तथा रेखाओं का निर्जीव अम्बार मात्र कहा जायगा। तूलिका से हम जो कुछ भी चित्रित करते हैं वह चित्र नहीं कहा जायेगा। दीवार पर टाँगने या पुस्तक में छापने अथवा किसी चीज की फोटो उतारने को भी चित्र नहीं कहते। यहाँ तक कि रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिकाभंग, इन छः अंगों के पूर्णतः वर्तमान रहने पर भी उसको हम चित्र कहने में भूल करते हैं। **'चीयते इति चित्रम्'**, इस व्युत्पत्ति से भी संतोष नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि चित्रकार अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् के भावों को चुनकर उसमें लावण्य आदि की सृष्टि कर एक वस्तु को सजाकर हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है; किन्तु यह तो करामात मात्र है; फूलों को चुनकर फूलदान में सजा देना अथवा दस-बीस चीजों को इधर-उधर से छाँटकर विश्वकोश तैयार कर देना मात्र है। तब फिर प्रश्न उठता है कि चित्र क्या है?

रेखाओं, रंगों और तूलिका के द्वारा आत्मा को प्रतिष्ठित कर देना ही चित्र है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, छाया-आलोक, सुख, दुःख, आनन्द-अवसाद, और अर्चना, भक्ति, अनुराग-विराग आदि हमारे भीतर और बाहर बहनेवाले सदाशय, शाश्वत रूप से वर्तमान रहनेवाले जो आत्मभाव हैं वे यदि किसी गलीचे पर, किसी दीवार पर या किसी पुस्तक पर अंकित होते हैं तो वही चित्र है। जिसको देखकर हमारे अन्दर की आत्मीयता जाग उठती है, हमारी वेदना फूट पड़ती है, कागद पर रँगी हुई वह मोहिनी ही चित्र है। अतः कहा जा सकता है कि जिस कृति में आत्मीयता, वेदना (छन्द) और अनिर्वचनीय रसमयता है वही चित्र कहा जा सकता है। यही बात कविता, संगीत, नाटक आदि सभी विषयों पर लागू होती है।

चित्र में रसोदय और आनन्दमयता ही सब कुछ है। जिसे हम आनन्दमयता कहते हैं वही छन्द है। व्याकरण ग्रन्थों में 'छन्द' की कई प्रकार से व्युत्पत्ति की गई है। यथा : **'छन्दयति इति छन्दः'** चित्र में वह उषा की आरक्त किरण की भाँति आनन्द का उन्मेष है। आनन्द की इस उदयस्थिति को वह आसमाप्ति तक सुरक्षित बनाये रखता है। इसलिए उसकी एक व्युत्पत्ति—**'आच्छादयति इति छन्दः'**, ऐसी भी की गयी है। छन्द की चित्र में वही स्थिति है, जो नदी-जल में ऊर्मियों की। छन्द बहुविध है; सर्वव्यापी है। छन्द आनन्द में है, अवसाद में है, मिलन में है, विप्रलंभ में है, सुख में है, दुःख में है, वसन्त में है, शीत में है। छन्द हमारे अन्तर और बाहर की असीम करुणा, दया, ममता, पीडा में तरंगायित है। तभी तो उसमें इतनी शक्ति है कि वह कवि या चित्रकार को सीमित बन्धनों से निकालकर अनन्त की ओर ले जाता है।

चित्र में रसमयता ही उसका प्राण है। काव्यशास्त्र में रस को काव्य की आत्मा कहकर उसको ब्रह्मस्वादसहोदर कहा गया है। ऐसा स्वाद, जो केवल अनुभव किया जा सकता है; ऐसा स्वाद जो अन्तरतम को चकनाचूर कर देता है किन्तु बाहर जिसका कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता। वह तो गूंगे के गुड़ के समान है, जिसको व्यक्त करने में शब्द असमर्थ हो जाते हैं; वाणी लड़खड़ा जाती है।

छन्द की (आनन्द की) परिणति रस में है। चित्र का सर्वस्व रस है। उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता और न ही हाथों से छुआ जा सकता है; वह तो प्राणों से ही देखा जा सकता है और प्राणों से ही पकड़ा जा सकता है।

इसी लिए चित्रशास्त्र विषय के ग्रन्थों में रस पर विस्तार से विचार किया गया है। **'चित्रलक्षण'** में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त, ये नौ रस माने गये हैं और चित्र में उनका प्रयोग किस रूप में होना चाहिए, उनका निर्देश इस प्रकार किया गया है :

> श्रृंगार रस के चित्र में कान्ति, लावण्य और माधुर्य होना चाहिए; उसमें वेश तथा आभूषणों की सज्जा निपुणतापूर्वक सज्जित की जानी चाहिए।
>
> हास्य रस का चित्र कुबड़ा, बौना, विकट दृष्टियुक्त होना चाहिए। उसमें सर बहुत बड़ा तथा हाथ-पैर बहुत छोटे होने चाहिएँ। इस प्रकार के चित्रों में आनन्द के साथ-साथ हास्य का पुट होना चाहिए।
>
> करुण रस के चित्र में दया, ममता, विपत्ति, दरिद्रता, त्याग और अनुकम्पा आदि ऐसे भाव दर्शित होने चाहिएँ जिनमें दयनीयता हो।
>
> रौद्र रस के चित्र में कठोरता, क्रोध, वध, हत्या और चमचमाते हुए शस्त्र दिखाने चाहिएँ।
>
> वीर रस के चित्र में वीरता, दृढ़ता, प्रतिज्ञा, उदारता और गर्व के भाव दिखाने चाहिएँ। उसकी मुखाकृति में दृढ़ संकल्प, सौजन्य और मुस्कराहट हो; किन्तु त्योरियाँ चढ़ी हुई हों।

भयानक रस के चित्र में दुष्टता, क्रूरता, प्रतिकार, उन्माद, हिंसा और घातक प्रवृत्ति के लक्षण प्रकट होने चाहिएँ।

वीभत्स रस के उन चित्रों को श्रेष्ठ समझा जाता है जिनमें श्मशान भूमि, घातक साधन और दारुण दृश्य अंकित हों।

अद्‌भुत रस के चित्र में अयुक्त विनय, रोमांच, चिन्ता आदि के भाव विद्यमान होने चाहिएँ। उसमें ऐसी विचित्रता दर्शित होनी चाहिए उदाहरण के लिए जैसे राजा अपने नौकर के सामने हाथ जोड़े और अपने शस्त्र तथा अपना मुकुट उसके पैरों पर रखे हुए हो।

शान्त रस के चित्र में आकृति सौम्य और धारणा, ध्यान तथा आसन की मुद्रा में अवस्थित होना चाहिए। वह ध्यानावस्थित व्यक्ति बहुधा तपस्वी तुल्य हो।

नौ रसों के चित्र के लक्षण बताने के बाद किन घरों में कैसे चित्र लटकाये जाने चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि :

सामान्य घरों में शृंगार, हास्य तथा शान्त रस के चित्रों को सज्जित करना चाहिए। कोई भी चित्र अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। राजभवन तथा देवालय में सभी रसों के चित्र लटकाये जा सकते हैं। रनिवास और राजा के शयनकक्ष में किसी भी रस का चित्र नहीं रखना चाहिए। किन्तु राजसभा के लिए यह नियम लागू नहीं होता। राजभवन, राजसभा और देवालयों को छोड़कर अन्यत्र श्मशान, दयनीय, मृत, दुःख, पीड़ित, कुत्सित और अमांगलिक भावों को दर्शित करनेवाले चित्रों को नहीं लगाना चाहिए। सुख, सम्पन्नता, समृद्धि तथा मांगलिक भावों को व्यक्त करनेवाले सींगयुक्त बैल, नत हाथी, विद्याधर, ऋषि, गरुड़ और हनुमान आदि के चित्र सामान्यतया सभी घरों में लगाये जाने चाहिएँ।

वर्णविधान

चित्रकला के षडंग-प्रसंग में 'वर्णिकाभंग' को अन्तिम और कठिन साधना बताया गया है। 'वर्णिकाभंग' की सिद्धि वर्णों के सम्यक् विधान पर आधारित है। वर्ण अनन्त हैं। उनका निर्माण और प्रयोग किस रूप में होना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों के अपने भिन्न-भिन्न मत हैं।

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में पाँच प्रकार के मुख्य रंग बताये गये हैं, जिसके नाम हैं: (१) **श्वेत** (२) **पीत** (३) **लाल** (४) **कृष्ण** और (५) **नील**। एक दूसरे ग्रन्थ में **लाल**, **पीत**, **श्वेत**, **कृष्ण** और **हरित**, इनको प्रमुख माना गया है। **'नाट्यशास्त्र'** में चार ही प्रमुख रंग माने गये हैं : **श्वेत**, **लाल**, **नील** और **पीत**।

इन प्रमुख रंगों के संयोग से सैकड़ों भाँति के दूसरे रंग तैयार किये जाते हैं। रंगों का उचित रूप से संयोजन और चित्र में उनका यथास्थान उपयुक्त प्रयोग, ये दोनों बातें चित्रकार की कुशलता पर निर्भर हैं। उपवर्णों के निर्माण की विधि पर भरत के **'नाट्यशास्त्र'** (अध्याय २, श्लोक ६०—६५) में कहा गया है कि :

सफेद और पीला रंग मिलाकर **पाण्डु** रंग बनता है। **पाण्डु** रंग उसको कहते हैं, जिसमें सफेद के साथ पीलापन झलकता हो। सफेद और लाल रंग के मिश्रण से **पद्म** रंग तैयार होता है। सफेद के साथ नीला रंग मिलाकर **कपोत** या भूरा रंग बन जाता है। पीला और नीला रंग मिलाने से **हरित** रंग तैयार हो जाता है। नीले और लाल रंग के मिश्रण से **काषाय** रंग तैयार हो जाता है। इसी प्रकार लाल और पीला रंग मिला कर **गौर** रंग का निर्माण होता है।

इसके अतिरिक्त तीन-चार वर्णों के मिलाने से अनेक उपवर्ण तैयार हो जाते हैं। सबल वर्ण, अपेक्षाकृत दुर्बल वर्णों से दुगने प्रभाव के समझे जाते हैं। नील वर्ण, दूसरे वर्णों से, चौगुना बलवान् और सभी वर्णों से बली होता है।

रंगों के सम्मिश्रण पर **'शिल्परत्न'** नामक ग्रंथ में अधिक विस्तार से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि :

सफेद और लाल रंग की मिलावट से **गौर** रंग बन जाता है। यदि सफेद, काला और पीला रंग बराबर मात्रा में मिला लिये जायँ तो उनके संयोग से **भूरा** रंग तैयार हो जाता है। सफेद और काले रंग के समान मिश्रण से **गजवर्ण**, अर्थात् हाथी के शरीर जैसा काला रंग तैयार हो जाता है। यदि समान रूप से लाल और पीला रंग मिला लिया जाय तो **बकुल फल के समान (मौलश्री वर्ण)** रंग तैयार हो जाता है। पीला रंग एक भाग और लाल रंग दो भाग मिलाने से तो **गहरा लाल** रंग बन जाता है। इसी

प्रकार एक भाग सफेद और दो भाग पीला रंग के मिश्रण से पिंगल (कुछ सफेद लिए पीला) रंग; एक भाग काला और दो भाग पीला रंग मिलाने से अम्बु रंग; काले और पीले के समान मिश्रण से मनुष्य-शरीर का रंग; हरताल और नीले रंग के मेल से सुआपंखी रंग; लाख का रस हिंगुद में मिलाने से गहरा लाल; लाख के रस में काला रंग मिलाने से जातुनी रंग; लाख के रस में सफेद रंग मिलाने से जातिलिंग रंग; हिंगुद और लाख को समान भाग में मिलाने से लाखी रंग; और काले तथा नीले रंग को सम भाग में मिलाने से केश रंग अर्थात् बालों जैसे वर्ण का रंग तैयार हो जाता है।

'विष्णुधर्मोत्तर' पुराण के 'चित्रसूत्र' में वर्णित पाँच प्रमुख रंगों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वर्णों के निर्माण और सम्मिश्रण के सम्बन्ध में उसमें लिखा है कि 'अपनी बुद्धि के अनुसार भाव की कल्पना करके तथा रंगों का विभाजन करके सैकड़ों-हजारों प्रकार के रंग बनाये जा सकते हैं।'

इसी प्रसंग में आगे बताया गया है कि नीले रंग में मिलाकर तैयार किया हुआ हरा रंग उत्तम होता है; चाहे वह शुद्ध हो, श्वेतमिश्रित हो या उसमें नीला रंग अधिक डाला गया हो। उसमें श्वेत रंग की न्यूनाधिकता से या समान मिश्रण से तीन प्रकार का बनाया जा सकता है। यदि नीले रंग में सफेद पीला रंग मिला लिया जाय तो वह विरंग हो जाता है और उसके अनेक भेद हो जाते हैं।

लाक्षा तथा श्वेत रंग से अथवा लाक्षा तथा लोध मिलाये हुए लाल रंग से जो छवि अंकित की जाती है वह रक्तकमल की भाँति ललाई लिये श्याम तथा सुन्दर होती है। उससे भी, दूसरे रंगों के मिश्रण से अनेक रंग तैयार किये जा सकते हैं। तरह-तरह के रंग बनाने के लिए सुवर्ण, रजत, ताँबा, अभ्रक, राजवन्त, सिन्दूर, राँगा, हरताल, चूना, लाख, हिंगुल और नील आदि अनेकों द्रव्य हैं।

प्रत्येक देश में स्तम्भनयुक्त टिकाऊ रंग तैयार करने चाहिए। लोहे का रंग रसायनिक क्रिया द्वारा तैयार किया जा सकता है। लोहे का रंग गाढ़ा होता है और अभ्रक का पतला। चित्रकारी के लिए इसी हेतु लोहे का रंग उपयुक्त समझा गया है। अभ्रक में द्रवणशीलता होती है। प्रत्येक रंग में तुलसी, मूनिव, चम्पा, कुश और मौलश्री का काढ़ा डालने से टिकाऊपन आ जाता है। पतले रंगों में स्थायित्व लाने के लिए सिन्दूर और दूध का प्रयोग करना चाहिए। यदि कुछ समय के लिए उत्तम दूब के रस से भिगोये हुए कपड़े से और मयूरपुच्छों से चित्र को ढँक लिया जाय तो पानी पड़ने पर भी वह चित्र नष्ट नहीं होता और कई वर्षों तक बना रहता है।

ऊपर जिन रंगों का उल्लेख किया गया है, चित्रकार उन्हें स्वयं तैयार किया करते थे। कुछ प्रमुख रंगों को बनाने की विधि इस प्रकार है :

सफेद रंग

नदी-तटों पर पाये जानेवाले शंख को या सफेद मिट्टी (चाक) को पीसकर चूर्ण बनाया जाय; उस चूर्ण को नारियल के पानी के साथ खरल में घोट लिया जाय; जब वह लेई के समान हो जाय तब उसको गरम पानी में घोलकर छान लिया जाय; तत्पश्चात् उसको कुछ देर के लिए रख लिया जाय; ऐसा करने से पानी ऊपर तैरने लगेगा और सफेद रंग नीचे जम जायगा; इस प्रकार जब रंग तैयार हो जाय तो उसे नीम या कैथा के गोंद में मिलाकर प्रयोग में लाया जाय।

लाल रंग

गेरू या हुर्मजी को साफ़ करके एक दिन तक उसको पानी में भिगोया जाय; दूसरे दिन उसको छानकर कुछ देर के लिए रख लिया जाय; सफेद रंग की भाँति वह भी जम जायगा; तदनन्तर ऊपर के पानी को निखारकर नीचे जो रंग बच जाय उसमें नीम का रस या कैथे का गोंद मिलाकर प्रयोग में लाया जाय। इसी प्रकार लाख के रस से भी लाल रंग बनाया जा सकता है।

पीला रंग

पीला रंग कई प्रकार की वस्तुओं से बनाया जा सकता है। उसकी एक विधि इस प्रकार है :

पीली मिट्टी को पानी में घोलकर सुखा लिया जाय; उसको पानी के साथ खरल में तब तक घोटा जाय जब तक वह लेई के

समान न हो जाय; तदनन्तर गरम पानी में घोलकर उसको कुछ देर के लिए रख लिया जाय; ऐसा करने से नीचे रंग जम जायगा और ऊपर पानी तैरने लगेगा।

उसकी दूसरी विधि इस प्रकार है :

हरताल को तीन दिन तक पानी में डाल दिया जाय; वह पूर्ण रूप से पानी में गलकर नीचे जम जायगा; चौथे दिन पानी को अलग करके उस जमे हुए हरताल में नीम या कैथे का गूदा डालकर पाँच दिन तक उसको खरल में घोटा जाय; पीला रंग तैयार हो जायगा।

तीसरी विधि इस प्रकार है :

दाख के फूलों को तीन-चार दिन तक पानी में डालकर रखा जाय; तदनन्तर उसको आग में चढ़ाकर उबाला जाय और साथ ही उन फूलों को पानी के साथ मल लिया जाय; ऐसा करने से उनका रंग पानी के साथ मिल जायगा; फिर उस पानी को छानकर धूप में रख लिया जाय; रंग नीचे जम जायगा; उसमें बज्रलेप मिलाकर उसको प्रयोग में लाया जाय।

काला रंग

काला रंग काजल से बनाया जाता है। काजल बनाने के लिए स्वच्छ मिट्टी के दीपक में अलसी या अरण्डी का तेल डालकर उसमें साफ़ रुई की बत्ती जला ली जाय; तदनन्तर चौड़े मुँह वाले मिट्टी के घड़े को सूखे गोबर से भीतर की ओर साफ़ करके उसे दीपक पर औंधा रख लिया जाय; काजल तैयार हो जाने पर उसको पानी के साथ गलकर सुखा लिया जाय; फिर उसको नीम के रस या कैथे के गूदा के साथ खरल में घोटा जाय।

नीला रंग

नील वृक्ष की पत्तियों को सुखाकर उनको पानी के साथ पीस लिया जाय और दो-चार दिन तक वैसा ही पड़ा रहने दिया जाय; फिर उनको पानी में मलकर धूप में सुखाया जाय; पानी ऊपर और रंग नीचे जम जायगा।

सुनहरा रंग

यह रंग बड़ी सावधानी से बनाया जाता है। इसको बनाने के लिए पहले तो सुवर्ण के महीन पत्र को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लेना चाहिए; फिर उसमें थोड़ी-सी रेत और थोड़ा-सा पानी मिलाकर उसको पत्थर के खरल में घोटा जाय; खरल करते-करते जब वह लेई के समान हो जाय तो उसमें पर्याप्त पानी डाल दिया जाय; पानी से रेत ऊपर तैरने लगेगी और लेई नीचे जम जायगी; पानी को निखारकर उस जमी हुई लेई में बज्रलेप मिला देने से सुनहरा रंग तैयार हो जाता है।

चित्र में अधिक चमक पैदा करने के लिए उसको सुअर या हाथी के दाँत से घोंटना चाहिए; पुनः उस पर रंग दिया जाय और तब कड़ी रुई से उसको रगड़ लिया जाय।

बज्रलेप बनाने की विधि

बज्रलेप मिलाने से प्रत्येग रंग की आभा खिल जाती है, वरन्, वह हज़ारों वर्ष के लिए टिकाऊ भी बन जाता है। 'शिल्परत्न' में बज्रलेप तैयार करने की विधि इस प्रकार बतायी गयी है :

भैंस के चमड़े को पानी के साथ आग पर तब तक पकाना चाहिए जब तक कि वह पककर मक्खन के समान न बन जाय; तदनन्तर आग की आँच कम करके पानी को भाप बनाकर उड़ा लिया जाय; फिर उसके छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर उसको धूप में सुखा लिया जाय। जब उसको रंग में मिलाना हो तो किसी मिट्टी के पात्र में पानी डालकर उन सूखे हुए टुकड़ों को पुनः आग में पका लिया जाय।

यदि बज्रलेप को सफ़ेद मिट्टी में मिलाया जाय तो वह दीवार पर प्लास्टर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा। दीवार पर तीन 'कोड' करने के बाद चित्र-रचना करनी चाहिए।

'चित्रसूत्र' में यही विधि कुछ विस्तार और प्रकारान्तर से बतायी गयी है। उसमें लिखा है कि तीन प्रकार के इष्टिकाचूर्ण (ईंट का चूर्ण) में एक-तिहाई मिट्टी मिला ली जाय; उसमें एक हिस्सा गुग्गुल, मोम, महुआ, मुर्वा, गुड़, कुसुम और उतना ही एक हिस्सा तेल मिला लिया जाय; तदनन्तर उसमें एक-तिहाई चूना; दो अंश बेल का गूदा, मषक, खैरा और बालू मिलाकर उसको आग में पकाया जाय; तदनन्तर उस मिश्रण को एक मास तक चमड़े के पात्र में पानी के साथ भिगोकर रखा जाय; एक मास बाद वह मिश्रण स्निग्ध हो जायगा; तब उसको सावधानी से निकालकर दीवार पर उसका लेप किया जाय। लेप ऐसा होना चाहिए जो न चिकना हो, न दृढ़ हो, न खुरदुरा हो, न मोटा हो और न पतला ही।

बार-बार लेप करने के बाद दीवार जब सूख जाय तब तेल, मिट्टी और धूने के मिश्रण से तैयार किए हुए लेपों एवं चिकने मंजनों से दीवार पर सावधानीपूर्वक वार्निश की जाय। तदनन्तर उसको बार-बार दूध से सींचकर पोंछ लिया जाय। जब वह सूख जाय तब उस पर चित्र-रचना करनी चाहिए।

इस प्रकार विभिन्न लेपों से चित्र के लिए तैयार की गयी आधारभूमि सौ वर्ष तक भी नष्ट नहीं होती।

इसी प्रकार विभिन्न भाँति के लेपों से युक्त मणिमय भूमियाँ, चित्र की आकृति के अनुसार, तैयार की जानी चाहिएँ।

आधारभूमि पूर्ण रूप से तैयार हो जाने पर कलाकार को चाहिए कि वह प्रशस्त तिथि एवं शुभ नक्षत्र में, विशेषतः चित्रा नक्षत्र में, शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण करके ब्राह्मणों का पूजन करे और तदनन्तर स्वस्तिवाचन के साथ कलाविदों तथा गुरुजनों को प्रणाम करके अपने इष्टदेव को स्मरण करते हुए पूर्वाभिमुख होकर चित्र-रचना आरंभ करे।

चित्र में प्रमाण

चित्र के छः अंगों में 'प्रमाण' पर कुछ प्रकाश डाला गया है; किन्तु एक कुशल चित्रकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस विषय को अधिक विस्तार से जान ले। प्राचीन आचार्यों ने मनुष्य के पाँच प्रकार बताये हैं : (१) **हंस**, (२) **भद्र**, (३) **मालव्य**, (४) **रुचक** और (५) **शशक**। **हंस** मनुष्य का प्रमाण उसकी उँगलियों से १०८ अँगुल, **भद्र** का १०६, **मालव्य** का १०४, **रुचक** का १०० और **शशक** का ९० अंगुल होता है।

१. **हंस** मनुष्य की भुजाएँ बलिष्ठ, उसका रंग चंद्रमा के समान श्वेत, मस्तिष्क गोल, नेत्र मधुर, मुखाकृति सुन्दर, कमर पतली और चाल हंस के समान होनी चाहिए।

२. **भद्र** मनुष्य की आकृति किसी महात्मा, महापुरुष, गंधर्व, दैत्य, दानव, मंत्री, ब्राह्मण अथवा पुरोहित से सम्बन्धित होती है। उसका वर्ण कमल के समान, पैर हाथी के पैरों की भाँति, शिर पर बाल और भुजायें गोल तथा बलिष्ठ होनी चाहिएँ।

३. **मालव्य** मनुष्य उड़द के समान काले वर्ण का होता है। उसका शरीर दर्शनीय, कमर कृश, आजानुबाहु, चौड़े कंधे, चौड़े जबड़े, ऊँची नाक और आकृति में दृढ़ता होनी चाहिए।

४. **रुचक** मनुष्य की आकृति गंभीर तथा बुद्धिमत्तापूर्ण होती है। उसमें चातुर्य के भाव होने चाहिएँ। उसका वर्ण चंद्रमा के समान और ग्रीवा शंख की भाँति होनी चाहिए। यक्षों के चित्र इसी प्रमाण के होते हैं।

५. **शशक** मनुष्य चतुर होता है। उसका वर्ण कालिमा-लालिमा-मिश्रित होना चाहिए। गाल खूब भरे हुए और आँखें मधुरता लिए हुए होनी चाहिएँ। महन्त तथा पुजारी इसके लिए उपयुक्त हैं।

हंस पुरुष की लम्बाई

१२ अंगुल प्रमाण को एक बिता (**ताल**) कहते हैं। एड़ी से ऊपर की गाँठ (**गुल्फ**) की ऊँचाई ३ अंगुल; वही पैर की भी ऊँचाई होती है; गुल्फ से लेकर जंघों तक की लम्बाई २ बिता; घुटने की लम्बाई ३ अँगुल; जंघों के बराबर ही दोनों उरुओं की लम्बाई; लिंगेन्द्रिय (**मेढ़**) से नाभी की दूरी १ बिता; नाभी से हृदय और हृदय से कण्ठ की दूरी १-१ बित्ता; कण्ठ की लम्बाई ४ अंगुल; मुख की लम्बाई १ बित्ता; ललाट में मस्तिष्क की लम्बाई २ अंगुल; हथेली १ बित्ता; बाहु १७ अंगुल; ऊपर की भुजा (**प्रबाहु**) भी उतनी ही होनी चाहिए; छाती का आधा भाग ८ अंगुल होना चाहिए।

इसी प्रकार **भद्र**, **मालव्य**, **रुचक** और **शशक** आकृतियों का प्रमाण जानना चाहिए।

पाँच प्रकार के पुरुषों की भाँति पाँच प्रकार की स्त्रियाँ भी होती हैं, जिनके नाम हैं : (१) **हंसा**, (२) **भद्रा**, (३) **मालव्या**, (४) **रुचका** और (५) **शशका**। जिस श्रेणी का पुरुष हो उसके साथ उसी श्रेणी की स्त्री योजित की जानी चाहिए। स्त्री की ऊँचाई

पुरुष के कन्धेपर्यन्त होनी चाहिए; उसका कटि-प्रदेश, पुरुष की अपेक्षा दो अंगुल कृश; नितम्ब भाग, पुरुष की अपेक्षा चार अंगुल अधिक होना चाहिए। उसके स्तन आकर्षक और उनके ठीक स्थान पर योजित किया जाना चाहिए।

एक हंस पुरुष का सांगोपांग प्रमाण*

शास्त्रीय दृष्टि से एक हंस पुरुष के चित्र का प्रमाण क्या होना चाहिए और उसके प्रत्येक अवयव की लम्बाई, ऊँचाई, चौड़ाई तथा मोटाई किस अनुपात से होनी चाहिए, उसका विवरण इस प्रकार है :

शिर १२ अंगुल चौड़ा; मस्तिष्क ८ अंगुल चौड़ा तथा ४ अंगुल ऊँचा; कनपटी ४ अँगुल चौड़ी तथा २ अंगुल ऊँची; कपोल ५ अंगुल लम्बे; ठोढ़ी ४ अंगुल; कान की चौड़ाई २ अंगुल, लम्बाई ४ अंगुल और बीच का भाग १ अंगुल; नासिका ४ अंगुल, अग्रभाग २ अंगुल तथा चौड़ाई ३ अगुल; नथुने १ अंगुल लम्बे तथा २ अंगुल ऊँचे; ऊपर के ओठ और नासिका के बीच का भाग १/२ अंगुल; ऊपर का ओठ १ अंगुल; नीचे का ओठ १ अंगुल; मुँह ४ अंगुल; ठोढ़ी २ अंगुल; मुँह में ४० दाँत (८ दाँतों के लिए १ १/२ अंगुल का स्थान; शेष दाँत १/२ अंगुल; एक बड़ा दाँत १ अंगुल); आँखें ३ अंगुल लम्बी; भवें ३ अंगुल लम्बी तथा १/२ अंगुल चौड़ी; दोनो भवों के बीच का अन्तर २ अगुल; आँख की पुतली १/३ अँगुल; आँख का तिल १/८ अंगुल; आँख और कान के बीच का अन्तर ४ अंगुल; ग्रीवा १० अंगुल चौड़ी और २१ अंगुल का घेरा; दोनों स्तनों के बीच का अन्तर १६ अंगुल तथा गोलाई ६ अंगुल; कंधों के पास भुजाओं की गोलाई १६ अंगुल; हाथ की लम्बाई १२ अंगुल; हथेली ७ अंगुल लम्बी तथा ५ अंगुल चौड़ी; बीच की उँगली ५ अंगुल लम्बी; तर्जनी मध्यमा से छोटी; अनामिका तर्जनी से भी छोटी; कनिष्ठिका सबसे छोटी; उँगलियों में ३ पोर और अंगूठे में २ पोर; अंगूठे की लम्बाई ३ अगुल; नाखून पोरों के प्रमाण से आधा; पेट का घेरा ४२ अंगुल; नितम्बों का घेरा ४४ अंगुल तथा चौड़ाई १८ अंगुल; अण्डकोष ४ अंगुल चौड़े; लिंग ६ अंगुल लम्बा; जंघाओं के जोड़ों की चौड़ाई ४ अंगुल; घुटनों की चौड़ाई ८ अंगुल; घुटनों के नीचे का हिस्सा ५ अंगुल चौड़ा, १५ अगुल लम्बा और १४ अंगुल घेरा; तलवे १२ अंगुल लम्बे तथा ६ अंगुल चौड़े; पैर का अँगूठा ३ अंगुल; उसका नाखून ३/४ अंगुल; प्रत्येक उँगली के नाखून की लम्बाई, अँगूठे के नाखून का आठवाँ भाग; पहली उँगली की लम्बाई अँगूठे के बराबर और शेष उँगलियाँ क्रमशः छोटी; एड़ी ३ अंगुल चौड़ी और ४ अंगुल ऊँची होनी चाहिए।

एक हंस पुरुष के विभिन्न अंगों का जो प्रमाण ऊपर दिया गया है उसको अनुपात से घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है।

स्त्रियों के चित्र, पुरुषों के चित्रों की अपेक्षा १ अमसा (३ अंगुल) कम करके बनाये जाते हैं।

पाँच प्रकार की अन्य आकृतियाँ

जिन आकृतियों और जिनके प्रमाणों का ऊपर निर्देश किया गया है उनके अतिरिक्त पाँच प्रकार की आकृतियाँ और भी बतायी गयी हैं; जिनके नाम हैं : (१) नर, (२) क्रूर, (३) असुर, (४) बाल और (५) कुमार। **नर** आकृति का प्रमाण १० ताल, **क्रूर** आकृति का १२ ताल, **असुर** आकृति का १६ ताल, **बाल** आकृति का ५ ताल और **कुमार** आकृति का ६ ताल निर्धारित किया गया है।

इनकी श्रेणियाँ भी अलग-अलग हैं। **नर** श्रेणी की आकृतियों में राम, बाली, इंद्र तथा अर्जुन के चित्र रखे गये हैं; **क्रूर** श्रेणी के चित्रों में चण्डी, भैरव जैसे विध्वंसकारी देवों के चित्र आते हैं; **असुर** श्रेणी के चित्रों में रावण, कुम्भकर्ण आदि को रखा गया है; बाल

*** नाप की रीति**

८ प्रमाण	=	१ राज
८ राज	=	१ बालागर
८ बालागर	=	१ लिकसा
८ लिकसा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यव
८ यव	=	१ अंगुल
१२ अंगुल या ४ अमसा	=	१ ताल

श्रेणी के चित्रों में बाल्यकाल सम्बन्धी आकृतियों को निर्धारित किया गया है; और कुमार श्रेणी के चित्रों में वे चित्र गिनाये गये हैं, जो कौमार्यावस्था के होते हैं।

उत्तम नव ताल के अनुसार चित्ररचना

उत्तम नव ताल के अनुसार चित्र बनाने के लिए इस प्रकार का प्रमाण निर्धारित हैं :

माथे के बीच से ठुड्डी तक १ ताल; गरदन की हड्डी से छाती तक १ ताल; छाती से नाभी तक १ ताल; नाभीं से नितम्ब तक १ ताल; नितम्ब से घुटनों तक २ ताल; और घुटनों से एड़ी तक २ ताल।

चोटी से माथे तक लम्बाई १ अमसा; ग्रीवा १ अमसा; घुटनों की हड्डी १ अमसा; पैर की एड़ी १ अमसा; पैर १ ताल; गरदन २ अमसा; एक कंधे से दूसरे कंधे तक ३ ताल; घुटना २ अमसा; टखना २ अमसा; पैर ५ अमसा; कंधे से कुहनी तक २ ताल; कुहनी से कलाई तक ६ अमसा; हथेली १ ताल; भुजा २ अमसा; कुहनी के ऊपर १ अमसा और कलाई १ अमसा होनी चाहिए। मुँह के तीन भाग होते हैं : माथे से भवों तक, भवों से नाक तक और नाक से ठुड्डी तक।

बच्चों की आकृतियाँ

बच्चों की आकृतियों के लिए भी प्रमाण निर्धारित किया गया है, जिसका विवरण इस प्रकार है :

बच्चे के शिर का जो अनुपात हैं, गरदन से कमर तक का हिस्सा उससे दुगुना बनाना चाहिए; शेष भाग का परिमाण शिर से ढाई गुना होना चाहिए। हाथों की लम्बाई, पैरों से दुगुनी होनी चाहिए। बच्चों की गरदन तो छोटी होती है; किन्तु शिर उसके अनुपात से बड़ा होता है।

चित्रों की श्रेणियाँ

प्राचीन चित्रों में प्रमुखतया हमें चार प्रकार के चित्र देखने को मिलते हैं। (१) कुछ चित्र तो ऐसे हैं, जो दीवारों पर बनाये गये हैं। (२) कुछ चित्र लकड़ी के तख्तों पर अंकित हैं। (३) तीसरे प्रकार के चित्र वृक्ष की छाल पर चित्रित हुए मिलते हैं। (४) इनके अतिरिक्त अधिक संख्या उन चित्रों की है, जो कि कागद पर बनाये गये हैं। यद्यपि कागद पर चित्र बनाने की प्रथा का प्रचलन बहुत बाद में हुआ; किन्तु उसको बहुत बड़े पैमाने पर अपनाया गया।

१. दीवारों पर चित्र-रचना का व्यापक प्रचार बौद्धकाल में हुआ। अजन्ता, एलोरा आदि गुफ़ाओं के भित्तिचित्र इसके उज्वल उदाहरण हैं।

२. दूसरी प्रकार की चित्र-रचना लकड़ी के तख्तों पर हुआ करती थी। लकड़ी पर चित्र बनाने के सम्बन्ध में विद्यारण्य मुनि कृत **'पंचदशी'** में कहा गया है कि 'उसके लिए यह आवश्यक है कि पहले लकड़ी की दफ़्ती को भली भाँति साफ़ कर लेना चाहिए। उसके बाद उसे चावल के पेठे से घोट कर चिकना बनाना चाहिए। तदनन्तर उस पर अभीष्ट चित्र की रेखाकृतियाँ डालकर पुनः रंग भरना चाहिए।'

३. भारत में पटचित्रों का निर्माण बहुत बाद तक होता रहा। बड़े होने के कारण इन चित्रों की सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। पत्रचित्रों के सम्बन्ध में बौद्धधर्म के तांत्रिक ग्रंथ **'आर्य मंजु श्री मूलकल्प'** में कहा गया है कि 'स्वच्छ श्वेत कपड़े पर चित्र अंकित करना चाहिए। उसके दोनों ओर किनारियाँ हों। ऐसे पट या वृक्ष-छाल पर चित्र बनाना चाहिए, जिस पर रेशे न हों। रेशमी कपड़ा इसके लिए सर्वथा त्याज्य है। कपड़ा दो हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा हो।' इस सम्बन्ध में ऐसा भी बताया गया है कि पटचित्र को यदि दूर्वा घास के रस में भिगोया जाय तो वह हजारों वर्ष तक सुरक्षित बना रहता है।

४. कागद, चित्र-रचना का प्रमुख माध्यम रहा है। चित्र-रचना के लिए तीन प्रकार का कागद उपयोग में लाया जाता था : (१) **बाँसी** (सूखे बाँस के टुकड़ों को सड़ा कर बनाया हुआ); (२) **टटहारा** (टाट या जूट को सड़ाकर बनाया हुआ); और (३) **तुलात** (तूल या रूई आदि को गलाकर बनाया हुआ)।

चित्र-रचना के लिए कागद को, पहले कई पत्रों को एक साथ चिपका कर गत्ता-सा बनाया जाता था। फिर सफ़ेद रंग को

वज्रलेप के साथ मिलाकर उस कागद पर लेप कर दिया जाता था। लेप के सूख जाने के बाद हाथी दाँत, सींग, हड्डी या शंख से उसको घोट कर चिकना बना दिया जाता था। तब वह चित्र के लिये उपयोगी बन सकता था।

रचना विधान के अनुसार चित्रों के कई भेद बताये गये हैं; जैसे **चित्र, अर्धचित्र, चित्राभास, सत्यम्, वैणिकम्, नागरम्** और **मिश्रम्**। **'चित्र'** उसको कहते हैं, जिसमें समस्त अंगों को पूरी तरह अंकित किया जाता है। **'अर्धचित्र'** वह है, दीवार आदि पर जो आधा ही अंकित किया जाता है। **'चित्राभास'** उस चित्र का नाम है, जिसमें शरीर के किसी अंग को स्वेच्छया किसी भी अनुपयुक्त स्थान पर अंकित किया जाता है। **'सत्यम्'** चित्र वह कहा जाता है, जिसमें जीवन की सच्ची घटनाओं को दर्शाया जाता है। ऐसे चित्र अण्डाकार भी होते हैं और लम्बाकार भी। **'वैणिकम्'** उस चित्र को कहते हैं, जो कि उचित प्रमाण के अनुसार बनाया जाता है, और जिसमें सौन्दर्य एवं कौशल विद्यमान रहता है। ऐसे चित्र चौकोर घेरे के अंदर बनाये जाते हैं। **'नागरम्'** वह चित्र है, जिसमें अंग-प्रत्यंग सुगठित हों, आभूषणों का कम प्रयोग हो और जो गोलाकार वृत्त में बनाया जाय। **'मिश्रम्'** चित्र, सत्य, वैणिक और नागर नामक चारों चित्रों के मिश्रण से तैयार किया जाता है।

विषय की दृष्टि से भी उसके कुछ भेद किये जा सकते हैं; यथा देवी-देवताओं के चित्र, ऐतिहासिक चित्र, वेद-पुराणों की कथाओं के चित्र, संगीत तथा नृत्य विषयक चित्र, नायक-नायिका सम्बन्धी चित्र और अन्य वस्तुओं के चित्र आदि।

आकृति चित्रण

चित्रकला एक स्वतंत्र विषय है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और उसकी विधाएँ बहुत सूक्ष्म हैं। इस क्षेत्र में प्रवेश पाने वाले प्रत्येक जिज्ञासु के लिए यह आवश्यक समझा जाता रहा है कि वह भली भाँति चित्रकला की बारीकियों का अध्ययन-मनन करने के बाद ही क्रमशः आगे बढ़े।

आकृतिचित्र, प्रकृतिचित्र, व्यक्तिचित्र और लघुचित्र आदि, चित्रों के जो अनेक भेद बताये गये हैं उनकी अपनी नियमावली तथा अपने स्वतंत्र सिद्धान्त हैं। आकृतिचित्रों के निर्माण की विधायें क्या हैं, इसका विवेचन करने से पूर्व हमें आकृतियों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए।

तेरह प्रकार की आकृतियाँ

भारतीय चित्रकला में तेरह प्रकार की प्रमुख आकृतियाँ बतायी गयी हैं। ये तेरह प्रकार की आकृतियाँ भी अवस्थाविशेष के कारण कई गुनी हो जाती हैं। इन तेरह प्रकार की प्रमुख आकृतियों के नाम हैं : (१) **ऋज्वागत** (सामने का आकार), (२) **अनृजु** (पृष्ठभाग), (३) **साँचीकृत शरीर** (झुके शरीर वाला आकार), (४) **अर्ध विलोचन** (एक आँख युक्त), (५) **पार्श्वागत** (एक पार्श्व युक्त), (६) **परावृत** (एक कपोल युक्त), (७) **पृष्ठागत** (शरीर का पृष्ठभाग), (८) **परिवृत** (गोलाकृति), (९) **समानत** (पूर्णतया झुका हुआ शरीर), (१०) **समाभंग या समापट्ट** (दायाँ-बाँया भाग एक समान), (११) **अभंग** (दाहिनी ओर झुका हुआ शरीर का ऊपरी भाग), (१२) **त्रिभंग** (अंग्रेजी के Z अक्षर के समान आकृति) और (१३) **अतिभंग** (शरीर का अतिशय रूप से झुका होना)।

इन आकृतियों के सम्बन्ध में विस्तार से इस प्रकार जाना जा सकता है :

१. **ऋज्व : ऋज्व** आकृति में शरीर के अंग-प्रत्यंग पूर्णरूप से दिखायी देते हैं। शरीर बहुत सुंदर, सुडौल तथा अलंकृत होता है। उसमें छाया और प्रकाश का भी समावेश होना चाहिए। शरीर का पृष्ठ भाग सीधा हो। कंधों से कमर तक और जंघों से पैरों तक का भाग पतला हो। नथुने और ओठ, उनकी चौड़ाई के अनुपात से $\frac{1}{3}$ कम हों। इसी प्रकार शरीर का प्रत्येग अंग, उसकी चौड़ाई के अनुपात से $\frac{1}{3}$ कम हो। चित्रकला की दृष्टि से इस प्रकार की **'ऋज्व'** आकृति सर्वश्रेष्ठ कृति बतायी जाती है।

२. **अनृजु : अनृजु** आकृति, **ऋज्व** आकृति के विधानों से सर्वथा विपरीत होती है।

३. **साँचीकृत शरीर** : इस आकृति में शरीर झुका हुआ होता है। शरीर की बनावट सुगठित, मृदुल और आकर्षक होती है। कोई निपुण कलाकार ही इस आकृति को चित्रित कर सकता है। इसमें

आँख, नाक, मस्तिष्क और भवों का संयोजन बहुत ही बारीकी से दर्शित होता है। मुखाकृति सौम्य होती है।

४. **अर्ध विलोचन** : जैसा कि उसके नाम से ही विदित है कि उसमें केवल एक ही आँख अंकित की जाती है। इस आकृति की विशेषता यह है कि इसके चेहरे पर केवल एक आँख और एक भाग माथे का दिखाया जाता है। आधी भवें झुकी हुई होनी चाहिएँ। ठोढ़ी एक यव प्रमाण की होनी चाहिए। खुले हुए मुंह के अनुपात से नाभी का आकार एक अंगुल कम होना चाहिए।

५. **पार्श्वागत** : इस प्रकार की आकृति में छाया नहीं दिखायी जाती है। इसी लिए उसको 'छायागत' भी कहा जाता है। चित्र में माधुर्य और सुरुचि के भाव होने चाहिएँ। चित्र में दायें या बायें, एक ओर मुखाकृति दर्शित करनी चाहिए। इस श्रेणी के चित्रों में एक आँख, एक भँव, एक कनपटी, एक कान, आधी ठोढ़ी और बाल दिखाये जाते हैं।

६. **पुरावृत** : इस आकृति में कपोलों को पीछे की ओर घूमा हुआ दिखाना चाहिए। रेखाएँ हल्की हों। मस्तिष्क, कपोल, बाजू और गले को गहरा 'शेड' देकर उभरा हुआ दिखाना चाहिए। सौन्दर्य, गठन और कोमलता का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

७. **पृष्ठागत** : जिस आकृति में पीठ का भाग विशेष रूप से आकर्षक हो उसे '**पृष्ठागत**' कहते हैं। पुठ्ठे और जोड़ उभरे हुए होने चाहिएँ। एक त्योरी दिखायी जाय; किन्तु जिसमें उमंग के भाव हों और वे दर्शक को आकर्षित कर सकने योग्य हों। छाती का आधा भाग तथा गाल और आँख का बाहरी कोना हल्के रंग में होना चाहिए। इसमें भी सौन्दर्य और माधुर्य भरने की पूर्ण चेष्टा की जानी चाहिए।

८. **परिवृत** : इस आकृति में कटि प्रदेश के ऊपर का केवल आधा हिस्सा घुमा हुआ दिखाया जाना चाहिए। मुखाकृति कुछ द्वेष के भाव लिए होनी चाहिए। ऊपर और नीचे के हिस्से हल्के 'शेड' में छिपे हुए होने चाहिए। चित्र का मध्य भाग आकर्षक होना चाहिए।

९. **समानतम** : इस प्रकार की आकृतियों में विशेषतया कटि के नीचे वाले हिस्से पर ध्यान दिया जाता है। नितम्ब ऐसे होने चाहिएँ, जो स्पष्ट और आकर्षक हों। पैरों के दोनों तलुवे जुड़े हुए हों। किन्तु स्पष्ट हों। कटि के ऊपरी भाग में हल्का रंग और नीचे के भाग में गहरा रंग होना चाहिए। अंगूठे के नीचे का भाग कम दिखाना चाहिए, किन्तु उसमें आकर्षण और स्पष्टता होनी चाहिए।

१०. **समाभंग** : इस चित्र में दाँया और बाँया, दोनों भाग एक समान होना चाहिए। चित्र का ढाँचा चाहे खड़ा हो या बैठा हो, वह किसी ओर झुका हुआ न होना चाहिए। शरीर के अंग-प्रत्यंग, दोनों ओर एक समान दर्शित हों; केवल हाथों की उँगलियों का ढंग भिन्न हो। भगवान् बुद्ध के चित्र प्रायः इसी आकृति के होते थे।

११. **अभंग** : इस आकृति में चोटी से एड़ी तक के बीच की रेखा नाभि-प्रदेश में दाहिनी ओर कुछ झुकी हुई होती है। इस आकृति में नितम्ब भाग अपने वास्तविक स्थान से एक अमसा हटे हुए होने चाहिए। बौद्ध भिक्षुओं एवं महात्माओं के चित्र इसी श्रेणी के होते थे।

१२. **त्रिभंग** : इस आकृति में बीच की रेखा, शिर से लेकर, दाहिनी आँख की पुतली के बीच नाभी के दाहिनी ओर होकर एड़ी तक जाती है। इसी लिए आकृति का स्वरूप Z अक्षर जैसा हो जाता है। टाँगें बायें या दाहिने हटी हुई होती हैं और इसी प्रकार नितम्बों से लेकर गरदन तक का हिस्सा भी दाँयें या बाँयें झुका हुआ होता है। यदि देवियों के चित्र हों तो शिर दाहिनी ओर और देवताओं के चित्र हों तो शिर बांयी ओर झुका होता है। यदि देवी-देवता के संयुक्त चित्र हों, तो दोनों के शिर एक-दूसरे की ओर झुके होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि परस्पर वे चुम्बन लेने के लिए उद्यत हों। प्रायः राधा-कृष्ण के चित्र इसी भाँति के हैं।

१३. **अतिभंग :** ऊपर त्रिभंग आकृति के सम्बन्ध में जो कुछ बताया जा चुका है उसमें अत्यधिक झुकाव कर देने से 'अतिभंग' आकृति बन जाती है। इसमें शरीर के ऊपरी भाग को इस क़दर झुकाया जाता है, जैसे प्रबल आँधी चलने से वृक्ष झुक जाता है। इस श्रेणी के चित्र युद्ध या ताण्डव नृत्य से सम्बन्धित होते हैं।

इसके अतिरिक्त एक अच्छे चित्रकार को, स्त्री के चित्र में, हमेशा एक पैर गंभीरता से आगे की ओर बढ़ा हुआ, दिखाना चाहिए। उसमें कमर और कूल्हों के हिस्से चौड़े और लोचदार दिखाने चाहिएँ।

इन तेरह प्रकार की आकृतियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक भाँति की आकृतियों का चित्रकला में उल्लेख मिलता है; किन्तु वे सभी इन्हीं के हेर-फेर से बनायी जाती हैं।

आकृति चित्रण का विधान

आकृति-भेदों को जान लेने के बाद उनको चित्रित करने का विधान क्या है, इसका अनुशीलन करना आवश्यक है। चित्रकला के प्राचीन आचार्यों ने आकृतियों के कुछ वर्ग निश्चित किये हैं; जैसे देवता, ऋषि, राजा, पुरातन मनुष्य, किन्नर, राक्षस, वेश्या, संभ्रान्त कुल की स्त्रियाँ, शूद्र, भाट, दूत, द्वारपाल, व्यापारी, शिल्पकार, पशु, पक्षी, जानवर और प्राकृतिक दृश्य। इन विभिन्न आकृतियों को चित्रित करने के लिए विशेष विधान हैं।

देवता, ऋषि, राजा और पुरातन मनुष्यों की आकृतियाँ प्रभावशाली तथा अलंकरणों से सज्जित होनी चाहिएँ। उनका प्रकृत वर्ण ही उनके चित्रों में देना चाहिए। प्रत्येक चित्र अपनी भिन्नता लिए होना चाहिए। सभी के रूप में सौम्यता होनी चाहिए। आँखें विशाल और नील कमल की भाँति होनी चाहिएँ। उनके किनारों पर कुछ ललाई और पुतलियं काली होनी चाहिएँ। पलकों के कोनों की बनावट लम्बी होनी चाहिए।

देवताओं की हस्त-मुद्राओं में प्रजा की कल्याण-कामना के भाव अंकित होने चाहिएँ। उनकी आँखों में दूध जैसी धवलता हो। मुखाकृति में शुभ-लक्षण विद्यमान हों। यह सावधानी रखनी चाहिए कि रेखाएँ कहीं भी टूटने न पावें। चित्र प्रमाणयुक्त होने चाहिएँ। देव-आकृतियों में भवें तथा पलकों को छोड़कर बाल नहीं दिखाये जाते हैं। उनकी हँसमुख आकृति और सोलह वर्ष की वय होनी चाहिए। वे बाल्यावस्था में भी चित्रित किये जा सकते हैं; किन्तु रुग्णावस्था एवं वृद्धावस्था में उन्हें कदापि नहीं दिखाना चाहिए। उनके शरीर में आभूषण, शिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में माला, हाथों में बाजूबन्द चूड़ी-पहुँची-कंगन-कड़ा आदि, कटि में झूलती हुई कर्धनी होनी चाहिए। उनके शरीर में यज्ञोपवीत अवश्य होना चाहिए। कन्धे चौड़े हों और बाँईं ओर बाघम्बर लटकता हुआ दरशाया जाय। ऊपरी भाग में दुपट्टा भी होना चाहिए। मुखाकृति के चारों ओर, अनुपात के अनुसार, प्रभा-मण्डल दरशाना चाहिए। दृष्टि सीधी होनी चाहिए। अनेक मस्तिष्क और अनेक हाथ वाले देवताओं के चित्र बड़े ध्यान से बनाने चाहिएँ।

राजाओं को भी देवताओं के ही सदृश चित्रित करना चाहिए। प्रत्येक राजा में चक्रवर्ती होने के लक्षण अंकित होने चाहिएँ। बालों में गहरी नीलिमा होनी चाहिए। चक्रवर्ती राजा की भी दाढ़ी-मूछ नहीं बनानी चाहिए। उनकी मुखाकृति के चारों ओर प्रभा-मण्डल हो। उनका आनन चन्द्र-प्रभा के समान कन्तिमान हो।

ऋषियों के शिर पर गाँठ लगी लम्बी-लम्बी जटायें अंकित होनी चाहिएँ। शरीर काले मृगचर्म से आच्छादित हो। उनके शरीर में तेजस्विता तो हो; किन्तु स्थूलता न आने पावे। गंधर्व के चित्र में, स्मरण रखना चाहिए कि, मुकुट अंकित न हो।

ब्राह्मणों की आकृति में आचरण की पवित्रता और शरीर में धवल वस्त्र धारण किये होने चाहिएँ। पुरोहितों की आकृति आभूषण एवं अलंकारों से सज्जित होनी चाहिए।

दैत्यों और दानवों के चित्रों की मुखाकृति में भयावने भाव अंकित होने चाहिएँ। उनकी आँखें गोल और भवें टेढ़ी हों। पोशाक में भड़कीलापन और अहंकार प्रकट होता हो। गले में मालायें हों। उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी चित्रित की जानी चाहिएँ। वे हाथों में खड्ग लिए पृथ्वी पर खड़े हों या आकाश में उड़ रहे हों।

किन्नर दो प्रकार के कहे गये हैं : एक तो वे जिनकी मुखाकृति तो मनुष्यों जैसी होती है किन्तु शेष शरीर घोड़े की भाँति होता

है; और दूसरे वे जिनकी मुखाकृति तो घोड़े की भाँति होती है किन्तु शेष शरीर मनुष्यवत् होता है। दूसरे प्रकार के किन्नर चित्रों को आभूषणों से सज्जित करना चाहिए। उनके हाथों में कोई वाद्य-यंत्र भी हो।

राक्षसों के बाल खड़े हुए (*सिंह केसर) अंकित करने चाहिए। उनके नेत्रों में भयोत्पादक एवं व्याकुलताजन्य भाव होने चाहिएँ। नागों को देवताओं के ही समान अंकित किया जाना चाहिए; किन्तु देवताओं के शिर पर जहां रत्नों का मुकुट होता है, नागों के शिर पर वहाँ सर्पों का मुकुट दिखाना चाहिए। यक्षों को आभूषणों से सज्जित दिखाना चाहिए। देवताओं तथा उनके गणों की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न रूप में दिखानी चाहिएँ। गणों को वस्त्र पहने, हाथों में शस्त्रास्त्र लिए और क्रीड़ा करते हुए दिखाना चाहिए। किन्तु भगवान् विष्णु के गण को शांत एवं स्थिर चित्त अंकित करना चाहिए।

वेश्याओं को रुचक (१०० अंगुल) प्रमाण का बनाना चाहिए। उनका वर्ण लाल सिन्दूरी या चंद्रमा के समान धवल अथवा कभी-कभी कमल के सदृश होना चाहिए। उनके वस्त्रों में भड़कीलापन होना चाहिए।

संभ्रान्त कुल की स्त्रियों को लज्जावन्ती दिखाना चाहिए। वे आभूषणों से अलंकृत हों; किन्तु उनके वस्त्रों में भड़कीलापन न हो। विधवाओं को श्वेत वस्त्र धारण किये हुए आभूषण-रहित बनाना चाहिए। उनका वर्ण भूरा हो।

सेनापति दृढ़ स्वभाव और लम्बे शरीर का होना चाहिए। उसके कंधे, हाथ तथा उसकी गर्दन बलिष्ठ हो। बड़ा शिर, बलवान् छाती, ऊँची नाक, चौड़ी ठुड्डी और दृष्टि ऊपर की ओर हो। उनकी त्योरियाँ चढ़ी हुई और चेहरों में अहंकार का भाव होना चाहिए इसी प्रकार सैनिकों को भी उनकी स्थिति के अनुसार चित्रित करना चाहिए। सेना के साथ रहने वाले भाट को चमकीली पोशाक में अंकित करना चाहिए। उसकी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी हो और गर्दन की रगें दिखायी देती हों।

दूतों का रंग भूरा और उनकी दृष्टि तिरछी होनी चाहिए। द्वारपाल के चित्र में दया एवं करुणा के भाव दर्शाने चाहिएँ। उसकी वर्दी में भड़कीलापन न हो। उसके दाहिने हाथ में लाठी और कमर में तलवार होनी चाहिए।

व्यापारियों को पगड़ी बाँधे दिखाना चाहिए। गायकों, नर्तकों और वादकों की पोशाकें भड़कीली और स्पष्ट हों। नगर या ग्राम के संमानित पुरुषों के शिर के बाल भूरे दिखाने चाहिए। वे आभूषण धारण किये और स्वेत वस्त्र पहने हों। उनकी आकृति आगे की ओर कुछ झुकी हुई हो। उनकी मुखाकृति सुन्दर और शान्त हो।

शिल्पकार को अपने कार्य में उत्सुकतापूर्वक व्यस्त हुआ चित्रित किया जाना चाहिए। पहलवानों को चौड़े कंधे, मोटी गर्दन, मोटे हाथ, मोटे ओंठ, छोटे बाल, अहंकारी और बलवान अंकित करना चाहिए।

मृतक मनुष्य का चित्र स्थिर, आँखें वंद किए हुए निद्रितावस्था का जैसा होना चाहिए। रुग्णावस्था का द्योतन करने के लिए सारे शरीर में बाल दिखाने चाहिएँ और सूरत पीली तथा सुस्त होनी चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य को उसके देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार यथोचित वेष-भूषा में चित्रित करना चाहिए।

इसी प्रकार समुद्र, नदी, पर्वत, वन, तालाब आदि प्राकृतिक दृश्यों को उनकी वस्तुस्थिति के अनुसार दिखाना चाहिए। प्रकृति-चित्रों के विधान पर विस्तार से आगे प्रकाश डाला गया है।

अंग प्रत्यंग का चित्रण

एक कुशल चित्रकार के लिए मनुष्य के अंग-प्रत्यंग की बनावट के सम्बन्ध में भी जान लेना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष के विभिन्न अंगों का चित्रण शास्त्रीय दृष्टि से कैसा होना चाहिए, उनमें कहाँ पर किन बातों में सादृश्य और किन बातों में भिन्नता होनी चाहिए, उसका विवेचन इस प्रकार है।

---

*बालों के छः भेद बताये गये हैं : (१) **कुन्तल** (खुले एवं छिटके हुए), (२) **दक्षिणावर्त्त** (लच्छेदार एवं दाहिनी ओर मुड़े हुए), (३) **तरंग** (हवा में उड़ते हुए), (४) **सिंह केसर** (घोड़े की अयाल की भाँति खड़े), (५) **बर्बर** (एक-दूसरे से अलग) और (६) **जूटसंर** (गुँथे हुए)।

मुखाकृति

सामान्यतया मुखाकृति अण्डाकार के समान गोल होनी चाहिए। किन्तु पुरुषों की आकृति सर्वथा अण्डाकार और स्त्रियों की आकृति नागरपत्र (पान) के समान होनी चाहिए। दोनों का ललाट धनुषाकार हो। पुरुषों की भवें निम्बपत्र के समान और स्त्रियों की धनुषाकार होनी चाहिएँ। शान्ति की अवस्था को सूचित करने के लिए भवें अर्ध चंद्राकार और नृत्य की दशा में धनुषाकार होनी चाहिएँ।

नेत्रों के पाँच भेद : **चापाकार, मत्स्योदर, उत्पलपत्राभ, पद्मपत्राभ** और **शशाकृति** के सम्बन्ध में और अवस्थानुसार उनको चित्रित करने के सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है।

नासिकाकृति

स्त्रियों की नासिका तिल-पुष्प के समान और पुरुषों की शुक-चंचु के समान होनी चाहिए। तिल-पुष्प आकृति की नासिका भ्रू के नीचे तक सीधी होनी चाहिए और नासिका रंध्र फूल के समान होने चाहिएँ। शुक-चंचु नासिका बहुधा देवताओं और महापुरुषों की आकृति में भी दिखायी जाती है। ऐसी नासिका स्त्रियों के उन चित्रों में भी दिखायी जाती हैं, जो कि शक्ति के प्रतीक-स्वरूप बनाये जाते हैं।

अधराकृति

अधरों की आकृति चिकनी, कोमल और लाल होने के कारण बिम्बाफल के समान कही गयी है। दोनों अधरों की आकृति बन्धुजीव (दोपहरिया) के पुष्प के समान मानी गयी है।

चिबुकाकृति

चिबुक (ठोढ़ी) की बनावट आम की गुठली के समान बतायी गयी है; क्योंकि मुख के अन्य भागों की अपेक्षा ठोढ़ी कठोर होती है। भवें, नासिका, नेत्र, अधर आदि ऐसे अंग हैं, जिन पर भावों का आवेग दरशाया जा सकता है; किन्तु चिबुक के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। इसी लिए उसकी उपमा कठोर वस्तु से दी गयी है।

कण्ठाकृति

शंख के अर्धभाग से कण्ठ की समानता की गयी है। कण्ठ, क्योंकि शब्दस्थान है इसलिये इस अर्थ में भी शब्द-सूचक शंख के साथ उसका तारतम्य बैठाया गया है।

शेष अंग

कण्ठ से लेकर जठर तक का देहांश गोमुखाकार होता है। वक्षस्थल की दृढ़ता गाय के शर के ऊपरी भाग से प्रकट होती है। कटि की कृशता गाय के शर के नीचले भाग से ज्ञात होती है। शरीर के मध्यभाग को डमरू और सिंह के मध्यभाग के समान बताया गया है। पुरुष का वक्षस्थल रुद्र-कपाट के समान दृढ़ होना चाहिए।

कंधे हाथी के मस्तिष्क के समान होने चाहिएँ और हाथ सूंड़ के समान। कंधे की बनावट हाथी के मस्तिष्क की अपेक्षा उसके पैरों से अधिक मिलती है। उँगलियाँ शिम्बी फल के समान और जांघ कदली दल के समान होनी चाहिए। स्त्री और पुरुषों के चित्रों में ये बातें एक जैसी होती हैं।

घुटने कर्कटाकृति (केंकड़े के समान), पिंडलियाँ सफरी मछली की तरह, हाथ तथा पैर पल्लव तथा कमल के सदृश होने चाहिएँ।

प्रकृति चित्रण

चित्रकला के प्रमुख तीन विषय हैं : रूप-चित्र, आकृति-चित्र और प्रकृति-चित्र। रूप और आकृति चित्रों की अपेक्षा प्रकृति-चित्रों का अंकन कुछ दुःसाध्य होता है। उसके लिए अभ्यास और अनुभूति की बड़ी आवश्यकता है।

प्राचीन भारतीय चित्रकला में प्रकृति-चित्रों को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। ऐसे चित्र स्वतंत्र रूप में कम मिलते हैं; किन्तु सहायक भूमिका के रूप में उनको बहुधा उपयोग में लाया गया है। इस प्रकार के प्राचीन प्रकृति-चित्रों से अनभिज्ञ कुछ पाश्चात्य कलाविदों का कथन है कि प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भारतीय चित्रकार अनभिज्ञ होते थे; किन्तु अजन्ता, एलोरा और बाघ आदि के भित्तिचित्रों में प्राकृतिक दृश्यों का जैसा भावपूर्ण चित्रण देखने को मिलता है उससे यह धारणा सर्वथा असत्य सिद्ध हो जाती है कि भारतीय चित्रकार इस दिशा में अनजान थे। वास्तव में देखा जाय तो भित्तिचित्रों के जितने भी महत्वपूर्ण कला-मण्डप संप्रति सुरक्षित हैं वे सब-के-सब ऐसे स्थानों पर स्थापित किये गये हैं, जहाँ पर प्रकृति का एकान्त साहचर्य व्याप्त है। उन महान् कलाकारों को ऐसा मोहक स्थान चुनने के लिए निश्चित ही उनके प्रकृतिप्रेम ने वाध्य किया होगा। इसलिए भारतीय कलाकार के अन्तःकरण में प्रकृतिप्रेम तो जन्म से ही अंकुरित होता है।

और फिर चित्रकला-विषयक प्राचीन पुस्तकों में प्रकृति-चित्रों के सम्बन्ध में जो ठोस विधान निर्धारित किये गये हैं, उनसे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि भारत में प्रकृति-चित्रों के निर्माण की परम्परा का व्यापक प्रचार प्राचीन काल में ही हो चुका था?

नभ-मण्डल को चित्रित करने के सम्बन्ध में कहा गया है कि चित्र में उसको किसी विशेष रंग का उपयोग किये बिना ही दर्शित करना चाहिए। यदि रात का समय हो तो आकाश पर तारा-समूह चित्रित करना चाहिए और यदि दिन का समय हो तो आकाश में पक्षियों को उड़ता हुआ दिखाना चाहिए।

पहाड़ों का चित्रण करने के लिए उनकी चोटियाँ, झाड़ियों का समूह, स्थान-स्थान पर धातुओं के चिन्ह, वृक्ष, लताएँ, साँप और झरने आदि दिखाने चाहिएँ। जंगल के दृश्य में वृक्षों का समूह, घास, झाड़ियाँ, वृक्षों पर पक्षी और पृथ्वी पर कीड़े-मकोड़े चित्रित किये जाने चाहिएँ।

नदी तथा तालाबों के चित्रण में पानी, मछलियों के झुण्ड, मछुवे, कमल, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि दिखाने चाहिएँ। किनारों पर छोटे-छोटे पौधे भी चित्रित करने चाहिएँ।

यदि नगर का चित्र खींचना हो तो उसमें सुन्दर देव-मंदिर, राजप्रासाद, हाट, दूकानें, घर और सड़कें आदि का संयोजन करना चाहिए। इसी प्रकार ग्राम-चित्रों के लिए कच्चे घर, ग्राम-सीमाएँ तथा दो-एक उपवन दिखाने चाहिएँ। दुर्ग के दृश्य में परकोटे की ऊँची दीवारें, उनमें बन्दूक चलाने के छेद, पहाड़ का दृश्य, परकोट का ऊँचा द्वार तथा उसका घिराव आदि दिखाना चाहिए।

पौशाला या जलाशय का दृश्य अंकित करने के लिए चित्रकार को चाहिए कि वह उस स्थान को पानी पीते हुए मनुष्यों से भरा हुआ दिखाये। कुछ लोगों को केवल अधोवस्त्र पहने जुआ खेलते हुए दिखाना चाहिए। जीतने वालों के चेहरों पर हँसी और हारने वालों के मुँह पर विषाद के भाव दर्शित करने चाहिएँ।

किसी समरभूमि का दृश्य आँकने के लिए प्रथम तो अश्वारोही, गजारोही, रथारोही और अन्त में पदाति, इन चार प्रकार की सेनाओं को दिखाना होगा। फिर सैनिकों को आपस में गुँथे हुए तथा खून से लथपथ दिखाना होगा। स्थान-स्थान पर सैनिकों के कटे हुए अंग-प्रत्यंग बिखरे हुए हों। सारी भूमि रक्त से लाल बनी हो।

श्मशान भूमि के लिए पहले मृतकों को दिखाया जाय। फिर जगह-जगह चिताएँ एवं जलते हुए शव दिखाये जायँ। क्रिया-कर्म करते हुए मनुष्य भी वहाँ हों। प्रत्येक मनुष्य के आनन पर विरक्ति एवं विषाद के भाव अंकित हों।

चित्र में समय का अंकन करना बड़ा कठिन होता है। सामान्यतया यदि रात्रिकालीन स्थिति दिखानी हो तो आकाश में चंद्रमा तथा तारागण अंकित किये जाने चाहिएँ। साथ ही कुछ घरों के निकट चोरों का दृश्य तथा घर के लोगों को गहरी नींद में अंकित करना चाहिए। कुछ मनुष्यों को आपस में बातचीत करते हुए भी चित्रित करना चाहिए। यदि रात्रि का प्रथम भाग दिखाना हो तो किसी रमणी को अपने प्रेमी से मिलने के लिए जाते हुए चित्रित करना चाहिए।

इसी प्रकार प्रातःकाल के लिए सूर्य का पीला प्रकाश, दीपक की ज्योति मंद पड़ जाने का संकेत और मुर्गे को बाँग देते हुए दिखाना चाहिए। सायंकाल का चित्र अंकित करने के लिए गगनमंडल की लालिमा, पक्षियों का अपने बसेरों की ओर गमन, संध्या करने का भाव, मनुष्यों का काम से घर की ओर आने का दृश्य और कुछ-कुछ अंधेरे के भाव दिखाने चाहिएँ। इसी प्रकार चाँदनी रात के लिए तालाब में कुमुदिनी का खिला हुआ फूल, बन्द पंखुड़ियों वाला कमल, चंद्रमा का पूर्ण प्रकाश, तारों का धुंधलापन आदि बातें दरशानी चाहिएँ।

यदि वसन्त-ऋतु का चित्र बनाना हो तो स्त्री-पुरुषों को आनन्दचित, आम्रवृक्षों पर बौर, टेसू के विकसित फूल, मधु-मक्खियों के समूहों की उड़ान और पेड़ों पर बैठी हुई कोयल——ये सभी बातें दिखानी चाहिएँ।

इसी प्रकार दूसरी ऋतुओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

चित्र के गुण दोषों का विवेचन

संसार के किसी भी देश की चित्रकला में गुण-दोषों का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश की संस्कृति, उस देश का साहित्य, वहाँ के लोकाचार और वहाँ के इतिहास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो। प्रत्येक देश और प्रत्येक युग की चित्रकला उस देश और उस युग के जीवन का प्रतिबिम्ब होती है। कदाचित् यही कारण हो सकता है कि अनेक विदेशी कलाविद् विद्वानों ने अक्सर भारतीय चित्र-कृतियों को ठीक तरह पहचानने में भूल की।

इसलिए यह आवश्यक है कि भारतीय चित्रकला के गुण-दोषों का विवेचन करने के लिए भारतीय रीति-रिवाजों, वेष-भूषा, रहन-सहन, राजनीति, इतिहास, साहित्य और कलागत प्रवृत्तियों की प्राचीन तथा नवीन वस्तुस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना हमारे लिए आवश्यक है। भारतीय चित्रकला भाव-प्रधान होने के कारण अपने किसी भी नये जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। उसका ठीक तरह मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है। यूरप के चित्रों में जहाँ वाह्य आडम्बर और वाह्य सौन्दर्य की अधिकता रहती है, वहाँ भारतीय चित्रों में आन्तरिक सौन्दर्य और प्रकृत वातावरण की व्यापकता रहती है। उसका निर्माण भारतीय विधानों पर होता है।

किसी भी कला-कृति की सार्थकता इसी में है कि उसके गुण-दोषों का पता लगाकर उसकी प्रकृत अवस्था का परिचय प्राप्त किया जा सके। प्रत्येक कलाकार का यही अभीष्ट होता है कि पारखी लोग उसकी कृति का उचित रूप से मूल्यांकन कर सकें; अन्यथा कलाकार का सारा उत्साह, उसकी सारी उपासना और उसका सारा श्रम व्यर्थ हो जाता है।

इस प्रसंग में डॉ० अवध उपाध्याय ने अपनी 'चित्रकला' नामक पुस्तक में एक रोचक वृत्तान्त दिया है। उन्होंने लिखा है :

जयपुर राज्य के किसी चित्रकार ने एक अबला स्त्री का चित्र बनाया। उस चित्र को देखकर अनेक राजा-महाराजाओं ने चित्रकार को सैकड़ों रुपया देना चाहा; किन्तु चित्रकार ने वह चित्र न बेचा। क्योंकि वह सभी क्रेताओं तथा पारखियों से जब अपने चित्र की विशेषता पूछता तो कोई भी उसकी वास्तविकता को प्रकाशित न कर सकता। दूर-दूर तक घूमकर अन्त में चित्रकार निराश वापिस अपने घर को आ गया।

उसी गाँव में एक ठाकुर रहता था। उस ठाकुर ने चित्रकार से उसका चित्र मँगवाया। चित्र को देखकर ठाकुर ने कह दिया कि चित्र में दर्शित इस नारी के भीतर एक मास का गर्भ है। यह सुनते ही चित्रकार, ठाकुर के पैरों पर गिर गया। उसने ठाकुर को अपने सैकड़ों कोस भटकने की कथा सुनायी। अन्त में उसने ठाकुर से अपनी अज्ञानता की क्षमा-याचना कर वह चित्र ठाकुर को ही भेंट स्वरूप अर्पित कर दिया।

इस वृत्तान्त से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी चित्र में समाहित गुण-दोषों की पहचान के लिए कितने पारखी होने की आवश्यकता है। इसी हेतु भारतीय कलाचार्यों ने प्रस्तुत विषय का भली भाँति मंथन किया है।

सर्व गुण-सम्पन्न चित्रकृति का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी पृष्ठभूमि (बैक ग्राउंड) की लम्बाई-चौड़ाई उचित रूप में हो और उसके अंग-प्रत्यंग में कोमलता एवं माधुर्य फूटता हो। प्रत्येक वस्तु, जो चित्र में दिखायी जाय वह यथास्थान हो और आकार में शुद्ध हो। शास्त्रीय विधानों के अनुसार शुद्ध रूप से बनाया गया चित्र दुःख दूर करने वाला, सुख और सुफल को देने वाला होता है। उससे अपूर्व आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है। शुद्ध रूप से बनाया गया चित्र इष्ट-देव की प्रसन्नता, राजा-प्रजा और अपने निर्माता की सुख-समृद्धि का कारण होता है।

क्षीणता, रेखाओं की स्थूलता, अंगों का सटा होना और रंगों का सांकर्य, ये चित्र के दोष कहे गये हैं। जो चित्र स्थानभ्रष्ट, रसहीन, आकाश की ओर दृष्टि किये, मलिन और चेतनारहित हो उसे भी गर्हित कहा गया है।

इसके विपरीत स्थान, मान, आधार, कोमलता, अंगों की स्पष्टता एवं समानता और क्षय तथा वृद्धि——ये चित्र के आठ गुण बताये गये हैं। जो चित्र आधारयुक्त, सुसज्जित, हास्ययुक्त और सजीव आदि गुणों से युक्त हो उसको शुभ कहा गया है।

अंगहीन, मलिन, शून्य, बंधनयुक्त, व्याधिग्रस्त, भयाकुल, बिखरे हुए बालों वाला और अमंगल को प्रकट करने वाला चित्र कभी न बनाना चाहिए।

देवी-देवताओं के चित्र बनाते समय उनके गुण-दोषों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। शरीर का झुका हुआ होना, फूला पेट, आकृति में तनाव, शरीर पर घाव, खुला मुंह और प्रमाणभ्रष्ट चित्र न केवल दोषयुक्त होते हैं, बल्कि ऐसे चित्र उसके निर्माता के लिए भी अमंगलकर हैं। देवताओं के ऐसे चित्र न बनाने चाहिएँ, जिनकी दृष्टि ऊपर-नीचे या अगल-बगल हो। इस प्रकार के चित्र भी हानिकर होते हैं। बहुत बड़ी आँखें चित्रित करने पर दुःख, छोटी आँखें चित्रित करने पर मृत्यु और तीव्र दृष्टि अंकित करने पर अंधा हो जाने का निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार शरीर का बाँई ओर झुका होने से स्त्री की मृत्यु, दाहिनी ओर झुका होने से चित्रकार की मृत्यु, प्रमाणहीन हाथ बनाये गये हों तो राज्य-भय, पेट से पीठ सटी हो तो अन्न कष्ट, पेट फूला हो तो मृत्यु और पतला हो तो धनहानि होती है।

भूत, प्रेत, दानव आदि के चित्रों में यदि अव्यवस्था हो जाय तो उसका दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार धूरि-चित्रों और मिट्टी की मूर्तियों में भी दोष नहीं देखा जाता क्योंकि वे शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं।

प्रत्येक चित्र में देश, वेष, स्थान और रंग आदि का उपयुक्त प्रयोग होना चाहिए। छाया, प्रकाश, अलंकृति आदि बातों के साथ-साथ शास्त्रीय विधानों को दृष्टि में रख कर जो चित्र बनाये जाते हैं, वे गुणयुक्त, शुभद, कल्याणप्रद और चिरायु के देने वाले होते हैं। इसलिए चित्रकार को इन शास्त्रीय निर्देशों पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।

किसी भी कलाकृति की सर्वांगीण शुद्धि और उसके वाह्याभ्यन्तर की सुव्यवस्था रचना-विधान पर निर्भर है। कलाकार में गुण-दोषों के विवेचन की जितनी पटुता होगी, कृतित्व में उतना ही सौष्ठव, सौन्दर्य और स्थायित्व होगा। कलाकृति में रसाभिनिवेश के लिए भावों-अनुभावों की शास्त्रीय अभिज्ञता अपेक्षित है। इसी प्रकार उसके परिवेश के संयोजन के लिए अलंकृति या सज्जा का ज्ञान होना आवश्यक है।

चित्रकला के सम्बन्ध में 'चित्रसूत्र' के उक्त विधानों एवं निर्देशों का विश्लेषण करने पर सहज ही यह बात समझ में आ जाती है कि वास्तविक अर्थों में एक चित्रकार के लिए कितनी कठिन साधना, कितने गंभीर अध्ययन और कितने निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

चित्रविद्या की जिन प्राविधिक बातों का वर्णन इस अध्याय में किया गया है, वे अतीत भारत के कलात्मक वैभव के उस युग में जितनी उपादेय और महत्त्वपूर्ण रही हैं, उसके बाद की शताब्दियों में और आज भी उनके शास्त्रीय मान-मूल्यों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखायी देता। उसका कारण यह है कि उनका आधार वैज्ञानिक है। अतः विज्ञान के क्षेत्र में जैसे-जैसे विकास होता जायगा, कला के क्षेत्र में इन शास्त्रीय संविधानों को उतना ही अधिक सम्मान प्राप्त होता जायगा।

★

प्रागैतिहासिक कला

प्रागैतिहासिक कलावशेष

मानव जीवन की भाँति कला के उदय का इतिहास भी बड़ा रहस्यमय, विराट् और अज्ञात है। कला की आध्यात्मिक भावभूमि में यद्यपि मनुष्य भी स्वयमेव एक कलाकृति है और स्वभावतः ही कला के प्रति उसका प्रकृत प्रेम तथा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, तथापि आज हमारे पास उन सभी साधनों एवं प्रमाणों का सर्वथा अभाव है, जिनके आधार पर हम कला की उदयवेला के उन तथ्यों को मूर्तरूप में उपस्थित कर सकें, जो काल की असंख्य परतों में विलीन हो चुके हैं।

प्रागैतिहासिक युग की गुफायें तथा चट्टानों पर खुदे हुए जो चित्र मिले हैं उनको देखने से आदिम मनुष्य की कलाभिरुचि पर अनूठा प्रकाश पड़ता है। मानव सभ्यता ने अब तक कितनी प्रगति की है, इसका ठीक-ठीक इतिहास विश्व की आदिम कलाकृतियों को देखकर भली भाँति जाना जा सकता है। इन कलावशेषों को देखकर ज्ञात होता है कि मानव हृदय की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों को विशद रूप में प्रकट करने के लिये ललितकलाओं का विशेष योग रहा है। कला के इन थोड़े-से अवशेषों के आधार पर आज के इतिहास ने, पुराने इतिहास की उन मान्यताओं को निरर्थक-सा बना दिया है, जिनके अनुसार मानव जाति का अभ्युदय हुए अभी तक केवल बीस-सहस्राब्दियाँ ही बीती हैं। स्पेन, फ्रांस, दक्षिण रोडेशिया, पेरू, अलास्का, लौसेक्स और भारत आदि संसार के विभिन्न देशों में आदिम युग की ऐसी चित्रांकित गुफायें प्राप्त हुई हैं, जिनका समय विद्वानों ने ५०,०००—१०,००० ई० पू० के बीच रखा है। ये अवशेष नव पाषाणकाल की सभ्यता के थे। इससे पूर्व और इसके बाद सहस्राब्दियों तक मनुष्य ने इस दिशा में क्या कुछ किया, यह ज्ञात नहीं होता। लगभग ४००० ई० पूर्व में पहुँचकर, जब कि मनुष्य इतनी उन्नति कर चुका था कि उसने पत्थर के हथियारों को छोड़कर धातु-खनिजों का पता लगा लिया था, विश्व-कला के क्षेत्र में हम नये उत्थान की ऐसी परिस्थितियों को जन्म लेते हुए पाते हैं, जिनकी परम्परा निर्बाध एवं अटूट रूप में आगे बढ़ती रही।

भारत में चित्रकला का जन्म कब और कैसे हुआ, यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है; किन्तु प्रागैतिहासिक मानव ने किस प्रकार अपनी संस्कृति, सभ्यता और अपने भाव-विचारों का विकास किया, सौभाग्यवश इसके बहुत-से तथ्य आज प्रकाश में आ चुके हैं। भारत के प्रागैतिहासिक आलेखनों एवं चित्रों का अनुशीलन करने वाले विद्वानों में एलन हाटन ब्राड्रिक, स्टुअर्ट पिगाट, डी० यच० गोर्डन, प्रो० जुनेर, लियोनार्ड अदम, श्री यफ० आर० अल्चिन तथा श्रीमती अल्चिन, सी० ए० सिल्वे लाड, पंचानन मित्र और मनोरंजन घोष का नाम प्रमुख है। ब्राड्रिक की पुस्तक **'प्रि-हिस्टोरिक पेंटिंग'** और पिगाट की पुस्तक **'प्रि-हिस्टोरिक इंडिया'** इस विषय की प्रामाणिक सामग्री से पूर्ण हैं। ब्राड्रिक महोदय ने संसार के प्रागैतिहासिक चित्रों की प्राचीनता का विश्लेषण करते हुए, भारत में उपलब्ध चित्रों को अमेरिका और योरोप के बाद रखा है। ये चित्र मध्य प्रदेश के आदमगढ़, रायगढ़, बिहार के चक्रधरपुर, सिंहनपुर, होशंगाबाद और मिर्जापुर के लिखुनियाँ, कोहर तथा भल्डरिया आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। श्री और श्रीमती अल्चिन ने ऋष्यमूक पर्वत के निकट से प्राप्त चित्रों का समय ३००० ई० पूर्व निर्धारित किया है। इसी प्रकार चक्रधरपुर से प्राप्त गुफाचित्रों को असितकुमार हालदार ने ३००० ई० पूर्व का बताया है।

भारत के इन प्रागैतिहासिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक केन्द्रों में जो मूर्तिकला और स्थापत्य के अवशेष मिले हैं उनसे भी उस युग की महान् कला-उन्नति का पता चलता है। इन मृण्मूर्तियों में जहाँ हमें तत्कालीन भास्कर्य की समृद्धि का पता चलता है वहाँ वृषभ एवं पशुपति भी मुद्राओं में यह भी देखने को मिलता है कि उनके निर्माता कलाकार, निपुण चित्रकार भी थे।

१८६३ ई० में मद्रास के समीप पूर्व प्रस्तर युग के एक कलापूर्ण शिलाखण्ड का पता लगा था। इसी प्रकार १८८० ई० में मिर्जापुर में पंख-पोषाकयुक्त अनेक चित्रखुदी चट्टानें मिलीं, जो कि प्रागैतिहासिक महत्व की सिद्ध हो चुकी हैं। इसके बाद गवेषणारत विद्वानों का ध्यान इस दिशा में अधिकाधिक आकर्षित हुआ और फलस्वरूप उन्हें मध्य प्रदेश के सिंघनपुर तथा सरगुजा रियासत के जोगीमारा आदि स्थानों से चित्रयुक्त प्राचीन महत्त्व की अनेक चट्टानें उपलब्ध हुईं। इन चट्टानों पर लाल-पीले रंग से अंकित रेंगते हुए कीड़ों, पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों और असुरों की आकृतियाँ चित्रित हैं। प्रागैतिहासिक युग के वस्त्रों, पाषाण-चित्रों, मृत्तिकापात्रों का पता तमिलनाद, आंध्र, छोटा नागपुर, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और नर्मदा उपत्यका आदि के विभिन्न स्थानों से भी चला है। चित्रकला के प्रागैतिहासिक

अवशेष अधिक-से-अधिक कितने प्राचीन हैं, इसका पूरा निराकरण अभी तक नहीं हो पाया है; किन्तु उनके प्रागैतिहासिक होने में किसी भी विद्वान् को संदेह नहीं है।

जिसे आज हम वैदिकयुग के नाम से अभिहित करते हैं वह नर्मदा, चम्बल, यमुना और सिन्धु की संस्कृति थी। वह युग विचार-प्रधान न होकर भावप्रधान था। उस युग की जो रेखा-कृतियाँ और मिट्टी, काष्ठ, धातु तथा शिलाओं पर पशु, पक्षी एवं मानव आकृतियों का चित्रण मिलता है, उनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आज की भाँति आदिम मानव भी सौन्दर्य का उपासक था। सौन्दर्य दर्शन की इसी उत्कट भावना ने ही उसके अमूर्त भावों को मूर्त लिपि में अंकित करने के लिए उसे बाध्य किया होगा। इस प्रागैतिहासिक संस्कृति के उपलब्ध कलावशेषों में कुछ भित्तिचित्र भी मिले हैं। इन भित्तिचित्रों पर अनेक विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ये शिलाचित्र मिर्जापुर, बाँदा, होशंगाबाद और पंचमढ़ी आदि अनेक स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। बाँदा के सरहाट, करियाकुण्ड, कर्पटिया तथा मालवा आदि स्थानों से उपलब्ध सामग्री विशेष महत्त्व की है। सरहाट में शिला पर लाल मिट्टी के रंग से चित्रित तीन अश्व उल्लेखनीय हैं। मालवा में चित्रांकित ऐसी गाड़ी मिली है, जिस पर पहिये नहीं हैं और जिसमें एक व्यक्ति बैठा हुआ तथा उसके दोनों ओर दो अनुचर धनुष-वाण तथा दण्ड लिये खड़े हैं। करियाकुण्ड में एक ऐसा प्रागैतिहासिक चित्र मिला है, जिसमें एक बारहसिंहा और अनेक धनुर्धारी व्यक्ति उसका पीछा करते हुए दर्शाये गये हैं। इस विषय की सबसे सुन्दर और उल्लेखनीय चित्र-सामग्री पंचमढ़ी से प्राप्त हुई है। ये चित्र, वहाँ के प्रसिद्ध महादेव पर्वत के चारों ओर अवस्थित डोरोकीदीप, महादेव बाज़ार, सोनभद्रा, चम्बूदीप, निम्बुभोज, मारोदेव, बनियाबेरी, तामिया और झालाई आदि स्थानों की चित्रित गुफ़ाओं से प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार के कुछ भित्तिचित्र होशंगाबाद के निकट आदमगढ़ नामक स्थान से भी मिले हैं।

प्रागैतिहासिक युग की इस चित्र-सामग्री का अनुशीलन करने वाले विद्वानों में गोर्डन महोदय का नाम उल्लेखनीय है। उनका अभिमत है कि ये चित्र भारत की प्राचीन निषाद जाति की उन्नतिकालीन संस्कृति के परिचायक हैं। इन चित्रों का सम्बन्ध अजन्ता; एलिफेंटा के प्रसिद्ध भित्तिचित्रों से न होकर प्रागैतिहासिक आचार-विचारों एवं उन्नत कलात्मक अभिरुचियों से है। इन चित्रों में जिस उदात्त कल्पना की अभिव्यंजना दर्शित है; उनके रंग और उनकी रेखाओं से जिस साधना एवं निष्ठा का आभास मिलता है—ये सभी बातें हमें यह बताती हैं कि उस युग में चित्रकला बड़ी उन्नतावस्था में थी।

इन चित्रों में तत्कालीन जन-जीवन और संस्कृति की अनेकताओं के दर्शन होते हैं; और इसलिए उनके द्वारा उस युग के ऐतिहासिक पहलू पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। ये चित्र नाना रूप के हैं, जैसे हस्ति, चीता, बाघ, रीछ, वराह, हरिण आदि का आखेट करते हुए; धनुष-वाण को लेकर दो दल पारस्परिक संघर्ष करते हुए; बन में पशुओं को चराते हुए चरवाहे; विचरण करते हुए बैल, घोड़े, कुत्ते, बकरी; और छत्ते से मधु निकालते हुए आदि अनेक दृश्यों से सम्बन्धित हैं। इन चित्रों में एक चित्र ऐसा भी है, जिसमें बाँसुरी बजाता हुआ एक ऐसा बन्दर और ताल के साथ उछल-कूद मचाता हुआ एक ऐसा व्यक्ति दरशाया गया है, जो बड़े ही रुचिकर और बड़े ही जीवन्त हैं। उनमें एक गर्भिणी गाय का चित्र भी बड़ा ही भावपूर्ण है।

इन चित्रों में जो सर्वाधिक महत्त्व की बात दिखायी देती है वह है उस युग का उल्लासमय जीवन। पशु-पक्षी, व्याध, शिकारी, योद्धा, कलाकार आदि सभी में हर्ष तथा आनन्द के भाव फूट रहे हैं। मुक्त जीवन को बिताने के लिए सभी की आकांक्षा दिखायी देती है। सभी में स्वच्छन्दता, माधुर्य, मार्दव और अपरिमित स्फूर्ति है।

भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में अब तक जितने भी कार्य हुए हैं और जितने भी प्रागैतिहासिक स्थानों का पता चला है उनमें हड़प्पा की सभ्यता का महत्वपूर्ण स्थान है। इस महान् सभ्यता के व्यापक अवशेषों के प्रकाश में आ जाने से भारत की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक परम्पराओं का प्रामाणिक वृतांत संसार के सामने प्रकट हुआ है। निरन्तर कई स्थानों की गवेषणा के फलस्वरूप भी हड़प्पा की उस महान् सभ्यता के प्रति आज भी विद्वानों का आकर्षण वैसा ही बना है और नित्य की नयी उपलब्धियों के आधार पर उस सभ्यता के नवीनतम तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं।

तीन सहस्त्र वर्ष प्राचीन इस हड़प्पा संस्कृति के अन्तर्गत बने मृत्तिकापात्रों के ऊपर जो रेखांकन किया गया है वह बड़े महत्त्व का है। उस युग की शिलाओं, अस्थियों तथा मृत्तिकापात्रों पर अंकित जीव-जन्तुओं तथा मानव की जो आकृतियाँ हैं उनसे स्पष्ट है कि उस युग के लोग अपने सरल भावों को सादी रेखाओं द्वारा व्यक्त किया करते थे। भावांकन का यह विस्मयकारी कार्य वहाँ कई शताब्दियों तक चलता रहा; किन्तु उसकी अपेक्षा आज, उस व्यापक एवं दीर्घकालीन सभ्यता के, इने-गिने अवशेष ही उपलब्ध होते हैं।

सिन्धु सभ्यता का युग

ईसा की सहस्त्राब्दियों पूर्व ही भारत में कला की परम्परा का प्रवर्तन हो चुका था और बीच-बीच में विरोधी तत्वों के समाविष्ट हो जाने के कारण उक्त परम्परा के अनुवर्तन में अनेक प्रकार के विघ्न, अवरोध भी आये; किन्तु उन प्रतिकूल तत्वों को भी आत्मसात् कर के कला की स्रोतस्विनी ने आगे-आगे प्रवाहित होकर भारत की कलाप्रवण धरती को सींच कर उर्वर बनाये रखा।

प्रारंभ में मनुष्य जब सर्वथा बनवासी जीवन व्यतीत करता था, धातुओं के ज्ञान तथा व्यवहार से वह अनभिज्ञ था। वह पत्थरों के ही शस्त्रास्त्रों से अपना काम चलाया करता था। सभ्यता के उस आदिम युग में ही उसके अन्दर चित्रण की प्रवृत्ति विद्यमान थी। सीमित संख्या में प्राप्त चित्र, तत्कालीन चित्रकला एवं सभ्यता के परिचायक हैं। इनके विषय प्रधानतया युद्ध या वनचरों का आखेट है। ऐसे चित्र गुफ़ाओं के भीतर और चट्टानों पर मिले हैं। इस सभ्यता का अनुमानिक समय आज से लगभग चालीस हज़ार वर्ष पूर्व था।

धीरे-धीरे समय के साथ मनुष्य की सभ्यता में भी परिवर्तन हुआ। ४०००-३००० ई० पूर्व के चीन, मध्य एशिया और भारत में जिस नयी सभ्यता का निर्माण हुआ था, इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं ने उसको मृत्पात्रों की सभ्यता के नाम से कहा है। इन भू-भागों के सम्पूर्ण मानव समाज ने मिट्टी के पकाये हुए बर्तनों पर सुन्दर अलंकरण तथा पशु एवं मानव की आकृतियाँ अंकित कीं। भारत में इस प्रकार के पकाये हुए अलंकृत मिट्टी के बर्तन नाल, झूकर, चन्हूदड़ो, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल आदि स्थानों की खुदाइयों में उपलब्ध हुए हैं। दैनिक व्यवहार के लिए प्रयोग में आने वाले इन बर्तनों की अलंकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन मानव में कला के प्रति अपरिमित प्रेम था। ये अलंकृतियाँ कुछ तो रेखाकार, कोणकार एवं वृत्ताकार हैं और कुछ में फूलों, पत्तियों तथा पशु-पक्षियों के चित्र अंकित हैं। मोहनजोदड़ो में कुछ मिट्टी की रंगी हुई मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनको देखने से तत्कालीन चित्रकला की और भी पुष्टि होती है। सिंधु-सभ्यता के उपलब्ध उपकरण भारत की प्राचीनतम सभ्यता के परिचायक अंश हैं। इन मूल्यवान् उपकरणों से भारत की आज से लगभग साढ़े पाँच-छः हजार वर्षो पूर्व की सभ्यता का पता चलता है। ये अवशेष तत्कालीन भारत के रहन-सहन, रीति-रस्म, खान-पान, वस्त्र-आभूषण और ज्ञान-विज्ञान के परिचायक हैं। इन अवशेषों के अतिरिक्त हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नागरिकों, नगरों, शासकों, कवियों, कलाकारों, विद्वानों, कारीगरों आदि के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता है। वर्षों के अनवरत यत्न करने पर भी पुरातत्वज्ञ एवं इतिहासकार सिंधु घाटी की वृहत् सभ्यता के बारे में एक सर्वसम्मत निष्कर्ष अभी तक नहीं निकाल पाये हैं।

सिन्धु घाटी की चित्रमय मुहरें भारतीय कला के प्रथम जीवित प्रमाण हैं, जिनके प्रभाव की छाप दजला-फ़रात, दक्षिणी ईरान आदि देशों की कलाकृतियों पर स्पष्ट है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त काँसे की तन्वंगी नर्तकी, प्रस्तरीय धड़, वृषभ और वह मुहर जिस पर पशुओं के बीच त्रिशूलधारी मानव पल्थी मारे बैठा है, अतीतकालीन भारत की कलाभिरुचि के अमिट प्रमाण हैं। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध अवशेषों की तुलना मेसोपोटामिया के 'उर' नामक नगर की खुदाइयों से उपलब्ध अवशेषों से किये जाने पर इतना निश्चित रूप से विदित हो जाता है कि बहुत प्राचीनकाल में ही भारत का सम्बन्ध सुमेर, मिश्र, फ़िलस्तीन, ईरान आदि सुदूर देशों से बहुत ही घुले-मिले रूप में हो चुका था।

सिन्धु घाटी से उपलब्ध उपकरण अनेक प्रकार के हैं। उसमें कुछ सामग्री ऐसी भी है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रागैतिहासिक भारत में कला के प्रति भी अतिशय अभिरुचि थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से उपलब्ध बर्तनों, दफ़नाये गये शवों के साथ के पात्रों, मिट्टी के बर्तनों, पत्थरों, कांस्य मूर्तियों, मृण्मूर्तियों, मुद्राओं और टिकरों पर की गयी चित्रकारी, अलंकृति आदि चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। यहाँ के प्रेमी जनों की हृदयाकर्षक भाव-भंगिमायें, तन्त्रंगी नर्तकियों की प्रवीण मुद्राएँ, केश-शृंगार, अंग-प्रत्यंग का आकर्षक उभार, सभी में कला की प्रवीणता, कला के प्रति एक स्वाभाविक अभिरुचि का पता चलता है। यहाँ प्रकृति के विभिन्न रूपों की, मातृदेवी की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ, पशुपति और नंदी बैल आदि की मूर्तियाँ बड़ी ही आकर्षक हैं। सिंधु सभ्यता के इन उपकरणों का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि वहाँ का जन-जीवन कलानुरागी, कलाकार, विद्वान्, योद्धा और दार्शनिक था।

लोथल से प्राप्त प्रागैतिहासिक कलावशेष

केंद्रीय पुरातत्त्व विभाग ने मोहनजोदड़ो से ६०० मील दक्षिण-पूर्व, सूरत के निकट, लोथल नामक स्थान में सिन्धु घाटी सभ्यता के प्रागैतिहासिक अवशेष प्राप्त किये हैं। यह खुदाई नवम्बर १९५३ में हुई थी। यह स्थान अहमदाबाद ज़िले के सर्गवाला नामक गाँव के अन्तर्गत है।

यहाँ हड़प्पा जैसे ही मिट्टी के बर्तन, मिट्टी के खिलौने, जानवरों की मूर्तियाँ, बिल्लौरी पत्थर की छुरी, रंग-बिरंगे मनके और ताँबे की

बनी बहुत-सी चीजें मिली हैं। इनके साथ ही हड़प्पा जैसी मिट्टी की सुराहियाँ, तश्तरियाँ, नाद, गड़वे और घड़े आदि सामग्री भी उपलब्ध हुई है। खुदाई से पता चला है कि टीले से बहुत दूर तक पुरानी बस्ती बसी हुई थी। यह बस्ती लगभग आधे मील लम्बे और चौथाई मील चौड़े क्षेत्र में फैली हुई थी। इस स्थान की जाँच करके पता लगाया गया है कि वहाँ जो बस्तियाँ, नालियाँ, मकान, सड़कें और स्नानागार आदि बने थे वे बड़े ही वैज्ञानिक ढंग के थे।

खुदाई में टीले के पश्चिम भाग में दो बहुत बड़े भवनों के अवशेष मिले हैं। एक में बहुत बड़ा अहता है, जिसके दोनों ओर दो-दो कमरों की कतारें हैं। यह मनके बनाने का कारखाना प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ बहुत-से तैयार और अधूरे मनके मिले हैं। इसके निकट ही एक चार छेदों वाली भट्ठी भी है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त कच्ची ईंटों के दो पुश्ते ऐसे मिले हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वे नदी की बाढ़ रोकने के लिये, नगर की रक्षा के लिये तैयार किये गये थे।

लोथल के उपलब्ध अवशेषों में सर्वाधिक महत्त्व कला-कौशल-सम्बन्धी सामग्री का है। वहाँ हड़प्पा की भाँति औज़ार, हथियार, गहने और दूसरे बहुत-सी घरेलू इस्तेमाल की सामग्री मिली है। वहाँ से उपलब्ध ताँबे तथा काँसे की कुल्हाड़ियों, बाण तथा भाले के फालों, मछली मारने की बंसियों और बर्मा जैसे औजारों को देखकर विदित होता है कि वहाँ विभिन्न भाँति के पेशेवर लोग रहा करते थे। ये छोटे-बड़े बर्मे बढ़ई और जौहरी के साधन रहे होंगे। छुरे बनाने, मनके बनाने और धातु की ढलाई आदि का कार्य भी वहाँ होता था। इन अवशेषों में ताँबे का बना हुआ एक सुन्दर हंस भी मिला है, जिससे तत्कालीन ढलाई के उन्नत व्यवसाय का पता चलता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की ही भाँति लोथल की खुदाई में क़ीमती पत्थरों के तिकोने बाट उपलब्ध हुए हैं।

प्रतीत होता है कि उस युग में मिट्टी के उत्कृष्ट बर्तनों का निर्माण और उन पर चित्रकारी की कला का बहुत ही विकास हो चुका था। एक खपड़े में बना हुआ घोड़ा और एक कलश पर बने हुए गौरैया तथा हिरन के चित्र इस बात के प्रमाण हैं। इसी तरह एक मिट्टी के बर्तन पर साँप, बत्तख, मोर और ताड़ वृक्ष आदि के सुन्दर चित्र उस युग के कलाकारों की निपुणता को प्रमाणित करते हैं। रंग-विधान की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है।

उस युग में मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने की कला भी काफ़ी आगे बढ़ चुकी थी। वहाँ मनुष्यों और पशुओं की ऐसी सुगठित मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी सुन्दरता सराहनीय है, और उदाहरणस्वरूप जिनमें भेड़ा, सिर हिलाता हुआ बैल, मोर, चीता और कुत्ता उल्लेखनीय हैं। मुहरों पर औज़ारों के अतिरिक्त जानवरों के चित्र खोदवाने का भी उस युग में प्रचलन था। ये उपकरण उस समाज के पशु-पालन एवं पशु-प्रेम का परिचायक हैं। इस प्रकार की चित्र-खुदी मुहरों में दाँत वाले हाथी और बकरी की मुहरें अति ही आकर्षक हैं।

लोथल की खुदाई में सुलेमानी, संगजीरा, मुलायम पत्थर और मिट्टी की मुहरें भी मिली हैं, जिनमें जानवरों के चित्रों के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो की कला के चित्र अंकित हैं। एक मुहर पर स्वस्तिक बना हुआ है और दूसरी मुहर पर एक सींगदार पशु के शीर्ष भाग में दो पंक्तियों में कुछ लिखा हुआ है। इसी प्रकार मिट्टी के एक छापे पर तीन मुद्राओं की एक साथ छवि अंकित है।

प्रागैतिहासिक कला के कुछ अन्य केन्द्र

लोथल के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक कला के मुख्य केन्द्रों में मिर्ज़ापुर, पटना, काठियावाड़, उदयगिरि और महाबलीपुरम् के नाम उल्लेखनीय हैं। मिर्ज़ापुर से लगभग ४५ मील दूर सहबइयापथरी, मोरहनापथरी, बागापथरी और लकहटपथरी नामक पहाड़ियों पर लगभग सौ कलाकेन्द्र स्थित हैं। इसी प्रकार बेला स्टेशन (पटना) से ८ मील की दूरी पर स्थित पहाड़ियों में सुदामा, लोमश, रामाश्रम, विश्वझोपड़ी, गोपी और वेदाथिक नामक गुफ़ाओं की कला भी प्रागैतिहासिक महत्त्व की है। भुवनेश्वर के ५ मील पश्चिम उदयगिरि, खण्डगिरि और नीलगिरि की ६६ गुफ़ाओं को अत्यन्त प्राचीन बताया जाता है। वहाँ की चित्रकारी में कल्पवृक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। मद्रास के महाबलीपुरम् के विभिन्न कला-मण्डपों में मन्दिर और मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में कला के प्रति प्रागैतिहासिक युग से रुचि ली जाने लगी थी।

भारत के विभिन्न भागों में आज भी इस प्रकार की सामग्री भूमि के गर्भ में निहित है, जिनके प्रकाश में आने से इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की नयी उपलब्धियाँ प्रकाश में आ सकती हैं। अपने प्रागैतिहासिक या ऐतिहासिक अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आज से लगभग १०-१५ वर्ष पूर्व हम जिस प्रकार से साधनहीन अथवा अल्प साधनयुक्त थे, आज वह स्थिति नहीं है, और जिस गति से इस क्षेत्र में कार्य हो रहा है उसको देखते हुए सहज ही यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि अपने

प्राचीन अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए संसार के इतिहासकारों, पुरातत्त्वविदों एवं कला-पारखियों के समक्ष हम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकेंगे, जो एकमत से स्वीकार किये जायेंगे।

इस क्षेत्र में भारत सरकार की ओर से जो कार्य हो रहा है, सरकार के पत्र सूचना-कार्यालय की ओर से १४ अक्टूबर, ५८ को प्रकाशित एक विज्ञप्ति के अनुसार उसका विवरण इस प्रकार है—

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज

१—भारत में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो काम हुआ है, उससे पाषाण युग की काफ़ी जानकारी मिली है, जब कि अब से १५ वर्ष पहले भारतीय पुरातत्त्वशास्त्रियों ने प्रागैतिहासिक काल-सम्बन्धी खोज पर कभी भी अधिक ध्यान नहीं दिया था।

२—विंध्य की नदी-घाटियों में, आंध्र प्रदेश की चूने के पत्थरों की गुफाओं में, पंजाब की नदियों के ऊपरी भागों में और तमिलनाड के कुछ हिस्सों में खुदायी करके जो वस्तुएँ मिली हैं, उनसे आशा की जाती है कि इससे देश की आदि संस्कृति के क्रमिक विकास की जानकारी हो सकेगी।

३—खोज से अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता एक ही स्थान पर सीमित नहीं थी, बल्कि देश में काफ़ी क्षेत्र तक फैली हुई थी। इस सभ्यता के अवशेष दक्षिण में नर्मदा और ताप्ती नदियों के बीच भड़ौच और सूरत तथा पूर्व में जमुना की सहायक नदी हिंडन के पूर्वी तट पर मिले हैं।

४—यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु नदी से काफ़ी दूर की बस्तियों में भी नगर बसाने और सफ़ाई आदि के वही तरीक़े अपनाये जाते थे जो मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में अपनाये गये थे।

५—नागार्जुन कोण्डा अब काफ़ी महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है, क्योंकि वहाँ बौद्धकाल के अवशेष के अलावा पाषाण युग से लेकर मध्यकाल तक के अवशेष भी मिले हैं।

६—यही एक ऐसा स्थान है, जहाँ पुरा-पाषाण और पाषाण युग से लेकर सातवाहन, इक्ष्वाकु, चालुक्य और अन्य राजाओं तक के युग के अवशेष प्राप्त हुए हैं। वहाँ खुदाई का काम चालू है। इसके अलावा, १९५७-५८ में वहाँ से चुनी हुई वस्तुओं को ऊपर पहाड़ी पर ले जाने का प्रबन्ध भी कर दिया गया है, ताकि वे डूबें नहीं।

७—उज्जैन और कौशाम्बी आदि स्थानों पर पुरातत्त्व विभाग और विश्वविद्यालय मिलकर खुदाई का कार्य कर रहे हैं।

८—उज्जैन में पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई की है, उससे पुराने ज़माने की रक्षा-व्यवस्था की जानकारी मिलती है।

९—डेकन कालेज ने नवदातौली में जो खुदायी हुई है, उससे वहाँ पहली बार काफ़ी मात्रा में कांस्य-पाषाण युग के अवशेष मिले हैं।

१०—कलकत्ता विश्वविद्यालय ने चन्द्रकेतुगढ़ में खुदाई की है और वहाँ पर पूर्वी भारत के पुराने इतिहास की काफ़ी सामग्री प्राप्त हुई है।

११—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने राजघाट में खुदाई की है, जिससे गंगा की घाटी के पुराने इतिहास-सम्बन्धी अवशेष मिले।

१२—के० वी० जायसवाल अनुसंधानशाला ने वैशाली में खुदाई की, जहाँ मौर्यकाल से पहले का एक स्तूप प्राप्त हुआ है।

लिपि के निर्माण में चित्रकला का योग

आदि मानव के समक्ष, भाषा की उत्पत्ति के अभाव में, पहली समस्या, अपने भावों को एक-दूसरे पर प्रकट करने के सम्बन्ध में आयी। कुछ अभ्यस्त हो जाने पर इंगितों या संकेतों द्वारा अपनी इस समस्या को वह थोड़ा ही हल कर पाया था कि अपने सामाजिक विकास के कारण उसको अपने यें तरीक़े भी यथेष्ट न जान पड़े। उसके आगे प्रश्न यह था कि परोक्ष व्यक्ति को या आगे की पीढ़ियों को वह अपने मन की बात किस प्रकार समझाये जिससे उसकी अनुपस्थिति में भी उसके मनोभाव बने रह जांय। मनुष्य को स्वभावाभिव्यंजन या परभावानुकरण की इसी जिज्ञासा ने लिपि को जन्म दिया, जिससे विभिन्न देशों में वहाँ की प्रकृति के अनुसार विभिन्न तौर-तरीक़ों से विभिन्न लिपियों का निर्माण हुआ। मौखिक भाषा को लिपि भाषा में ढालने का यह क्रम वर्षों तक चलता रहा।

लिपियों का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख विद्यमान है, प्राचीन काल में वह इससे सर्वथा भिन्न था। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि अति प्राचीनकाल में लिपि का अभाव था, तथापि साहित्य तब भी वर्तमान था। वह साहित्य मौखिक रूप में ही था। अनेक कथा-कहानियाँ, उपाख्यान या इतिवृत्त आज भी हमारे समक्ष ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में हम नहीं बता पाते कि उनका निर्माण कब हुआ। किंवदन्तियाँ तथा लोककथाएँ ऐसा ही साहित्य है। ठीक इसी भाँति, जैसे कि लिपि के अभाव में भी साहित्य की स्थिति समाज में विद्यमान थी, वर्णमाला के अभाव में लिपि का प्रयोग होता था। ऐसी लिपियाँ अनेक थीं : रज्जु या ग्रंथलिपि, भावप्रकाशनलिपि, ध्वनिप्रकाशक चित्रलिपि, रेखालिपि, अक्षरलिपि और व्यंजनमूलक लिपि आदि।

विस्तारभय के कारण हम यहाँ केवल चित्रलिपि के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे। मानव-जाति के प्रागैतिहासिक समाज के विचार-प्रकाशन का एक प्रबल माध्यम चित्रलिपि भी रही है। तत्कालीन चित्रलिपि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी जानकारी के लिए कुछ नियम पहले से ही निर्धारित किये गये थे जिससे एक के भावों एवं विचारों को दूसरा सुगमता से सही अर्थों में पूरी तरह हृदयंगम कर सके। उदाहरण के लिए कुछ चित्र ऐसे थे जिनसे केवल मूर्त पदार्थों का बोध किया जा सकता था, किन्तु उनसे भिन्न कुछ संकेत रेखाएँ ऐसी थीं जिनसे केवल अमूर्त पदार्थ ही बोधगम्य किये जाते थे। और इन दोनों से भिन्न दैनिक व्यवहार में आनेवाले व्यक्तियों से सम्बन्धित बातों के लिए भावचित्रों को ध्वनिचित्रों में परिवर्तित किया जाता था। जैसे मैक्सिकन 'इत्ज' को चाकू द्वारा और 'कोत्ल' को सर्प की सुपरिचित आकृतियों द्वारा प्रकट किया गया। चित्रों द्वारा इस प्रकार की प्रतीकात्मक रेखाएँ खींचकर आदिम मानव-सभ्यता ने शनैः-शनैः नयी-नयी सुगम पद्धतियों का निर्माण किया।

इस प्रकार चित्र-रचना द्वारा विचारप्रकाशन की यह पद्धति इतनी विकसित हुई कि भिन्न-भिन्न चित्रों द्वारा विचार विनिमय की विभिन्न रीतियों का निर्माण हुआ। ये चित्र शिलाओं, वृक्ष की छालों, जीव-जन्तुओं के चर्मों, हड्डियों, सीपों और दाँतों आदि अनेक प्रकार की सामग्री पर चित्रित किये गये। इस प्रकार के अनेकों चित्र कैलीफोर्निया की घाटियों, स्काटलैण्ड की शिलाओं, ओहियो रियासत में वृक्ष छालों, लैपलैण्ड में ढोलों और औवर्न (फ्रांस) में सींगों पर उत्कीर्णित आज भी उपलब्ध होते हैं। एक सम्पूर्ण घटनाचक्र को चित्रों में प्रकाशित करने की प्रथा अमेरिका के आदि निवासियों में प्रचलित थी। पृथक्-पृथक् वस्तुओं के लिए भाव-बोधन के चित्र संकेत मैक्सिको तथा मिश्र के आदि निवासी लोगों में प्रचलित थे।

विचारों का आदान-प्रदान जब बढ़ने लगा और संवाद प्रेषित करने एवं ग्रहण करने में जब कठिनाइयाँ होने लगीं तथा कभी-कभी विपरीत अर्थों में ही जब चित्र-संकेतों को ग्रहण किया जाने लगा तो तब एक-एक वस्तु के लिए अलग-अलग भाव-चित्र बनने लगे। उदाहरण के लिए प्राचीन चीन की चित्रलिपि में दो हाथों से मिले हुए संकेतों को मित्रता का बोधक माना जाने लगा। इसी प्रकार विवाहिता स्त्री के लिए स्त्री तथा झाड़ू, अंधकार के लिए वृक्ष के नीचे सूर्य, स्नेह के लिए स्त्री तथा पुत्र। प्रकाश के लिए वृक्ष पर चन्द्र एवं सूर्य आदि के संकेतचिन्ह बनाये गये। मिश्र में प्यास का प्रातीक जल तथा जल की ओर दौड़ते हुए पशु-वत्स, रेड-इन्डियन जाति में समय के लिये वृत्त, परिवार के लिए अग्नि, शान्ति के लिए पाइप आदि के चित्रसंकेत बनाये गये थे।

इस प्रकार आदिम सभ्यता की चित्ररेखाओं ने आगे चलकर एक वैज्ञानिक लिपि को जन्म दिया।

कला की उद्भावना में धर्म की प्रेरणा

पूर्व पाषाण, मध्य पाषाण और उत्तर पाषाण युग के आदिम मानवों की जो ठठरियाँ, हथियार और अन्य अवशेष मिले हैं उनका वैज्ञानिक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उनके आचार,-विचार तथा संस्कारों में ही समानता नहीं थी, बल्कि उनमें संस्कृति, सभ्यता और कला के प्रति भी एक जैसी रुचि एवं एक जैसी भावना विद्यमान थी।

यह भावना धर्म की थी। कला की उत्पत्ति के मूल में हमें धार्मिक भावना की प्रधानता दिखायी देती है। आदिम युग में मनुष्य ने पार्थिव वस्तुओं को आध्यात्मिक रूप देने के लिए आकाश, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, नदियाँ, पर्वत और सर्दी-गर्मी आदि के रहस्यों को आँकने का यत्न किया। उसने उन सभी वस्तुओं में एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की, जिन वस्तुओं की जानकारी वह प्राप्त न कर सका था।

संसार की प्रायः समस्त आदिवासी जातियों की संस्कृति के मूल में इस धार्मिक भावना की प्रधानता एक जैसे रूप में दिखायी देती है। यूनान, चीन और भारत के लोगों को कला की प्रेरणा प्रकृति से मिली। वेदों के ऋषियों ने प्रकृति के अनेक रूपों की पूजाकर उन्हें देवत्व का स्थान दिया। ये दैवी शक्तियाँ ही बाद में स्वर्ग, नरक, लोक, परलोक, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि अनेक नाम-रूपों में कही जाने लगीं।

भारत, क्योंकि एक धर्मप्रवण देश रहा है, अतः उसकी कला में आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता रही है। भारतीय कलाकार ने बाह्य सौन्दर्य के वशीभूत होकर कला की उद्भावना नहीं की है; उसकी अन्तःप्रेरणाओं और उसके भीतर प्रसुप्त दैवी विश्वासों के बल ने ही उसके विचारों को रंग, रूप, वाणी और व्याप्ति प्रदान की है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला, कला के लिए नहीं है; उसका उद्देश्य तो मनुष्य को अपने आप में सीमित न रखकर उसे परम तत्व की ओर ले जाना है। भोग में पर्यवसित हो जानेवाली कला वस्तुतः कला नहीं है। जिससे परमानन्द की प्राप्ति हो वही श्रेष्ठ कला है :

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला परा।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कला एक बहुत ऊँचे प्रतिमान का पर्यायवाची शब्द है। वृहद् भारत के आचार-विचारों, अनुसंधान-अन्वेषणों और आध्यात्मिक अधिभौतिक आदि सभी प्रकार के कार्य क्षेत्रों में कला का एक जैसा सम्मान्य स्थान रहा है। सृष्टि के समग्र वैभव में कला का आवास है। अपने इस अतुल अस्तित्व की ही भाँति उसका उद्देश्य भी चिरन्तन है।

भारतीय कलाकार ने अपनी कृतियों का निर्माण अपने अन्तर्मन की प्रेरणा से किया है। उसकी कलाकृतियों में तन्मयता के भाव, आत्मविस्मृति और आत्मसमर्पण की उच्च भावना समाविष्ट है। इसी लिए वह अपनी कृतियों में उस शाश्वत सत्य तथा अनन्त दीप्तिपुंज सत्ता को उतार सकने में समर्थ हो सका है। अपनी दुस्साध्य साधना के बल पर उसने निराकार को साकार, असीम को ससीम, अपार्थिव को पार्थिव और अज्ञेय को ज्ञेय रूप में बाँध देने की निपुणता प्राप्त की है। यही भारतीय कला की अध्यात्म भावभूमि है।

भारतीय कलाकारों की अपनी यह विशेषता रही है कि उन्होंने आत्माभिव्यंजन तथा आत्मप्रशंसा को सर्वथा त्यागकर कला के पवित्र ध्येय को अपने हृदय में बाँधे रक्खा। इतना महान् त्याग और इतनी महती आसक्ति घूम-फिरकर दुनियाँ के किसी भी छोर में नहीं दिखायी देती है। अजन्ता की महान् कृतियाँ आज अपने निर्माताओं की इन महानताओं का स्वयं ही गुणगान कर रही हैं।

भारतीय चित्रकारों की यह मान्यताएँ कि प्रत्येक चित्र के दर्शन से जो-कुछ चित्रगुण या उसका परिचय प्राप्त होता है वह पूर्णतः अयत्नसंभूत, आकस्मिक, सुगम तथा अलौकिक होना चाहिए, एक बहुत ऊँची दृष्टि का परिचायक है। प्राणहीन और प्राणवान् वस्तुओं का एक जैसा स्वाभाविक चित्रण करना ही अच्छे कलाकार का लक्षण है। प्रतिकृति उतारने में चित्रकार की कोई मर्यादा तथा निपुणता नहीं है; क्योंकि प्राणहीन पदार्थों की गतिभंगी का चित्रण, प्राणवान् वस्तुओं की गतिभंगी के चित्रण की अपेक्षा सरल होता है। इसी प्रकार मनुष्य की अपेक्षा उसकी आत्मा का अभिव्यंजन करना कठिन है, क्योंकि उसके लिए दीर्घ अभ्यास की आवश्यकता है।

भारतीय कलाकारों ने देवी-देवताओं की काल्पनिक कृतियों का निर्माण करने में अधिक अभिरुचि प्रकट की है। उसका कारण उसके सात्विक मन की सादगी थी। उन्होंने सावयव सौन्दर्य को छोड़कर जो निरवयव, रसहीन देव-अनुकृतियों का चित्रण किया है, एक प्रकार से उनका यह अनन्त को सीमा-रेखाओं में बाँधने का प्रशंसनीय यत्न था। अपने भावों को उतारने का उनका तरीक़ा बहुत ऊँचा था।

धर्मप्रवण भारतीय कलाकार ने तत्कालीन लोक-जीवन की महती मान्यताओं को अपनी कला-कृतियों में ढालकर कला के आदर्श को और भी महत्तर बना दिया। लोक-जीवन के प्रति भारतीय कलाकार की यह निष्ठा भारतीय कला के महान् अभियान की सूचना थी, जिसका दर्शन हमें सिन्धु सभ्यता की उपलब्ध कलाकृतियों में होता है।

भारतीय कला में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की महती भावना ओतःप्रोत है। उसके आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप सौन्दर्यमय है; क्योंकि उसका निर्माण दीर्घकालीन साधना और गंभीर अध्ययन के बाद हुआ है। अतः उसके एक-एक संकेत की जानकारी प्राप्त करने के लिए भारतीय चित्रकला की तकनीकों से परिचित होना आवश्यक है।

धर्म के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक रुचि को दृष्टि में रखकर ही भारतीय चित्रकला की आदिम परिस्थितियों का वास्तविक अध्ययन किया जा सकता है। धर्म की आध्यात्मिक, अदृष्ट एवं अलौकिक पृष्ठभूमि पर ही भारतीय चित्रकला की आधार भित्ति खड़ी हुई है। प्रागैतिहासिक युग के जितने भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनके परीक्षण से अधिक स्पष्ट रूप में आज यह तथ्य हमारे सामने प्रकट है कि भारत की आदिम मानव-सभ्यता में कला का सृजन ऐसे रहस्यों एवं ऐसी उत्कण्ठाओं को आधार मानकर हुआ है, जिसका सम्बन्ध पारलौकिक था और जिनमें किसी सर्वोपरि अदृष्ट नियन्ता का होना स्वीकार किया गया है। अतएव, जाने या अनजाने, जैसे भी संभव हुआ हो, इस देश की आदिम मानव-सभ्यता में कला को, विशेषतः चित्रकला को, आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के रूप में स्वीकार किया गया।

हमारे शास्त्रों में धर्म से ही निःश्रेयस (जिससे बढ़कर कोई श्रेयान् वस्तु नहीं है) की प्राप्ति होती बतायी गयी है। हमारे कलाकारों ने अपनी कृतियों में इसी निःश्रेयस की खोज की है। वस्तुतः यही कारण है कि कला के जिन भग्नावशेषों को देखकर आज भी हम अवाक् रह जाते हैं उनमें, उनके निर्माता कलाकारों की, यही श्रेयबुद्धि निहित है।

धर्म की इस चिरन्तन आस्था से भारतीय चित्रकारों की भावी पीढ़ी भी प्रभावित हुई। राजपूत, मुगल और पहाड़ी इन मुख्य शैलियों को जितनी भी शाखाएँ हैं उन सब में सर्वत्र ही जो एक ही बात समान रूप से देखने को मिलती है वह है धर्म की सर्वोपरि मान्यता। संभवतः यही कारण है कि प्राचीन कलाचार्यों ने देवस्थानों, सार्वजनिक स्थानों और रहने के घरों को चित्रों से सज्जित करने का विधान किया है। जितने भी धार्मिक अनुष्ठान, सामाजिक उत्सव और शुभ यात्रायें हैं उनमें चित्रों की पूजा-अर्चना का निर्देश किया गया है।

भारतीय लोक-जीवन में चित्रकला के प्रति इस धार्मिक निष्ठा का इतिहास अनादि है। सभी शुभकार्यों और उत्सवों-त्योहारों पर मंगलमयी कला का प्रवेश आज भी हमारे घरों में दिखायी देता है। धार्मिक दृष्टि से लोकमानस का यह कलानुराग अपनी परम्परा में एक जैसी आस्था से संपूजित होता चला आ रहा है। न केवल भारत में, बल्कि धर्मविश्वासी विश्व के अनेक देशों में कला का धार्मिक महत्त्व आज भी बना हुआ है। एशिया के अनेक देशों में मृतात्माओं के साथ चित्रों तथा हस्तलेखों को दफ़नाये जाने का एकमात्र उद्देश्य यही धार्मिक दृष्टिकोण रहा है।

चित्रकला को धर्म के साथ संयुक्त करके हमारे कलाचार्यों ने उसकी लोकप्रियता को ही नहीं, उसके महत्त्व को भी बताया है। अतः भारतीय जीवन में धर्म की भाँति, चित्रकला भी अनन्त काल तक संपूजित होती रहेगी।

इस प्रकार कला के निर्माण में मनुष्य के धार्मिक विश्वासों ने बड़ा योग दिया है। संभवतः इन धार्मिक विश्वासों का ही कारण था कि कला को एक महान् आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया और उसको मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण का हेतु समझा गया।

★

साहित्य में चित्रकला

भारत के पुरातन समाज और साहित्य में ललितकलाओं, विशेष रूप से चित्रकला की क्या स्थिति थी, इसके यद्यपि जीवित प्रमाण बहुत कम उपलब्ध हैं तथापि इसका उल्लेख वेद, वैदिक साहित्य, **'रामायण'**, **'महाभारत'**, जैन-बौद्धों के साहित्य, पुराणों, **'नीतिसार'**, 'नाट्यशास्त्र', **'कामसूत्र'**, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, काव्य, नाटक और कथा-आख्यायिका आदि अनेक विषयों के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। **'विष्णुधर्मोत्तर'** पुराण का **'चित्रसूत्र'**, महाराज भोज का **'समरांगणसूत्रधार'** और सोमेश्वर भूपति का **'मानसोल्लास'** आदि ग्रंथ भारतीय कला के विधि-विधानों पर विस्तार से विचार प्रस्तुत करने वाले लक्षण श्रेणी के ग्रंथों का इस प्रसंग में उल्लेखनीय स्थान है। संस्कृत-साहित्य के इन प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथों का सूक्ष्म अध्ययन-अनुशीलन करने पर, सहस्राब्दियों ई० पूर्व से लेकर लगभग १६ वीं शताब्दी तक, भारतीय चित्रकला का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक युग में चित्रकला

वेदों के मंत्रदृष्टा ऋषि और उस युग का सामाजिक जीवन बड़ा सरल, भावुक तथा प्रकृति का अनुरागी था। वैदिक काल में नृत्य, गीत, वाद्य, कविता, नाटक, कहानी सुनना, उत्सव मनाना और कला-कौशल आदि मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। ये सभी बातें ललितकला के अन्तर्गत गिनी जाती थीं। **'कौषीतकी ब्राह्मण'** (२९।५) में नृत्य, गीत और वादित्र का सामूहिक नाम 'शिल्प' था। ऋग्वेद (१०।३९।१४) में भृगु ऋषि के वंशजों को लकड़ी के काम का विशेषज्ञ बताया गया है, जिसका उपयोग वे अपने अवकाश के समय किया करते थे।

इस दृष्टि से विदित है कि वैदिक धर्म एकांगी नहीं था। साहित्य और कला, दोनों को साथ लेकर उसका विकास हुआ। तत्कालीन साहित्यिक प्रगति का दिग्दर्शन कराने वाले अनेक ग्रन्थ आज हमारे समक्ष हैं। जहाँ तक कला का संबंध है, उस युग में संगीत, मूर्ति, स्थापत्य और चित्र सभी दिशायें परम्परा की तुलना की दृष्टि से समुन्नत थीं। कला के विभिन्न माध्यमों से सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त करने वाला वह वैदिक युग अपने ढंग का अकेला था। आगे चलकर शिशुनाग, मौर्य और गुप्तों के समय जिस महान् कला-समृद्धि की चरमोन्नति को हम देखते हैं उसके सूत्र इसी युग में निर्मित हो चुके थे। विशेषतः गुप्त युग में हम शैव और वैष्णव मन्दिरों की द्वार-चौखटों पर जो मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की उभरी हुई मूर्तियाँ अंकित पाते हैं उनका आधार न तो बौद्ध तोरण थे और न बौद्ध युग की यक्षिणी प्रतिमाएँ ही थीं; बल्कि जैन-बौद्धों के स्तूप वैदिक युग की उन समाधियों का विकसित रूप थे, जो किसी प्रमुख व्यक्ति की स्मृति में मिट्टी के टीलों (स्तूपों) द्वारा बनाये जाते थे और जिनमें कुंभ के भीतर अस्थियाँ रखकर दबा दिया जाता था। बाद में उनके ऊपर मूर्तियों से अलंकृत स्तंभ खड़ा कर दिया जाता था। ऋग्वेद (१०।८।११-१३) में इस अभिप्राय के प्रमाण सुरक्षित हैं।

मंत्रसंहितायें भारतीय साहित्य की प्राचीनतम ज्ञाननिधि हैं, वरन् विश्व के प्रत्येक भाग का इतिहासकार आज इस बात को स्वीकार करता है कि पृथ्वी के संपूर्ण मानव समाज में ज्ञान का इतिहास मंत्रसंहिताओं के उदय से आरंभ होता है। मंत्रसंहिताओं में भी ऋग्वेद संहिता की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध है। ऋग्वेद (१।१।४५) में हम चर्म पर अग्निदेव का चित्र अंकित किये जाने का उल्लेख पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋचाकाल में कलात्मक अभीप्साओं का मूर्धाभिषिक्त साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले प्रसंगों में इन्द्र के घोड़े की, शालभंजिकाओं (ऋग्वेद ४।३२।२६) से उपमा देना और विशाल (**बृहतर**) सुनहरी (**हिरण्यमयी**) द्वारदेवियों (**द्वारोदेवीः**) को यज्ञशालाओं की चारों चौखट (आत) पर अंकित (ऋग्वेद १।५।५) अलंकृत स्त्री-आकृतियों को पाते हैं। यज्ञशालाओं के द्वारों पर स्वर्णांकित इन देवी आकृतियों को पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने **'प्रतिकृति'** कहा है। इन प्रतिकृतियों की पुजारी (**अर्चावान**) पूजा करते थे और वे ही उनकी आजीविका के साधन थे। इस प्रकार की प्रतिकृतियाँ मौर्य युग में व्यापारिक रूप से बनायी जाती थीं; किन्तु उनकी परम्परा का मूल आधार वैदिक युग ही था। ये वैदिक काल की द्वारदेवियाँ वास्तव में कैसी थीं, यद्यपि स्वरूपतः वे ज्ञात नहीं हैं; किन्तु जैसा कि बाद में भी उनकी परम्परा बनी रही, उससे यह अवगत होता है कि वे अर्धचित्र (भास्कर्य) थीं।

वैदिक युग में इन अर्धचित्र देवियों के कुछ आगे बढ़कर पूर्णचित्र देवियों के अंकन की ओर भी तत्कालीन कलाप्रवण ऋषियों की

दृष्टि गयी कि नहीं, इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की दो ऋचायें (९।५।५; १०।११०।५) बड़े महत्त्व की हैं। इन ऋचाओं के साक्ष्य से हमें यह ज्ञात होता है कि उन ऋषियों ने उषादेवी और रात्रिदेवी की श्रीयुक्त उज्ज्वल आकृति को निहारा और उन दृहती मही (बृहत् एवं महान्) नक्तोषसा (रात्रि और उषा) की (सुशिल्पे सुरचनास्) पर बड़े गौर से विचार किया। इस प्रकार निश्चय ही उन कलाप्रवण सौन्दर्यप्रेमी ऋषियों ने रात्रि और उषा के प्रतीक चित्र उतारे और तब हमारी यह धारणा सर्वथा उपयुक्त बैठती है कि वैदिक युग में यज्ञशालाओं पर जिन देवियों को अंकित किया जाता था उनमें रात और उषा की प्रमुखता थी और वे चित्रित की जाती थीं।

किन्तु वेदों की मंत्रसंहिताओं में, ब्राह्मणग्रन्थों में तथा वेदान्त दर्शन में कला के अस्तित्व को जिस रूप में स्वीकार किया गया है उसका स्पष्टीकरण न तो तत्कालीन मनोरंजन के साधनों द्वारा हो सकता है और न इसी बात से कि उस युग में चर्म पर चित्र बनाये जाने लगे थे।

इसलिए धर्म-कर्म प्रधान उस अध्यात्मवादी ज्ञानप्रवण युग में कला को जिस रूप में स्वीकार किया गया था, इसका विश्लेषण करने के लिए हमें दूसरी ही दृष्टि से विचार करना होगा। वस्तुतः देखा जाय तो वेदमंत्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और इस कोटि के जितने भी अनेक ग्रंथ हैं उनमें कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों के द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति का एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है। कला को विराट् सृष्टि का पर्याय मानकर, सृष्टिकर्ता परमेश्वर की चिरंतन विभूतियों सत्यं, शिवं, सुन्दरं का उसमें समावेश किया गया है। इस दृष्टि से यद्यपि भारतीय साहित्य के परमार्थ-विषयक ग्रंथों में कला को एक माध्यम स्वीकार किया गया है, तब भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन काल में भी कला का एक सार्वभौमिक महत्त्व था। परवर्ती युग की भाँति यद्यपि तब कला को एक सज्जा तथा सौष्ठव के रूप में स्वीकार नहीं किया था, तथापि तत्कालीन समाज और साहित्य में उसकी महत्ता समान रूप से व्याप्त हो चुकी थी।

कला का विराट् स्वरूप

आध्यात्मिक दृष्टि से कला का स्वरूप-विवेचन विराट् भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। कला एक कृति है; कलाकार की अभिव्यक्ति। यह संपूर्ण सृष्टि एक कृति है; एक अभिव्यक्ति है, जिसकी रचना, जिसका अभिव्यंजन परम सत्तामय परमेश्वर द्वारा हुआ है। सच्चिदानन्दघन परमेश्वर की इस विराट् सृष्टिकला में आत्मानुरूप सत्यं, शिवं, सुन्दरं इन त्रिविध गुणों का समावेश है। इसलिए कला को सत्य, शाश्वत, नित्य और अनादि कहा गया है।

उस अनादि सत्तामय कलाकार ने शनैः-शनैः अपनी विराट् कलाकृतियों का निर्माण किया : **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (ऋग्वेद १०।१३१।१)। यह संपूर्ण विश्व पहले उसी ब्रह्म में अंतर्धान था। उसी की चेष्टा से इस सृष्टि का निर्माण हुआ (**ऐतरेय उपनिषद्** १।१।१)। परमात्मा का निवास मूर्त और अमूर्त, दोनों में है। अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति ही यह सृष्टि है (**बृहदारण्यक** २।३।१); यही उसकी कलाकृति है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को आनन्दमय और उसकी अभिव्यक्ति को भी आनन्दमय कहा गया है (**ब्रह्मसूत्र** १।१।१२)। उसकी यह आनन्दमय सत्ता सोलह कलाओं द्वारा उद्भासित है। अग्नि के अनन्त कलारूप के वर्णन में बताया गया है कि यह पृथिवी कला है; यह अंतरिक्ष कला है; यह द्यु-लोक कला है; यह समुद्र कला है; यह अग्नि कला है; यह सूर्य कला है; और यह विद्युत कला है (**छांदोग्य** ४।५।२; ४।७।३)। इसी उपनिषद्ग्रन्थ में कलामय पुरुष परमेश्वर के संबंध में विस्तार से वर्णन किया गया है और बताया गया है कि उस आयतनवान् कला-रूप ब्रह्म का प्राण कला है; चक्षु कला है; श्रोत्र कला है; और मन भी कला है (**छांदोग्य** ४।८।३)।

इस दृष्टि से यह संपूर्ण चराचर और इस चराचर का निर्माता अनंत सत्तावान् ब्रह्म, दोनों कला-स्वरूप हैं। कला के चिन्तन का इतना व्यापक दृष्टिकोण समग्र भारतीय साहित्य में परिलक्षित है; इसी लिए भारतीय दृष्टि से कला की चरमान्त सिद्धि का मार्ग बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है।

'कठोपनिषद्' (अध्या० २, वल्ली ३, श्लो० ५) में कहा गया है कि 'रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना, कल्पित होना, छन्दित होना और छायातप में प्रकट होना—आत्मा में दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब की भाँति पितृलोक में स्वप्न में देखे की नाई, गन्धर्वलोक में मानो जल के कंपन के ऊपर और हमारे इस ब्रह्मलोक में छाया और आतप, इन दोनों के वैषम्य से।' आत्मा में प्रतिबिम्बित रूप को पूरी तरह समझना या प्रकट करना असंभव है, जब तक कि छायातप के वैषम्य को न जाना जा सके। छायातप के वैषम्य के अन्दर से रूप प्रकट हो रहा है, यही बात **'मुण्डकोपनिषद्'** में इस प्रकार कही गयी है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

दो सुन्दर चिड़ियाँ सफ़ेद और काली जागती और सोतीं; मानो छायातप की भाँति एक साथ रह रही हैं। एक चिड़िया फल चख रही है, गा रही है। दूसरी चुपचाप बैठी देख रही है। जीवात्मा, परमात्मा है; साकार, निराकार, रूप और अरूप—इन दोनों की समता और विषमता व्यक्त कर रहा है।

तंत्रशास्त्र में अक्षर और रेखाओं का एक-एक आत्मा और एक-एक विशेष वर्ण का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि 'ब्रह्म-विष्णु-आत्मक और शंखज्योतिर्मय परमाश्चर्म जो 'आ' अक्षर है वह स्वयं रुद्र है।' आगे कहा गया है 'गायत्री का प्रथम वर्ण चंपा की तरह पीला है, वह अग्नि से अर्चित है, इसलिए आग्नेय है।'

कला के आध्यात्मिक प्रतिमानों का गंभीर विवेचन विद्यारण्य मुनि की **'पंचदशी'** में हुआ है। उसका **'चित्रदीप'** नामक प्रकरण प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है और इस विषय पर इतनी सुन्दर सामग्री अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकती।

पंचदशी का चित्रदीप प्रकरण

वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य का नाम हमारे इतिहास की सहेजनीय वस्तु है। माधव (१२९७–१३८६ ई०) उन्हीं के भाई थे। ये दोनों भाई वेद-वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में आचार्य माधव, विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। विद्यारण्य मुनिकृत्त **'पंचदशी'** वेदान्त दर्शन की महानतम कृति के रूप में विश्रुत है। उसमें १५ प्रकरण हैं। इन प्रकरणों में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और तत्वज्ञान-संबंधी अनेक बातों पर बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के **'चित्रदीप'** नामक छठे प्रकरण में चित्रशास्त्र के विधानों के अनुसार ब्रह्मतत्त्व पर विचार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त के इस दुर्गम ग्रन्थ में चित्रशास्त्र जैसे विषय को ब्रह्मतत्व के प्रतिपादन में क्यों सहायक समझा गया है, यह भी एक विचारणीय बात है। वस्तुतः ललित कलाओं में चित्रविद्या ही एक ऐसा विषय है, जिसका प्रचार, प्रसार और प्रवेश समान रूप से समाज के सभी वर्गों में है। चित्रविद्या की कुछ बारीक बातों को छोड़कर सामान्यतया यही कहा जा सकता है कि उससे जन सामान्य का परिचय है, क्योंकि वह दृष्टि का विषय है, मनोरंजन का विषय है।

उसकी इसी लोकप्रियता के कारण **'पंचदशी'** के लेखक ने जन सामान्य तक वेदान्त दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को पहुँचाने के लिए जन सामान्य की समझ के उपयुक्त चित्रकला जैसे माध्यम को अपनाया। इस दृष्टि से महामुनि का यह प्रयास हमें बड़ा ही वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

'पंचदशी' का **'चित्रदीप'** नामक प्रकरण प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है। उसके बाह्य रूप को समझने की अपेक्षा उसका प्रतीकात्मक भीतरी रूप समझना कुछ कठिन है; किन्तु प्रतिपाद्य विषय की लक्ष्यसिद्धि उसके बाह्य रूप में न होकर प्रतीकात्मक रूप में ही है। अधिष्ठानचेतनरूप वस्त्र पर जगद्रूप चित्र को प्रकाशित करने वाले इस प्रकरण को **'चित्रदीप'** नाम दिया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण के आरंभिक श्लोक का आशय है कि 'जिस प्रकार पटचित्र की चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, उसी प्रकार परमात्मा की भी चार अवस्थाएँ जाननी चाहिएँ।' पटचित्र की चार अवस्थाओं के नाम हैं **धौत, घट्टित, लांछित** और **रंजित**। तदनुसार परमात्मा की चार अवस्थाएँ हैं : चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्।

पटचित्र और ब्रह्म की उक्त चार अवस्थाओं की परिभाषायें इस प्रकार बतायी गयी हैं : किसी अन्य द्रव्य के संयोग के बिना स्वभावतः शुभ्र **'धौत'**; भात के मांड से लिप्त **'घट्टित'**; स्याही की रेखाओं से देव-मनुष्य आदि की आकृतियाँ जिस पर अंकित हों वह **'लांछित'**; और यथोचित रंगों से युक्त **'रंजित'** पटचित्र कहलाता है। इसी प्रकार एकाकी ब्रह्म को 'चित्', मायायुक्त ब्रह्म को 'अन्तर्यामी', सूक्ष्मदृष्टि ब्रह्म 'सूत्रात्मा' और स्थूल दृष्टि ब्रह्म 'विराट्' कहा जाता है।

अर्थात् परमात्मा जब तक माया और उसके समस्त कार्य-व्यापारों से रहित होता है तब तक वह अवस्था 'चित्' कहलाती है। तादात्म्य संबन्ध द्वारा माया से युक्त होने पर वही परमात्मा 'अन्तर्यामी' हो जाता है। अपंचीकृत पंचभूतों के कार्यभूत समष्टि सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होने पर वही 'सूत्रात्मा' कहलाता है। और पंचीकृत पंचभूत के कार्यभूत समष्टि स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) रूप उपाधि के योग होने पर उसको 'विराट्' कहा जाता है।

परमात्मा जब चित्स्वरूप की स्थिति में रहता है तो ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त जितने भी चेतन (जंगम), अचेतन (स्थावर) प्राणी तथा पर्वत, नदी आदि जड़ पदार्थ हैं, वे ही ऊँच-नीच भाव से इस रूप में विद्यमान रहते हैं, जैसे वस्त्र पर चित्र विद्यमान रहता है।

जिस प्रकार किसी चित्र में अंकित मनुष्यों पर विभिन्न प्रकार के वस्त्र पहनाये जाने की कल्पना की जाती है; किन्तु जो वस्त्रादि शीत-आतप आदि से रक्षा करने में असमर्थ केवल वस्त्राभास मात्र लगते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में आरोपित देहधारियों के लिए पृथक्-पृथक् जीवनाम का चिदाभास कल्पित किया जाता है। अर्थात् ये जीव, देवादि के शरीरों को प्राप्तकर नाना जन्ममरणादि रूप इस संसार की रचना करते हैं; किन्तु परमात्मा तो उन सब से परे है।

इसलिए आत्मा की संसार-प्रतीति का कारण अज्ञान है। जैसे बनावटी कपड़ों (वस्त्राभास) में भरे हुए रंगों को आधाररूप वस्त्र में भरा हुआ बताया जाता है, वैसे ही अज्ञानी लोग जीवगत इस संसार को साक्षीचेतन-गत समझने लगते हैं; अर्थात् वे समझते हैं कि आत्मा संसार में भ्रमण कर रहा है। इसका यह आशय है कि जैसे चित्रों में पर्वत आदि का वस्त्राभास अंकित नहीं होता, वैसे ही सृष्टि के मिट्टी आदि जड़ पदार्थों का चिदाभास हो ही नहीं सकता; क्योंकि ऐसा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

इस संसार में आत्माभास (चिदाभास) जीव का है, आत्मवस्तु का नहीं। इस बात के ज्ञान को ही विद्या कहते हैं; और यह विद्या विवेक के द्वारा प्राप्त होती है।

प्रकरण की समाप्ति पर कहा गया है कि माया ने उस जगत्रूपी चित्र को, पत्र पर खिंचे हुए चित्र के समान, अपने आत्म चैतन्य के ऊपर खींच लिया है। इसलिए उस जगत्रूपी चित्र की उपेक्षा करके अपने आत्म चैतन्य को उसके शुद्ध रूप में समझ लेना चाहिए।

जो शुद्ध बुद्धि मुमुक्षु इस **'चित्रदीप'** प्रकरण में कही गयी बातों को हमेशा दृष्टि में रखते हैं, उन्हें भुलाते नहीं, वे इस जगत्रूप चित्र को देखते हुए भी इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होते, जैसे कि अपनी अज्ञानावस्था में पहले होते रहे हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से भारतीय साहित्य में कला के अन्तःस्वरूप का विवेचन उसकी उच्चता एवं उपयोगिता का परिचायक है। कला के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के इन उच्चादर्शों का ही यह परिणाम रहा है कि उसको एक पवित्र ध्येय के रूप में स्वीकार किया गया। भारतीय चित्रकला विषयक प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में **'रामायण'** और **'महाभारत'** का पहला स्थान है। इन दोनों ग्रन्थों में भी **'रामायण'** की सामग्री अधिक प्रामाणिक और प्रस्तुत विषय के लिए अधिक उपयोगी है।

रामायण और महाभारत में चित्रकला

'रामायण' और **'महाभारत'** ये दो महाग्रन्थ भारतीय साहित्य की उन्नत परंपरा के दो ऐसे प्रतिनिधि ग्रंथ हैं, जिनके मूल रूपों का निर्माण तो वैदिक और लौकिक युग के सन्धिकाल में हो चुका था, किन्तु ई० पूर्व ६००-५०० तक जिनमें निरन्तर ही परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन होते गये। ये दोनों ग्रन्थराट् भारतीय जन-जीवन के विश्वकोष और भारतीय साहित्य के प्राणसर्वस्व हैं।

संस्कृत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने उक्त दोनों ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्तकर एवं उनके कथा अंशों को लेकर सैकड़ों उच्चतम कृतियाँ साहित्य को दीं। **'रामायण'** और **'महाभारत,'** इतिहास, पुराण, काव्य, महाकाव्य सब कुछ हैं और उससे बढ़कर वे अनेक काव्यों, महाकाव्यों तथा नाटकों के जन्मदाता हैं। इसी लिए पश्चिम के विद्वानों ने उन्हें महाकाव्य और महाकाव्यों का जन्मदाता (एपिक विदिन एपिक) कहा है। इन दोनों ग्रन्थों को आज संसार की सर्वोच्च कृतियों में गिना जाता है। यहाँ हम उनका विश्लेषण साहित्यिक दृष्टि से नहीं, बल्कि उनकी कलात्मक देन एवं उनके कलात्मक उपादानों को ग्रहण करने की दृष्टि से करेंगे।

'रामायण' और **'महाभारत'** के समय (६००–५०० ई० पूर्व) तक चित्र, वास्तु एवं स्थापत्य, कला के इन विभिन्न अंगों का अनेक उप अंगों में पूर्ण विकास हो चुका था। **'रामायण'** के समय का समाज कला के प्रति बड़ा निष्ठावान् था। बालकाण्ड के छठे सर्ग में महामुनि ने अयोध्यावासियों का जो परिचय दिया है उसको देखकर विदित होता है कि वे लोग कलाविद् और सौंदर्यप्रेमी थे। सौंदर्य प्रसाधनों के संबंध में स्थान-स्थान पर महामुनि ने जो केशसज्जा, अंगराग, चित्र-विचित्र वस्तुओं का व्यवहार, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली का अंकन, राजप्रासादों, गृहों, रथों तथा पशुओं की सज्जा, नगरों एवं उद्यानों की कलापूर्ण रचना और उत्सवों की विशद् चर्चायें की हैं उनसे स्पष्ट ही तत्कालीन समाज की कला तथा सौन्दर्य के प्रति हार्दिक अभिरुचि प्रकट होती है।

'रामायण' में कला के अर्थ में 'शिल्प' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसके अन्तर्गत गीत, नृत्य, वाद्य, चित्रकर्म आदि सभी ललित कलाओं का अंतर्भाव किया गया है। वहाँ शिल्पकार (कलाकार) की बड़ी प्रशस्ति गायी गयी है। उस युग में कलाप्रवण समाज के

प्रभाव से और कला के प्रति उत्कट अभिरुचि के कारण राम भी अछूते न रह सके थे। कला के प्रति समाज की जो उच्च आस्था थी, राजा की दृष्टि में उसका कम महत्व नहीं था। इसका पता हमें उस प्रसंग को देखकर चलता है जहाँ महामुनि ने, राम को संगीत, वाद्य तथा चित्रकारी आदि मनोरंजन के साधनों का ज्ञाता (**वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता**) बताया है।

रामकथा का वह मार्मिक प्रसंग, जो जन-जन के हृदयपट पर अंकित है कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर राम ने अपनी सहधर्मिणी सीता की सुवर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था, (**रामायण** ७।९९।७) तत्कालीन शिल्प-विधान का श्रेष्ठ प्रसंग है। सीता की वह सजीव सुवर्ण-प्रतिमा तत्कालीन मय नामक शिल्पी की अद्भुत देन थी। इसी प्रकार रथों की साज-सज्जा में सुवर्ण-प्रतिमाओं की योजना उस युग के शिल्पियों की निपुणता का परिचायक कहा जा सकता है (२।१५।३२)। रत्नों की आभा से दीप्त; हेमपद्मों से विभूषित; वैदूर्यमणि, चाँदी तथा मूँगे के पक्षियों से अलंकृत; भाँति-भाँति के रत्नसर्पों से सज्जित; और मणिमय, सीधे, चिकने हीरा-मोती, मूंगा, चाँदी, सोना आदि के अलंकरणों से विभूषित रावण का पुष्पक विमान उस युग के शिल्पकारों के कौशल का अपूर्व उदाहरण था (५।७।११-१२; ५।९।२३; ६।१२।१४; ६।१२१।२५ आदि)।

देववाणी संस्कृत के लौकिक पक्ष में छंदोबद्ध रचना की पहली अवतारणा महामुनि की वाणी द्वारा हुई। अपनी महान् कृति का लोक-प्रचार महामुनि ने लव-कुश के द्वारा वीणा-वादन के साथ कराया था। लव और कुश, दोनों स्वर-ज्ञान से संपन्न थे (**स्वर-संपन्नौ**)। ये दोनों भाई शास्त्रीय संगीत में पारंगत थे, जिसकी शिक्षा उन्हें महामुनि ने दी थी। नृत्य, नृत (२।२०।१०), लास्य (२।६९।४) और रंग या रंगमंच (६।२४।४२-४३) आदि, कला के अन्य अंगों का भी **'रामायण'** में पर्याप्त उल्लेख हुआ है।

'रामायण' के युग में स्थापत्य कला भी परमोच्च स्थिति पर थी। दानवों के स्थपति मय और विश्वकर्मा जैसे कला के जनक उसी युग में हुए। भवन निर्माण का कार्य भी उस युग में चरमोन्नति पर था। प्रासाद, विमान, हर्म्य और सौध आदि कई प्रकार के भवन उस युग में थे। उनमें भी सप्तभौम, अष्टभौम, और सहस्रस्तंभ आदि अनेक विशिष्ट राजभवन होते थे।

'रामायण' में दीवारों, कक्षों, रथों और राजभवनों पर चित्रांकित करने के संबंध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। रावण के पुष्पक विमान का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। **'रामायण'** के उत्तरकाण्ड में बताया गया है कि उस विमान में दृष्टि और मन को सुख देने वाले और आश्चर्य चकित कर देने वाले नाना भाँति के दृश्य अंकित थे। उसके कक्ष भागों (अगल-बगल) में उसकी शोभा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनेक बेल-बूटेदार चित्र अंकित थे (५।७।९)।

सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड में चित्रकला के संबंध में विशेष चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। रावण की लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान को एक चित्रशाला और चित्रों से सुसज्जित कई क्रीड़ागृह भी देखने को मिले थे। **'रामायण'** में उल्लिखित **'चित्रशाला गृहाणि'** से प्रतीत होता है कि उस समय अनेक प्रकार की चित्रशालाएँ वर्तमान थीं। रावण की चित्रशाला अपने युग की विख्यात चित्रशालाओं में थी। ये चित्रशालाएँ व्यक्तिगत, सामाजिक और राजकीय आदि कई प्रकार की थीं। चित्र-सुशोभित कैकेयी के राज-प्रासाद (२।१०।१३) के वर्णन से उसकी कलात्मक अभिरुचि का सहज ही परिचय मिल जाता है। बाली और रावण का शव ले जाने के लिए जो पालकियाँ बनवायी गयी थीं उनमें की गयी चित्र-सज्जा का अद्भुत वर्णन **'रामायण'** (४।२५।२२-२४; ७।१५।३८; ६।१११।१०९) में देखने को मिलता है। चित्रकला के संबंध में यह भी अवगत होता है कि उस युग में हाथियों के मस्तिष्कों पर और रमणियों के कपोलों पर सुन्दर चित्र-रचना अंकित की जाती थी (३।१५।१५; ४।३०।५५)। राम के राज-प्रासाद में अनुपम भित्तिचित्र उत्कीर्णित थे (२।१५।३५)।

सीता को भ्रम में डालने के लिए रावण ने अपने विघज्जित्र नामक चित्रकार को, जो कि उसका युद्धसचिव भी था, राम का शिर और राम के धनुष की छद्म आकृति बनाने का आदेश दिया था। यह कृत्रिम शिर और धनुष सीता के सामने यह प्रमाणित करने के लिए रखा गया था कि सीता को राम की मृत्यु पर विश्वास हो जांय। यद्यपि सीता इस छद्म से बच गयी थीं; फिर भी राम के निधन को जानकर उन्होंने बड़ा विलाप किया।

'रामायण' की अपेक्षा **'महाभारत'** में शिल्प और कला पर बहुत कम कहा गया है। चित्रकला की दिशा में तो प्रायः सारा **'महाभारत'** मौन सा दिखायी देता है। उस युग में शिल्प तथा कला के क्षेत्र में जो कुछ हुआ उसको ग्रीकों की देन कहा जा सकता है। ग्रीक जब पहले-पहल भारत में आये तो उन्हें यहाँ उत्तम इमारतों का अभाव बड़ा अखरा। यहाँ के उत्तम घर लकड़ी और मिट्टी के बनाये जाते थे। दुर्योधन ने पांडवों के रहने के लिए जो लाक्षागृह बनवाने की आज्ञा दी थी, उसमें लकड़ी और मिट्टी का ही काम था। इससे यह पता चलता है कि महाभारतकाल में बड़े लोगों के रहने के लिए मिट्टी के घर होते थे।

'चित्रसूत्र' और **'शिल्परत्न'** की भाँति **'महाभारत'** में भी रूपभेदों की विभिन्नता पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ रूप के १९ प्रकार

बताये गये हैं, जिनके नाम हैं :—**ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, नानाकोण,** (जैसे त्रिकोण, षड्कोण, अष्टकोण आदि), **गोलाकृति, अण्डाकृति, श्वेत, कृष्ण, नीलारुण** (बैंगनी) तथा नाना वर्णों के **मिश्रित** रूप, **रक्त, पीतादि** एक-एक स्वतंत्र वर्ण रूप, **कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण** (सूक्ष्म, कृष, स्निग्ध, स्वल्प), **पिच्छल** (फिसलाहट पैदा करने वाले), **मृदु** (जैसे शिरीष पुष्प), **दारुण** (जैसे लोहे का भीम)। छोटे, बड़े, मोटे, पतले, कटे-छँटे, गोल, काले, सफ़ेद, एकरंगे, पंचरंगे आदि हैं। (महाभारत, शांति० मोक्षधर्म, अध्याय १८४, श्लोक ३३-३४)।

'महाभारत' (३।२९३।१३) में सत्यवान् के सम्बन्ध में कहा गया है कि बचपन में उसको घोड़े का बड़ा शौक था। अपने इसी शौक के कारण अपने माता-पिता के साथ बन में रहते समय वह मिट्टी के घोड़े बनाता और भीत पर घोड़े के चित्र अंकित करता था। इसी लिए बचपन में उसका नाम चित्राश्व पड़ा।

पाण्डवों के लिए मयासुर ने जिस सभा का निर्माण किया था उसका वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह कल्पनामात्र थी; किन्तु वह बात सही थी। मय असुर था। इसलिए महाभारत के काल के लोगों की यही धारणा थी कि इस भाँति की उत्तम इमारतों के बनाने का कार्य असुर अथवा पारसी और पश्चिम के यवनों द्वारा ही संभव हो सकता है। मयासुर द्वारा निर्मित युधिष्ठिर की सभा के संबंध में यह भी तर्क किया जाता है कि सौति की वह कल्पनामात्र है; किन्तु यह बात अब सत्य प्रमाणित हो चुकी है।

कुछ दिन पूर्व पाटलिपुत्र में खुदाई करके प्राचीन इमारतों को खोज निकालने का जो प्रयत्न किया गया उसके फलस्वरूप वहाँ से चन्द्रगुप्त की अनेक स्तंभों वाली सभा के अवशेषों का पता लगा है। विद्वानों का अनुमान है कि दरायस नामक एक फ़ारसी बादशाह ने पर्सिपुलिस में जो स्तंभ गृह बनवाया था उसी नमूने और लंबाई-चौड़ाई का सभागृह चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में अपने लिए बनवाया था। फ़ारस के बादशाह द्वारा निर्मित उक्त सभागृह आज भी अपनी अच्छी स्थिति में वर्तमान है। दिल्ली के दीवाने-आम में भी यही कल्पना दिखायी देती है।

'महाभारत' (सभापर्व, अध्याय ३ तथा ४७) में युधिष्ठिर की सभा का बड़ा ही रोचक वर्णन देखने को मिलता है, और वहाँ से हमें यह भी पता चलता है कि स्थापत्य के अतिरिक्त उस समय चित्रकला का भी शौक था। सभागृह के संबंध में लिखा गया है कि :

"सभा में अनेक स्तंभ थे। उनमें स्थान-स्थान पर सुवर्णवृक्ष निर्मित किये गये थे। उसके चारों ओर एक बड़ा परकोटा था। द्वार पर हीरा, मोती आदि रत्नों के तोरण लगाये गये थे। सभागृह की दीवारों पर भाँति-भाँति के चित्र अंकित थे और उनमें अनेक पुतले चित्रित किये गये थे। सभा के भीतर एक ऐसा चमत्कार दिखाया गया था कि सभा के बीच में एक सरोवर बनाकर उसमें सुवर्ण के कमल लगाये गये थे। कमल लता के पत्ते इन्द्रनीलमणि के बनाये गये थे। विकसित कमलों की शोभा पद्मरागमणि की भाँति थी। सरोवर में नाना भाँति के रत्नों की सीढ़ियाँ थीं। उस जलाशय में जमीन का भास होता था। बगल में मणिमय शिलापद होने के कारण पुष्करिणी के किनारे खड़े होकर प्रत्येक देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता था कि आगे भी ऐसी मणिमय भूमि है; किन्तु आगे बढ़ते ही वह दर्शक पानी में गिर पड़ता था।

"दीवार में जहाँ दरवाजा बना दिखायी देता था वहाँ पर वस्तुतः दरवाजा नहीं रहता और जहाँ नहीं दिखायी देता था वहीं पर दरवाजा बना होता था। ऐसे ही स्थान पर दुर्योधन को भ्रम हो गया था और वह धोखे में आ गया था।

"एक जगह स्फटिक भूमि बनाकर उसमें ऐसी कला दिखायी गयी थी कि वहाँ पानी के होने का आभास होता था। दूसरी जगह स्फटिक के एक हौज में पानी भरा हुआ था। उसमें स्फटिक का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ऐसा मालूम होता था कि वहाँ पानी बिल्कुल नहीं है।

"एक स्थान में दीवार पर एक ऐसा चित्र खींचा गया था कि जिसमें एक सच्चा दरवाजा खुला हुआ दीख पड़ता था। प्रवेश करते ही मनुष्य का सिर दीवार से टकरा जाता था।"

इस संबंध में यह भी कहा जाता है कि महाराज युधिष्ठिर के उक्त सभागृह का सामान असुरों के सभागृह से लाया गया था। हिमालय के आगे विन्दु सरोवर के निकट वृषपर्वा नामक किसी असुर की सभा गिर पड़ी थी। उसमें कई प्रकार के स्तंभ, नानाविध रत्न, मन्दिर रँगने के लिए भाँति-भाँति के रंग और अनेक प्रकार के चूर्ण (चूना) थे। इस वृषपर्व-सभा का कार्य समाप्तकर बचे हुए सामान को मयासुर अपने साथ ले आया था। उसी से उसने यह दूसरी सभा बनायी।

युधिष्ठिर की सभा के संबंध में उक्त बातों में सच्चाई और संगति दिखायी देती है। यह तो स्पष्ट-सा है कि उसके बनाने वाले कारीगर फ़ारस देश के अर्थात् असुर थे।

इस सामग्री के अतिरिक्त इस बात का प्रत्यक्ष अनुमान लगाने के लिए साधन उपलब्ध नहीं है, जिनके आधार पर महाभारत-काल

के पहले की इमारतों तथा पत्थर के पुतलों के निर्माण के संबंध में और इस संबंध में कि तत्कालीन चित्रकला, शिल्पकला एवं स्थापत्यकला कितनी उन्नत दशा में थी, प्रमाणित किया जा सके।

फिर भी, इन कुछ बातों को छोड़कर हमें यही विदित होता है कि **'महाभारत'** में तत्कालीन कला के किसी भी पक्ष पर गंभीरता पूर्वक उल्लेख देखने को नहीं मिलता; और इसलिए यह स्वीकार कर लेना भी कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता कि तत्कालीन भारत में कला का जो कुछ भी अस्तित्व था उसके जनक फ़ारसवासी अर्थात् असुर थे।

अष्टाध्यायी

'रामायण' और 'महाभारत' के बाद, कालक्रम की दृष्टि से, जैन-बौद्धों के ग्रन्थों और संस्कृत के अनेक नाटकों में चित्रकला का प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार पुराण-ग्रन्थों में भी कला और शिल्प-विषयक भाँति-भाँति की चर्चायें देखने को मिलती हैं। **'रामायण'**, **'महाभारत'** के बाद रचे गये, उक्त विषय के ग्रन्थों के अतिरिक्त, जिन ग्रन्थों में चित्रकला का उल्लेख मिलता है उनमें पाणिनि (५०० ई० पूर्व) की 'अष्टाध्यायी' का नाम आता है। **'अष्टाध्यायी'** में शिल्प को **चारु** (ललित) और **कारु** (उद्योग), इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। **'अष्टाध्यायी'** में पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि के सांकेतिक लक्षणों की भी चर्चा की गयी है और उन्हें किस विधि से अंकित किया जाता था, इसका भी उल्लेख मिलता है।

अर्थशास्त्र

आचार्य कौटिल्य (३०० ई० पूर्व) का **'अर्थशास्त्र'** यद्यपि विश्वकोशात्मक रचना है; किन्तु उसमें चित्रकला का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उसके 'धर्मस्थीय' नामक अधिकरण में कारुक शिल्पियों की नामावली और उनके कार्यों की तालिका भर दी गयी है।

नाट्यशास्त्र

आचार्य भरत (प्रथम शताब्दी ई० पूर्व) के **'नाट्यशास्त्र'** में निश्चित ही कलाओं के सम्बन्ध में व्यापक रूप से विचार किया गया है। उसमें वर्ण-मिश्रण संबंधी तकनीकों पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि :

वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेव च
कूर्यादङ्गस्य रचनाम्।

अर्थात् वर्ण की विधि और प्रकृति याने कौन वर्ण ऐसा है, जो आकृति को गोपित रखता है, कौन उसे उचित ढंग से अभिव्यक्त करता है—इसकी विधियाँ; और कौन वर्ण आनन्ददायक है, किससे वैराग्य का बोध होता है, कौन अनुराग को सूचित करता है, आदि वर्णों की प्रकृति को समझ कर ही अंगों की रचना करनी चाहिए। **'नाट्यशास्त्र'** (२।८५) में यह भी बताया गया है कि नाट्यशाला की भीति पर नर-नारी की मूर्तियों, बेल-बूटों और अनेक मनोरम दृश्यों को अंकित किया जाना चाहिए।

मेघदूत तथा रघुवंश

महाकवि कालिदास (प्रथम शताब्दी ई० पूर्व) को संस्कृत साहित्याकाश का दिनमणि माना जाता है, जिनके उदय होते ही संस्कृत की चारों दिशाएँ प्रकाशमान हो उठीं। उनके लघु काव्य **'मेघदूत'** में विरहिणी यक्षणी द्वारा अंकित उसके प्रवासी पति यक्ष का चित्र उल्लेखनीय है। कालिदास के नाटकों में वर्णित चित्रकला का वर्णन आगे नाटकों के प्रसंग में विस्तार से किया जायगा। इसके अतिरिक्त कालिदास की कृतियों से ज्ञात होता है उस समय पुरुष-स्त्री, दोनों वर्ग चित्रकर्म करते थे। चित्रों के द्वारा अपने प्रेमी को प्रेम-संदेश भेजने की रीति भी तब प्रचलित थी। वियोग की व्यथा को कम करने के लिए नायक-नायिका एक-दूसरे का चित्र बनाकर मन बहलाया करते थे। यही नहीं, चित्रों को देखकर विवाह निश्चित होते थे और देवी-देवताओं के चित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती थी। उस समय मंगलकामना की दृष्टि से नगरवासियों के घरों और राजाओं के महलों में चित्र सज्जित रहा करते थे। कालिदास के **'रघुवंश'** महाकाव्य में (८।६८) ललित कला, शब्द का भी उल्लेख हुआ है।

'रघुवंश' के १६वें सर्ग में विध्वस्त अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है 'वहाँ के प्रासादों की भित्तियों पर

पहले नाना भाँति के पद्मवन चित्रित थे, जिनके मध्य बड़े-बड़े हाथियों को दर्शाया गया था। उन हाथियों में उनकी हथनियाँ कमल की डंठल देती हुई अंकित की गयी थीं। वे चित्र इतने सजीव थे कि उनमें चित्रित हाथियों को (आज की विध्वस्तावस्था में भी) वास्तविक हाथी समझकर वहाँ के सिंहों ने अपने नाखूनों से उनका गंडस्थल विदीर्ण कर दिया था। बड़े-बड़े महलों में जो लकड़ी के स्तंभ गड़े हुए थे उन पर मनोहर स्त्री-मूर्तियाँ अंकित थीं और उनमें रंग भरा हुआ था। वे दारु-मूर्तियाँ रंग उखड़ने से फीकी पड़ गयी थीं। अब तो साँपों की छोड़ी हुई केंचुलें ही उनके वक्षस्थल के आवरण योग्य दुकूल का कार्य कर रही थीं':

चित्रद्वीपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः।
नखांकुशाघातविभिन्नकुंभाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति।।
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।।

और तब 'जिस प्रकार इंद्र की आज्ञा से बादल, जल बरसा कर गरमी से उतप्त पृथ्वी को हरी-भरी कर देते हैं उसी प्रकार सम्राट् कुश के द्वारा नियुक्त शिल्पियों ने प्रचुर उपकरणों से उस दुर्दशाग्रस्त नगरी की कायापलट कर दी थी':

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्।।

कामसूत्र

आचार्य वात्स्यायन (२०१-३०० ई०) के **'कामसूत्र'** में वर्णित चौसठ कलाओं और आलेख्य (चित्रकला) के षड्गों पर टीकाकार यशोधर की व्याख्या का यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। **'कामसूत्र'** (१।४।१०) में यह भी निर्देश किया गया है कि प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह अपने विश्राम कक्ष में चित्र फलक के अतिरिक्त रंग तथा कूची की पेटी रखे।

बृहत्संहिता

चित्रकला के षडंगों का स्वरूप ज्योतिषग्रन्थों की ग्रह-कुंडलियों और तांत्रिक देवों की आकृतियों में रूपायित हुआ है। आचार्य बराहमिहिर (५०० ई०) की **'बृहत्संहिता'** में वर्णित वास्तु, शिल्प तथा कला से संबद्ध ५६वें अध्याय में चित्रकर्म पर भी प्रकाश डाला गया है।

पुराण

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के **'चित्रसूत्र'** में कलाओं में चित्रकला को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, **'कलानां प्रवरं चित्रम्'**। इसके अतिरिक्त **मत्स्य, गरुड़, अग्नि, पद्म, हरिवंश** और **स्कन्द** आदि पुराणों में चित्रकला संबंधी प्रचुर सामग्री व्याप्त है। इसका उल्लेख यथास्थान स्वतंत्र रूप से किया गया है।

कोश

प्राचीन कोशग्रन्थों में भी चित्रकला-संबंधी सामग्री बिखरी हुई है। केशव स्वामी के **'नानार्थार्णवसंक्षेप'** में चित्रकार की तूलिका (कूँची) को **वर्तिका** कहा गया है। इसी प्रकार **'मेदिनीकोश'** के रचयिता ने चित्रकार को **'वर्णाट्'** कहा है। **वर्णाट्** अर्थात् जो अनेक रंगों के विश्लेषण में निपुण हो।

कादम्बरी

संस्कृत भाषा के असामान्य गद्यकार, कवि और इतिहासज्ञ बाणभट्ट (७०० ई०) की महान् कृति **'कादम्बरी'** तो जैसे चित्रकला की प्रदर्शनी बन गयी है। चांडालकन्या में नीलम की कल्पना और सुन्दरी महाश्वेता को चाँदनी का घोल बताना कितनी सजीव अनुभूति है।

'कादम्बरी' में **नील, पीत, लोहित, धवल,** (**शुक्ल**) और **हरित** (**कृष्ण**) इन पांच शुद्ध वर्णों का उल्लेख हुआ है। उसमें **वर्णचित्रों** (**वर्णाढ्यता**), भावचित्रों (**भावोन्नता**) और रेखाचित्रों (**युक्तिलेखता**) आदि की बड़ी प्रशंसा की गयी है। उसमें राज प्रासादों तथा राज भवनों आदि में सुरक्षित चित्रशालाओं और चित्रकला के संबंध की अनेक अनूठी बातों की सूचनाएँ देखने को मिलती हैं। **'कादम्बरी'** का वैशम्पायन नामक तोता अन्य कलाओं के साथ चित्रकर्म में भी प्रवीण था।

हर्षचरित

वाणभट्ट के ऐतिहासिक गद्यकाव्य **'हर्षचरित'** के अध्ययन से यह विदित होता है कि उस समय राजा को भेंटस्वरूप जो वस्तुएँ प्रदान की जाती थीं उनमें चित्रण सम्बन्धी सामग्री अथवा चित्र भी रखे होते थे। **'हर्षचरित'** (५।२१४) के एक प्रसंग से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ लोग **पाटिक** या परलोक के काल्पनिक चित्र दिखाकर पैसा कमाते थे।

दशकुमारचरित

आचार्य दंडी (७०० ई०) को वाण की परम्परा का उतना ही प्रौढ़ गद्य लेखक और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एकमेव विद्वान् माना गया है। वह दक्षिणात्य था। उसके समकालीन दक्षिण भारत के रजवाड़ों में संभवतया यह नियम था कि अन्य विषयों की शिक्षा के साथ राजकुमारों के लिए चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करना भी आवश्यक है। **'दशकुमारचरित'** में ऐसा उल्लेख देखने को मिलता है कि कुमार उपहार वर्मा ने अपना चित्र स्वयं बनाया था।

कुट्टनीमत

काश्मीर के साहित्यप्रेमी राजा जयापीड (७७९–८१० ई०) के आश्रित कवि दामोदरगुप्त ने एक **'कुट्टनीमत'** नामक ग्रन्थ लिखा, जिसको कि वेश्याओं का शिक्षा-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा गया है विदुषी कहे जाने की अभिलाषा से वार-वनिताएँ भले ही चित्रकर्म में प्रवृत हो सकती हैं किन्तु यदि वे मनोरंजन के लिए ऐसा करें तो उनके लिए यह वर्जित है। दामोदरगुप्त का यह भाव, चित्रकला के प्रति तत्कालीन लोक-विश्वासों की पवित्रता का द्योतक है।

तिलकमंजरी

धनपाल (१०वीं श०) की गद्यकृति **'तिलकमंजरी'** में चित्रकला-संबंधी तीन पारिभाषिक शब्द मिलते हैं : (१) **निपुण चित्रकार,** अर्थात् चित्रकर्म में अत्यंत निष्णात, मास्टरपेंटर। **'मालविकाग्निमित्र'** में यही शब्द **'चित्राचार्य'** के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (२) **चित्रपट**, अर्थात् किसी संपूर्ण कथा को चित्रों में अंकित करना, जिसको कि **'उत्तर-रामचरित'** में **'वीथिका'** कहा गया है। आगे **'तिलकमंजरी'** में (३) तीसरा शब्द प्रयुक्त हुआ है **'प्रतिबिम्ब'**। फारसी में जिसे शबीह कहते हैं वही **प्रतिबिम्ब** या **विद्धचित्र** है। **प्रतिबिम्ब** चित्रों का अपर नाम **प्रकृति चित्र, सादृश्य चित्र** या **प्रतिच्छंदक चित्र** भी गया गहा है। **'तिलकमंजरी'** में **'चित्रकर'** और **'चित्रविद्योपाध्याय'** शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। **'तिलकमंजरी'** में गंधर्वक नामक एक युवक चित्रकार द्वारा निर्मित लम्बे चित्रपट का वर्णन मिलता है, जिसमें चित्रित किसी राजकुमारी के चित्र की आकृति के उल्लेख का सुन्दर ढंग, रंगों का यथोचित प्रयोग, शरीर के ऊँचे-नीचे भागों की आकर्षक बनावट और सचेतन-से दिखायी देने वाले पक्षी तथा मृग, सभी कुछ सुन्दर बन पड़े हैं।

कथासरित्सागर

गुणाढय की **'बृहत्कथा'** के संप्रति तीन प्रामाणिक संस्करण मिलते हैं। एक तो नेपाल के बुद्धस्वामी का **'श्लोकसंग्रह'** है, जिसकी रचना आठवीं-नवीं शताब्दी में बतायी जाती है; दूसरा संक्षिप्त रूप क्षेमेंद्र की **'बृहत्कथामंजरी'** है; और तीसरा सोमदेव का **'कथासरित्सागर'**। क्षेमेन्द्र और सोमदेव दोनों कांश्मीर के निवासी थे और उनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी ई० था। सोमदेव का संस्करण ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उसकी अनेक कथाओं में चित्रकला की चर्चाएं देखने को मिलती हैं। इन कथाओं का इसलिए भी अधिक महत्त्व है कि ये लोकजीवन से संबद्ध हैं। उसकी एक कथा से यह सूचना मिलती है कि उदयन का कुमार नरवाहनदत्त चित्रकला,

मूर्तिकला और संगीतकला में निपुण था। उसकी दूसरी कथा से पता चलता है कि पद्मावती ने वासवदत्ता के घर की भीत पर विरहिणी सीता की चित्रित मूर्ति को देखकर आश्वासन प्राप्त किया था। इसी प्रकार मणिपुर की राजकुमारी रूपलता के प्रति अपना प्रेम प्रकट करने के हेतु चित्रकार कुमारदत्त के द्वारा राजा पृथ्वीरूप ने अपना एक चित्र भेजा था। एक अन्य कथा से यह जानने को मिलता है कि परिव्राजिका कात्यायनी चित्रविद्या में बड़ी निपुण थी। उसने राजकुमार सुन्दरसेन के आग्रह पर राजकुमारी मन्दारवती का एक सजीव चित्र अंकित किया था और इसी प्रकार राजकुमार के मित्रों के आग्रह पर उसने राजकुमार का भी सुन्दर चित्र बनाया था।

'कथासरित्सागर' में वर्णित राजा विक्रमादित्य के दरबारी चित्रकार के संबंध में कहा गया है कि उसको सामंतों के समान स्थान प्राप्त था और जीविकोपार्जन के लिए उसको सौ गाँवों की जागीर मिली हुई थी (**बभूव ग्रामशतभुक्**)। एक कथा से यह भी ज्ञात होता है कि राजा नरवाहनदत्त चित्रकला की प्रतियोगिता आयोजित करके बहुधा बड़े-बड़े प्रतिस्पर्धी चित्रकारों को पराजित करता था। प्रतिष्ठान नगरी के राजा पृथ्वीरूप के दरबार में कुमारदत्त नामक चित्रकार का और विदर्भ देश के राजा के दरबार में रोलदेव नामक चित्रकार का भी **'कथासरित्सागर'** में उल्लेख है।

काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट (११ वीं शताब्दी) के **'काव्यप्रकाश'** में भी हमें चित्रकर्म की धुँधली छाया दिखायी देती है। उसके प्रथम उल्लास में कहा गया है कि क्या **शब्दचित्र**, क्या **वाक्यचित्र**, सभी में व्यंग या इंगित का होना आवश्यक है, अन्यथा उसका कोई महत्व नहीं।

नैषधचरित

१२ वीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस प्रकार की कुछ नयी विधियों के चित्रों का परिचय हमें श्रीहर्ष (१२वीं श०) के महाकाव्य **'नैषधचरित'** में मिलता है। उसमें (१८।१२-२६) लिखा है—राजा नल के प्रमोद भवन की भीतों तथा दीवालों पर जो चित्र बने थे वे जीते-जागते जान पड़ते थे और उनमें रंगों का अनोखा प्रयोग था। इस प्रकार के चित्रों को **कल्पवल्ली** कहा गया है। भरहुत की कला में **कल्पवल्लियों** का प्राचीन रूप पाया जाता है। ये **कल्पवल्लियाँ** दीवालों और छतों पर अंकित की जाती थीं, जिन पर नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, पुष्प, फल, मुक्ता और रत्न आदि चित्रित हुआ करते थे। इसी प्रकार की **कल्पवल्लियाँ** बाघ की गुफाओं में भी अंकित हैं। मध्यकालीन राज दरबारों में भी इन **कल्पवल्लियों** के चित्रण का रिवाज प्रचलित हो गया था, क्योंकि उस समय घरों के अन्दर कल्पवल्लियों को चित्रित किया जाना मांगल्य का सूचक समझा जाता है। मध्यकाल में रचे गये संस्कृत के अनेक काव्य-नाटकों में इसके शब्दचित्र देखने को मिलते हैं।

'नैषधचरित' में जिन चित्रों की चर्चा की गयी है उनके अनेक विषय थे। कुछ चित्रों में दारुवन में शंकर को ऋषिकन्याओं के साथ चित्रित किया गया था; कुछ चित्र ऐसे थे, जिनमें कृष्ण को व्रजभूमि में गोपिकाओं के साथ लीला करते हुए दिखाया गया है; और कुछ चित्रों में अप्सराओं पर कामासक्त ऋषि-मुनियों को दर्शाया गया है।

इनके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक ग्रन्थों में चित्रकला का उल्लेख मिलता है। ये चित्र प्रधानतया पूजा पाठ विषयक धार्मिक कृत्यों से संबद्ध थे; किन्तु कुछ ऐसे चित्रों के संबंध में भी उल्लेख मिलता है, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व होता था और जो दैनिक क्रियाकलापों यथा प्रेम-प्रधान, पति-पत्नी-विषयक, विवाह-संबन्धों के प्रतीक या गृहालंकरण आदि से संबंधित होते थे।

संस्कृत के उक्त प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थों में नाटकों का समावेश नहीं किया गया है। संस्कृत के नाटकों में जो चित्रकला संबंधी सामग्री सुरक्षित है उसका विवरण स्वतंत्र रूप से, इस प्रसंग के अन्त में प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों की शिल्प और कलाविषयक सामग्री

शिल्प और कला-विषयक अधिकतर सामग्री पुराणों में उपलब्ध है। **'रामायण'** के बाद पुराण-ग्रन्थों में ही हमें कला के स्वतंत्र विकास की संभावनाएँ देखने को मिलती हैं। पुराणों में सुरक्षित इस सामग्री को प्रकाश में लाने के लिए स्वतंत्र शोध की आवश्यकता है। यहाँ हम केवल **'हरिवंशपुराण'**, **'अग्निपुराण'**, **'मत्स्यपुराण'**, **'स्कंधपुराण'**, **'गरुड़पुराण'**, और **'पद्मपुराण'** के संदर्भों पर दृष्टिपात करेंगे।

इससे पूर्व स्वतंत्र रूप से '**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' के चित्र-विधानों पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। इन पुराण-ग्रन्थों की ऐतिहासिकता से परिचित हो जाना भी आवश्यक जान पड़ता है।

अग्नि, मत्स्य, स्कन्द और **गरुड़**, इन चारों को महापुराणों की कोटि में रखा गया है। पुराण-ग्रन्थों की ऐतिहासिकता पर विचार करने वाले विद्वानों में पार्जिटर साहब, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, श्री सुशीलकुमार डे और डा० हजारा के नाम प्रमुख हैं। वैसे लोकमान्य तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित और नारायणभवन राय पावगी आदि विद्वान् भी इस विषय पर विचार कर चुके हैं। इन सभी विद्वानों के मतों के विवेचन का न तो यहाँ प्रसंग है और न ही उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता ही। सामान्यतया जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनके अनुसार '**अग्निपुराण**' की रचना २००-४०० ई० के बीच, '**हरिवंशपुराण**' की रचना ४०० ई०, '**मत्स्यपुराण**' की रचना ५०० ई०, '**स्कन्धपुराण**' की रचना ८०० ई०, '**गरुड़पुराण**' की रचना १००० ई०, और '**पद्मपुराण**' की रचना १२००-१५०० ई० के लगभग हुई।

'**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' की गणना न तो महापुराणों में है और न उप-पुराणों में ही। उसको '**विष्णुपुराण**', का ही एक अंग माना जाता है, जैसे कि '**हरिवंश**' को '**महाभारत**' का एक हिस्सा माना जाता है। अतः उसको भी महापुराणों में माना जाना चाहिए। किन्तु '**विष्णुपुराण**' की रचना जहाँ ४०० ई० में मानी गयी है, वहाँ '**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**' को बूलर ने ७०० ई० में रखा है, जो कि काश्मीर में रचा गया। दोनों पुराणों के अन्तः साक्ष्य और दूसरे पुराणों में की गयी चर्चाओं के अनुसार यही प्रतीत होता है कि उक्त दोनों पुराणों की रचना का एक समय नहीं था और उनमें '**विष्णुपुराण**' अधिक प्राचीन है।

हरिवंशपुराण

'**हरिवंशपुराण**' (२।११८।६२ ७०) के एक प्रसंग में बताया गया है कि वाणासुर की पुत्री उषा को उदास देखकर उसकी सखी चित्रलेखा ने संसार भर के तत्कालीन प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र उरेहकर उसके सामने प्रस्तुत किये थे, जिनको देखकर उसने अपना मनोभिलषित प्रियतम पहचान लिया था।

अग्निपुराण

महापुराणों में '**अग्निपुराण**' एक प्रौढ़ रचना है, जिसका सांस्कृतिक, साहित्यिक, शिल्प और कला आदि अनेक विषयों की दृष्टि से बड़ा महत्त्व माना गया है। अन्य पुराणों की अपेक्षा इस पुराण का शिल्प-कला-विवेचन अधिक वैज्ञानिक और खोजपूर्ण है। इसके ४२ ४६; ४९-५५; ६०, ६२, १०४ और १०६, इन सोलह अध्यायों में शिल्प के अनुभागों की विस्तार से विवेचना की गयी है। इस ग्रन्थ के लगभग १३ अध्यायों में केवल मूर्तिकला पर प्रकाश डाला गया है।

मत्स्यपुराण

'**मत्स्यपुराण**' के लगभग आठ अध्यायों में शिल्प और कला की चर्चा की गयी है। इसके २५२ वें अध्याय में शिल्पशास्त्र के प्रवर्तक अठारह आचार्यों की तालिका दी हुई है, जिसका परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। २५५ वें अध्याय में स्तंभ रचना को भवन निर्माण का आधार बताया गया है। स्तंभों की पाँच श्रेणियाँ बतायी गयी हैं : **रूचक, बज्र, द्विवज्र, प्रलोनक** और **वृत्त**। यह श्रेणी-विभाग सौन्दर्य की दृष्टि से किया गया है। २५८, २६२ और २६३ इन तीन अध्यायों में प्रस्तर तथा मूर्ति निर्माण कला का विवेचन है। इसके आगे के २६९ और २७० अध्यायों में भी भवन निर्माण संबंधी बातों पर विचार किया गया है। इसी पुराण के १२९ और १३०वें अध्यायों में असुरशिल्पी मय द्वारा निर्मित त्रिपुर भवन का विस्तार से वर्णन है और उसको अनेक चित्रशालाओं से संयुक्त बताया गया है।

स्कन्धपुराण

'**स्कन्धपुराण**' के **माहेश्वर** और **वैष्णव** नामक खंडों में शिल्प और कला के संबंध में बड़ी ही उपयोगी बातें बतायी गयी हैं। इस ग्रन्थ के उक्त दोनों खंडों में नगर-निर्माण, स्वर्णशाला-निर्माण, रथ-निर्माण, स्थपति-निर्देश और विवाह-मंडप इत्यादि विषयों के अतिरिक्त चित्रकर्म पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में एक नयी बात यह देखने को मिलती है कि वहाँ वास्तु को शिल्प का

पर्यायवाची माना गया है और मूर्ति-निर्माण कला का उससे घनिष्ठ संबंध बताया गया है। शिल्प के साथ चित्रकला का संबंध स्थापित करने वाले प्राचीन ग्रन्थों में **'स्कन्धपुराण'** की भी गणना है। इस पुराण के **नागर** खण्ड से ज्ञात होता है कि राजकुमारी रत्नावली जब विवाह योग्य हो गयी थी तो उसके पिता अनर्तराज ने सुयोग्य वर की तलाश के लिए दूर-दूर देशों में अपने चित्रकारों को भेजा था। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि वे प्रत्येक सुयोग्य राजकुमार का चित्र खींचकर उसके राज्य में उपस्थित करें। इस प्रकार उन चित्रकारों के द्वारा लाये गये चित्रों को देखकर राजकुमारी ने अपने लिए वर का चुनाव किया था।

गरुड़पुराण

इस ग्रन्थ के ४५, ४६, ४७ और ४८ अध्यायों में भवन-निर्माण, दुर्ग-निवेश, पुर-प्रवेश, उद्यान-भवन और प्रतिमा विज्ञान पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। प्रतिमा विज्ञान के प्रमाणों का इतना अच्छा विवेचन इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम देखने को मिलता है।

पद्मपुराण

'पद्मपुराण' (२२१।१-११) के **उत्तर** खण्ड में कहा गया है कि केरल राज्य के मंत्री की पुत्री के पास एक चित्र-पुस्तिका थी। वह पुस्तिका उसने राजकुमारी हेम गौरांगी को दिखायी थी। उस पुस्तिका के चित्रों को देखकर राजकुमारी ने निश्चय किया था कि उसमें निर्दिष्ट तीर्थों का वह अवश्य ही भ्रमण करेगी। इसी पुराण के **सृष्टि** खण्ड (४३।४४९) में कहा गया है कि भगवान् शंकर के क्रीड़ा-गृह की भीत पर पालतू मयूरों और राजहंसों के भव्यचित्र उरेहे हुए थे।

जैन बौद्ध कृतियों में चित्रकला

जैन बौद्धों के प्राकृत तथा पालि भाषाओं में रचित ग्रन्थों का अध्ययन करके चित्रकला के प्रति तत्कालीन समाज की निष्ठा का बहुत कुछ अंशों में पता लगता है। इन प्रसंगों को देखकर यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि उस युग में पढ़े-लिखे विद्वान् एवं साहित्यकार और जन-सामान्य का चित्रकला के प्रति अत्यन्त अनुराग था।

जैनों और बौद्धों की कला शैलियों के उद्भव और विकास का क्रमबद्ध परिचय आगे प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों धर्मों के विभिन्न ग्रन्थों में भारतीय चित्रकला के संबंध में जो चर्चाएँ की गयी हैं यहाँ उन्हीं पर विचार किया गया है।

चित्रकला के क्षेत्र में श्वेताम्बरीय जैनों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। उनके **'प्रश्नव्याकरणसूत्र'** (२।५।१६) में चित्रों की अनेक श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। इस व्याकरण-ग्रन्थ में **सचित्त** (मानव, पशु, पक्षी), **अचित्त** (नदी, नद, पहाड़, आकाश) और **मिश्र,** (संयुक्त), चित्रों की इन तीन प्रमुख श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। जो चित्र लकड़ी, कपड़े और पत्थर पर अनेक रंगों के योग से उरेहे जाते थे उन चित्रों का सामूहिक नाम **'लेपकम्प'** कहा गया है। उस समय मिट्टी-पत्थर तथा हाथीदाँत पर भी चित्र उरेहे जाते थे। चावलों के चूर्ण से भी चित्र बनाये जाते थे। जैन-ग्रन्थों में हमें अल्पना चित्रों की परम्परा का भी पता चलता है, जो कि लोककला के उन्नत स्वरूप का परिचय देते हैं।

'कामसूत्र' आदि ग्रन्थों की भाँति जिनभद्र मुनि कृत **'कल्पसूत्र की टीका'** (५।२११) में ६४ स्त्री कलाओं की तालिका दी गयी है, जिसमें चित्रकारी का भी एक स्थान है।

तत्कालीन राजवर्ग के व्यक्तियों का भी चित्रकला के प्रति अनुराग था। एक कथा कृति **'नाया धम्म कहाओ'** (१।१।१७) से विदित होता है कि महाराज श्रेणिक के महल की दीवारों पर बड़े अच्छे चित्र उरेहे हुए थे। ठीक उसी प्रकार के चित्र मेघ कुमार के महल में भी सज्जित थे (१।१।१८)। इसी कथा-कृति में कहा गया है कि विदेह राज्य के शासक मल्लदिन्न ने एक ऐसी **चित्रसभा** (चित्रकारों की सभा) का आयोजन किया था, जिसने कोकशास्त्र में वर्णित ८४ आसनों पर उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण किया था (१।८।८७)। उस **चित्रसभा** के एक चित्रकार के बारे में कहा गया है कि वह अपनी कला में इतना सिद्धहस्त था कि किसी भी जीव का एक ही अंग देखकर उस जीव की पूरी मूर्ति बना लेता था। एक दिन की बात है कि उसने परदे के किसी छिद्र से कुमार मल्लदिन्न की बड़ी बहिन मल्ली कुंवरी का एक अंगूठा देख लिया और अपनी कलासिद्धि से उसने राजकुमारी की पूरी मूर्ति बनाकर खड़ी कर दी। इस पर रुष्ट

होकर राजा ने उसको देश-निकाला दे दिया। वह चित्रकार दुखी होकर कुरु राज्य में चला गया। वहाँ के तत्कालीन शासक अदिन्न शत्रु ने जब वह मूर्ति देखी तो वह बड़ा ही प्रभावित हुआ। फलस्वरूप चित्रकार को सहर्ष आश्रय देने के अतिरिक्त उसने उस राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए विदेह राज्य पर हमला बोल दिया (१।८।९०)।

राजवर्गीय व्यक्तियों के अतिरिक्त जन सामान्य में भी हम चित्रकला को एक मनोरंजन के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठा पाये देखते हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय के ग्रन्थ **'अन्तगडदसाओ'** (६।३) में लिखा है कि नागरिकों ने अपने मनोविनोद के लिए कुछ ऐसी संस्थाओं की स्थापना की थी, जहाँ वे संध्याकाल में अवकाश के समय एकत्र होकर अपना मनोविनोद किया करते थे। पूर्वोक्त कृति **'नाया धम्म' कहाओ'** (१।१६।७७-८०) से यह भी विदित होता है कि चम्पा नामक नगरी में ऐसी ही **ललित गोष्ठी (ललियाएणामं गोठ्ठी)** नाम की एक प्रमोद सभा वर्तमान थी।

११वीं १२वीं शताब्दी में रचित जैन-साहित्य की कथा-कृतियों में चित्रकला के संबंध में बड़ी ही उपयोगी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। मागधी प्राकृत की कथाकृति **'सुर सुन्दरी कहा'** (रचना काल १०३८ ई०) की एक श्लेषोक्ति के द्वारा किसी नायक की एकान्त प्रेमासक्ति को भ्रमर और कुमुदिनी का चित्र बनाकर व्यक्त किया गया है। प्राकृत भाषा की दूसरी कथाकृति **'तरंगवती'** (संभवतः आँध्रभृत्य राजाओं के आश्रय में निर्मित) में नायिका तरंगवती द्वारा एक चित्र-प्रदर्शनी का आयोजन इस उद्देश्य से किये जाने का उल्लेख है कि कदाचित् उस लोभ से उसका रूठा हुआ प्रेमी वहाँ आ जाय।

बौद्धों के पिटकों, जातकों तथा गाथा-विषयक अनेक ग्रन्थों में तत्कालीन समाज में प्रचलित जिन मनोरंजन के साधनों का उल्लेख हुआ है, चित्रकला का भी उसमें एक स्थान है। **'विनयपिटक'** (५।६।३६) के एक प्रसंग में बताया गया है कि कोशलराज प्रसेनजित के प्रमोद-उद्यान के एक भाग में मनोरम **चित्रागार** (चित्र-संग्रहालय) की स्थापना की गयी थी। इस **चित्रागार** में प्रदर्शित चित्रों को देखने के लिए प्रतिदिन दर्शकों का मेला लगा रहता था। यहाँ तक कि अनेक प्रतिबंधों के बावजूद भी कुछ भिक्षुणियाँ इन चित्रों को देखने का लोभ संवरण न कर पाती थीं।

इसी से मिलती-जुलती चर्चाएँ अन्य ग्रंथों में भी की गयी हैं। जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८२-११७२ ई०) के महाकाव्य **'त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित'** से विदित होता है कि उस समय राज दरबारों में अनेक चित्रकारों की एक सभा होती थी, जो भितिचित्रों से सुसज्जित हुआ करती थी।

कुछ बौद्ध-ग्रन्थों से हमें यह ज्ञात होता है कि उस युग में चित्रकर्म को आजीविका का एक साधन भी माना जाता था। जातक (१।४१८) में चित्रकर्म **(चित्तकर्म) सलित्तक** अथवा **सक्खरा-खियन-सिप्प,** चक्का लगाने की कला का उल्लेख किया गया है। **'धम्मपद' (अट्ठकहा,** २।६९) के एक प्रसंग में बताया गया है कि वाराणसी का निवासी एक ब्राह्मण इस विद्या में बड़ा ही निपुण था। चक्का चलाकर यह बरगद की पत्तियों पर हाथी-घोड़े आदि जानवरों के चित्र बना देता था और बदले में दर्शक उसे भोजन की सामग्री देते थे।

जातक-ग्रन्थों (६।३३३; ६।४३२) से हमें यह भी जानने को मिलता है कि ओसधि नाम के किसी राजकुमार ने अपने सहयोगियों से एक कहापण चंदा एकत्र करके एक भव्य क्रीड़ाशाला का निर्माण करवाया था। उस क्रीड़ाशाला की दीवारों को चारों ओर से उसने सुन्दर-सुन्दर चित्रों द्वारा सज्जित करवाया था। उसी कथा से यह भी ज्ञात होता है कि महोसध नामक कुमार ने पातालपुरी में जो महल बनवाया था उसकी साज-सज्जा के लिए उसने पत्थर की बनी हुई सुरम्य स्त्री मूर्तियाँ, दीवालों पर इन्द्र की क्रीड़ा भूमि, समुद्र से परिवृत सिनेरू पर्वत, महा समुद्र, चारों महाद्वीप, नगाधिराज हिमालय, अनुत्तम नामक झील, चंद्र, सूर्य, चतुरमहाराजिक और स्वर्ग आदि के उत्कृष्ट चित्र बनवाये थे। इसी प्रकार **'थेरगाथा'** में कहा गया है कि बिम्बिसार ने रागुन के राजा तिस्सको बुद्ध भगवान् की जीवनी का एक **चित्रफलक** (अलबम) और स्वर्णपत्र पर अंकित भगवान् तथागत के जीवनवृत्तों के दृश्य भेंटस्वरूप प्रदान किये थे। **'मिलिन्दप्रश्न'** (२।१२१) में कहा गया है कि दान के समय चित्र नहीं दिये जाने चाहिए।

कुछ कलाप्रेमी राजाओं ने चित्रकला की शिक्षा के लिए कला-निकेतनों को भी स्थापित किया था। **'महावंश'** के एक प्रसंग से ज्ञात है कि महाराज ज्येष्ठतिष्य एक अच्छे चित्रकार थे और अपने इसी कलाप्रेम के कारण उन्होंने अपनी प्रजा में चित्रकला के प्रचारार्थ चित्रविद्या की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया था।

इन सभी बातों के बावजूद जैन और बौद्ध युग में हमें एक जैसी बात यह देखने को मिलती है कि **'विनयपिटक'** (पृ० ५५) तथा

'आचारांगसूत्र' (२।२।३।१३) में बौद्ध भिक्षुणियों, जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्रशालाओं में जाने तथा ऐसे स्थानों पर टिकने के लिए कठोर प्रतिबन्ध लगाया गया था।

नाटकों में चित्रकला

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों के निर्देशानुसार नाटकों को यद्यपि साहित्य के अन्तर्गत, काव्य का एक भाग, माना गया है; फिर भी श्रव्य काव्यों की अपेक्षा दृश्य काव्यों (नाटकों) का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। नृत्य, अभिनय, गीत आदि की दृष्टि से नाटकों की लोकप्रियता में ललितकलाओं का प्रमुख योग रहा है। इसलिए यह निश्चित है कि नाटकों के उद्‌भव से पूर्व ललित कलाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं, जिनसे नाटककारों ने प्रेरणा ग्रहण की है।

जहाँ तक नाटकों में चित्रकला के उल्लेख का संबंध है, संस्कृत भाषा में ऐसे नाटक प्रायः बहुत ही कम हैं, जिनमें प्रेमी-प्रेमिका के विछोहजन्य विरह की उत्तप्तता को चित्रांकन द्वारा उपशमित करने का उल्लेख न किया गया हो।

संस्कृत-साहित्य में नाटकों का अपना विशिष्ठ स्थान रहा है। उसकी कुछ कृतियाँ तो इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुईं कि आज वे विश्व साहित्य की निधि के रूप में प्रतिष्ठा पा रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत के नाटकों की परंपरा की उपलब्धि भास से मानी जाती है। भास का स्थितिकाल बड़ा विवादास्पद है। ई० पूर्व ५०० से लेकर २०० ई० तक की विभिन्न तिथियों में उनको रखा गया है। उनके संबंध में इतना तो निश्चित-सा है कि वे कालिदास से पहले हुए, यद्यपि कालिदास के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी कम विवाद नहीं है। सामान्यतया भास का स्थितिकाल ३००-२०० ई० पूर्व में रखा जा सकता है।

भास के नाटकों में अनेक ऐसे प्रमाण देखने को मिलते हैं जिनके अनुसार उनके समय तक समाज के प्रायः सभी वर्ग कला के क्षेत्र में, विशेषतया चित्रकला के क्षेत्र में, पर्याप्त अभिज्ञता प्राप्तकर चुके थे। उस समय के उच्चवर्गीय परिवारों एवं राजघरानों में कलाकारों को सम्मान के साथ प्रश्रय दिया जाने लगा था और अच्छी कलाकृतियों का संग्रह करना एक गौरव की बात समझी जाने लगी थी।

भास ने तेरह नाटक लिखे, जो कि उपलब्ध हैं। उनके नाटक **'स्वप्न-वासवदत्त'** और **'प्रतिज्ञायोगन्धरायण'** दोनों की नायिकाय उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता और नायक वत्सराज के अधिपति उदयन हैं। प्रेमसूत्र में बँधकर ये दोनों एक दिन जब चुपके से मंत्री योगंधरायण की सहायता से भाग निकले थे तो अंत में विवश होकर वासवदत्ता के माता-पिता ने दोनों का चित्र बनवाकर उनके विवाह को विधिवत् संपन्न किया। **'प्रतिज्ञायोगन्धरायण'** का कथानक यहीं समाप्त हो जाता है।

'स्वप्नवासवदत्त' के कथानक के अनुसार उक्त **चित्रफलक** राजा उदयन के पास भेज दिया जाता है और योगन्धरायण तथा रानी के विनोदपूर्ण इस छल का, कि वासवदत्ता आग में जलकर दिवंगत हो गयी है, जब उद्‌घाटन होता है तो रानी कहती है 'इस चित्र में अंकित एक स्त्री तो मेरे पास रहती है'। वह वासवदत्ता ही थी। इस **चित्रफलक** के प्रसंग से **'स्वप्नवासवदत्त'** का कथानक बहुत ही मनोरंजक हो जाता है।

कालिदास (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी) के नाटक **'मालविकाग्निमित्र'** की नायिका मालविका के मनमोहक चित्र को देखकर राजा अग्निमित्र सहसा ही इतना प्रभावित हुआ कि उसकी यह आसक्ति एक दिन परिणय के रूप में फलित हुई। विदिशा के राजा अग्निमित्र की विख्यात चित्रशाला थी। एक बार रानी धारिणी विशेष रूप से तैयार किये गये अपने एक चित्र को देख रही थी कि, अचानक उसकी दृष्टि पास में रखे हुए दूसरे चित्र पर जाकर टिक गयी। वह चित्र महारानी की सेविका मालविका का था। किन्तु चित्रकार ने उसे इतने स्वाभाविक और आकर्षक ढंग से निर्मित किया था कि राजमहिषी अपना चित्र भूलकर उसी चित्र को देखने में तन्मय हो गयी। इतने में ही महाराज ने आकर जब महारानी को इतनी चित्रमुग्ध दशा में पाया तो सहसा ही उस चित्र को देखने के लिए महाराज ने अपनी उत्सुकता प्रकट की; किन्तु महारानी के बहुत टालने पर भी आखीर महाराज को, राजकुमारी वसुलक्ष्मी के द्वारा, यह विदित हो ही गया कि वह चित्र मालविका का है।

मालविका के प्रति महाराज के अतिशय अनुराग का अन्दाजा पाकर महारानी ने उसके रहने की व्यवस्था राजभवन से दूर संगीतशाला में कर दी थी और नृत्यकला के आचार्य गणदास को आदेश दे दिया था कि मालविका को वह विशेष प्रकार के नृत्य में निपुण बना दें। राजकीय संगीतशाला में हरदत्त नामक एक दूसरे आचार्य भी रहते थे। एक बार इन दोनों आचार्यों में किसी विषय पर विवाद हो गया। विवाद की यह बात राजा तक पहुँची। राजा ने उपयुक्त अवसर आया देखकर दोनों आचार्यों की श्रेष्ठता का निर्णय उनके शिष्यों

के कला-प्रदर्शन पर निर्भर कर दिया। इस प्रतियोगिता में गणदास की शिष्या मालविका ने अपनी कला का ऐसा प्रदर्शन किया कि राजा को अपने विदूषक से कहना पड़ा 'मुझे ऐसा लग रहा है कि इस सुंदरी का चित्र आंकने में चित्रकार को सफलता नहीं मिली है; इसके वास्तविक सौन्दर्य को चित्रित करने में वह असमर्थ ही रहा।

चित्रगतायामस्या कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिल समाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ।।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में प्रतिष्ठानपुर के राजा विक्रमादित्य (पुरूरवा) जब इन्द्रसभा की अद्वितीय सुन्दरी अप्सरा उर्वशी के दर्शनार्थ बड़े बेचैन हो गये तो विदूषक ने उन्हें यही उपाय बताया था कि 'आप उर्वशी महोदया का चित्र बनाकर उसको देखते रहिए (अहवा तत्तभोदीए उब्बसीए पडिकिदिं आलिहिअ ओलोअन्तो चिट्ठ)।

इसके उत्तर से राजा के द्वारा जो श्लोक कहलवाया गया उसका आशय है कि कन्दर्भ के वाणों ने हृदय को इस प्रकार वेध दिया है कि स्वप्नसमागमकारिणी निन्द्रा पास आने ही नहीं पाती। रही चित्र देखने की बात! जब तक चित्र पूर्ण न हो जाय तब तक यदि मैं अपनी आँखों की अश्रुधारा रोक सकूँ तो ऐसा हो सकता है; किन्तु यह संभव न हो सकेगा।

कालिदास के तीसरे नाटक **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** में हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त ने अपने विरह-व्यथित मन की शांति के लिए शकुन्तला का एक ऐसा चित्र तैयार किया था, एक दिन उद्यान में बैठते समय विदूषक ने जब उसको देखा तो कहा 'वाह मित्र, यह तो आपने अति ही उत्तम चित्र अंकित किया है। आपने शरीर की ऊँची-नीची बनावट और मन के भीतरी भावों को इस चित्र में इतनी निपुणता से दर्शित किया है कि जिसको देखकर नजरें फिसल पड़ती हैं।'

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है :

दीर्घापांङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तः परिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्ध्वूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालिपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्।

अर्थात् चित्र में युगल नेत्र कान तक फैले हुए थे; चपल भ्रूलता कुंचित थी; अधरदेश दन्तज्योति से दीप्त थे; ओष्ठ पके कर्कन्धू के समान पाटलवर्ण के थे; विभ्रमविलास की मनोमुग्धकारी तरल छविधारा-सी वह सुशोभित थी; चित्रगत होते हुए भी वह छवि इतनी सजीव जान पड़ती थी मानो अभी, इसी क्षण, बोल पड़ेगी।

यद्यपि प्रेमी के द्वारा चित्रांकित की जाने वाली प्रेयसी का यह वर्णन संस्कृत के अनेक कवियों ने किया; और वह भी बहुधा बाद के कवियों ने; किन्तु कालिदास के उक्त वर्णन में इतनी आत्यन्तिकी अनुभूति और साधारणीकरण है कि ऐसा प्रतीत होता है कालिदास के समय चित्रकला के प्रति गहरी निष्ठा थी।

भवभूति (७०० ई०) के नाटक **'मालतीमाधव'** में उसके नायक माधव और नायिका मालती द्वारा एक-दूसरे का चित्र अंकित करने का उल्लेख मिलता है। **'उत्तररामचरित'** का आरंभ, **'चित्र दर्शन'** अंक से होता है। अपने चौदह वर्ष के बनवास की अवधि को राम ने किसी कुशल चित्रकार के द्वारा चित्रों में अंकित कराया था। उस समय भारत में ऐसे चित्रकार थे जो बिना देखे, सुनने मात्र से ही, ऐसी चित्रावली बनाने की क्षमता रखते थे। बनवास की इस चित्रावली को एक दिन जब लक्ष्मण सीता को दिखा रहे थे तो सीता इतनी प्रभावित हुई कि फिर से उनकी इच्छा तमसा नदी में स्नान करने के लिए बलवती हो उठी थी। चित्रावली के अनेक प्रसंगों को देखकर वह मूर्छित भी हुई थीं।

हर्ष (७०० ई०) के नाटक **'नागानन्द'** में पाँच तरह के वर्णों का उल्लेख है **'पंचरागिणो वर्णाः'**। **'रत्नावली'** की नायिका रत्नावली चित्रकला में बहुत पटु थी। उसने अपने प्रणयी वत्सराज उदयन का एक बहुत ही सुंदर चित्र अंकित किया था। सखि सुसंगति ने रत्नावली द्वारा निर्मित वत्सराज के चित्रफलक के एक ओर रत्नावली का चित्र भी अंकित कर दिया था। इन दोनों भावपूर्ण चित्रों को देखकर वत्सराज बहुत प्रसन्न हुए थे। इस संबंध में उन्होंने बसंतक से कहा 'हे मित्र, मेरा यह अनुमान है कि अनुराग की अधिकता के कारण किसी सुन्दरी ने अपने प्रेमी का चित्र तैयार कर अपनी सखि से यह बहाना बनाया है कि उसने तो यह कामदेव का चित्र तैयार किया है; किन्तु सखि भी कुछ कम न निकली। उसने वास्तविक बात को ताड़कर विनोद के लिए उसी चित्रफलक पर उस सुन्दरी का चित्र अंकित कर दिया और तब उसने उस चित्र को यह बहाना बनाकर दिखाया कि वह तो रति का चित्र है।'

'नागानन्द' नाटक में जीमूतवाहन ने अपनी प्रेमिका मलयवती का चित्र अंकित करने के लिए एक समय अतिशय वियोग-व्यथित हो जाने पर मलय पर्वत पर बैठ अपने मित्र विदूषक से कहा था 'हे मित्र, मेरी प्रबल इच्छा है कि मैं प्रथम मिलन के इस स्थान पर उस सुन्दरी की चित्र अंकित करूँ और उसको देखकर मन बहलाऊँ। जाकर जरा इस पर्वत की तराई से गेरू के टुकड़े तो ले आओ।' चित्र तैयार हो जाने पर विदूषक ने कहा था 'धन्य है मित्र तुम्हारी कला-कुशलता। अनायास ही तुमने इतना सुंदर चित्र तैयार कर दिया। देखकर आश्चर्य होता है।'

विशाखदत्त के (८०० ई०) **'मुद्राराक्षस'** में नंदराजा के मंत्री राक्षस के 'रात दिन जागते रहकर चित्र बनाने' तथा 'चंद्रगुप्त के मंत्री चाणक्य द्वारा यमराज का चित्र लेकर घर-घर भेजे गये गुप्तचरों का' उल्लेख हुआ है।

प्रतिहार राजा निर्भयराज के गुरु राजशेखर ९वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने लगभग छः नाटक लिखे, जिनमें से चार ही उपलब्ध हैं। उनकी नाटक कृति **'विद्धशालभंजिका'** से ऐसा जान पड़ता है कि उस समय भीत पर चित्र तथा मूर्ति आदि के आंकने के लिए चितेरनों को लगाने का रिवाज प्रचलित था।

बिल्हण कवि (११वीं शताब्दी) की **'कर्णसुन्दरी'** नाटिका में कर्णाट की राजकुमारी मियनल्लदेवी को अनहितनाद के कामदेव और त्रैलोक्यमल्ल के प्रति, उसका चित्र देखकर ही प्रेमानुराग उत्पन्न होने का उल्लेख है।

बंगदेशीय नाटककार, नैयायिक एवं साहित्यशास्त्री जयदेव (१३वीं शताब्दी) के **'प्रसन्नराघव'** नाटक के प्रथम अंक में राजर्षि जनक के वन्दीजन नूपुरक तथा मंजरिक के वार्तालाप के प्रसंग में मैत्रेयी द्वारा अंकित राम-सीता के संयुक्त चित्र का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी विषयों और सभी युगों में रचे गये ग्रन्थों में चित्रकला के प्रति संस्कृत के निर्माता मनीषियों का एक समान अनुराग देखकर स्वभावतया यह विश्वास हो जाता है कि समाज के लिए तथा साहित्य के लिए उसकी कितनी आवश्यकता रही है। जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों के प्राकृत तथा पालि भाषा के ग्रन्थों में भी चित्रकला को उसी अनुराग से अपनाया गया है। इन प्राकृत और पालि की कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि चित्रकला, समाज के प्रायः सभी वर्गों के मनोरंजन का प्रबल माध्यम रही है। प्रत्यक्ष रूप में बौद्धकला और जैनकला का भारतीय चित्रकला के इतिहास में कितना महत्व रहा है, यह अविदित नहीं है।

☆

राजवंशों द्वारा संरक्षित और पल्लवित चित्रकला

राजवंशों द्वारा संरक्षित और पल्लवित चित्रकला

भारतीय राजकुलों द्वारा संरक्षित और पल्लवित चित्रकला के इस अध्याय को हम बुद्ध के समय (५०० ई० पूर्व) से आरंभ करते हैं। यदि वेदों, '**रामायण**' और '**महाभारत**' के साक्ष्यों को हम छोड़ भी दें और केवल जैन-बौद्धों के साहित्य, पुराण, दर्शन, नाट्यसूत्र, कामसूत्र, कोश, काव्यशास्त्र, काव्य एवं नाटक आदि में निहित चित्रकला-विषयक सामग्री का ही चयन करें तो तब से लेकर आज तक प्रत्येक यशस्वी साम्राज्य तथा राज्य में चित्रकला का जो महत्व बना रहा उसका सहज ही परिचय पा सकते हैं। रहा प्रश्न यह कि जिन कृतियों के आधार पर हम कला के नाम राजकुलों का यह संवंध जोड़ रहे हैं उनको लक्ष्य करके इन पुस्तकों में ऐसा कुछ लिखा ही नहीं गया है तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि यदि समाज को राज्य का (शासन का) दर्पण कहा जा सकता है और साहित्य का कोई मूल्य है तो हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए कि तत्कालीन साहित्य में चित्रकला के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है वह सही है; और उस सब का श्रेय उस राज्य तथा उस समाज को उपलब्ध रहा, जिसके समय ऐसा साहित्य लिखा गया। यदि ऐसा न माना जायगा तो इस तर्क का अंत यहीं नहीं हो जाता।

प्राचीन भारत के राजवंशों के साथ चित्रकला का संवंध जोड़ने का कारण यह भी है कि उनमें कलाप्रेम और विद्याप्रेम जन्मतः ही होता था। दूसरा कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु प्रायः समस्त राज्यों में संरक्षित 'सरस्वती भवन' और 'चित्रशालाएँ' या 'चित्रसंग्रह' आज भी अपने संरक्षकों की कलानुरागिता और विद्याव्यसन को प्रमाणित करते हैं। महत्त्वपूर्ण दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथों, सचित्र पोथियों और चित्रों से सज्जित कक्षों एवं अलबमों को देखकर आज भी यह कहा जा सकता है कि इस विषय की बहुत-कुछ सामग्री से हम आज भी अपरिचित हैं; अपरिचित इस अर्थ में कि वह अब तक प्रकाश में आयी ही नहीं है।

भारतीय राजवंशों में कला के लिए रुचि रखना एक शौक था। इस शौक को नितान्त विलासिता समझना भी उचित नहीं है, क्योंकि विलासिता के मूल में जो एकान्त प्रमोदप्रियता होती है उसका उनमें अभाव था। वहाँ तो दरबारों में, अन्तःपुरों में, यहाँ तक कि दास-दासियों तक में चित्रकला के लिए एक जैसी निष्ठा पायी जाती है।

बुद्ध से अशोक तक (५००-२३२ ई० पूर्व)

बुद्ध के समय राज्यशासित राष्ट्रों के अतिरिक्त अनेक गणतंत्रों के इतिहास का भी पता चलता है। कपिलवस्तु के शाक्य, सुंभगिरि के भग्ग, अलकप्प के बुली, केसपुत्त के कालाम, रामगाँव के कोलिय, पावा के मल्ल, कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलिवन के मोरिय, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी ऐसे ही गणतंत्रीय जनपद थे। गौतम बुद्ध का जन्म शाक्यकुल में हुआ।

बुद्ध के समय सर्वाधिक शक्तिसंपन्न चार राज्य थे : कोशाम्बी (वत्स), अवन्ति, कोशल और मगध। उनमें भी मगध की अधिक ख्याति थी।

मगध के राजकुल का प्रतिष्ठाता बृहद्रथ था। बुद्ध के उदय के बाद इस राजकुल का छठी शताब्दी ई० पूर्व में अन्त हुआ, जब कि मगध पर हर्यंककुल का बिम्बिसार शासन कर रहा था। उसका शासनकाल ५४३ या ४४—४९६ ई० पूर्व था। हर्यंककुल के बाद मगध पर गिरिव्रज के शिशुनागवंश की स्थापना हुई और उसके बाद ४०० ई० पूर्व में महापद्म नामक एक अज्ञात सामरिक ने मगध पर नन्दकुल की प्रतिष्ठा की। तदनन्तर नन्दवंश की जगह मगध पर प्रसिद्ध मौर्यकुल का शासन हुआ, जिसका कार्यकाल ३७४—१९०ई० पूर्व तक बना रहा। मौर्यकुल के राजाओं में चन्द्रगुप्त (३२१—२९७ ई० पूर्व) और अशोक (२७२—२३२ ई० पूर्व) का नाम मुख्य है। चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को चिरस्थायी बनाने और इतिहास में चन्द्रगुप्त को क्षितिपति बनाने का कार्य किया आचार्य कौटिल्य ने; किन्तु अशोक को विश्वख्याति प्राप्त हुई स्वयं उसके कार्यों से।

आचार्य कौटिल्य ने '**अर्थशास्त्र**' की रचना करके यह तो सिद्ध किया कि उनके इस बृहद् ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त जैसा पृथिवीपति बना सकने की क्षमता है; किन्तु इस ओर से मौन धारण कर लिया कि उस समय कला की क्या स्थिति थी। उन्होंने कलाओं का उल्लेख तो अवश्य किया है; किन्तु उनका संवंध उपयोगिता से था, अर्थ से था। ललित कलाओं के बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

संस्कृत साहित्य में इतना प्राचीन ग्रन्थ दूसरा नहीं मिलता, जिसमें मौर्य चन्द्रगुप्त के समय की चित्रकला का स्वरूप-परिचय प्राप्त हो सके। उससे पूर्व पाणिनि की (५०० ई० पूर्व) 'अष्टाध्यायी' में अवश्य ही चित्रकला की चर्चायें हैं। पाणिनि ने चारु (ललित) और कारु (उपयोगी), दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख किया है। जो शिल्पविषयक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें भी प्रामाणिकता के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि किसकी रचना मौर्यकाल में हुई। उनके कुछ समय बाद रचे गये भास (३००—२०० ई० पूर्व) के नाटकों में अवश्य ऐसे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जो तत्कालीन चित्रकला की समृद्धि को बताते हैं।

मौर्य साम्राज्य का यशस्वी सम्राट् अशोक बौद्धधर्म का बहुत बड़ा आश्रयदाता था। उसका हृदय जिस दिव्य आलोक से प्रकाशित हो गया था उसके कारण ही उसने बौद्धधर्म के साथ-साथ बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृति और बौद्धकला के प्रचारार्थ अपने दूतों को विदेशों में भेजा; निश्चित रूप से एशिया के विभिन्न देशों में आज बौद्धकला की जो विपुल थाती सुरक्षित है उसका प्रथम श्रेय सम्राट् अशोक को ही प्राप्त है।

अशोक के समय चित्रकला का उतना प्रभाव नहीं रहा, जितना कि स्थापत्य और शिल्प का। अशोक द्वारा निर्मित स्तंभों में सुरक्षित सामग्री उसकी कलाभिरुचि की प्रौढ़ परिचायिका है। इसके अतिरिक्त मूर्तियों के अलंकरण (प्रसाधन) के लिए हाथी दाँत, स्वर्ण, सीप, मिट्टी, काँच और पत्थर के आभूषण निर्मित हुए। उज्जयिनी और विदिशा में बिना साँचे की, हाथ से बनायी गयी सुन्दर मूर्तियों के अतिरिक्त मिट्टी के खिलौने, गाड़ियों के पहिये, मनुष्य तथा पशु-पक्षियों की आकृति के मृतभाण्ड और हीरे तथा मिट्टी के अलंकृत बर्तन मिले हैं।

तत्कालीन कला के परिचायक इन अवशेषों को देखकर यह जानने को मिलता है कि उस समय का लोक जीवन अदृष्ट देवलोक की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानवलोक पर विश्वास करने लगा था। इसी हेतु उस युग के कलासंबंधी विवरणों में देवताओं की भीड़ का चित्रण न होकर सामान्य जन-जीवन के दैनिक क्रिया-कलापों को अंकित किये जाने का उल्लेख मिलता है।

इन वृत्तों एवं विवरणों से यह पता चलता है कि वे लोग राजनीति और धर्म में आस्था रखने लगे थे। अशोक के दरबारी कलाकारों ने सामान्य जन-समाज के सुपरिचित पशु-पक्षियों और धर्म के सुविदित दृष्टान्तों को ही अपनी कला में दर्शाया। अशोक के समय में कला के लिए यह महत्त्वपूर्ण देन उल्लेखनीय है कि उस पर राजसी प्रतिबन्ध समाप्त हुआ और वह सामान्य जनता के मनोरंजन का विषय बनी। कला के क्षेत्र में यह प्रभाव आगे की दो शताब्दियों तक बना रहा। मौर्यकालीन चित्रकला का जहाँ तक संबंध है, ऐसा ज्ञात होता है कि उस युग में भवनों तथा दीवारों के अतिरिक्त कपड़ों पर भी चित्र बनाये जाने लगे थे। पटचित्रों के निर्माण में बौद्धकला की विशेष ख्याति है। बाघ और अजन्ता के चित्रों में रेखाओं का सुलेखन और रंगों के प्रयोग की विभिन्न परिपाटियाँ इसी युग के चित्रांकन का विकास व्यक्त करती हैं। मौर्ययुग प्रासाद और नगर-निर्माण की दिशा में पर्याप्त उन्नत था। इसके अतिरिक्त जल यात्राओं द्वारा देश के विभिन्न भागों में गमनागमन का प्रचलन भी अधिकता से था। इसलिए प्रासादों और नगरों के निर्माणक तक्षकों को दक्षता प्राप्त करने के लिए चित्रकला का ज्ञान अवश्य रहा होगा। साथ ही देश के विभिन्न भागों की जानकारी के लिए भू-चित्रों की दिशा में भी प्रगति हुई होगी।

मौर्ययुगीन चित्रकला के स्वरूप को प्रकट करने वाली कोई कला-कृति आज उपलब्ध नहीं है; किन्तु साहित्य में किये गये उल्लेखों से उसके वर्तमान होने का पता चलता है। सप्ततंत्री वीणा और संगीत के अन्य उपकरणों से सज्जित उदयगिरि गुफाओं के अर्धचित्रों (भास्कर्य) में मौर्यकालीन चित्रकला की उपलब्धियों की झलक मिलती है। अनेक ग्रंथकारों की अनुभूतियाँ यह बताती है कि मौर्यकाल में विशेष रूप से भवनों और भित्तियों पर चित्रों को अंकित करने का प्रचलन था।

मौर्ययुग से पूर्व चित्रकला को स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त नहीं था। उसको स्थापत्य और कहीं-कहीं संगीत के अन्तर्गत माना जाता था; किन्तु जब नये-नये सौन्दर्य प्रसाधनों की खोज हुई और स्थपतियों एवं तक्षकों ने विशिष्टता प्राप्त करने के लिए अपनी कलाकारिता को अधिक लोकप्रिय बनाने की ओर ध्यान दिया, तब चित्रकला को अधिक अपनाया जाने लगा, क्योंकि अलंकृति के लिए वह एकमात्र साधन थी। इस कारण राजदरबारों में चित्रकारों को स्वतंत्र दर्जा दिया जाने लगा और अन्तःपुर की रानियों तथा राजकुमारियों के अनुराग ने उसको आगे बढ़ाने में योग दिया। फलतः चित्रकला को दरबारों में संगीत जैसी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

मौर्ययुग में तक्षशिला के बृहद् विद्या-निकेतन में चित्रकला को भी अध्ययन का एक अंग समझकर पढ़ाया जाने लगा और आगे-आगे उसके शिक्षण पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा। इसी बीच समाज में भी उसका प्रवेश हुआ और निरन्तर उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गयी। संगीत की ही भाँति चित्रकला के अध्ययन की दिशा में समाज रुचि लेने लगा।

अशोककालीन स्तम्भशीर्षों, स्तूपों और वेदिकासूत्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशोक ने बौद्धधर्म के प्रसार में कला का माध्यम स्वीकार कर लिया था।

साहित्य में जहाँ बुद्धकालीन चित्रकला के उल्लेख का संबंध है, इसके लिए विपुल सामग्री विद्यमान है। बौद्धों के पिटकों, जातकों और गाथा-विषयक अनेक ग्रंथों के उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला को मनोरंजन का श्रेष्ठ माध्यम माना जाता था। उस युग के अनेक राजाओं ने अपने यहाँ मनोरम **चित्रशालाओं** एवं **चित्रागारों** (चित्र-संग्रहालयों) का बड़े लगन के साथ, असंख्य धनराशि लगाकर, निर्माण कराया था। कोशलराज प्रसेनजित् का एक ऐसा ही चित्रागार था, जिसको देखने के लिए दर्शकों का मेला लगा रहता था।

चित्रकला उस समय के कलाकारों की आजीविका का भी साधन था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कलाकार प्रत्येक दृष्टि से आज के कलाकार की भाँति परतंत्र होते थे। आज के कलाकार की सबसे बड़ी परतंत्रता यह है कि उसको जितनी सुविधाओं की आवश्यकता है, वे उपलब्ध नहीं हैं। उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें मिली हुई थीं और वे स्वतंत्र रूप से कला का सृजन करने में दत्तचित्त थे। उनकी प्रतिष्ठा और सुविधा का ध्यान रखा जाता था। जिस युग में कलाकार का जितना सम्मान होता था, उस युग को उतना ही अधिक समान प्राप्त था।

अनेक अन्य ग्रंथों की भाँति जातकग्रंथों में भी यह देखने को मिलता है कि ओसधि और महोसत्र नामक राजकुमारों को चित्रविद्या में इतनी रुचि थी कि वे निरन्तर उसी के अध्ययन-अनुशीलन में लगे रहते थे। **'थेरगाथा'** में लिखा है कि राजा बिम्बिसार (५४३—४९६ ई० पूर्व) ने रागुन के राजा तिस्स को बुद्ध भगवान् की जीवनी का एक अलबम **(चित्रफलक)** भेंटस्वरूप दिया था। **'महावंश'** में लिखा है कि ज्येष्ठतिष्य नामक राजा ने अपने राज्य में चित्रविद्या की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध किया था।

संभवतः जैन तथा बौद्ध युगों में चित्रकला को केवल राजोपभोग की वस्तु समझा जाता था। इसी लिए बौद्ध भिक्षुणियों, जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों पर चित्रशालाओं में जाने के लिए प्रतिबंध लगा दिया गया था।

शुंग सातवाहन (१८७-७५ ई० पूर्व)

शुंग साम्राज्य का अधिष्ठाता और शुंगवंश का एकमात्र उदीयमान रत्न पुष्यमित्र हुआ। दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के आरंभ में मौर्य साम्राज्य की क्षीणोन्मुख शक्ति को यवनों के आक्रमण ने और भी खोखला बना दिया था। उसका सर्वथा अन्त करके उसकी जगह मगध पर शुंगवंश की ध्वजा फहरायी पुष्यमित्र ने। दक्षिण के इस विख्यात एवं विद्वान् और विद्वत्प्रेमी शुंग-सातवाहन राज्य का शासन १८७—७५ ई० पूर्व तक बना रहा। इस बीच दक्षिण में काण्व, आंध्र और खारबेल आदि सीमित शक्ति वाले राजाओं का भी शासन बना रहा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अशोक ने बौद्धधर्म के प्रसार के लिए कला का माध्यम स्वीकार किया था, यह परम्परा शुंगों के समय भी बनी रही। इसके प्रमाण शुंगयुगीन अर्धचित्र हैं। अजन्ता की शुंगयुगीन गुफाओं में तत्कालीन चित्रकला की समृद्धि का पता चलता है।

प्राकृत भाषा की **'तरंगवती'** नामक कृति, जो कि आँध्रभृत्य राजाओं के समय रची गयी थी, उसमें बृहत् चित्र-प्रदर्शनी आयोजित होने का वर्णन मिलता है।

हिन्दू यूनानी युग (२०६-१७५ ई० पूर्व)

यूनानी शासकों ने भारत के सिंध और पंजाब आदि पश्चिम के प्रदेशों पर लगभग डेढ़-सौ वर्ष राज्य किया। इन यूनानी राजाओं में दिमित्रिय, युक्रेतिद और मिनेंडर का नाम उल्लेखनीय है। मिनेंडर उनमें सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त शासक हुआ। इन तीनों का समय २०६—१७५ ई० पूर्व था।

यूनानी शासकों के बाद और कुषाणराज्य के पहले भारत के विभिन्न भागों में हिन्दू पार्थव (पह्लव), शक, पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रप आदि विभिन्न राजकुल शासन कर रहे थे।

भारत में यूनानी जाति के डेढ़-सौ वर्षों के लम्बे शासन ने भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित एवं ओत्साहित किया। यूनानी संस्कृति का पहला प्रभाव उनके कलापूर्ण सिक्कों पर लक्षित हुआ। भारतीय कला और ज्योतिष के क्षेत्र में

यूनानियों का प्रभाव महत्वपूर्ण था। वास्तुकला और तक्षणकला के जो नमूने भारत में यूनानी कला के अनुकरण पर निर्मित हुए मिलते हैं, उनमें प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के तक्षशिला में निर्मित एक देव मन्दिर के स्तंभ और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। गांधार शैली की स्थापना का संपूर्ण श्रेय यूनानी कलाकारों को ही दिया जा सकता है। पेशावर तथा लाहौर के संग्रहालयों में बौद्धधर्मविषयक यूनानी अनुकरण की कुछ कलाकृतियाँ तथा मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। चित्रकला की दिशा में इस समय विशेष यत्न नहीं हुआ।

कुषाण राजवंश (पहली शताब्दी ई० पूर्व)

कुषाण राज्य का संस्थापक कुजूल कडफिसेस था, जिसका शासन प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के मध्य तक बना रहा। उसके बाद कुषाण राज्य का स्वामी कनिष्क नियुक्त हुआ, जो कि ५८ ई० पूर्व में गद्दी पर बैठा। उसकी गणना चन्द्रगुप्त, अशोक जैसे यशस्वी शासकों में की गयी है।

कुषाण राजा कनिष्क जहाँ एक उत्कट राज्यलिप्सु और युद्धजीवी शासक था, वहाँ उसमें प्रजावात्सल्य, विद्वत्प्रेम, गुणग्राहिकता, धार्मिक औदार्य और कलाप्रेम आदि अनेक सद्‌गुण भरपूर थे। कई भव्य स्तूभ और बड़े-बड़े नगरों की रचना उसके कलाप्रेम और निर्माणकार्यों के परिचायक हैं। अपनी राजधानी पेशावर (पुरुषपुर) में उसने अगिशन नामक एक यूनानी शिल्पी द्वारा अनुपम कलापूर्ण काष्ठस्तंभ निर्मित कराया था। उसने कानिसपोर (कनिष्कपुर) में एक नया नगर भी बसाया था। अनेक बौद्धबिहारों का भी उसने निर्माण करवाया।

उसने धार्मिक सुधार भी किये, विशेष रूप से बौद्धधर्म के क्षेत्र में। हीनयान के विरोध में जिस नये सम्प्रदाय का उदय हुआ, उसका उसने भरपूर स्वागत किया, क्योंकि वह एक ऐसा संप्रदाय था, जो रूढ़ियों को त्याग चुका था। उसका परिणाम यह हुआ कि कनिष्क जैसे उदार एवं विचारवान् शासक को पाकर प्राचीन परम्परा के विपरीत अब तथागत की भव्य प्रतिमायें निर्मित होने लगीं। इस प्रकार बौद्धकला का विकास होने लगा।

कला के क्षेत्र में एक बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि हिन्दू-यूनानी युग में जिस गांधार शैली का प्रचलन हुआ था उसमें विदेशी प्रभाव की मात्रा अधिक थी। कनिष्क के समय में महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण गांधार शैली विशुद्ध भारतीय रूप में ढलने लगी थी और आगे गुप्त युग में पहुँचकर उसका पूरी तरह भारतीकरण हो गया। भारतीय कला के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक क्रान्ति की जन्मदात्री इस गांधार कला के सम्वन्ध में विस्तार से जान लेना आवश्यक है।

गान्धार शैली

गान्धार शैली का निर्माण-क्षेत्र पेशावर (पुरुषपुर), चारसद्दा (पुष्कलावती), हजारा, रावलपिंडी और तक्षशिला का भूभाग था। यही तत्कालीन गांधार प्रदेश था, जो कि पहले मौर्य साम्राज्य का अंग रहा और तदनन्तर बाख्त्री के ग्रीक (यूनानी), शक और उनके बाद उस पर कुषाणों का अधिपत्य हुआ। शक और कुषाण, इरानियों, यूनानियों, रोमनों तथा भारतीयों के ऋणी थे। गांधार पर कुषाणों का आधिपत्य ई० पूर्व प्रथम सदी से ईसा की पाँचवी सदी तक बना रहा।

गान्धार शैली में **'बुद्धविग्रह'** के अंकन का सर्वप्रथम दर्शन हुआ, जिसका प्रभाव अफगानिस्तान, मध्य एशिया, जावा, चीन और एशिया के अन्य देशों पर पड़ा। गान्धार शैली में बुद्धमूर्तियों के साथ-साथ बोधिसत्व की मूर्तियों का भी निर्माण हुआ, जिनमें अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और मैत्रेय मुख्य हैं। बुद्ध की जीवनी से सम्बद्ध **'श्यामजातक'**, **'छन्दजातक'**, **'दीपकजातक'**, **'वसन्तरजातक'**, **'सिविजातक'**, **'ऋष्यश्रृङ्गजातक'** और **'दिव्यावदान'** के आधार पर निर्मित गान्धार मूर्तियाँ वड़ी ही कलापूर्ण हैं। गौतम शाक्यमुनि के जीवन से परिनिर्वाण तक की कथाओं के अर्धचित्र गांधार-मूर्तियों की विशेषता हैं।

गान्धार शैली पर चित्रलक्षण के संविधानों का प्रभाव

किन्तु इस गान्धार शैली के जन्म का कारण चित्रकला ही रही है, इसका उल्लेख कम हुआ है।

तिब्बती अनुवाद के रूप में **'चित्रलक्षण'** नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसका विषय चित्रकला है। इस ग्रन्थ का निर्माता राजा नग्नजित् या भयजित् को बताया गया है। इस राजा का उल्लेख **'शतपथब्राह्मण'** तथा **'महाभारत'** आदि प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है और उसको गांधार का शासक बताया गया है। इस दृष्टि से गांधार को प्राचीन भारत का एक अंग और गांधारराज नग्नजित् को भारत का आदिम चित्राचार्य कहा जा सकता है।

यह बात इसलिए भी युक्तिसंगत जान पड़ती है कि गांधारशिल्प में चित्रकला के लक्षणों का जो स्वरूप पाया जाता है, वह **'चित्रलक्षण'** के विधानों पर आधारित है। आधुनिक कला-समीक्षकों ने खोतान तथा मध्य एशिया के चित्रों में जो भारतीय प्रभाव बताया है वह गान्धार शैली के ही माध्यम से हुआ, क्योंकि गान्धार शैली का प्रभाव दूर-दूर देशों तक फैला।

इसलिए गान्धार शिल्प, जिससे कि सम्पूर्ण एशिया का कला-धरातल प्रभावित है, भारतीय कला से अधिक निकटता रखता है। मौर्यों के बाद भारत में उसको व्यापक रूप से अपनाया गया।

इस युग की अन्य कला सामग्री

इस युग में, अर्थात् ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के आसपास, रची गयी जिन कृतियों में भारतीय चित्रकला की तत्कालीन परिस्थितियाँ बोलती हैं उनमें कालिदास की कृतियाँ मुख्य हैं। किन्तु कालिदास की कृतियों का अनुशीलन करने से पूर्व यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि उनका स्थितिकाल कब था। उस स्थिति में, जब कि हम उस युग के एक सम्राट् का भी उल्लेख कर रहे हैं, कालिदासकालीन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है।

अब तक कालिदास के सम्बन्ध में जो स्थायी मत है उसके अनुसार मालव गणतंत्र का शक्तिशाली मुखिया विक्रमादित्य नामधारी (उपाधिधारी नहीं), शकों के आक्रमण को विफल बनाकर जिसने 'शकारि' का विरुद धारण किया था, उसने जिस 'मालव सम्वत्' को प्रवर्तित किया था वही 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रचलित हुआ। उसका शासनकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी था और उसी का संमानित राजकवि हुआ कालिदास।

महाकवि और महान् नाटककार कालिदास के ग्रन्थों में चित्रकला की उन बारीकियों का वर्णन है, जिनको बिना देखे कहा नहीं जा सकता है। भाषा के मंच पर दृश्यों की मूर्तिमत्ता को इतने सहज ढंग से उपस्थित करने में कालिदास इसलिए सफल हुये, क्योंकि उनकी यह स्वानुभूति थी।

कालिदास ने **'मेघदूत'** में यक्ष की विरहिणी द्वारा अंकित उसके पति का जो चित्र भाषा द्वारा व्यक्त किया है वह इतना कवित्वपूर्ण एवं यथार्थ है कि पाठक के सामने उसका अंग-प्रत्यंग स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त **'रघुवंश'** में उन्होंने जिस दुर्दशाग्रस्त अयोध्या नगरी का वर्णन किया है उससे उस युग के कलाकारों और कलाप्रेमी राजाओं का अच्छा परिचय मिलता है। १६वें सर्ग में कहा गया है कि इस दुर्दशाग्रस्त स्थिति में भी वहाँ के प्रासादों पर हाथियों के ऐसे चित्र अब भी सुरक्षित थे, जिनको वास्तविक समझकर सिंहों ने विदीर्ण कर दिया था।

'मालविकाग्निमित्र' में वर्णित विदिशा के राजा अग्निमित्र की विख्यात चित्रशाला के प्रतिस्पर्धी आचार्य गणदास और आचार्य हरदत्त ने मालविका के द्वारा अपनी-अपनी कलाओं का जो कौशल दिखाया था, वह तत्कालीन कला-शिक्षा का सूचक है। समाज से लेकर राजमहलों के दास-दासी, विदूषक, राजा-रानी, सभी का तो उसमें गहरा व्यसन था। **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** में वर्णित हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था वह इतना सजीव था कि जैसे अभी बोल पड़ेगा।

इस युग में रचा गया आचार्य भरत का **'नाटयशास्त्र'** ही पहला प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है, जिसमें चौसठ कलाओं को मान्यता मिली।

कुषाणों के बाद और गुप्तों से पहले (१०० - २७५ ई०)

जैसा कि हम मौर्यों से लेकर कुषाणों तक की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में देख चुके हैं, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग १०० ई० से २७५ ई० के बीच का भारत कई भागों में विभक्त था। उसकी राज-काज-व्यवस्था चार प्रमुख भागों में विभक्त थी। दक्षिण के स्वामी सातवाहन (तुखार सातवाहन और आभीर सातवाहन); पूर्वी भारत में शुंग वंश का अधिपत्य था, पश्चिम में यूनानी शासकों का बोलबाला था और समस्त उत्तर भारत तथा कुछ हिस्से पश्चिम-पूरब के कुषाण राज्य के अधिकार में थे।

विभिन्न संस्कारों, विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न धर्मों के संयोग का यह समय भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य के लिए बहुत ही श्रेयस्कर सिद्ध हुआ, जैसी कि संभावना नहीं की जा सकती थी। स्थापत्यकला, वास्तुकला और मूर्तिकला के क्षेत्र में इस युग के निपुण कलाकारों ने जिन नयी शैलियों, नयी साज-सज्जाओं और नये प्रसाधनों का अंकन किया उनका आज विश्वव्यापी महत्त्व है।

इस युग की चित्रांकन-समृद्धि को बताने वाले अनेक ग्रन्थों में **'ललितविस्तर'** (२०० ई०), **'मानसार'**, **'कामसूत्र'** और **'अग्निपुराण'** प्रमुख हैं। **'ललितविस्तर'** महायान संप्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है, जिसमें बौद्धयुगीन कलाओं की विस्तार से चर्चा की गयी है। परम्परा के विरुद्ध, इस ग्रंथ में कलाओं की संख्या ८९ गिनायी गयी है। इनमें **चित्र**, रूप और रूपकर्म, चित्रकला के ही अवान्तर नाम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलायें उस समय लोकजीवन के साथ घुल-मिल गयी थीं।

'मानसार' (लगभग २०० ई०) उच्चकोटि का लक्षण ग्रन्थ है। उसमें वास्तुशिल्प के साथ चित्रविद्या की उत्पत्ति और चित्रकर्म की प्रविधियों पर भी प्रकाश डाला गया है। उसमें उद्धृत ३२ कलाचार्यों को नामावली के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रकार के लक्षण ग्रन्थों की रचना बहुत पहले से होने लग गयी थी।

'कामसूत्र' (२००—३०० ई०) का उक्त दो ग्रन्थों से अधिक मूल्य है। इस ग्रंथ में किया गया कलाओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण अवलोकनीय है। इस ग्रन्थ का महत्व इसी में है कि समस्त परवर्ती ग्रन्थकारों के लिए वह आदर्शरूप में स्वीकार किया गया। उसमें वर्णित **'आलेख्य'** (चित्रकला) का टीकाकार यशोधर (११ वीं श० ई०) ने पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है।

'अग्निपुराण' (२००—४०० ई०) में **'मानसार'** की परम्परा का अनुकरण है; फिर भी उसमें मूर्तिकला पर अधिक गंभीरता से विचार किया गया। चित्रकला के संबंध में वहाँ, शिल्पकला के प्रसंग में, थोड़ी-सी बातें कही गयी हैं।

गुप्तवंश (२७५-५२० ई०)

अन्य अनेक उच्च कलाकार्यों के अतिरिक्त अजन्ता के अतुल कला-वैभव को अर्जित करने में गुप्त साम्राज्य का अधिक योग रहा है। इस दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं, परिस्थितियों और प्रवृतियों का सर्वांगीण परीक्षण किया जाय। वास्तविक बात तो यह है कि भारतीय साहित्य, संस्कृति तथा कला आदि के किसी भी अंग का हमारा अध्ययन तब तक अधूरा ही कहा जायगा, जब तक हम भारतीय इतिहास के इस महान् युग से परिचय प्राप्त न कर लें।

गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने की यह है कि प्राचीन भारत के राजवंशों का परिचय प्राप्त करने के लिए इतिहासकारों को जो कठिनाइयाँ हुई हैं, गुप्त साम्राज्य के संबंध में वैसी असुविधा नहीं हुई; क्योंकि गुप्त शासकों के अनुवृत्त जानने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी। उनमें कला-साधनों की प्रमुखता है।

इस महान् साम्राज्य की स्थापना का सुयश श्रीगुप्त को है, जिसका शासनकाल इतिहासकारों ने २७५—३०० ई० के बीच रखा है। इस साम्राज्य की बागडोर श्रीगुप्त के बाद उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त और उसके अनन्तर चन्द्रगुप्त प्रथम के हाथ में गयी, जिसका शासनकाल ३२०—३१५ ई० अर्थात् १५ वर्ष तक बना रहा। इसी चन्द्रगुप्त प्रथम ने एक 'गुप्त सम्वत्' भी चलाया था, जिसका आरंभ २६ फरवरी, ३२० ई० में हुआ। चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद दिग्विजयी समुद्रगुप्त और तदनन्तर रामगुप्त के बाद, इतिहास के स्वर्णपृष्ठों पर उल्लिखित 'विक्रमादित्य' के विरुद से ख्यात चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५—४१४ ई० के बीच गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना रहा। उसके बाद गुप्त शासकों की परम्परा कुमारगुप्त विक्रमादित्य, पुरुगुप्त प्रकाशादित्य, नृसिंहगुप्त बालादित्य, कुमारगुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त के समय में लगभग ५१० ई० तक बनी रही। इसके बाद भी विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और वैण्यगुप्त द्वादशादित्य तक गुप्त साम्राज्य की परम्परा बनी रही, उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है।

गुप्त सम्राट् न केवल साहित्यमर्मज्ञ, विद्वत्सेवी, बड़े-बड़े कलाकारों के आश्रयदाता और शिक्षाविद् थे, वरन् वे अनेक कलाओं में भी निपुण थे। प्रयाग प्रशस्ति पर समुद्रगुप्त की संगीतप्रियता के सम्बन्ध में लिखा है कि गायन-वादन में उसने तुम्बुरु और नारद जैसे संगीताचार्यों को भी लज्जित कर दिया था। वह वीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं।

वास्तुकला के क्षेत्र में भी गुप्तयुग बढ़ा-चढ़ा था। झाँसी के देवगढ़ मंदिर और कानपुर के भीतरगाँव मन्दिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तयुग की चिरस्मरणीय देन है। उक्त दोनों मंदिरों की दीवारों पर बड़ी निपुणता से बैठाई गयी मृण्मयी मूर्तियों से विदित होता है कि उस युग में वास्तुकला अपनी पूर्णता पर थी। भीतर गाँव मन्दिर की हजारों उत्खचित ईंटें और पकायी गयी मिट्टी की खानें आज भी लखनऊ तथा अन्य संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं।

मूर्तिकला के निर्माण में तो गुप्त युग बहुत उन्नत था। गुप्तकाल की तक्षणकला अर्थात् भास्कर्य शैली, भारतीय कला के इतिहास को अपूर्व देन थी। यूनानी प्रभावों से विमुक्त कुषाणयुग में जिस गान्धार शैली का प्रवेश हुआ था, गुप्तकाल में वह सर्वथा भारतीय रूप-रंग में परिवर्तित हुई। गुप्तकाल में निर्मित अनेक दिव्य मूर्तियाँ न केवल उसके धार्मिक अभ्युदय की सूचना देती हैं, अपितु, वे

तत्कालीन भास्कर्य कला की व्यापकता पर भी प्रकाश डालती हैं। भगवान् बुद्ध की आकर्षक **'धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा'** तत्कालीन भारतीय कलाकार के असाधारण कौशल का जीवित उदाहरण है। हजारों की संख्या में निर्मित कलापूर्ण मृण्मयी मूर्तियाँ गुप्तकालीन कलाशिल्पियों के अपूर्व पाण्डित्य की परिचायिका हैं। सारनाथ और मथुरा के संग्रहालयों में सुरक्षित सजीव मूर्तियों को देखकर उनके निर्माताओं के कौशल का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। गुप्तयुग की इन कृतियों में सजीवता, सादगी, गति और टेकनीक की उत्तमता, सभी का एक साथ समन्वय है।

गुप्तकाल की कला के उत्कृष्ट नमूने तत्कालीन सोने के सिक्कों, मूर्तियों और देवताओं की आकृतियों में भी मिलते हैं। इस काल की कला में स्थूल शारीरिक एवं मांसल सौन्दर्य अपनी चरमावस्था को पहुँचा। इसी प्रकार गुप्तकाल में अलंकरण-सज्जा, मुद्राओं का शास्त्रीय ढंग से चित्रण, आत्मा का आह्लादपूर्ण सौंन्दर्य, शान्तिस्थ प्रकृति के हर्ष-अमर्ष आदि की अभिव्यक्ति में भारतीय कला अपनी प्रौढ़ावस्था को पहुँची।

जहाँ तक तत्कालीन चित्रकला का सम्बन्ध है, अजन्ता, एलोरा और बाघ की गुफाएँ उसका प्रमाण हैं। संपूर्ण मध्य एशिया की चित्रशैली पर गुप्तकालीन चित्रशैली का प्रभाव पड़ा।

'नीतिसार' (४०० ई०), **'हरिवंश'** (४०० ई०), **'बृहत्संहिता'** (५०० ई०) और **'विष्णुधर्मोत्तर पुराण'** (५०० - ६०० ई०) आदि अनेक ग्रंथों में गुप्तयुग की उन्नत चित्रकला का व्यापक वर्णन किया गया हैं।

'नीतिसार' के रचयिता कामन्दक का कलाविषयक दृष्टिकोण कौटिल्य से मिलता है; किन्तु उसने इस सम्बन्ध में एक नयी बात यह बतायी है कि समाज में जातियों का प्रचलन या नामकरण कलाओं के आधार पर हुआ। **'हरिवंश'** में वाणासुर की पुत्री उषा की सखी चित्रलेखा को इतनी चित्रपटु बताया गया है कि अपनी प्रिय सखी के लिए उसने संसार भर के तत्कालीन प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र बनाये थे। आचार्य वाराहमिहिर की **'बृहत्संहिता'** यद्यपि विशुद्ध ज्योतिषशास्त्र का ग्रन्थ है; फिर भी उसमें गृह-सज्जा और सुख-कल्याण के लिए भवनों पर चित्रकारी किये जाने का निर्देश किया गया है। **'विष्णुधर्मोत्तर पुराण'** का **'चित्रसूत्र'** चित्रविद्या-संबंधी समस्त लक्षण-ग्रंथों में मुख्य है। प्रत्येक चित्रकार या कलाकार के लिए, चाहे वह प्राचीन हो, या आधुनिक, इस ग्रन्थ का अनुशीलन करना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में वर्ण-विधान, वज्रलेपविधि, चित्र का प्रमाण, चित्रों की श्रेणियाँ और छन्द-लय पर विस्तारपूर्वक तथा मौलिक ढंग से प्रकाश डाला गया है।

मध्ययुगीन राजवंश (६०० - १३०० ई०)

हर्षवंश से गहडवालवंश तक

गुप्तवंश के अन्तिम राजा भानुगुप्त के बाद थानेश्वर (श्रीकण्ठ) पर हर्षवंश की प्रतिष्ठा हुई। पुष्यभूति उसका पहला शासक था। उसकी परम्परा में क्रमशः नरवर्धन, आदित्यवर्धन, राज्यवर्धन और उसके बाद हर्षवर्धन नियुक्त हुआ। अशोक के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय और तदनन्तर हर्षवर्धन को ही दिग्विजयी सम्राट् होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसका शासनकाल ६०७–६४८ ई० था। वह स्वयमेव लेखक था। उसके युग की आँखों देखी चित्रकला-समृद्धि का वर्णन उसके दरबारी लेखक गद्यकार वाणभट्ट की रचनाओं में देखने को मिलता है।

हर्ष के बाद कन्नौज पर यशोवर्मन् (७२५–७५२ ई०) का शासन हुआ। यशोवर्मन् के बाद कन्नौज की गद्दी पर आयुधवंश के बज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध नामक राजाओं का स्वामित्व रहा, जिनका शासनकाल ७७०–७९४ ई० के बीच था। तदुपरान्त ८वीं शताब्दी ई० के अन्त में कन्नौज पर प्रतीहारवंश ने राज्य किया। उसका पहला राजा नागभट्ट था। इस वंश के अन्तिम राजा यशपाल (१०३६ ई० तक) के बाद कन्नौज की राजगद्दी के लिए बड़ा संघर्ष हुआ; और अन्त में १०८० ई० के लगभग वहाँ गहडवालों का आधिपत्य स्थापित हुआ। जयचंद इसी वंश का था।

पूर्वी सीमा के राजवंश

इसी प्रकार पूर्वी सीमा के राजकुलों में नेपाल का ठाकुरीवंश, बंगाल का पालवंश तथा सेनवंश, कामरूप (असम) का राजवंश, कलिंग (उड़ीसा) के केशरी तथा गंग प्रमुख थे। इनका समय ७वीं से १२वीं शताब्दी ई० के बीच था।

पश्चिमोत्तर सीमा के राज्य

पश्चिमोत्तर सीमा के राज्यों में सिन्ध, काबुल और काश्मीर का नाम मुख्य है। सिन्ध पर छठी शताब्दी तक रायवंश के राजाओं का स्वामित्व बना रहा। उसके बाद वहाँ अरबों (६३६ ई०) का आधिपत्य हुआ। कुषाण राज्य के ध्वंश हो जाने के बाद काबुल और पंजाब में उसके जो अवशेष जीवित थे उन्हीं पर एक नये राजवंश का उदय हुआ, जिसका नाम था शाहीयवंश।

काश्मीर में ७वीं शताब्दी के लगभग करकोटक राजवंश की प्रतिष्ठा हुई। ललितादित्य मुक्तापीड और विनयादित्य जयापीड (७७९–८१०ई०) इसी वंश के यशस्वी राजा थे। जयापीड के बाद काश्मीर पर उत्पल राजवंश का अधिकार हुआ। अवन्तिवर्मन् (८५५–८८३ ई०) उसका पहला शासक था। १०वीं शताब्दी तक वहाँ इसी का शासन बना रहा।

राजपूत काल

इस काल के अन्तर्गत त्रिपुरा के कलचुरी, बुंदेलखण्ड (जेजाकभुक्ति) के चन्देल, मालवा के परमार, गुजरात (अन्हिलवाड) के चालुक्य और दक्षिण में कांची (कांजीवरम्) तथा धरणीकोटा (धान्यकटक) के पल्लव आते हैं। इनमें परमारवंश और पल्लववंश का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। सिद्धराज जयसिंह (१०६३—१०९३ ई०) जैसे विद्याप्रेमी और प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर का पुनरुद्धारक कुमारलात (मृत्यु ११७१ ई०) जैसे विख्यात राजाओं ने परमारवंश की प्रतिष्ठा को इतिहास में जमाया।

पल्लववंश के राजाओं के कार्य इससे भी बढ़कर हैं। इस वंश का आरंभ लगभग चौथी शताब्दी ई० में बप्पदेव ने किया। छठी शताब्दी तक उसका कोई उल्लेखनीय इतिहास नहीं है। ७वीं श० ई० के आरंभ में पल्लववंश की परम्परा में महेन्द्रवर्मन् का प्रवेश हुआ। उसके व्यक्तित्व में एकसाथ कई विशेषतायें थीं। उसको **'मत्तविलास'** नामक एक प्रहसन का रचयिता भी बताया जाता है। दक्षिण भारत के विश्वप्रसिद्ध विशाल कलापूर्ण मन्दिर इसी राजवंश के शासनकाल में निर्मित हुये।

जिन मध्ययुगीन राजवंशों का हमने ६००––१३०० ई० के भीतर उल्लेख किया है उनके समय भारत में चित्रकला अपनी वैभवावस्था में थी। महाराज हर्षवर्धन का अधिकतर जीवन कला और साहित्य की सेवा में बीता। वह स्वयमेव अच्छा ग्रन्थकार भी था। उसकी **'रत्नावली'** नाटिका की नायिका रत्नावली ने अपने प्रेमी वत्सराज का और उसकी सखी सुसंगतिका ने रत्नावली का भावपूर्ण चित्र तैयार किया था, जिसको देखकर वत्सराज आश्चर्यचकित रह गया था। इसी प्रकार उनके **'नागानन्द'** नाटक में जीमूतवाहन द्वारा बनाये गये मलयवती के चित्र की विदूषक ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

वाण के **'हर्षचरित'** में चित्रकला का जो उल्लेख मिलता है वह हर्षकालीन परिस्थितियों का ही रूपान्तर है। उनकी **'कादम्बरी'** में अनेक प्रकार के वर्णों, वर्णचित्रों, मानचित्रों और रेखाचित्रों का उल्लेख यह बताता है कि उस समय चित्रकार अनेक वर्णों के संयोग से चित्रों में आकर्षण भरने में बड़ी निपुणता प्राप्त कर चुका था, बल्कि तब तक चित्रों की अनेक श्रेणियाँ भी प्रकाश में आ चुकी थीं।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने हर्षवर्धन के समकालीन श्रृंगधर नामक एक राजस्थानी चित्रकार का उल्लेख किया है और उसको राजपूत शैली का प्रथम चित्रकार कहा है।

नाटककार भवभूति कन्नौज के राजा अवन्तिवर्मा के संमानित राजकवि एवं राजगुरु थे। उनके **'मालतीमाधव'** और **'उत्तर रामचरित'** नामक नाटकों में चित्रकला का उल्लेख हुआ है। उस समय भारत में ऐसे कुशल चित्रकार थे, जो सुनी हुई कथा के आधार पर चित्रावली तैयार कर देते थे। एक चित्रकार ने रामवनवास के चौदह वर्षों की घटना को चित्रों में तैयार किया था।

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य दण्डी दाक्षिणात्य राजा महेश्वर वर्मा के राज्यकाल में हुये थे। उनके समय में दक्षिण के राजपरिवारों में यह नियम था कि अन्य विषयों के साथ राजकुमारों को चित्रकला की शिक्षा भी दी जाती थी। **'दशकुमारचरित'** का उपहार वर्मा इसका उदाहरण है।

तिब्बती अनुवाद के रूप में उपलब्ध **'चित्रलक्षण'** नामक शास्त्रीय ग्रंथ इस युग की महत्वपूर्ण देन है। उसका निर्माता राजा नग्नजित् को बताया जाता है; किन्तु आज जिस रूप में वह ग्रंथ उपलब्ध है वह ६००—७०० ई० के बीच का बताया गया है। इस लक्षण ग्रन्थ में चित्रविद्या की उत्पत्ति के साथ-साथ चित्रकला के संविधानों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। **'विष्णुधर्मोत्तर पुराण'** के **'चित्रसूत्र'** पर इस ग्रन्थ के चित्र-विधान का स्पष्ट प्रभाव है।

नाटककार विशाखदत्त पल्लवनरेश दन्तिवर्मा (८वीं श०) के समय हुआ। उसके **'मुद्राराक्षस'** में **यमपटों** का निर्माण और

उनके द्वारा घूम-घूम कर गुप्त रहस्यों का पता लगाने का उल्लेख किया गया है। **'स्कन्धपुराण'** को भी इसी शताब्दी की रचना माना जाता है। उसके **'नागरखण्ड'** में लिखा है कि राजा अनर्तराज ने अपने चित्रकारों को यह आदेश देकर देश के चारों ओर भेजा था कि राजकुमारी रत्नावली के लिए वे सुन्दर तथा सुयोग्य राजकुमारों का चित्र बना करके लायें। काश्मीर के प्रसिद्ध राजा जयापीड (७७९—८१० ई०) के राजकवि दामोदरगुप्त के **'कुट्टनीमत'** में चित्रकला की श्रेष्ठता को लक्ष्य में रखकर कहा गया है कि वेश्यायें मनोरंजन के लिए चित्रांकन नहीं कर सकती हैं।

प्रतीहार राजा निर्भयराज (९वीं श०) के गुरु राजशेखर की **'विद्धशालभञ्जिका'** में घर की भीतों पर **चित्रवल्लियाँ** आँकने का उल्लेख किया गया है। इतिहासप्रसिद्ध जैन चित्रशैली के उदय का समय भी यही था।

१०वीं श० ई० की चित्रांकन प्रगति को धनपाल की **'तिलकमञ्जरी'** नामक गद्यकृति प्रस्तुत करती है। उसमें चित्रकारों की अनेक श्रेणियों और **चित्रपट** (चित्रों की फिल्म) तथा **प्रतिबिम्ब चित्रों** (विद्धचित्रों) के सम्बन्ध में रोचक चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।

'गरुड़पुराण' (१०वीं श० ई०) के कलाविषयक विवेचन में चित्रकला की अपेक्षा निर्माण कार्य पर विशद प्रकाश डाला गया है। इस शताब्दी की महत्वपूर्ण देन पाल शैली है। पाल शैली की सचित्र पोथियाँ चित्रकला के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस प्रकार की पोथियाँ बंगाल, विहार और तिब्बत में लिखी गयीं। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि धर्मपाल तथा देवपाल नामक पाल राजाओं के संरक्षण में अजन्ता के अनुकरण पर १०वीं श० ई० में जिस स्वस्थ शैली का निर्माण हुआ था उसका प्रमुख चित्रकार धीमान था और उस शैली का विकास तिब्बत तक हुआ।

११वीं श० ई० का प्रौढ़ ग्रंथ महाराजा भोज (१०१०—१०५५ ई०) का **'समरांगणसूत्राधार'** है। भोज को अनेक ग्रन्थों का रचयिता और अनेक विषयों का प्रकाण्ड विद्वान् माना जाता है। उसके इस कला-विषयक लक्षण ग्रंथ में चित्रकला के विधानों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसके **'लेप्यकर्म'** और **'रसदृष्टिलक्षण'** नामक अध्यायों में चित्रकला पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के चित्र-विधान को देखकर सहज ही परमारवंशीय राजाओं की कलाप्रियता का पता चलता है।

धनपाल (११वीं श० ई०) की **'तिलकमंजरी'** में कर्णाटक की राजकुमारी द्वारा निर्मित **अन्हिलवाड** (गुजरात) के कामदेव और त्रैलोक्यमल्ल आदि राजकुमारों के चित्रों का उल्लेख हुआ है। गद्यकार सोमदेव काश्मीर के राजा अनन्त (१०२९—१०६४ ई०) के आश्रित विद्वान् थे। वहीं उन्होंने अपनी विख्यात कृति **'बृहत्कथामञ्जरी'** का निर्माण किया। इस ग्रन्थ की अनेक कथाओं में चित्रकला की अनेक तरह से चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। इन चर्चाओं को देखकर यह ज्ञात होता है कि राज-परिवारों से लेकर सामान्य जनजीवन तक चित्रकला का इतना प्रचलन था कि चित्र बनाकर विवाह तय किये जाते थे। चित्रों को देखकर विरह की उतप्तता को शांत किया जाता है। साधारण लोगों की बात ही क्या, उसमें परिव्राजिका कात्यायनी द्वारा अंकित मन्दारवती के चित्र का उल्लेख भी किया गया है। राजा विक्रमादित्य के दरवारी चित्रकार के संबंध में कहा गया है कि उसको सामन्तों के समान स्थान प्राप्त था। राजा नरवाहनदत्त इतना चित्रपटु था कि बड़ी-बड़ी प्रतियोगिताओं का आयोजन करके वह बड़े-बड़े चित्राचार्यों को पराजित करता था। राजा पृथ्वीरूप के दरबार में कुमारदत्त और विदर्भ देश के राजा के यहाँ रोलदेव नामक दो श्रेष्ठ चित्रकारों का भी उसमें उल्लेख है।

कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य के दूसरे पुत्र सोमेश्वर भूपति ने ११३१ ई० में **'अभिलषितार्थचिन्तामणि'** नामक एक विश्वकोषात्मक ग्रंथ का निर्माण किया था, जो **'मानसोल्लास'** के नाम से विख्यात है। यद्यपि इस ग्रंथ पर **'चित्रलक्षण'** तथा **'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'** का प्रभाव है; तथापि उसकी विशेषता यह है कि कला का कोई भी ऐसा विभाग बाकी नहीं बचा है, जिसके प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख इस ग्रन्थ में न हुआ हो। उसने स्वयं को चित्रविद्या का 'विरंचि' कहा है।

१४वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी ई० तक

१४वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के बीच की राजनीतिक व्यवस्था शृंखलाबद्ध नहीं रही है। इस अवधि में भारतीय रजवाड़े छोटे-छोटे फिरकों में बँट गये थे और उनमें संपूर्ण देश की एकता एवं अखण्डता का स्वाभिमान न होकर अपनी सीमित सुरक्षा का लोभमात्र था। भारत के इस सामन्तशाही युग में कुछ रजवाड़ों को छोड़कर सर्वत्र विलासिता का साम्राज्य था। उनकी यह विलासिता एवं घोर निद्रा तब टूटी जब कि उनके बृहद् देश पर मुगलों का आधिपत्य हुआ। मुगलों के शासन में, जैसा कि प्रायः विधर्मी शासकों के द्वारा संभव नहीं था, इस देश का हित ही हुआ। औरंगजेब जैसे निकृष्ट शासक को छोड़कर सभी कुशल शासकों ने इस देश की संस्कृति, साहित्य और कला के अभ्युत्थान में अपना पूरा योग दिया। किन्तु इस देश को वे अंग्रेजों के हाथ सौंप गये।

चित्रकला के तत्कालीन विकास की दृष्टि से यदि उक्त सौ वर्षों का ब्यौरा लिया जाय तो यह जानकर संतोष होता है कि इस अवधि में यहां के कलाकारों को नयी दिशाओं में बढ़ने के लिए ऐसे उपादान प्राप्त हुये, जिनका समावेश अब तक यहाँ की कला में नहीं हुआ था।

भारतीय चित्रकला के उत्कर्ष की सूचक पाल शैली, गुजरात शैली, अपभ्रंश शैली, जैन शैली, दक्षिण शैली, राजपूत शैली, मुगल शैली, काश्मीर शैली, कांगड़ा शैली, बसौली शैली, चम्बा शैली, गढ़वाल शैली और मध्य प्रदेश की शैली का विकास इसी समय हुआ। इन नयी उपलब्धियों से भारतीय चित्रकला का सर्वांगीण निर्माण हुआ।

इस प्रकार, भारतीय चित्रकला की जो उन्नत परम्परा आगे बढ़ती रही उसको प्रोत्साहित और पल्लवित करने का बहुत बड़ा श्रेय भारत के राजवंशों को दिया जा सकता है।

प्राचीन भारत में चित्रकला

प्राचीन भारत में चित्रकला की क्या स्थिति थी, इसका परिचय हमें कलाविषयक लक्षण श्रेणी के ग्रन्थों से मिलता है, किन्तु तत्कालीन सामाजिक जीवन में उसकी क्या उपयोगिता थी, इसका विस्तृत उल्लेख काव्य-नाटकों तथा अन्य ग्रन्थों में पाया जाता है।

ऐसा ज्ञात होता है कि समस्त चित्रों को प्रमुख तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था, जिनके नाम थे; **पटचित्र, फलकचित्र** और **भित्तिचित्र**। बौद्धों के ग्रंथ **'विनयपिटक'** में **लेप्यचित्रों** की भी एक श्रेणी बतायी गयी है, जो कि भित्तिचित्रों का ही एक भेद प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त **ऋतुचित्र, सत्यचित्र, वैणिकचित्र, नागरिकचित्र, मिश्रचित्र, कारुजचित्र, प्रकृतिचित्र, चित्रपट, प्रतिबिम्बचित्र, कामदेवपट, लक्ष्मीपट, कुण्डलितपट, कल्पवल्ली, सादृश्यचित्र, प्रतिच्छन्दकचित्र, रेखाचित्र, तिण्डकचित्र, आलेख्यचित्र, रूपालेख्यचित्र, आकृतिचित्र, नारीचित्र, चित्रपुत्रिका, लेख्यपुत्रिका,** और **सच्चरितचित्र** (महापुरुषों के चित्र) आदि चित्रों की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। चार प्रकार के विशिष्ट चित्र और कहे गये हैं, जिनके नाम हैं : **विद्धचित्र** (शबीह, जो दर्पण में पड़ी परछाई के समान वास्तविक आकृति के हों), **अविद्धचित्र** (जो मनोगत भावनाओं के आधार पर कल्पना से बनाये जाते हैं), **रसचित्र** (जो विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से बनाये जाते हैं) और **धूलिचित्र** (जैसे अल्पना, चौक पूरना, साँझी आदि)। इन चित्र-श्रेणियों के अधिकतर रूपों पर **'विष्णुधर्मोत्तर पुराण'** के **'चित्रसूत्र'** में प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार चित्रकला को प्राचीन ग्रंथों में अनेक नामों से कहा गया है; यथा **चित्रकर्म, आलेख्य, चारुशिल्प, शिल्प, ललितकला, रूपलेखा, कल्पवल्ली** और **चित्रगतचमत्कार** आदि।

चित्रकला की उक्त विभिन्न श्रेणियों में **विद्धचित्रों** को अधिक मान्यता प्राप्त थी। **चित्रगतचमत्कार** वस्तुतः **विद्धचित्र** का ही अपर नाम है। प्राचीन साहित्य एवं परम्परागत अनुभूतियों में **चित्रगतचमत्कार** की अनेक अनूठी बातें जानने को मिलती हैं। कहा जाता है कि काश्मीर के राजा अनन्त वर्मा (८५३—८८३ ई०) के राजप्रासाद की भित्तियों पर जो आम के फल अंकित थे उनमें वास्तविकता का भ्रम होने के कारण कौए उन पर चंचु मार जाया करते थे। इसी प्रकार चीन में तेनू राजाओं के घरों पर जो फलवृक्ष अंकित थे उन पर सुग्गे भ्रमवश चोंच मारा करते थे। विध्वस्त अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने **'रघुवंश'** में लिखा है कि वहाँ के प्रासादों की दीवालों पर नाना प्रकार के पद्मवन अंकित थे, जिनमें बड़े-बड़े हाथियों को चित्रित किया गया था। ये चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझकर (विध्वस्तावस्था में भी) वहाँ के सिंहों ने अपने तेज़ नाखूनों से उन हाथियों के गण्डस्थल को नोच डाला था। यही बात **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** के उस प्रसंग से विदित होती है जब शकुन्तला का चित्र तैयार करने के बाद राजा को अपनी गलती का भान हुआ; और तब उसे लगा कि यह चित्र तो अधूरा ही है। दुष्यन्त का उद्देश्य वस्तुतः शकुन्तला का **विद्धचित्र** तैयार करने का था। ऐसा ही **विद्धचित्र** सागरिका ने **'रत्नावली'** नाटिका में राजा उदयन का तैयार किया था। उस चित्र को देखकर सखी सुसंगता ने उसके बगल में सागरिका का चित्र बना दिया। सागरिका के इस चित्र में प्रणय के जो अश्रु अंकित थे वे इतने मोहक एवं सजीव थे कि अन्य अंगों को छोड़कर राजा, उन्हीं जलप्लावित आँखों को निरखता रह गया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक **'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'** (पृ० ६६) में एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि "एक कवि ने राजा की स्तुति करते हुए कहा था कि हे राजन्, तुम्हारे डर के मारे जो शत्रु भाग गये हैं उनके घरों में उनके सुग्गे चित्रों को देखकर यह समझ रहे हैं कि उनके मालिक घरों में ही हैं; और राजा के चित्रों को देखकर कह रहे हैं, हे

महाराज, आपकी कन्या मुझे नहीं पढ़ाती, रानियाँ चुप हैं, क्या मामला है ? फिर कुब्जा दासियों के चित्रों को देखकर वे सुग्गे कहते हैं, कि तू मुझे क्यों नहीं खिलाती है ?"

राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः,
कुब्जे भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यसे ।
इत्थं नाथलुकास्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्चरात्,
चित्रस्थानवलोक्यशून्यवलभावेकैकमा भाषते ।

इस प्रकार के **विद्धचित्रों** को तैयार करने में बड़ा श्रम करना पड़ता था और इस पर भी इन चित्रों का प्राचीन भारत में बड़ा प्रचलन था। आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी उक्त पुस्तक (पृ०–६४) में लिखा है कि "संस्कृत-साहित्य में शायद ही दो-तीन नाटक ऐसे मिलें, जिनमें **विद्धचित्रों** के चमत्कार का वर्णन न हो।

विद्धचित्रों के अतिरिक्त, चित्रकला के अन्य रूपों की चर्चाएँ भी प्राचीन ग्रंथों में देखने को मिलती हैं; विशेष रूप से **अविद्धचित्रों** के संबंध में। ऊपर के विवरणों से यद्यपि **विद्धचित्रों** के प्रचुर प्रचलन का पता चलता है; किन्तु उसके साथ ही कालिदास ने **अविद्ध** (काल्पनिक) चित्रों की तत्कालीन लोकप्रियता की ओर भी संकेत किया है। कालिदास ने चित्र में अविराम सौन्दर्य का होना आवश्यक बताया है। उन्होंने लिखा है 'चित्र में जो-जो साधु (सुन्दर या ठीक) नहीं होता उसे दूसरे ही ढंग से (कल्पना के द्वारा) ठीक कर दिया जाता है :

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा'

ऐसा कहने का यह अभिप्राय है कि चित्र में मूल वस्तु का जो भाव साधु रूप में अंकित नहीं हो सकता उसको कल्पना के द्वारा सजाना चाहिए।

यद्यपि उस युग में चित्रों के अनेक विषय थे, जैसा कि उनकी श्रेणियों को देखकर विदित है, फिर भी वे चित्र बहुधा धार्मिक, शृंगारिक और ऐतिहासिक विषयों से संबद्ध होते थे। इस प्रकार के धार्मिक चित्र प्रायः कपड़े पर बनाये जाते थे, जो कि अपनी कलात्मक श्रेष्टता के साथ-साथ प्रचार का भी कार्य करते थे। इस प्रकार के पटचित्रों का उल्लेख **'कामसूत्र'**, **'कथासरित्सागर'** और बौद्ध-ग्रंथों में किया गया है। **'मुद्राराक्षस'** नाटक में **यमपटों** का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारत में चित्रों को मांगल्य का सूचक समझा जाता था। घरों को सुसज्जित करने और सुख, समृद्धि तथा मंगल की कामना के अभिप्राय से दीवालों पर भाँति-भाँति के चित्र अंकित किये जाते थे, जिनमें लतावंध, कमल, हंस और हाथी का विशेष उल्लेख होता था। उस युग में विवाह जैसे शुभकार्यों के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे। आज भी मंगलकार्यों के अवसर पर गणेश, नवग्रह, कलश, मातृकायें आदि की आकृतियाँ बनाकर उनको पूजा जाता है। चित्रकला को उस युग में किस दृष्टि से देखा जाता था, इसका उल्लेख करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा है, "चित्र उन दिनों विरही के विनोद थे, वियोगियों के मेलारक थे, प्रौढ़ों के प्रीति-उद्रेचक थे, गृहों के शृंगार थे, मंदिरों के मांगल्य थे, संन्यासियों के साधना-विषय थे और राहगीरों के सहारे थे। प्राचीन भारत चित्रकला का मर्मज्ञ एवं साधक था।" इस साधना का ही फल था कि तब चित्रकला का राजमहलों से लेकर झोपड़ियों तक प्रचार था और इस प्रचार की पराकाष्ठा यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि चित्रों को देखकर वर-वधू के संबंध तक तय किये जाते थे।

निष्कर्ष

इस देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने और उसमें नित नये आदर्शों का समावेश करने की दृष्टि से प्राचीन राजवंशों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। समय-समय पर यहाँ के कवियों, कलाकारों और शिल्पियों को समुचित संमान तथा प्रोत्साहन प्रदान करने में यहां के विद्याप्रेमी एवं कलानुरागी राजाओं ने गौरव का अनुभव किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रंथों में देखने को मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि राजदरबारों की ओर से कवियों और कलाकारों को राष्ट्रीय संमान प्राप्त था और तरह-तरह के पदक, पुरस्कार, जागीरें और वृतियाँ उनके लिए निश्चित थीं।

साहित्य और कला की जो विपुल विरासत आज हमें उपलब्ध है उसके संचय और संरक्षण का बहुत-कुछ श्रेय यहाँ के राजवंशों को ही प्राप्त है। बड़े-बड़े कला-संस्थानों और विद्या-निकेतनों की स्थापनाकर यहाँ के जन-जीवन में कलानुराग और विद्याप्रेम को जगाकर राष्ट्र की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करने की दिशा में उनका सहयोग उल्लेखनीय है। समय-समय पर कलाकारों और कवियों की

बृहद् परिषदों के आयोजन द्वारा सृजन के नये मान-मूल्यों का निश्चय करने और विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान करने के लिए तब पूरी सुविधायें प्राप्त थीं।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो न केवल भारत में, बल्कि विश्व के प्रायः समस्त देशों में कला का संरक्षण एवं पोषण शासकों, सामन्तों एवं धनिकों के द्वारा होता रहा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कला या कलाकारों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। सभी युगों में प्रत्येक देश के संपूर्ण जन-जीवन में उनके द्वारा प्रेरणा तथा उल्लास मिलता रहा और इस तरह समाज के सभी वर्गों के साथ उन्होंने अपना संबंध बनाये रखा।

कला एवं कलाकारों को तब राजकीय संमान प्राप्त था। एक देश का दूसरे देश के साथ मैत्री-संबंधों को बनाये रखने में कला का माध्यम स्वीकार किया गया। प्राचीन भारत के राजवंशों के द्वारा कला के माध्यम से दूर देशों तक सांस्कृतिक संबंध स्थापित होते रहे। इसी प्रकार मुगलों ने यहां आकर अपनी संस्कृति का प्रचार कला के माध्यम से किया। इतना ही नहीं, बल्कि एशिया के अन्य देशों में भी सांस्कृतिक और वैचारिक एकता को बनाये रखने में कला का, विशेष रूप से चित्रकला का, महत्वपूर्ण योग रहा। संभवतः यही कारण था कि भारतीय विधि-व्यवस्थापक आचार्यों ने एक युवराज के लिए अन्य योग्यताओं के साथ-साथ कलाभिज्ञ होना भी आवश्यक बताया।

कला का उद्देश्य तब न तो कोरा बौद्धिक व्यायाम ही हुआ करता था और न वह विलासिता का साधन मात्र ही थी। व्यावहारिक जीवन के लिए वह आदर्शरूपा थी; और पारमार्थिक दृष्टि से श्रेयप्राप्ति का साधन। धार्मिक दृष्टि से उसको मांगल्य का सूचक समझा जाता था और लोकहित के विचार से शिवमयी आराधना। इसी दृष्टि से उसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं का आधान किया गया।

★

बौद्धकला

बौद्धकला का उद्गम

ईसा के लगभग छः शतक पूर्व का भारत धार्मिक दृष्टि से बड़ी ही डावाँडोल हालत में गुजर रहा था। राजनीतिक दृष्टि से यह शिशुनाग वंश की राज्य-स्थिति का समय था। साहित्यिक दृष्टि से यह सूत्रग्रन्थों एवं दर्शन की विभिन्न शाखाओं की भूमिका का निर्माणकाल था, और धार्मिक दृष्टि से जैन-बौद्धों के उदय का समय। ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय के लिए सूत्रग्रन्थों ने वर्णाश्रम की व्यवस्था को इतना कठोर और जन सामान्य की रुचि से इतना विषम बना दिया था कि उससे ब्राह्मण धर्म की उन्नति की जगह अवनति ही हुई। ब्राह्मण धर्म की तत्कालीन पुरोहितवादी प्रवृत्ति के विरोध में जैन और बौद्ध धर्म उदित हुए, जिनका प्रतिनिधित्व किया महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने।

धार्मिक सुधार के कारण और समाज की विश्वासपात्रता को प्राप्तकर जैनों ने सबसे बड़ा जोर दिया साहित्य के निर्माण पर। कला के क्षेत्र में भी जैन धर्मानुयायियों ने अच्छा कार्य किया। उन्होंने ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़े एवं कागज पर सहस्रों पोथियाँ लिखकर भारतीय ज्ञान की परंपरागत थाती को सुरक्षित रखा। पोथियों की दफ्तियों और पोथियों के बीच-बीच में उन्होंने अच्छे-अच्छे चित्रों का भी निर्माण किया। भारत के प्रायः सभी हिस्सों में आज जैन मंदिरों में वृहत् ग्रन्थाकार सुरक्षित हैं और उस ग्रन्थसामग्री को देखकर आज सहज ही हमें जैनियों की कलाभिलाषा एवं उनके ज्ञानानुराग का परिचय मिलता है। जैन-चित्रकला के सम्बन्ध में यथास्थान विस्तार से विचार किया गया है।

भगवान् तथागत के अनुयायियों में एक वर्ग व्यापारियों एवं धनिकों का भी था, जिसके बौद्धानुराग की देन हमें तत्कालीन असंख्य विहारों के निर्माण तथा कलापूर्ण भव्य स्तूपों की रचना में भारत के ओर-छोर तक देखने को मिलता है। मध्यप्रदेश में साँची और भरहुत, दक्षिण में अमरावती और नागार्जुनी कोंडा तथा पश्चिम में कार्ले और भज के चैत्यों एवं स्तूपों को इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है। चारिकाओं के रूप में भ्रमण करने वाले दया, ममता और करुणा के प्रतीक भिक्षु-भिक्षुणियों के आवास के लिए अशोक जैसे गृहस्थ उपासकों ने इन चैत्यों, स्तूपों तथा विहारों का निर्माण करवाया था। कार्ले, कान्हेरी, भज और अजन्ता के भव्य शिल्प में जातक कथाओं के आधार पर तथागत की गौरव गाथा एवं उनके सिद्धातों के निर्देश अंकित किये गये।

भारत के उत्तर पश्चिम में इसी बौद्धकला के साथ यूनान और रोम की कला-शैलियों का संमिश्रण होने से गांधार, नामक एक नवीन कला शैली की उत्पत्ति हुई, जिसके संबंध में यथास्थान कहा जा चुका है।

भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायी अर्हत संतों की स्मृति में बनाये गये चैत्यों एवं स्तूपों की संख्या जिस प्रकार गणनातीत है उसी प्रकार उनके निर्माण की शैलियाँ भी अनेक हैं। चैत्य कहते हैं 'चिता' को, और चिता के अवशिष्ट अंश को (अस्थि अवशेष को) भूमिगर्भ में रखकर वहाँ पर जो स्मारक तैयार किया जाता था उसे चैत्य कहा जाता था। स्तूप का अर्थ है 'टीला'। स्तूप और चैत्य वस्तुतः उन स्मारकों को कहा जाता था, बहुधा जिनमें किसी महापुरुष की अस्थियाँ, राख, दाँत या बाल गाड़कर रखा जाता था। इन स्तूपों तथा चैत्यों में स्मृतिस्वरूप किसी स्मरणीय महापुरुष के अवशेषों को गाड़कर रखना अनिवार्य नहीं था। बल्कि वह तो एक यादगार थी, जिसको जो नाम दिया जाता, वही उसका स्मारक था।

इस प्रकार के साँची और भरहुत के स्तूपों की गणना सबसे प्राचीन है, जिनका वृत्ताकार वहिर्भाग पाषाण-वेष्ठनियों से निर्मित है। नेपाल की सीमा पर अवस्थित पिपरावा का ईंट निर्मित स्तूप संभवतः पाँचवीं शताब्दी के मध्य में बनाया गया था। साँची और भरहुत के स्तूपों की बनावट का प्रभाव नेपाल के स्वयम्भूनाथ के मंदिर-निर्माण और अनुराधापुर के थूपाराम दाबोगा (२४६ ई० पू०) में दिखायी देता है। यही प्रभाव जावा के बोरोबुदूर, सिंहल के पोलोन्नुरुवा के प्रासाद और बरमा के मिंग्युन स्तूपों पर लक्षित होता है।

स्तूपों, चैत्यों और विहारों के अतिरिक्त बौद्धकला की विरासत हमें मंदिरों एवं काँस्यमयी, मृण्मयी मूर्तियों में भी देखने को मिलती है। सारनाथ का सिंहस्तम्भ तथा रामपुरवा का पाषाण-निर्मित वृषभ मौर्ययुगीन मूर्तिकला की श्रेष्ठ बौद्ध अभिव्यक्तियाँ हैं। पटखम और पटना की उपलब्ध यक्षछवियाँ भी इसी कोटि की हैं। काँस्यमयी मूर्ति-निर्माण की वैभवशाली परंपरा साँची, भरहुत, अमरावती और नागार्जुनीय कोंडा के मूर्तिशिल्प में आज भी जीवित है। तक्षशिला में भी धातु की कुछ बौद्ध मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

बुद्ध-मूर्तियों के निर्माण की व्यापक परंपरा का अनुवर्तन गुप्तयुग में हुआ, जिसके साक्ष्य मथुरा, सारनाथ और बिहार में सुरक्षित हैं। नारी आकृतियों की जैसी सुन्दर छवियाँ मथुरा संग्रहालय में हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। बौद्धकला में नारी छवियों का मूर्तिनिर्माण बहुत ही उच्चकोटि का रहा। ९वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक की मृण्मयी तथा पाषाणमयी और काँस्यमयी मूर्तियों का अधिकता से निर्माण हुआ। नालंदा और कुर्किहार से उपलब्ध इस प्रकार की मूर्तियों में भाव एवं रूप दोनों का अपूर्व योग है। नालंदा के मूर्तिनिर्माण का रूप जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत और बरमा तक पहुँचा। बौद्धकला की कुछ काँस्य मूर्तियाँ दक्षिण में, विशेषकर तंजौर में भी उपलब्ध हुई हैं।

बौद्ध रुचियों से प्रभावित भारत के इस मूर्तिशिल्प को बौद्ध ज्ञान के अभीप्सु भिक्षुओं ने एशिया के कोने-कोने में फैलाया और मूर्तिनिर्माण की यह परंपरा सारे एशिया में वर्षों तक अक्षुण्ण बनी रही, जिसके उपलब्ध अवशेष आज भी इसके साक्षी हैं।

मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला के क्षेत्र में बौद्धकलाकारों का दूसरा ही दृष्टिकोण रहा है। गुप्तकाल से पूर्व बौद्धकला की परंपरा मूर्तिनिर्माण में सुरक्षित रहती आयी और तदनन्तर वह स्थान चित्रकला ने ले लिया। बौद्ध शैली के मूर्ति-निर्माण की अपेक्षा बौद्ध चित्रकला का भारत में और सुदूर एशिया में अधिक प्रचार-प्रसार हुआ।

बौद्ध धर्म का कला से सम्बन्ध कब स्थापित हुआ और वे परिस्थितियाँ एवं उनके प्रभाव के कलात्मक स्वरूप क्या थे, इसका पता नहीं चलता। किन्तु इस संबंध में यह बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने विद्यमान है कि आरंभ में बौद्ध धर्म के अनुयायियों का दृष्टिकोण कला के प्रति कुछ अच्छा नहीं था। कला को वे विलासिता का द्योतक समझते रहे। संभवतः यही कारण था कि प्राचीन बौद्ध विहारों में हमें पुष्पालंकार को छोड़कर दूसरे विषयों पर चित्रकारी नहीं दिखायी देती। कला के प्रति बौद्धों के इस दृष्टिकोण के बावजूद प्राचीन बौद्धग्रन्थों यथा जातकग्रन्थों तथा **'महावंश'** आदि में हमें चित्रकला के बारे में बड़ी ही रुचिकर बातें देखने को मिलती हैं। इन ग्रन्थों के उल्लेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकला का इतना विकास हो चुका था कि चित्रकारों की अलग-अलग श्रेणियाँ निर्धारित होने लगी थीं और चित्रकारों का सम्मान होने लगा था।

डॉ० मोतीचन्द्र ने **'बौद्ध धर्म और चित्रकला'** शीर्षक अपने एक लेख में लिखा है कि अशोककालीन स्तम्भशीर्षों, स्तूपों और वेदिकासूत्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार में कला का माध्यम स्वीकार कर लिया था। आगे शुंगयुगीन अर्द्धचित्रों से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण बौद्ध धर्मानुयायियों ने लोकधर्म से समझौता कर लिया था और कला के माध्यम से वे समाज को यह बताने की चेष्टा करने लगे थे कि भारत के अनेक धर्म और विश्वास उसके ही अन्तर्गत हैं।

इस बात का भी स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता कि उत्तर भारत में शुंगयुगीन चित्रकला बौद्ध धर्म के प्रसार में कहाँ तक सहायक सिद्ध हुई; किन्तु अजन्ता में प्राप्त कलावशेषों से प्रतीत होता है कि वे किसी विकसित शैली पर आधारित थे। अजन्ता की शुंगयुगीन गुफाओं की चित्रकला, दर्शक के समक्ष अपनी समृद्ध परंपरा का इतिहास प्रस्तुत करती है।

गुप्तयुग में मूर्तिकला का क्षेत्र तो अविकसित रहा; किन्तु चित्रकला का संबंध तब भी अपनी उन्नत परंपरा से अटूट रूप में बना हुआ था और इसके परिणाम भी अजन्ता की कलाकृतियों में देखे जा सकते हैं। बाघ और नालंदा के भित्तिचित्रों को भी इस परंपरा में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। डॉ० मोतीचन्द्र के मतानुसार ९वीं से १२वीं शताब्दी तक की बौद्ध चित्रकला के इतिहास में कुछ सचित्र बौद्धग्रन्थों का उल्लेखनीय स्थान है। ये ग्रन्थ पालयुगीन हैं। इनके नाम हैं **'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता'**, **'पञ्चरक्षा'**, और **'महामायूरी गण्डव्यूह'** आदि। ये ताड़पत्रीय ग्रन्थ और इनकी पटरियों पर की गयी चित्रकारी भी उक्त शताब्दियों की महत्वपूर्ण कला-थाती है। इनमें बौद्ध देवी-देवताओं तथा बुद्ध के जीवन-संबंधी चित्र हैं। इन चित्रों में तंत्रयान का प्रभाव है। मध्ययुगीन भारत में चित्रपट भी निर्मित होते थे, किन्तु वैसे चित्रपट अब नहीं मिलते। नेपाल में इस प्रकार के प्राचीन चित्रपट उपलब्ध हैं।

ये सचित्र ताड़पत्रीय ग्रन्थ बौद्ध चित्रकला के इतिहास की मूल्यवान् निधि हैं। इनके अंकन, वेश-विन्यास और रंगरेजी आदि सभी में बौद्धकला का उन्नत स्वरूप निखर आया है।

बौद्धकला के प्रमुख केन्द्र

तिब्बतीय इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि बौद्ध चित्रकला की तीन प्रमुख शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनके नाम थे : **देव शैली, यक्ष शैली, नाग शैली। देव शैली** मगध में प्रचलित थी, **यक्ष शैली** का प्रचलन सम्राट् अशोक के समय में था और **नाग शैली** की

प्रसिद्धि आचार्य नागार्जुन के समय तीसरी सदी में रही। इस प्रकार बौद्ध चित्रकला के तीन प्रमुख केन्द्र थे : मध्यदेशीय, पश्चिमीय और पूर्वीय। मध्यदेशीय केन्द्र के स्थापक आचार्य बिम्बसार थे, जिनका जन्म पाँचवीं-छठों सदी को मगध में हुआ था। इस केन्द्र ने अधिक संख्या में अच्छे कलाकारों को जन्म दिया। उनकी शैली **देव शैली** के समान थी। पश्चिम का केन्द्र राजपूताना था। इस केन्द्र के मुख्य चित्रकार आचार्य शृंगधर थे, जिनका जन्म सातवीं सदी को मारवाड़ में हुआ। इस केन्द्र के कलाकारों ने **यक्ष शैली** के आधार पर अपनी शैली का विकास किया। पूर्वीय चित्रकला का केन्द्र बंगाल में स्थापित हुआ, जिसका समय सातवीं शताब्दी है। इस केन्द्र के प्रमुख आचार्य धीमान् और उनका पुत्र वितपाल हुए। इन्होंने **नाग शैली** के रिक्थ को लेकर अपनी शैली का निर्माण किया।

इन तीन प्रमुख केन्द्रों के अतिरिक्त काश्मीर, नेपाल, बरमा और दक्षिण भारत आदि में बौद्ध चित्रकला के अनेक केन्द्र थे। इनका समय छठीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच है।

भित्तिचित्रों की परम्परा

भारत में बौद्धकला की महान् विरासत भित्तिचित्रों के रूप में सुरक्षित है। ये भित्तिचित्र भारत के ओर-छोर तक सर्वत्र बिखरे हुए हैं। इन भित्तिचित्रों के माध्यम से बौद्धकला ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि जिससे उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त और मध्य एशिया के समस्त देशों की कलात्मक अभिरुचियों के क्षेत्र में एक महान् परिवर्तन की स्थिति लक्षित हुई। बौद्धकला की इस महान् थाती का समृद्ध केन्द्र अजन्ता है।

भारतीय भित्तिचित्रों की अपनी अलग परंपरा है। भारतीय चित्रकला के उज्वल इतिहास की शुरुआत भित्तिचित्रों से ही होती है। दुनियाँ के किसी भी क्षेत्र में इनके मुकाबले में चित्र नहीं बने। मध्ययुगीन भारत में जितना भी कला-निर्माण हुआ उनमें भी इतनी सर्वांगीणता एवं इतना स्वाभाविक अभिव्यंजन न आ सका। चित्रों के निर्माणक्षेत्र में निःसंदेह ही मुगलों में कमाल की निपुणता थी; किन्तु भारतीय भित्तिचित्रों की तुलना में वे भी न्यून थे। भारत में इस प्रकार के भित्तिचित्र अनेक स्थानों में उपलब्ध हुए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

जोगीमारा

सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा के उपलब्ध भित्तिचित्रों से भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक इतिहास का आरंभ होता है। इस गुफा के उपलब्ध अंतर्लेखों का अध्ययन करके पुरातत्वज्ञों एवं इतिहासकारों ने इन भित्तिचित्रों का निर्माणकाल ३०० ई० पूर्व या इसके आस-पास निर्धारित किया है। इसी गुफा के पार्श्व में स्थित एक सीताबेंगा गुफा या तो प्रेक्षागार थी या कोई मंदिर था। इस गुफा में भी कुछ चित्र हैं, जिनको सुरक्षित बनाये रखने के लिए उनके ऊपर मिट्टी की कुछ रेखायें खींची गयी हैं; किन्तु निःसन्देह जिनसे भारतीय चित्रकला के उज्वल अतीत के प्रामाणिक इतिहास का पता लगता है। कला-समीक्षकों ने इन चित्रों में से कुछ का विषय जैन धर्म बताया है।

अजन्ता

भारतीय भित्तिचित्रों के इतिहास में जोगीमारा की गुफाओं के बाद अजन्ता के चित्रों का नाम आता है, जिनका निर्माण शुंग, कुषाण, गुप्त आदि अनेक राजाओं के समय (२०० ई० पूर्व से ७०० ई० तक) में हुआ। अजन्ता का प्रकृति-वैभव आज भी इतना आकर्षक है कि वहाँ जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता कि अजन्ता के उन महान् कला-पण्डितों ने अपनी साधना के लिए जिस स्थान को चुना वह सर्वथा उपयुक्त था। भारतीय कला का यह पावन तीर्थस्थल बम्बई राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित है।

अजन्ता में कुल मिलाकर २९ गुफायें हैं, जिनके दो भाग किये जा सकते हैं : स्तूप गुफायें और विहार गुफायें। पहले भाग की गुफायें प्रार्थना की दृष्टि से और दूसरे भाग की गुफायें रहने तथा अध्ययन करने की दृष्टि से बनायी गयी प्रतीत होती हैं। सभी गुफाओं में चित्र बने हैं और वह भी एक ही शैली के। किन्तु पहली, दूसरी, नवीं, दसवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्र ही अब तक सुरक्षित रह सके हैं।

अजन्ता की कृतियों पर सैकड़ों देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला जा चुका है और आज उनकी विश्रुति यहाँ तक बढ़ चुकी

है कि उन्हें विश्व की सर्वोच्च कला-कृतियों में गिना जाने लगा है। उनकी प्रतिकृतियों की कई बार विदेशों में प्रदर्शनियाँ भी आयोजित की जा चुकी हैं। एशिया, यूरप और अमेरिका आदि देशों में अजन्ता की फोटो-प्रतियाँ पहुँच चुकी हैं। इन कला-कृतियों के जो अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उनमें न्यूयार्क यूनेस्को से १९५४ ई० में प्रकाशित **'प्रिंटिंग्स ऑफ अजन्ता केब्ज'** का नाम प्रमुख है।

अजन्ता की इन बिहार गुफाओं में मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला का अपूर्व संयोग हुआ है। भक्ति, उपासना और प्रेम की त्रिवेणी का मनोरम समन्वय अजन्ता की कला-कृतियों का विशेष गुण है। इन विशालकाय प्रतिमाओं की मुखाकृति, उनकी अभय, भूमिस्पर्श एवं धर्मचक्रप्रवर्तन आदि की मुद्राओं द्वारा भगवान् तथागत के जीवन-सिद्धान्तों एवं उनके शान्ति तथा अहिंसा के आदेशों का जिस कुशलता से प्रदर्शन हुआ है, विश्व के कलाविज्ञों के लिए आज भी वह विस्मय की वस्तु बनी हुई है।

बुद्ध के जीवन-दर्शन के दो आधार रहे हैं : व्यष्टि और समष्टि। उनका व्यष्टिमय जीवन नितान्त एकाकी समाधिस्थ योगी की भाँति अन्तर्मुखीन रहा है। उनके इस जीवन के परिचायक थेरवाद, बौद्धधर्म और अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बुद्ध असाधारण लक्षणों से युक्त होते हुए भी मनुष्य हैं, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित है। उसमें प्राणिमात्र की कल्याणकामना और प्राणिमात्र की दुःख-निवृत्ति की उच्च भावना समाविष्ट है। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श विद्यमान हैं, जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य कुषाण और गुप्त राजाओं ने किया। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दो पक्षों में पहली परम्परा का विकास श्रीलंका, बरमा तथा थाई देश में और दूसरी परम्परा का अनुवर्त्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन और जापान आदि देशों में हुआ।

अजन्ता की कला-कृतियों में भगवान् तथागत के जीवन-दर्शन के उक्त दोनों पक्ष गुम्फित हैं। उनमें एक ओर जहाँ बुद्ध की अन्तर्मुखीन प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर बहुजनहिताय की कल्याण-कामना भी व्याप्त है।

मौर्य, शुंग, सातवाहन, हिन्दू-यूनानी और कुषाण आदि साम्राज्यों के बाद भारत के एकछत्र शासन का अधिकार गुप्तों के अधीनस्थ हुआ। अजन्ता के चित्रों में यद्यपि शुंग और कुषाण युग की कला का रिक्थ विद्यमान है; किन्तु प्रधानता उसमें गुप्त शैली की है। गुप्त राजाओं का कलाप्रेम उनके चित्रांकित स्वर्णिम सिक्कों, सुन्दर मूर्तियों और भव्य मन्दिरों के निर्माण के रूप में प्रकट है। अजन्ता की कृतियाँ उनके उत्कृट कलाप्रेम के जीवित प्रमाण हैं।

अजन्ता के चित्रों की सौन्दर्यानुभूति का परिचय प्राप्त करने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जान लेना आवश्यक है। लगभग पहली सदी से लेकर सातवीं सदी तक अजन्ता की कृतियों का निर्माण, पुनरुद्धार और पुनः संस्कार होता गया। उसमें हमें जो अनेकता का आभास होता है उसका कारण यही है कि उसने अनेक हाथों का स्पर्श पाया है, जिससे कि उसमें सौन्दर्य-बोध की विभिन्न रुचियों का समावेश पाया जाता है। अजन्ता की चित्रावली का बारीक से विश्लेषण करने वाले कलाविद् विद्वानों की राय है कि उसमें लगभग बीस प्रकार की विभिन्न शैलियों का समावेश है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात देखने को यह मिलती है कि जिस भी कलाकार ने इन कृतियों को स्पर्श किया उसी ने उसके रंगों, रेखाओं एवं आकृतियों को विकृत नहीं किया, वरन् परिष्कृत ही किया; क्योंकि वे सभी कलाकार अपने व्यवसाय में पारंगत थे।

सातवीं शताब्दी के बाद भारत में बौद्ध धर्म की प्रभावशाली स्थिति मन्द पड़ जाने के कारण अजन्ता का यह कला-वैभव और उसके अभीप्सु कलाकार क्षीण होते गये; और गुप्तों का प्रभुत्व समाप्त हो जाने के बाद अजन्ता का आकर्षण और भी मन्द पड़ गया। लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य भाग से अजन्ता कला की असलियत फिर सामने आयी और तब से लेकर आज तक संसार के सहस्रों कला-यात्री भारत के इस महान् कला-तीर्थ का पुण्य दर्शन करके कृतार्थ हो चुके हैं।

अजन्ता के चित्रों के निर्माण से भारतीय कला के क्षेत्र में नये आदर्शों की स्थापना हुई है; पहली, दूसरी, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्रों से यह बात सिद्ध होती है। इन चित्रों में करुणा, दया, ममता, समर्पण, लावण्य और गांभीर्य आदि अनेक महनीय तत्त्वों का एकसाथ समन्वय दर्शित है। अजन्ता के चित्रों में जो आध्यात्मिक भावना या तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी भाव दर्शित है उनमें भी अपूर्वता है। जिस प्रकार गुप्त तथा वाकाटक युग में कला का उद्देश्य सांसारिकता से हटकर परमार्थ तथा तत्त्वज्ञान की ओर उन्मुख हो गया था, उसके विपरीत ही अजन्ता के चित्रों में सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता का मनोरम सामंजस्य हुआ है। गुप्त युग की मूर्तिकला यद्यपि जीवन के यथार्थ से विलग हो गयी थी; किन्तु चित्रकला में तब भी प्राचीन परम्परा का पूरी तरह निर्वाह हो रहा था।

अजन्ता की चित्रकला का सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसकी परिणति लौकिक जीवन की अपेक्षा अलौकिक जीवन की संभावनाओं में हुई है। यह सत्य है कि अजन्ता का चित्रकार राजाओं, राजप्रासादों, नगरों, ग्रामों और सामान्य-असामान्य जन-जीवन के अधिक निकट है; फिर भी ये सभी बातें उसके लम्बे मार्ग के विश्रामस्थल मात्र हैं। उसकी मंजिल एवं उसके उद्देश्य की

निश्चित सीमा तो लौकिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। प्रकृति के तादात्म्य को ग्रहण करने और मानव की हास्य एवं विनोद की प्रवृत्तियों को उभारने का जो प्रयास अजन्ता की चित्रावली में दिखायी देता है वह तो एक प्रलोभन मात्र है। एक ऐसा सस्ता विनोद जिसमें सहज ही में उलझकर जिज्ञासु आगे-आगे बढ़ता जाता है और अजन्ता की कला के महान् अतीन्द्रिय उद्देश्य तथा उसके चरमोत्कर्ष का पता लगाने के लिए व्यग्र एवं बेचैन हो उठता है।

इतिहास

भारतवर्ष की गणना सभ्यता के प्राचीनतम केंद्रों में है। मिस्र और ईराक की भाँति इस देश में हजारों वर्ष ईसवी पूर्व में ही सभ्यता का पुष्प प्रस्फुटित हो चुका था, जिसके स्मारक हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो के अवशेष हैं। सिन्धु घाटी की इस विकसित सभ्यता का अन्त कैसे हुआ, इसका इतिहास विदित नहीं होता। तत्पश्चात् आर्य जाति के लोगों ने नये सिरे से सभ्यता का निर्माण किया। सिन्धु घाटी की सभ्यता के जो अवशेष बचे रहे भारतवर्ष के आगामी सांस्कृतिक विकास में उनका बड़ा योग रहा; किन्तु हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो का अन्त हो जाने के कारण उनकी जीवनी-शक्ति मन्द पड़ गयी थी। आर्य लोगों ने भारतवर्ष में नये सांस्कृतिक निर्माण के साथ-साथ सभ्यता की प्राचीन परम्पराओं में भी नयी चेतना का संचार किया; और इस प्रकार फिर से भारतवर्ष में सभ्यता का विकास सम्भव हो सका।

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का यह कार्य पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल में निरन्तर रूप से आगे बढ़ता हुआ शताब्दियों बाद भगवान् गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के आन्दोलनों से बल प्राप्त करता हुआ मौर्य साम्राज्य में पहुँचकर अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुआ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि मौर्यकाल में सभ्यता का पूरी तरह से विकास हो चुका था। उस समय तक भारतीय जीवन में नागरिक तत्वों का पूरी तरह से समावेश हो चुका था; शिक्षा, साहित्य, दर्शन तथा कला की परम्पराओं में उन्नति हो चुकी थी; राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों की स्थिति दृढ़ हो चुकी थी; और शासनतंत्र की दृष्टि से भारत पर्याप्त उन्नति कर चुका था। किन्तु इस समय तक चित्रकला के स्वतंत्र विकास के परिचायक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। मौर्यकाल में भारतीय स्थापत्य और तक्षण का अपूर्व विकास हुआ; किन्तु चित्रकला के क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय प्रगति हुई हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मध्यभारत के गुहा-मण्डपों से जो चित्र मिले हैं, बौद्धग्रन्थों या संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में चित्रकारी का जो उल्लेख हुआ है अथवा लामा तारानाथ आदि विद्वानों के कथनानुसार अशोक के समय में जिन महान् भित्तिचित्रों का निर्माण हुआ था, इन सभी बातों से हमें भारतीय कला या चित्रकला के प्राचीन अस्तित्व का तो पता लगता है; किन्तु प्रमाणस्वरूप हमारे पास कोई सामग्री सुरक्षित नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में चित्रकला के सर्वप्रथम प्रमाण जोगीमारा की गुफाओं के हैं, जो कि संभवतः ईसा पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दी के हैं, और वस्तुतः जिनमें अपने पूर्व की समृद्ध परम्परा के बीज अंकुरित दिखायी देते हैं। इन चित्रों की मानवीय आकृतियों में, जानवरों, प्रासादों और ज्यामितिक डिजाइनों में चित्रकला की समृद्धि परिलक्षित होती है।

इसके बाद का इतिहास हमें अजन्ता की ओर ले जाता है। अजन्ता की कृतियों में यद्यपि वास्तु, मूर्ति और चित्र, कला के इन तीनों रूपों का एक साथ दर्शन होता है; किन्तु उसको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति उसके चित्र-विधान के कारण प्राप्त हुई। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आरंभिक गुफाओं का निर्माण, जिनमें तक्षण की प्रधानता है, ईसा की दो शताब्दियों पूर्व हो चुका था। तत्पश्चात् लगभग दो-सौ या ढाई-सौ वर्षों तक, किसी अज्ञात कारणवश, वहाँ का निर्माण-कार्य स्थगित रहा और फिर लगभग ४५० से ६५० ई० तक बड़ी तीव्र गति एवं बड़े उत्साह से वहाँ कार्य होता रहा। इस प्रकार अजन्ता के निर्माणकार्य को दो विभिन्न युगों में विभाजित किया जा सकता है। दोनों युगों के कलाकारों को बौद्ध धर्म से प्रेरणा मिली है। पहले काल के कलाकार हीनयान मत के अनुयायी और दूसरे काल के महायान मत के समर्थक प्रतीत होते हैं।

शुंगयुगीन दक्षिण भारत में बौद्धकला का कहाँ तक विकास-विस्तार हो चुका था, इसका प्रमाण अजन्ता की दसवीं गुफा के कुछ अवशिष्ट चित्रों को देखकर मिलता है। इन अवशेषों को देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे शुंगकालीन कला की किसी विकसित शैली पर आधारित थे। दो समकालीन ब्राह्मी लेखों के आधार पर उक्त गुफा का समय ईसा की दूसरी सदी रखा गया है। नवीं गुफा के चित्रों में जो गहने धारण किये तथा पगड़ी बाँधे आकृतियाँ दर्शित हैं वे किसी आदिम जाति की सूचक हैं, जिससे इन चित्रों का समय भी पहली गुफा के चित्रों की भाँति ईसा की दूसरी सदी प्रतीत होता है। दसवीं गुफा की बायीं दीवार पर किसी ध्यानस्थ राजा और उसके अंगरक्षकों के चित्र अंकित हैं। कुछ नर्तकियाँ भी इसमें चित्रित हैं। ये आकृतियाँ भी अपने पूर्व की किसी शैली के विकसित चिह्न प्रतीत होती हैं। इसी गुफा की दाहिनी दीवार पर **'षड्दन्त जातक'** से संबद्ध चित्र हैं। उसके नीचे जो अभिलेख खुदा हुआ है, यदि वह प्रामाणिक है तो उस गुफा के चित्रों का समय ईसा का तीसरी सदी होना चाहिए। इसी गुफा के स्तम्भों पर चित्रित भगवान् तथागत के चित्रों का समय ईसा की चौथी शताब्दी है। श्री पर्सी ब्राउन का कथन है कि नवीं-दसवीं गुफाओं की चित्रावली

उस समय की ज्ञात होती है, जब उसके आस-पास का देश द्रविड़ राजाओं के अधीन था, जो कि ब्राह्मण मत के अनुयायी थे, किन्तु जिनका बौद्ध धर्म से कोई द्वेष या विरोध नहीं था।

वाकाटक अभिलेखों के आधार पर ऐसा निश्चित किया गया है कि पहली, दूसरी, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं का निर्माण पाँचवीं सदी में हुआ था। पहली और सोलहवीं गुफाओं के शिल्प में पर्याप्त साम्य है। इसलिए इनका निर्माण एक साथ हुआ होगा। उसके बाद सत्रहवीं गुफा का समय आता है। सबसे अन्त में दूसरी गुफा को रखा जा सकता है।

निर्माता

जैसा कि कहा जा चुका है कि अजन्ता की कृतियों का निर्माण एक समय में नहीं हुआ है। इसलिए उनको न तो किसी एक व्यक्ति ने बनाया और न किसी एक ही राज्यकाल में उनका निर्माण हुआ है। उनमें शुंग, सातवाहन, वाकाटक, चालुक्य, कुषाण तथा गुप्त आदि विभिन्न संस्कृतियाँ बोलती हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि अजन्ता की चित्रावली में, स्वतंत्र रूप से, साहित्य और संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने वाले तत्कालीन विद्वानों का अधिक हाथ रहा है। इसी प्रकार बौद्ध स्थविरों और कलाविद् आचार्यों ने भी अजन्ता के निर्माण में अपना पूरा योग दिया। इन बौद्ध-भिक्षुओं में भी महायान शाखा के भिक्षुओं की अधिकता थी। इन महान् कला कृतियों के निर्माण में राज्याश्रित पेशेवर कलाकारों की अपेक्षा उन त्यागी, तपस्वी सन्यासियों की साधना अधिक दिखायी देती है, जिन्होंने यश-अपयश, हानि-लाभ और राग-द्वेष पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली थी। अजन्ता की चित्र-रचना में अक्षय सौन्दर्य और अमिट कला-तृष्णा का एकमात्र रहस्य भी यही दिखायी देता है कि उसके निर्माता ऐसे जीवनमुक्त सन्त, फकीर और सन्यासी थे, जिन्होंने उन तमसाच्छन्न गुफाओं में दीपक जलाकर या मशालों के प्रकाश में दिन-रात निरन्तर श्रम-साधना करके विश्व को चकित कर देने वाले इतने महान् कला-मंडप का निर्माण किया।

विषय

अजन्ता की चित्रावली में जीवन के शतमुखीन व्यापार ध्वनित हैं। उसके निर्माताओं ने जीवन के विभिन्न पहलुओं को टटोलकर देखा है। नगरों के विलासमय जीवन, ग्रामों में शान्त-एकान्त जीवन व्यतीत करने वाले ग्रामीण, भीख माँगते हुए भिखारी, मछली पकड़ते हुए मछुवे, शिकार करते हुए व्याध, युद्ध करते हुए सैनिक, राजभवनों में विलासरत राजा-राजमहिषियाँ आदि जीवन के सभी क्षेत्रों पर दृष्टिपात करके अजन्ता के कलाकारों ने अपनी कृतियों को सभी तरह की रुचि रखने वाले वर्गों के लिए आकर्षक बना दिया है। अजन्ता की इन कृतियों में हर प्रकार की अभिव्यक्ति के पीछे जीवन का एक वृहद् रूप छिपा हुआ है, जिसकी परिणति आध्यात्मिक उन्नयन के अंक में जाकर हुई है।

विषय की दृष्टि से अजन्ता की चित्रावली को तीन प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है, जिनके नाम है : **आलंकारिक, रूपभेदिक** और **वर्णनात्मक**। पहली श्रेणी के चित्रों में पशु-पक्षियों से युक्त पुष्पों की बेलें, अलौकिक पशु, राक्षस, किन्नर, नाग, गरुड़, यक्ष, गन्धर्व और अप्सरा आदि को रखा जा सकता है। दूसरी श्रेणी के चित्रों में लोकपाल, बुद्ध, बोधिसत्व, राजा-रानियों की आकृतियाँ तथा पाँचिक, हारीति आदि को रखा जा सकता है। इस श्रेणी के चित्रों में अभया, वरदा और वितर्क की मुद्राओं से युक्त बुद्ध-प्रतिमा, बुद्ध का जन्म, महाभिनिष्क्रमण, संबोधि, निर्वाण और बुद्ध के जीवन की अलौकिक घटनायें प्रमुख हैं। तीसरी श्रेणी के चित्रों में जातकों से अनुबद्ध अनेक प्राचीन ऐसी कथायें हैं जिनमें भगवान् बुद्ध के जीवन से संबद्ध सर्वविदित घटनाओं का कथारूप में निरूपण किया गया है। चित्रों का अधिकांश इसी प्रकार है। ऐसे चित्र संभवतः कई दलों में विभक्त किये जा सकते हैं, जो घटना के तारतम्य से सम्बन्धित हैं।

आलंकारिक चित्रों की विषयावली में बड़ी विविधता है। प्रकृति की असीम सम्पदा से चुन-चुन कर अजन्ता के कलाकारों ने उपकरणों का विन्यास किया है। पशु, पक्षी, फूल, वृक्ष, लताएँ, बादल, नदियाँ, पहाड़ और जंगल आदि सभी को अलंकरण-सज्जा के लिए ग्रहण किया है। मानवीय आकृतियों के लिए ज्यामितिक डिजायनें भी कहीं-कहीं उपयोग में लायी गयी हैं। पशुओं में बैल, बन्दर, लंगूर और हाथी आदि की प्रधानता है। गुफा नं० १ के कोष्ठक में दो लड़ते हुए बैलों का जो लघु चित्र है वह अपनी शैली की एक अनुपम कृति है। पक्षियों में मोर, तोता, हंस, कोयल, हारिल आदि बार-बार आये हैं। फलों में आम, अंगूर, अञ्जीर, शरीफा, नारियल और केला को अधिकता से अपनाया गया है। फूलों में कमल का सर्वत्र उपयोग हुआ है। अजन्ता के **आलंकारिक** चित्रों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यदि उन कलाकारों ने इस प्रकार केवल फलों के ही चित्र बनाये होते तब भी उनकी कला-कुशलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता था।

कला की दृष्टि से दूसरी कोटि के चित्र बड़े ही उत्कृष्ट हैं। गुफा नं० १ में विश्व-विश्रुत बोधिसत्व पद्मपाणि के चित्र की तुलना ऐंजेलो की कृतियों से की गयी है। बोधिसत्व के शरीर की तिर्यग् भंगिमा और मुख पर विद्यमान करुणार्द्र भाव देखने योग्य है। कहा जाता है कि पहले-पहल जिस अंग्रेज ने सूअर के पीछे भागते हुए अजन्ता का पता संसार को दिया था, वह इस चित्र को देखकर स्तब्ध रह गया था।

महायान संप्रदाय के अनुसार बोधिसत्व को अपरिमित करुणा और सौहार्द का प्रतीक माना गया है। कहा गया है कि जब वे चाहें पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाते । क्योंकि उनका जीवन तो 'सर्वजनहिताय' और 'सर्वजनसुखाय' के लिए है। जब तक इस ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसा व्यक्ति बचा रहेगा, जो निर्वाण न पा सका हो, तब तक बोधिसत्व स्वयं निर्वाण ग्रहण न करेंगे और अपने सञ्चित पुण्य का दूसरों में वितरण करते रहेंगे; दूसरों के उद्धारार्थ संसार का कष्ट झेलते रहेंगे। बोधिसत्व की यह उदार कल्पना उक्त चित्र में सजीव हो उठी है। आदर्श और भावप्रवणता का ऐसा विलक्षण नियोजन कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिल सकेगा।

इस श्रेणी के दूसरे प्रमुख चित्रों में मरणासन्न राजकुमारी, कृष्णवर्णा और श्रृंगार करती हुई राजकुमारी का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रथम राजकुमारी की तो कलाविदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जीवन की अन्तिम घड़ियों में राजकुमारी की देहयष्टि में मृत्यु की अलसता जैसे स्पष्ट दिखायी देती है और साथ ही पास बैठी हुई दासियों की करुणार्द्र मुख-मुद्राएँ सारे वातावरण को एक विचित्र निर्वेद, शोकाकुल और निराशामय बना देती हैं। 'माता-पुत्र' नामक चित्र में भी भवांकन का चातुर्य विलक्षण है। सम्मुख खड़े हुए भगवान् बुद्ध की रूपछवि बड़ी ही आकर्षक है; और उससे भी अधिक आकर्षण के केन्द्रविन्दु माता और पुत्र हैं, जो असीम श्रद्धा तथा अतुल भक्ति के साथ एकटक रूप से भगवान् की ओर निहार रहे हैं। अजन्ता की चित्रावली में इस चित्र की बड़ी प्रशंसा हुई है।

तीसरी कोटि के चित्रों में भी अनेक ऐसे चित्र हैं, जिनको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो चुकी है। इस श्रेणी के कथा-चित्रों में १०वीं गुफा में **'छद्दन जातक'** सम्बन्धी हस्ति-समूह का चित्र है। इसी की एक ओर विशाल जन-समूह का चित्र है, जिसमें सशस्त्र सैनिक और नारियाँ भी सम्मिलित हैं। इस चित्र का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है; किन्तु जो कुछ बचा है उससे निर्माता का असाधारण कौशल झलकता है। इसी प्रकार **'ब्राह्मण जातक', 'शिवि जातक,' 'मातृपेरु जातक'** और **'शरभ जातक'** आदि से अनुबद्ध अनेक चित्र हैं, जिनमें बुद्धजन्म, सप्तपदी, तपस्या, निर्वाण तथा भार-विलय आदि घटनाओं का चित्रण किया गया है। जैसा कि बताया जा चुका है कि इस प्रकार के चित्र कई खण्डों में विभक्त किये जा सकते हैं।

विशेषतायें

इसीलिए यह उचित ही था कि अजन्ता की चित्रावली को संसारव्यापी ख्याति प्राप्त हो। अजन्ता के चित्रों के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें कही गयी हैं, उनके अतिरिक्त बहुत-सी बातों का पता हमें तब लग सकता है, जब कि हम बारीकी से उसकी विशेषताओं का विश्लेषण करते हैं। उसके अपूर्व सौन्दर्य और उसकी असाधारण कला-कुशलता का द्योतन करने वाली कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं :

१. **भावप्रवणता :** अजन्ता की चित्रकला का सर्वश्रेष्ठ गुण और उसकी ख्याति के प्रमुख आधार हैं उसमें दर्शित हार्दिक तथा मानसिक भावनाओं की प्राञ्जल व्यंजना। उसमें शान्ति, करुणा, उल्लास, स्थिरता, सौहार्द्र, भक्ति, विनय और विकलता आदि भावनाओं का सुन्दर व्यक्तीकरण हुआ है। पद्मपाणि बोधिसत्व की करुणा, मरणासन्न राजकुमारी की अलसता, बुद्ध के मुख-मुद्रा की शान्ति, माता-पुत्र की श्रद्धा, भक्ति, सभी में उनके निर्माता कलाकारों के श्रद्धालु हृदयों की गहराई उतरी हुई है। वस्तुतः यह भावप्रवणता ही अजन्ता की चित्रकला की आत्मा है, जिसके बिना वह निष्प्राण ही रह जाती। भगवान् तथागत की अहिंसा, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि भावनाओं का दर्शन इन चित्रों में होता है।

२. **रेखासौष्ठव :** अजन्ता के चित्रों में रेखाओं और तूलिका का बड़ा महत्व दिखायी देता है। वे भावपूर्ण रेखाएँ विलास और श्रृंगार से सर्वथा परे हैं। उनमें कहीं भी भारीपन या संकोच नहीं दिखायी देता। तूलिका में इतनी गतिमयता है कि उसके थोड़े ही प्रत्यावर्त्तन से चित्र की रूपरेखा उभर आती है।

३. **रंगों का संयोजन :** इसी प्रकार अजन्ता के चित्रों में रंगों का संयोजन बड़ी ही निपुणता के साथ किया गया है। यद्यपि उनमें कुछ विशेष रंगों का ही प्रयोग हुआ है; किन्तु उनके उपयोग की विधि सर्वथा निजी है। उन चित्रों में गेरुवा, रामरज, हरा, काजल, नीला और चूने के रंग का विशेष प्रयोग हुआ है। उनके संयोजन में इस विवेक से काम लिया गया है कि जिसके कारण चित्रों में पर्याप्त विविधता पैदा हो गई है। रंग गहरे होने पर भी भारीपन से मुक्त हैं।

४. **रूढ़िहीनता :** अजन्ता के चित्रकार परम्परा के पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त थे। चित्रावली में यद्यपि विषयों की पुनरावृति बहुत हुई है; किन्तु इस पुनरावृत्ति में भी अलग-अलग चित्रकारों का अपना-अपना स्वतंत्र कौशल विद्यमान है। अजन्ता की चित्रावली में केवल रेखाओं की विभिन्नता के आधार पर कम-से-कम बीस प्रकार की शैलियों को निकाला जा सकता है और यदि रंगयोजना के आधार पर विश्लेषण किया जाय तो उससे भी अधिक शैलियाँ खोज कर अलग की जा सकती हैं। अजन्ता की चित्रकला एक साँचे में बँधी हुई अनुकृति न होकर कलाकार की वास्तविक एवं उदात्त कलावृति की परिचायक है; उनकी भाव-विधान आन्तरिक प्रेरणा का जीवन्त रूप है। रूढ़िवादिता इन चित्रों में यदि कहीं दिखायी देती है तो आलंकारिक चित्रों में; किन्तु उनके सूल में भी मौलिकता है।

५. **जीवन की विविधता :** अजन्ता की कला-कृतियों में जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों पक्षों की सुन्दर व्यंजना देखने को मिलती है। उनमें गाँवों के सामान्य एवं शांत वातावरण और नगरों के कोलाहलपूर्ण जीवन का एक जैसे मार्मिक ढंग से चित्रण हुआ है। रंक से लेकर राजा तक, सामाजिक जीवन के जो भिन्न-भिन्न पक्ष हैं उनका वास्तविक स्वरूप इन चित्रों में ध्वनित हुआ है। तत्कालीन रहन-सहन, वेष-भूषा, आमोद-प्रमोद और सौन्दर्य-सज्जा की सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत करके अजन्ता के चितेरों ने भारतीय और विशेष रूप से गुप्तकालीन संस्कृति का यथार्थ परिचय प्रस्तुत किया है।

६. **हस्तमुद्राओं द्वारा भावप्रदर्शन :** भावनाओं, विचारों या विषय की अभिव्यक्ति के लिए अजन्ता की चित्रकला में जिन उपादानों का आश्रय लिया गया है उनमें हस्त-मुद्राओं का विशेष स्थान है। यद्यपि मुख की भंगिमा और नेत्रों का लास्य भी इस चित्रावली के प्रमुख आकर्षण हैं; किन्तु हस्त-मुद्राओं का ऐसा प्राञ्जल प्रदर्शन न तो उससे पूर्व की किसी कलाकृति में दिखायी देता है और न ही उसके बाद किसी युग का चित्रकार अजन्ता की कला के इस उच्चादर्श को स्पर्श कर सका है। प्रत्येक मुद्रा में कलाकार की शास्त्रीय दृष्टि है। उनमें गति, स्थिरता, मन्थरता, चापल्य आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

७. **नारी का आदर्श रूप :** अजन्ता के चित्रों में नारी को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। वे नारी-मूर्तियाँ कला की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार नारी को एक आदर्श रूप में स्वीकार किया गया है। उसका चित्रण मानवीय रूप में न होकर सैद्धान्तिक रूप में हुआ है, जो कि सार्वभौमिक सौन्दर्य का प्रतीक है। अजन्ता के चित्रों में जो सीमाहीन सौन्दर्य व्याप्त है उसकी व्यंजना का साधन नारी है, जो ऐन्द्रिय आकर्षण का केन्द्रविन्दु न होकर आध्यात्मिकता की परिचायिका है। वह गौरव और गरिमा की विभूति है।

अजन्ता की चित्रकला का हर पहलू शाश्वत और चिरन्तन है। उसका निर्माण हुए आज लगभग तेरह-सौ वर्ष बीत गये; किन्तु उसकी नवीनता एवं सजीवता में कोई कमी न आने पायी। उन महान् कला-कृतियों से समय-समय पर भारतीय कलाकारों ने प्रेरणा प्राप्त कर राजपूत, मुगल और पहाड़ी जैसी उच्च शैलियों को जन्म दिया। उसके स्वरूप एवं शिल्प की विरासत बाघ, बादामी, सितनवासल और एलोरा आदि की चित्रकला में पहुँची। उससे आधुनिक चित्रकारों ने प्रेरणा प्राप्त की। आज भी उसको चित्रकला का सर्वोच्च तीर्थ माना जाता है।

बाघ

भारतीय गुफाचित्रों की इस परम्परा का प्रतिनिधित्व अजन्ता के बाद बाघ की कला में देखने को मिलता है। इन भित्तिचित्रों को देखकर सहसा उन महान् कलाकारों के अदम्य साहस का स्मरण हो आता है, जिन्होंने बीहड़ चट्टानों से कविता और कला की ऐसी अजस्र धारा को बहाया, जो युगों बाद भी आज जीवित है। शिल्प और चित्र का यह नव्य कला-संगम लगभग डेढ हजार पूर्व पुराना है।

बाघ की ये गुफायें मध्य प्रदेश में धार जिला के अन्तर्गत विंध्य-श्रेणी के उस भाग में अवस्थित हैं; जहाँ आज घोर जंगल और भीलों की बस्ती है। ये गुफायें महायान बौद्ध संप्रदाय से सम्बन्धित हैं। इन गुफाओं को बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए तथा बुद्ध उपदेशों के प्रवचन-श्रवण के उद्देश्य से बनाया गया था।

बाघ, नर्मदा की एक सहायक नदी है, उसी के तट पर ये गुफायें हैं। इनके निकट ही बाघ नाम से एक कुसबा भी है। वह बाघ कसवा ऐतिहासिक है। ये गुफायें बाघ नदी से १५० फीट की ऊँचाई पर अवस्थित हैं, जिनकी संख्या नौ है और जो इन्दौर से

९० मील की दूरी पर है। पहली गुफा को 'गृहगुफा' के नाम से कहा जाता है, जो कि संप्रति नष्टप्राय: हो चुकी है। दूसरी गुफा, पाण्डवों की गुफा के नाम से कही जाती है, जो कि सबसे बड़ी है और सौभाग्यवश सुरक्षित भी है। इसी गुफा में महाराज सुबन्धु का ताम्रपत्र मिला था, जिसका ऐतिहासिक महत्व आगे प्रस्तुत किया जायगा। तीसरी गुफा को 'हाथीखाना' के नाम से कहा जाता है। इस पर अच्छे भित्तिचित्र बने हैं और यह कहा जाता है कि इस गुफा को विशिष्ट अतिथियों के लिए बनाया गया था। यह गुफा ध्वस्त दशा में है। चौथी गुफा को 'रंगमहल' कहा जाता है। बनावट में वह दूसरी गुफा के समान है। उसके पीछे की दीवार तथा छत पर चित्रों के अवशेष जीवित हैं। इसके एक छत पर दोनों ओर मकरवाहिनी देवियाँ अंकित हैं। इसमें बने पशुओं के चित्र बड़े सुहावने हैं। पाँचवीं गुफा को संभवतः भिक्षुओं के प्रवचन सुनने तथा बैठने के लिए बनाया गया था। इसी क्रम से छठीं, सातवीं, आठवीं और नवीं गुफायें हैं। अन्तिम तीन गुफायें सर्वथा ध्वस्त हो चुकी हैं।

निर्माणकाल

बाघ की गुफाओं के निर्माणकाल के सम्बन्ध में बड़ा विवाद रहा है। अधकांश विद्वानों ने इन गुफाओं का निर्माणकाल या तो अजन्ता के चित्रों के साथ तुलना करके निर्धारित किया या तो उनकी शैलियों के आधार पर । महाराज सुबन्धु के ताम्रपत्र के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि बाघ की गुफाओं का निर्माण चौथी-पाँचवीं शताब्दी में हो चुका था; क्योंकि इतिहासकारों ने सुबन्धु का समय ४१६ - ४८६ ई० के बीच निर्धारित किया है। पुरातत्व विभाग की ओर से १९२९ ई० में इन गुफाओं का जीर्णोद्धार करते समय दूसरी गुफा में महाराज सुबन्धु का जो ताम्रपत्र मिला था उसका अध्ययन करने पर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनका हवाला पं० हरिहरनिवास द्विवेदी के शब्दों में इस प्रकार है :

"इस ताम्रपत्र में माहिष्मती के महाराज सुबन्धु द्वारा भगवान् बुद्ध के **'गन्धधूप माल्यावलि सूत्र'** की योजना के लिए, **'भग्न स्फुटित'** के संस्करण के लिए, एवं **'आर्य भिक्षुसंघ'** के चारों दिशा से आकर ठहरने पर उनके **'चीवर पिण्ड पातग्लान प्रत्यय शय्यासन भैषज्य'** के हेतु, **'दासिलकपल्ली'** नामक ग्राम का दान दिया गया है। इस ताम्रपत्र की चौथी और पाँचवीं पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि यह दान **'कलयन'** नामक विहार को दिया गया।"

इस ताम्रपत्र के अनुसार विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि बाघ की ये गुफायें **'कलयन'** या **'कलायन'** नाम से कही जाती थीं। इस विहार के व्यय के लिए जो **'दासिलकपल्ली'** नामक गाँव दिया गया था उसका भी संप्रति कोई निशान बाकी नहीं है।

चित्र

इन गुफाओं में सुरक्षित कलाथाती से ज्ञात होता है कि वे अजन्ता के विपरीत अनेक युगों के प्रभाव और अनेक कलाकारों के हाथों से अछूती हैं। उनमें जिन रंगों का उपयोग किया गया है, संभवतः वह भी स्थानीय पत्थरों को पीसकर बनाया गया था। ये चित्र काफी धुँधले पड़ गये हैं। श्री एस० एन० सरकार, श्री बी० एन० आपटे, श्री एम० एस० भाण्ड, श्री नन्दलाल बसु, श्री ए० बी० भोंसले, श्री असितकुमार हालदार और श्री वी० वी० जगताय आदि भारतीय कलाकारों के अतिरिक्त आरमीनियन चित्रकार श्री सारकिस कचडोरियन ने भी इन चित्रों की प्रतिकृतियाँ उतारी हैं। इनमें से अधिकांश की प्रतिलिपियाँ गूजरी महल के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

इन गुफाओं में प्रकृति, मानव और पशु-पक्षियों का चित्रण बहुत ही भव्य है। पेड़, पौधे, फल, फूल, पत्र, लतायें आदि के चित्रण प्रकृति के निसर्ग सुन्दर रूप को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करते हैं। उनके रंगों, रेखाओं आदि की सजीवता दर्शनीय है।

चौथी गुफा में लगभग छः दृश्य अंकित हैं। उनमें दो स्त्रियों का एक करुणाप्लावित दृश्य बहुत ही मुग्धकारी है। एक स्त्री झरोखे के पास शोकाकुल दशा में चित्रित है, जो कपड़े से मुँह ढाँपें रो रही है; और दूसरी स्त्री पास में खड़ी उसको सान्त्वना दे रही है। उसके ठीक बाहर पेड़ पर एक कपोतयुग्म बैठा हुआ है, जिसको देखकर चित्रित दृश्य की सारी कहानी आँखों के आगे तैर जाती है। इसी प्रकार के कुछ चित्र बुद्ध, बोधिसत्वों, राजपुरुषों, राजमहिलाओं, गायकों, गायिकाओं, नर्तकों, नर्तकियों, घुड़सवारों, हाथियों और घोड़ों के हैं।

किन्तु बाघ की गुफाओं के इस चित्र-वितान में यदि सबसे अधिक प्रभावशाली तथा मुग्धकारी दृश्य अंकित हुए हैं तो वे हैं पक्षियों के। शुक, सारिका, कुक्कुट, कलहंस, कोकिल, मयूर, सारस, चकोर सभी का सुन्दर चित्रण वहाँ देखने को मिलता है। यह पक्षि-चित्रण मनुष्य की उल्लासमयी, विषादमयी और रहस्यमयी आदि अनेक मनस्थितियों को अभिव्यक्त करता है। यह पक्षि-चित्रण

कहीं-कहीं पर भरत के **'नाट्यशास्त्र'** के आधार पर है। ऐसी अनुभूति उन दृश्यों को देखकर होती है, जहाँ लताबंध, गुल्म, कमल, कमलनाल और पुष्पस्तवकों के बीच-बीच में पक्षियों को दर्शाया गया है। बाघ की चित्रावली में पक्षियों का यह चित्रण निश्चित ही उसके निर्माता कलाकारों की वह अभिरुचि मालूम होती है, जिसके अनुसार भारतीय साहित्य में उनको इतना सम्मान दिया गया है। यह पक्षि-चित्रण संभवतः उस लोककला से ग्रहण किया गया था, जिसको आज हम वस्त्रों की छपाई, आकृति-आलेखन, मांडना, अल्पना, चौक पूरना, रांगोली और कोलन आदि में देखते हैं।

बाघ की चित्रावली में हाथी और बैलों का भी चित्रण है। हाथी मांगल्य का और बैल धरती की समृद्धि का सूचक है। इसलिए पशुओं के चित्रण में बाघ के कलाकारों का दृष्टिकोण लोकमंगल की ओर अधिक रहा।

बादामी

बम्बई के अइहोल नामक स्थान के पास बादामी की गुफायें वर्तमान हैं। यहाँ के चार गुफा-मंदिरों को चालुक्य राजाओं ने निर्मित करवाया था। बादामी के गुफा-मंदिरों के भित्तिचित्र अपने युग की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। यहाँ के चित्रों में नारी-सौन्दर्य का अंकन बहुत ही उच्चकोटि का हुआ है।

सित्तनवासल

यह स्थान मद्रास में तंजौर के निकट स्थित है। सित्तनवासल में पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मा प्रथम और उनके पुत्र नरसिंह वर्मा (दोनों का समय ६०० - ६५० ई०) ने कुछ गुफा मंदिरों का निर्माण करवाया था, जिनके अवशेषों से ऐसा विदित होता है कि वहाँ के भित्तिचित्र बड़े ही उच्चकोटि के रहे होंगे। इन चित्रों की शैली अजन्ता की शैली से मिलती है। इन चित्रों में भावप्रदर्शन की मुद्राएँ अति ही मोहक हैं। इनमें कुछ चित्र जैनधर्म से भी संबद्ध हैं।

एलोरा

यह स्थान अजन्ता से लगभग ५० मील की दूरी पर हैदराबाद में ही स्थित है। एलोरा का चित्र-वैभव अपने ढंग का सर्वथा अपूर्व है। एक पूरे-के-पूरे पहाड़ को काटकर उसमें इन अद्वितीय मंदिरों का निर्माण किया गया है। ये चित्र आठवीं से दशवीं शताब्दी के बीच के हैं। इन मंदिरों के भित्तिचित्रों में कैलाशनाथ, लंकेश्वर, इन्द्रसभा और गणेश के चित्र अधिक आकर्षक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एलोरा की चित्ररचना के बाद अजन्ता की शैली का ह्रास होने लग गया था।

वस्तुतः आठवीं शताब्दी के बाद भित्तिचित्रों का स्थान छोटे-छोटे चित्रों ने ले लिया था, जिनके दो प्रधान केन्द्र थे—एक बंगाल में और दूसरा गुजरात में। बंगाल के केन्द्र की स्थिति ९वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक बनी रही और गुजरात के केन्द्र की ११वीं से १६वीं शताब्दी तक कायम रही। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में बौद्धों के महायान संप्रदाय के सम्मान्य ग्रन्थ **'प्रज्ञापारमितासूत्र'** के ताड़पत्रों पर अनेक दृष्टांत चित्र बने।

गुजराती शैली के दो तरह के चित्र देखने को मिले : ताड़पत्रों पर बने दृष्टांत चित्र और कागद पर बने दृष्टांत चित्र। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक पहली प्रकार की शैली वर्तमान रही और लगभग १३५० ई० से १४५० ई० तक दूसरी शैली का प्राधान्य रहा।

एलीफैण्टा

एलीफैण्टा का वास्तविक नाम धारा नगरी था। यह नाम उसको पुर्तगालियों ने इसलिए दिया कि वहाँ पर पत्थर का हाथी बना हुआ था। वह हाथी संप्रति प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बंबई में है।

एलीफैण्टा की गुफायें बंबई राज्य में है। ये गुफायें एक पहाड़ी को काटकर बनायी गयी हैं। एलीफैण्टा के गुफा-मंदिर में नौ बड़ी प्रतिमाएँ हैं, जो कि भगवान् शंकर के विभिन्न रूप तथा क्रिया-कलापों को व्यक्त करती हैं। इन प्रतिमाओं में सर्वाधिक आकर्षण शिव की 'त्रिमूर्ति' प्रतिमा में है। वह लगभग २३-२४ फीट लंबी और सत्रह-अठारह फीट ऊँची है। इसका नाम 'त्रिमूर्ति' रख देने से यह भ्रम

होता है कि उसमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश एक साथ अंकित हैं; किन्तु उसमें अकेले शंकर के ही तीन रूप हैं। शिव के 'पंचमुख परमेश्वर' की प्रतीक दूसरी मूर्ति में अपूर्व सौम्यता और अनन्त शान्ति विराजमान है।

भगवान् शंकर की अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा में तो जैसे दर्शन और कला का अभूतपूर्व समन्वय हुआ हो। इस प्रतिमा में पुरुष और प्रकृति, ब्रह्माण्ड की इन दो महान् शक्तियों को मिलाकर रख दिया गया है। एक पाषाण प्रतिमा में शंकर तन करके खड़े हैं। उनका हाथ अभय मुद्रा में है। उनकी जटाओं में गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रिधारा दिखायी गयी है।

जैसा कि संस्कृत के काव्यकारों ने और विशेषतः महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' में शिव-पार्वती के विवाह-प्रसंग का बहुत ही रोचक वर्णन किया गया है वैसे ही एलीफैण्टा के शिल्पियों ने शिव-पार्वती के विवाह को बड़ी ही सुरुचि से दर्शित किया है। इसके अतिरिक्त शिव के भैरव रूप से संबद्ध प्रतिमा में उनका भीषण संहारकारी रूप भी दर्शनीय है।

बौद्धकला के अन्य केन्द्र

इनके अतिरिक्त प्राचीन महत्व के बौद्ध कलाकेन्द्रों में कार्ले, भज उदयगिरि और पीपलखोरा की गुफाओं का भी उल्लेखनीय स्थान है। बम्बई पूना के बीच मलवली स्टेशन से ४ मील पूरब की ओर स्थित कार्ले की गुफाओं का निर्माण बौद्ध ढंग पर हुआ है। इसी स्टेशन से आधा मील की दूरी पर भज की प्रसिद्ध १८ गुफायें हैं, जिनको २०० ई० पूर्व का बताया जाता है। भेलसा (मध्य प्रदेश) जिले की उदयगिरि गुफाओं की संख्या २० है। ये गुफायें यद्यपि ब्राह्मण धर्म से संबद्ध हैं, किन्तु इसके लिए साथ ही उन्हें गुप्तकालीन बौद्धशिल्प एवं चित्रकला का भी ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है।

कालिदास ने 'मेघदूत' में जिसको नीचगिरि कहा है, वही आज उदयगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासकारों का अनुमान है कि यह उदयगिरि नामक स्थान शुंगों के समय विदिशा के नागरिकों का विलासकेन्द्र था। शुंगों के ही समय वहाँ शिव मन्दिर का निर्माण हुआ; किन्तु इसकी कुछ गुफायें नागों ने और कुछ गुप्तों ने बनवायी थीं। 'वीणा' नामक चौथी गुफा के गर्भगृह में स्थापित एकमुखी शिवलिंग नागजाति का स्मारक है। पाँचवीं गुफा की वराह मूर्ति को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बनवाया था। इसकी पहली और बीसवीं गुफायें जैनधर्म से संबद्ध हैं।

इसी प्रकार नासिक से ५ मील आगे, बाँईं ओर, त्रिरश्मि नामक पर्वत पर अवस्थित २३ गुफाओं के चैत्यों और मठों में बौद्धकला की उज्ज्वल विरासत मौजूद है।

हाल ही में सरकार के पुरातत्व-विभाग ने पीपलखोरा की गुफाओं की सफायी करवायी है। ये गुफायें बम्बई राज्य के औरंगाबाद जिले में, चालिसगाँव रेलवे स्टेशन से १२ मील दक्षिण की ओर स्थित हैं। इन स्तूप गुफाओं में पंखदार जानवरों तथा यक्षों की मूर्तियाँ और कुछ स्फटिक पेटियाँ मिली हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि के लेख हैं। इससे पता चलता है कि ये गुफायें २०० ई० पूर्व की हैं। यहाँ से कुछ महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है।

बौद्धकला का प्रचार प्रसार

यद्यपि ईसा की कुछ शताब्दियों पहले ही बौद्धधर्म का उदय और उसका प्रचार-प्रसार हो गया था; किन्तु बौद्धकला का आरंभ लगभग ईसा की पहली शताब्दी में हुआ। उस समय तक बौद्धधर्म पूर्णतया प्रकाश में आ चुका था। पहली शताब्दी के बाद बौधधर्म के प्रचारक भिक्षुओं ने अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ चित्रकला को उत्तम साधन स्वीकार किया; फलतः जब वे दूसरे देशों को गये तो अन्य बातों के साथ-साथ कपड़े पर बने हुए रोल चित्रपट भी लेते गये। उन पटचित्रों पर भगवान् तथागत का जीवन-दर्शन और उनकी शिक्षाएं दर्शित रहती थीं। जन साधारण को प्रभावित करने में इन पटचित्रों ने बड़ा काम किया। इन पटचित्रों के द्वारा ही चीन, लंका, जावा, स्याम, कम्बोडिया, बरमा, नेपाल, खुत्तन, तिब्बत, अफगानिस्तान, जापान और कोरिया आदि देशों में बौद्धकला तथा बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। बौद्धकला की समृद्धि का एक कारण यह भी था कि तत्कालीन विश्व-विश्रुत विद्या निकेतनों तक्षशिला, नालन्दा आदि में कला को भी शिक्षा का एक अंग माना जाता था।

समन्वयवादी बौद्ध संस्कृति में एक बड़ी बात देखने को यह मिलती है कि जिस प्रकार अपनी विजय-यात्राओं में उसने पिजित देशों की संस्कृति के अनेक तत्व अपनाये उसी प्रकार उन देशों की संस्कृति को भी अपने विचार और अपनी कला के उच्चादर्श दिये। उन देशों ने भारतीय चित्रकला के अनेक सिद्धान्तों को ग्रहणकर अपनी कलाओं को एक नयी दिशा दिखलायी। पगान के कई बौद्ध मंदिरों में

चित्रित जातककथाएँ, इसी प्रकार बर्मा के मंदिरों में तंत्रयान के आरी मत के अनेक चित्र इस बात के प्रमाण हैं। बर्मा के इन चित्रों में दर्शित तीक्ष्ण रेखाएँ और कुटिल भंगिमाएँ पाल शैली के अनुकरण पर हैं। लंका से प्राप्त अनेक भित्तिचित्रों पर अजन्ता कला की स्पष्ट छाप है। इसी प्रकार सिगिरीय को नारी मूर्तियों पर बौद्धकला का प्रभाव है। मीरान में पश्चिम एशियावासी रोमन चित्रकार तित द्वारा चित्रित **'वेस्सन्तर जातक'** में गान्धार शैली का प्रभाव स्पष्ट है। दंदा उइलीक से प्राप्त भित्तिचित्रों और चित्रपटों के अवशेष सातवीं या आठवीं सदी के हैं और उनकी शैली में भारतीय, चीनी तथा ईरानी शैलियों के प्रभाव स्पष्ट हैं। इन चित्रों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है उस समय ब्राह्मण और बौद्ध, दोनों धर्मों में सामंजस्य स्थापित हो चुका था।

मीरान के दो भग्न मंदिरों में कुछ भित्तिचित्र उपलब्ध हुए हैं। ऊपर जिस **'वेस्सन्तर जातक'** पर आधारित भित्तिचित्र का उल्लेख किया गया है उसके नीचे लिखी गयी लिपि के आधार पर उसका समय चौथी शताब्दी ईसवी का बताया जाता है। चित्र के अधोभाग में लिखे गये इस लेख से यह भी विदित होता है कि चित्रकार को पारिश्रमिक स्वरूप तीन सहस्त्र भामक मिले थे। इसका संयोजन भरहुत की प्रस्तर मूर्ति के अनुसार है। कुषाणयुगीन गांधार शैली के कलाकारों ने अपनी प्रस्तर कृतियों में भरहुत की कला का अनुकरण किया है। दंदा उइलीक में एक महत्वपूर्ण भित्तिचित्र मिला है। वह किसी स्त्री का चित्र है जिसके कान, कण्ठ और हाथों में भारतीय आभूषण हैं। उसकी कटि में क्षुद्र घंटिकाओं की चार लड़ें भी भारतीयता को प्रकट करती हैं। उसकी मुद्राओं में भी भारतीय प्रभाव है। उसके साथ एक बालक भी चित्रित है। भित्तिचित्र की पृष्ठिका में बुद्ध तथा बौद्ध स्थविर अंकित हैं। इन सभी की मुखाकृतियों में चीनी प्रभाव है।

कूचा क्षेत्र की अनेक गुफाओं में जो ब्रह्मा इन्द्र, पार्वती और नंदी युक्त शिव के चित्र मिले हैं उनमें भी भारतीय शैली-सज्जा है। एक चित्र में बादलों से विन्दु ग्रहण करते हुए चातकों का चित्र है। इन बादलों में सर्पाकृत बिजली भी अंकित है। ये सभी बातें राजपूत चित्रों में अधिकता से अंकित हुई हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ अनेक भित्तिचित्र, लकड़ी के चित्रफलक और सूती तथा रेशमी कपड़ों के चित्रपट भी मिले हैं, जिनमें भारतीय, चीनी तथा ईरानी कला-शैलियों का अद्‌भुत् सम्मिश्रण है।

बर्मा में बौद्धधर्म का प्रसार ईसा के आरंभ में ही हो चुका था। कलिंग या तेलंगाना की जो मोन जाति मौलमीन के उत्तर थाटन में जाकर बसी थी वह बौद्ध धर्मानुयायी थी और उसी के द्वारा वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। पांचवीं सदी के बाद तिब्बत के प्यू लोग भी मध्य बर्मा में जाकर बसने लगे थे। इस प्यू जाति के लोगों ने वहाँ लगभग १०० मठों का निर्माण किया, जिन पर सोने और चाँदी का काम दर्शनीय है। उस युग के अस्थिपात्रों पर उत्कीर्णित लेखों से विदित होता है कि उस समय वहाँ विक्रम वंश का कोई भारतीय राजा राज्य करता था।

थाटन में संप्रति ऐसे कोई भी उल्लेखनीय चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं। उसका कारण यह था कि ग्यारहवीं सदी में मोन राजधानी पेगू चली गयी थी।

प्राचीन प्रोम में यद्यपि अब मठों के कोई अवशेष नहीं दिखायी पड़ते हैं; फिर भी कुछ दिन पूर्व खुदाई करने पर वहाँ बुद्ध की कुछ सुन्दर मूर्तियाँ और सोने-चाँदी की ऐसी पिटारियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें संस्कृत भाषा के लेख खुदे हैं और जिनमें पाँचवीं-छठीं शताब्दी के गुप्तकालीन नमूने अंकित हैं।

ग्यारहवीं सदी के मध्य में बर्मियों ने बर्मा पर अधिकार किया और उनके तत्कालीन राजा अनोराता ने ईरावदी तथा चिंदविन नदियों के संगम के निकट पगान में अपनी राजधानी स्थापित की। उसने बौद्ध मंदिरों के निर्माण की परंपरा का आरंभ किया और यह परंपरा उसके बाद लगभग २५० वर्ष तक अक्षुण्ण रूप से बनी रही। पगान में आज भी एक ऐसा हिन्दू मंदिर विद्यमान है, जिसमें विष्णु के दस अवतारों की प्रस्तर मूर्तियाँ हैं, जिनमें नवीं मूर्ति बुद्ध की है।

पगान की अधिकांश इमारतें बौद्ध नमूने की हैं। वहाँ पाँच सहस्र स्तूपों के बनवाये जाने का उल्लेख मिलता है, जिनके अवशेष आज भी मिलते हैं। उनके मध्य में एक श्वेत आनन्द मंदिर बना हुआ है, जिसका निर्माण ग्यारहवीं सदी के लगभग अनोराता के पुत्र थियानसात ने करवाया था। उसी ने बिहार के बोध गया के प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ का भी पुनरुद्धार किया था। उसकी माँ भारतीय थी और उसने आठ भारतीय बौद्ध भिक्षुओं से बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी।

बर्मा के अतिरिक्त स्याम में भी मोन लोग जाकर बसे। दूसरी सदी में सुवर्ण द्वीप की यात्रा के लिए जो व्यापारी या धर्म-प्रचारक आंध्र से आते जाते थे, कदाचित् वे मौलमीन और पैगाड़ों होते हुए स्याम भी जाते थे। वहाँ कुछ बौद्ध मंदिर और अमरावती काल की बुद्ध-मूर्तियां भी मिली हैं। बैंकाक में एक ३८० फुट ऊँचा महान् स्तूप है, जो उत्तर भारत के नमूने का हैं।

उत्तरी स्याम के लैम्पून नामक स्थान में ईंटों का बना हुआ वर्गाकार एक पाँच मंजिला मंदिर है। उसके स्तूप के दोनों ओर बुद्ध की साठ खड़ी मूर्तियाँ निर्मित हैं। इस मंदिर की बनावट श्रीलंका के पड महल प्रासाद से मिलती है और संभवतः जो बारहवीं शताब्दी

के पहले बनाया गया था। इसके अतिरिक्त लेबपुरी तथा कैम्बेटोंग में कलापूर्ण गुप्तकालीन प्रतिमाएँ, और बुद्ध के प्रतीक हिरन तथा धर्मचक्र की मूर्तियाँ एवं पाँच खंडों में बुद्ध की एक २५ फीट ऊँची मूर्ति आदि बौद्धकला के प्रमाण स्वरूप उपलब्ध हुए हैं, जो तत्कालीन मूर्तिकला के उच्च नमूने कहे जा सकते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में ख्मेर लोगों ने मध्य स्थान पर अधिकार किया और उनका प्रभुत्व वहाँ लगभग २५० वर्ष तक बना रहा। ख्मेर कलाकारों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने में बड़ी उत्सुकता प्रकट की। इन मूर्तियों पर मोन की कला का स्पष्ट प्रभाव है। मध्य स्याम में ब्राह्मण शैली के मंदिरों के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

चीन का कलाधरातल बहुत ऊँचा रहा है। वहाँ के जन-जीवन में कला का उदय लगभग तेईस सौ वर्ष ई० पूर्व में हो चुका था। ई० पूर्व छठी शताब्दी के लगभग, जब कि ब्रश का उपयोग नहीं होता था, चीन की चित्रकला में रंगों का माधुर्य, तरुओं तथा टहनियों-शाखाओं की बनावट, पशु-पक्षियों का चित्रण और उन सभी दृश्यों में कमनीय भावों की अभिव्यक्ति तथा आकृति की सौम्यता——सभी बातों में अनूठापन था। बाद में ब्रश के उपयोग से वहाँ ऐसे चित्र बने, जिन्होंने चीन की चित्रकला में स्वर्णोदय उपस्थित कर दिया और जिनको विश्व की तत्कालीन कलाकृतियों में सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियाँ कहा जा सकता है।

चीन में भारतीय चित्रकला का प्रवेश तिब्बत के द्वारा हुआ और वहाँ से वह कोरिया होती हुई जापान में प्रविष्ट हुई। नेपाल के द्वारा चीन में भारतीय कला के प्रवेश के अनेक जीवित प्रमाण विद्यमान हैं। थांगकाल (७०० - ९०० ई०) के तुषित नामक (पेकिंग्) विहार में पाँच-सौ अर्हतों की मूर्तियाँ वर्तमान हैं, जिनमें समन्तभद्र, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और क्षितिगर्भ आदि की सुन्दर मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इन मूर्तियों के संबंध में यह संभावना की जाती है कि उनका निर्माण कुबलेखान के समय नेपाल से आये प्रसिद्ध कलाकार अरकिनो ने किया था। चीनी सम्राट् यांग ती (६०५ - ६१७ ई०) के दरबार में खुत्तन का एक चित्रकार रहता था, जिसके संबंध में कहा गया है कि वह और उसका पुत्र दोनों भारतीय शैली के बौद्ध चित्र बनाने में बड़े निपुण थे। कोरिया और चीन दोनों देशों में इन्हीं दोनों चित्रकारों द्वारा बौद्ध चित्रकला का प्रचार-प्रसार हुआ। जापान के प्राचीन चित्रों में भारतीय शैली के प्रभाव का यही कारण है।

चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश होने के बाद वहाँ की कला में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। उसके आलेखन में सुरुचि तथा सूक्ष्मता और रंगों में अपूर्व नयेपन का समावेश हुआ। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक और भारत की भूमि तक चीन की कला का प्रभाव फैला। उसके फलस्वरूप चीनी-भारतीय कला-प्रवृत्तियों में आदान-प्रदान होने लगा। भारतीय कला की कड़ियाँ बमियान, खुत्तन तथा तुर्किस्तान-तुर्फ़ान तक जुड़ी हुई थीं और उनमें प्रमुखता अजन्ता के चित्रविधान की थी। चीनी काफिले भी अपने बहुमूल्य सामान को बेचने के लिए पश्चिमी बाजारों में लाया करते थे। इसलिए भारतीय चित्रकला के अजन्ता-प्रभाव से वे अछूते न रह सके। बल्कि वे लोग खुत्तन तथा तुर्फ़ान से इन भारतीय चित्रों को अपने साथ लेते गये। भारतीय गुफाचित्रों की कमनीयता से प्रभावित होकर चीन के उत्तर-पश्चिम में स्थित कान्सू प्रान्त के पहाड़ को काटकर वहाँ ४६९ गुफायें बनवायी गयीं, जिनकी भित्तियों पर अजन्ता, बाघ और एलोरा आदि की महान् कला-कृतियों का रूपात्मक दाय अंकित किया गया।

समृद्ध चीनी चित्रकला पर बौद्धकला के प्रभाव का उल्लेख करते हुए डा० चाउ सिआंग कुआंग ने (**चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास** भूमिका, पृ० ११-१२) लिखा है :

"बौद्धधर्म के चीन में आने के बाद हमारी चित्रकला को नूतन प्रोत्साहन मिला। चित्रकारों को बौद्धधर्म ने नये भाव दिये। हमारे मन्दिरों के भित्तिचित्रों तथा बौद्धचित्रों पर अजन्ता के भित्तिचित्रों का प्रभाव हो सकता है। हमारे इतिहास के आरंभिक युग को सबसे प्रसिद्ध चित्रकार के नाम कुओ-तान-वाई और कुओ-हा-तो है। वे बुद्धचित्रों के निर्माण की दिशा में प्रख्यात थे। चीन में बहुत से चित्रकार मठों के शांत और एकान्त वातावरण में रहते थे और वहाँ के मन्दिरों की भित्तियों को बुद्ध अथवा अन्य संतों के जीवन की घटनाओं तथा पश्चिमी स्वर्ग के चित्रों से अलंकृत किया करते थे। बौद्ध चित्रकारों में सब से अधिक प्रसिद्ध व-ताओ-तूजे है, जो ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। वह बौद्ध था और उसने मठों में बहुत कार्य किया।"

जापान में भी भारतीय साहित्य, संस्कृति और कला का प्रवेश बौद्धधर्म के माध्यम से हुआ और यह बौद्धधर्म चीन और कोरिया के माध्यम से जापान में प्रविष्ट हुआ। वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश सर्व प्रथम ५५२ ई० में हुआ, जब कि कोरिया के शासक ने जापान के सम्राट् किमेई के राजदरबार में शाक्य मुनि की प्रतिमा के साथ सूत्रों तथा दूसरे बौद्ध ग्रन्थों को भेजा था। उस समय बौद्धधर्म में त्रस्त और क्षुब्ध मानवता को प्रभावित करने का ऐसा जादू था, जिससे एशिया भर के लोग सहज ही उसकी शरण में आ गये। लगभग पाँचवीं-छठी शताब्दी में जापान के कलाकारों ने भारतीय प्रतिमानों के आधार पर अपनी कृतियों का निर्माण करके जापानी

चित्रकला के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात किया। चीनियों तथा कोरिया-मंगोलिया-वासियों की कला में जो सुरुचि-सूक्ष्मता तथा आकर्षण था, उन सभी विशेषताओं को लेकर जापान की चित्रकला का उत्थान हुआ। जापान में बौद्धधर्म और बौद्ध साहित्य के प्रचारार्थ बोधिसेना की यात्रा महत्वपूर्ण रही है। यह बौद्धभिक्षु दक्षिण भारत का निवासी था और ७३६ ई० में उसने जापान की यात्रा की थी। बाद में उसको जापान के बौद्ध मठों का प्रधान बनाया गया।

व्यापारी वर्ग द्वारा तथा सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सद्भावना मंडलों द्वारा भी जापान में भारतीय कला का प्रवेश हुआ। बौद्धस्तूप इसके प्रमुख आकर्षण थे। जापान में इस प्रभाव की कृतियाँ आज भी वहाँ के बौद्ध मंदिरों में सुरक्षित हैं। आठवीं शताब्दी में निर्मित होरऊजी के मंदिर की दीवारों की चित्रकारी पर अजन्ता की शैली का प्रभाव है और सेरयूजी के बौद्ध मंदिर की बुद्ध प्रतिमाओं में गांधार शैली का दाय। इन प्रतिमाओं में भारत और जापान तथा दूसरे देशों की कलात्मक एकता का दर्शन होता है।

स्याम के लोग यूनान तथा दक्षिण चीन से आये थे और इसलिए उन के साथ ही स्याम में चीनी संस्कृति का प्रवेश हुआ। वे हीनयान के समर्थक थे, जिसकी परंपरा उन्होंने श्रीलंका से अपनायी थी। इसलिए स्याम के मंदिरों पर यूनान, चीन और श्रीलंका की कला का प्रभाव है।

थाई पैगोडा में सिंहली प्रभाव है, किन्तु वहाँ के बिहारों की गुफाओं में जो साँपों के फन बने हुए हैं उनमें चीन का प्रभाव है, क्योंकि यह तरीका न तो भारत में था और न श्रीलंका में ही देखने को मिलता है। स्याम, बैंकाक और अयुतबिय आदि में तेरहवीं-चौदहवीं शदी के अनेक मठ तथा बहुसंख्यक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

अंकोर का मंदिर संसार की आलीशान इमारतों में से एक है। आरंभ में वह विष्णु का मंदिर था, किन्तु बाद में उस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। यह इमारत बौद्धकला और शिल्प की दृष्टि से अनुपम है।

संसार के अधिकांश देशों में भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य आदि के प्रचार का माध्यम बौद्धधर्म रहा है, किन्तु कुछ देश ऐसे भी हैं जहाँ बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व ही हिन्दू संस्कृति का प्रचार हो चुका था। हिन्दचीन और कम्बोडिया, जिनको प्राचीन इतिहास में क्रमशः चम्पा और कम्बोज कहा गया है, ऐसे ही देश हैं। चीन के इतिहासकारों के कथनानुसार हिन्दचीन में पहली शताब्दी के लगभग हिन्दू विचारधारा एवं हिन्दू धर्म का प्रवेश हो चुका था। ऐसी अनुश्रुति है कि दक्षिण भारत के कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने हिन्दचीन में अपना राज्य स्थापित किया था। इस क्षेत्र में उपलब्ध पल्लव लिपि के संस्कृत अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ संस्कृत का पर्याप्त प्रचार था। तत्कालीन भारत की भाँति वहाँ की राजभाषा भी संस्कृत ही थी। हिन्दचीन के संस्थापक का नाम श्रीमार बताया जाता है। ३८० ई० में वहाँ चन्द्रवर्मा नामक राजा राज्य करता था, जिसके संबंध में यह कहा जाता है कि वह हिन्दू धर्म का परम अनुयायी और वेदों का प्रकाण्ड विद्वान् था।

कम्बोडिया में शैव और वैष्णव धर्म की प्रधानता रही है। वहाँ के राजा लोग महाहोम, लक्षहोम और कोटिहोम आदि यज्ञों को करते थे। संप्रति कंबोडिया में प्रायः सभी मंदिर हिन्दू देवताओं और विशेषतः शिव या विष्णु के देखने को मिलते हैं। कम्बोडिया की राजधानी अंकोरवाट (यशोधरपुर) में १२वीं शताब्दी के आरंभ में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ। उनमें एक विख्यात मन्दिर सम्राट् सूर्यवर्मन् ने बनवाया था। उस मन्दिर के शिलापटों पर **'रामायण'** और **'महाभारत'** की कथाओं से सम्बद्ध अनेक दृश्य अंकित हैं, जो कि जावा और बोरु-बुदुर के मन्दिरों की चित्रकला की अपेक्षा अधिक कलात्मक हैं।

कम्बोडिया का ख्मेर राजा जयवर्मन् सप्तम महायान संप्रदाय का अनुयायी था। उसकी राजधानी बेयोन में थी। उसने भी बौद्धधर्म के अनेक मठ बनवाये और उसके मठों की विशेषता यही थी कि उन पर बोधिसत्व लोकेश्वर के चार मुख बने हुए हैं। चीनी ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि जयवर्मन् ने १४८४ ई० में शाक्य नागसेन नामक एक बौद्धभिक्षु को चीन भेजा था।

विएतनाम की अधिकांश जनता बौद्धधर्मानुयायी है। वहाँ महायान संप्रदाय का अधिक प्रचलन रहा। विएतनाम के विभिन्न बिहारों में लगभग २० भारतीय बौद्ध भिक्षु रहते थे, जिन्होंने वहाँ लगभग २०० शिष्यों का निर्माणकर बौद्धधर्म की स्थिति को मजबूत बनाया। उन्होंने अनेक पालि ग्रन्थों का विएतनामी भाषा में अनुवाद भी किया। जेतवन विहार के प्रमुख नागा थेरा (बू-चोन) संप्रति बौद्ध संस्कृति के प्रचार-प्रसार में बड़ा महत्व रखते हैं। उत्तरी वियतनाम में आजकल बौद्ध संस्कृति की सुरक्षा के लिए अनेक कार्य हो रहे हैं। अभी हाल में वहाँ की सरकार ने भारत सरकार को अवलोतिकेश्वर बोधिसत्व की एक मूल्यवान् एवं कलापूर्ण मूर्ति भेंट की है।

मलाया और जावा में बौद्धकला की विपुल निधि आज भी सुरक्षित है। मलाया में नालन्दा शैली पर निर्मित बोधिसत्वों की धातु मूर्तियाँ और पल्लव शैली में विष्णु की प्रस्तर मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। आठवीं शताब्दी के शैलेन्द्रवंशीय राजाओं द्वारा जावा

में निर्मित कलाकृतियाँ अपने क्षेत्र की अनुपम कृतियाँ हैं। जावा के मध्य में निर्मित बोरु-बुदुर का मध्य स्तूप अपनी प्राकृतिक और कलात्मक बनावट के लिए बौद्धकला का स्मरणीय स्मारक है। उसमें बुद्ध-जीवन से संबद्ध १२० मूर्तियाँ बनी हुई हैं। उसकी चारों बीथियों में १३०० मूर्तियाँ हैं, जिनको एक साथ जोड़ा जाय तो उनकी लंबाई तीन मील अनुमान की गयी है। इन मूर्तियों में सर्वथा मौलिक कलात्मक दृष्टिकोण है।

भारत का तिब्बत के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। यह संबंध कई शताब्दियों पहले से है। बहुत-सी बातों में तो तिब्बत और भारत दोनों देशों की मौलिक एकता रही है। धर्म, कला, साहित्य और संस्कृति आदि के आदान-प्रदान की दृष्टि से दोनों देशों के आपसी संबंध अटूट रूप से बने हुए हैं। तिब्बत की कलात्मक अभ्युन्नति की दिशा में भारतीय संस्कृति का बड़ा योग रहा है।

तिब्बत की चित्रकला का बारीकी से अध्ययन करने वाले विद्वानों ने उसको तीन वर्गों में विभाजित किया है। पहल वर्ग में वे चित्र आते हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो भारतीय बौद्ध मूर्तियों से उद्धृत है और जिनकी सहायक रेखाओं के लिए चीन की कला का अनुकरण किया गया है; दूसरे वर्ग के चित्र वे हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो चीन के ढंग की है किन्तु रेखाओं के लिए भारतीय कला का अनुकरण किया गया है—अर्थात् पहिले वर्ग के सर्वथा विपरीत; और तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन चित्रों को रखा गया है, जो या तो प्रथम दोनों वर्गों के सम्मिश्रण से बनाये गये हैं अथवा जिनका उन दोनों से कोई संबंध नहीं है। ये तीसरे वर्ग के चित्र ही वस्तुतः विशुद्ध तिब्बतीय चित्र कहे जा सकते हैं। इन तीनों श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ चित्र ऐसे भी हैं, जिन पर नेपाली चित्रशैली का प्रभाव है। इस प्रकार के चित्र बहुत ही मूल्यवान् हैं।

तिब्बतीय चित्रों में मुद्राओं का भी उपयोग हुआ है, जो कि किसी प्रतीकात्मक ध्येय को व्यंजित करने की दृष्टि से योजित की गयी हैं। तिब्बत में १५वीं शताब्दी से पूर्व के चित्र नहीं मिलते।

भारत और तिब्बत, दोनों देशों की शैलियों में, यथा पोशाकों तथा शिरोवस्त्र आदि में, पर्याप्त साम्य है। तिब्बतीय चित्रों और वहाँ की गुफाओं के भित्तिचित्रों में प्राप्त होने वाली लंबी दाढ़ी वाली कलम सर्वथा भारतीय अनुकृति मानी जाती है। तिब्बत में धार्मिक चित्रों की दृष्टि से सर्वोच्च कृति तांक-का के मंदिर में लटकने वाले वस्त्रचित्र हैं। ये चित्र सूती और रेशमी, दोनों प्रकार के पर्दों पर निर्मित हैं। मानवाकृति के चित्रण में भी तिब्बत के कलाकार बड़े निपुण थे, जिसके उदाहरण लामाओं के कई चित्र, काठमांडू के नेपाल म्युजियम में आज भी सुरक्षित हैं।

तिब्बत की चित्रकला में लौकिक और अलौकिक भावनाओं का समन्वय देखने को मिलता है। पशु, पक्षी, पेड़, पुष्प, ऋतु आदि प्राकृतिक विषयों के चित्रों से लेकर तथागत से सम्बन्धित धार्मिक चित्रों तक एक अकल्पित भावना व्याप्त है। उनकी रेखायें देखने वाले को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। तिब्बत में नालन्दा के एक स्नातक ने चित्रकला के क्षेत्र में एक ऐसी शैली को उद्भावित किया, जिसमें तांत्रिकता के साथ-साथ मानवीय प्रतिमानों का ऐसा चित्रण देखने को मिलता है, जिसमें सुरुचि और विरुचि, दोनों का अद्भुत मिश्रण है। प्रत्येक चित्र की आधारभूमि मानवीय होती हुई भी उसको इस रूप में दिखाया गया है कि वह वायवी होकर किसी अज्ञात लोक का रहस्य प्रकट करता है। वे आकृतियाँ हमारे बीच की होकर भी हमें ऐसी लगती हैं, जैसी देवदूत की हों। जहाँ तक रंगों का सम्बन्ध है, तिब्बत की चित्रकला में विशेष रूप से हरे रंग को अपनाया गया है।

तिब्बती अनुवाद के रूप में उपलब्ध **'चित्रलक्षण'** नामक ग्रंथ की समीक्षा करते हुए विद्वानों का कथन है कि तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर इस ग्रंथ के संविधानों का इतना प्रभाव है कि वे सभी चित्र भारत के मालूम होते हैं। यह ग्रंथ गांधारराज नग्नजित् का बताया जाता है। इस राजा का उल्लेख संस्कृत के प्राचीनतम ग्रंथों में आदिम चित्राचार्य के रूप में हुआ है।

तिब्बत द्वारा भारतीय चित्रकला का प्रवेश नेपाल में हुआ। क्योंकि तिब्बत का चीन के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो चुका था। इसलिए तिब्बत के द्वारा कला की जो विरासत नेपाल को गयी उसमें भी चीनी प्रभाव स्पष्ट है। नेपाल ने अपने चित्रकारों को तिब्बत और चीन भेजा। वहाँ उन्होंने भारतीय, चीनी और तिब्बतीय शैली के अनेक चित्र निर्मित किये और अनेक शिष्य तैयार किये। यह आदान-प्रदान तेरहवीं-चौदहवीं शती तक बना रहा।

मध्य एशिया में उपलब्ध भारतीय चित्रों के प्राचीन अवशषों को देखकर उनकी लोकप्रियता और व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १९०३ ई० में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और बलूचिस्तान में डॉ० औरल स्टीन को एक नियत अवधि के लिए पुरातत्व-विभाग में नियुक्त किया गया था। अभी तक अजन्ता और बाघ से प्राप्त चित्राकृतियों द्वारा ही भारत की प्राचीन कला का माप-जोख किया जाता था; किन्तु महाशय स्टीन ने मध्य एशिया के ईरान, दनदन, अहिलिक आदि से जो चित्र नमूने प्राप्त किये उनसे भारतीय चित्रकला की प्राचीनता और भी चमक उठी। उन्होंने अफगानिस्तान में भी बामियाँ की गुफाओं से चौथी से छठीं

शताब्दी तक के चित्र प्राप्त किये थे। इन कलाकृतियों में भारतीय, ईरानी, चीनी प्रभावों का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। बामियाँ के उत्तरस्थ फोंइरिस्तान में जिन बौद्ध मठों का स्टीन ने पता लगाया, उनमें भी गुप्त तथा पाल राजाओं के आदेशों पर निर्मित चित्र मिले।

डॉ० स्टीन ने बड़ी कुशलता एवं बड़े श्रम से मध्य एशिया से उपलब्ध भित्तियों को लगभग दो इंच मोटे दीवाल के पलस्तरों सहित उतारकर अल्मोनियम के फर्मों पर जमाया। ये चित्र दिल्ली के सेन्ट्रल एशिया ऐंटीक्वीटीज म्युजियम के तीन कमरों में स्थापित किये गये। ये सभी कलाकृतियाँ चौथी से दशवीं शताब्दी तक की हैं। इस प्रकार का और इतना बड़ा भित्तिचित्र-संग्रह विश्व भर में और कहीं नहीं है। कला तथा कला इतिहास के विद्यार्थियों के लिए इन भित्तिचित्रों का भारी महत्त्व है। मध्य एशिया से प्राप्त इन भित्तिचित्रों पर बौद्धकला और विशेष रूप से अजन्ता का प्रभाव है।

इस प्रकार बौद्धकला ने एशिया के बृहद् भू-भाग की कला-चेतना को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया। अपने देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक उत्थान को सुदूर देशों में पहुँचाने का कार्य भी बौद्धकला के माध्यम से संपन्न हुआ। शांति और सद्भाव की स्थापना में बौद्धकला का महत्वपूर्ण योग रहा। जन-सामान्य में कल्याणकारी बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए बौद्धकला को श्रेष्ठ माध्यम के रूप में अपनाया गया।

बौद्धकला में चित्र, स्थापत्य और शिल्प की त्रिवेणी का एक साथ दर्शन होता है। असंख्य मठ, संघाराम, बिहार और चैत्य आज भी बौद्धकला के उज्ज्वल अतीत के साक्षी हैं। चित्रों से समलंकृत भव्य गुफा-मण्डपों को देखकर लगता है कि उनके निर्माता स्थपतियों ने अपने जीवन की संपूर्ण साधना को उनमें रूपायित कर दिया। कदाचित् यही कारण है कि कई शताब्दियों के बीत जाने पर भी उनकी ताजगी में कोई अन्तर न आने पाया। जिस कलालिप्सु ने भी उनका दर्शन किया वही उनके सौन्दर्य-मण्डित स्वरूप में डूब गया।

★

पाल शैली
गुजरात शैली
अपभ्रंश शैली
जैन शैली

पूर्व पीठिका

दशवीं शताब्दी ईसवी से पहले भारतीय चित्रकला की प्राचीन परपम्परा का प्रतिनिधित्व भित्तिचित्रों में मिलता है। ये भित्तिचित्र अधिकांश में बौद्धकला से और अल्पांश में जैनकला से अनुबद्ध हैं। भित्तिचित्रों के निर्माण से पूर्व बौद्धकला और जैनकला का समृद्ध रूप मूर्तियों तथा मंदिरों के शिल्प में व्याप्त हो चुका था। भित्तिचित्रों के निर्माण के बाद उसका पूरा रूप निखर आया।

दशवीं शताब्दी ई० से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी ई० तक के पाँच-सौ वर्षों में चित्रकला की उक्त परम्परा को जीवित बनाये रखने का श्रेय पाल, जैन, गुजरात एवं अपभ्रंश शैलियों को है। इन पाँच-सौ वर्षों के समय को कुछ विद्वानों ने चित्रकला की अवनति का समय कहा है; किन्तु इस संबंध में आज हमारे समक्ष इतनी अधिक सामग्री विद्यमान है, जिसको देखकर हमें यह कहना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि पाँच शताब्दियों का यह समय, चित्रकला के निर्माण की दृष्टि से पूर्वापेक्षया किसी भी अंश में हीनत्त्व का परिचायक नहीं रहा।

साहित्य के ही क्षेत्र को यदि हम लें तो संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की काव्य, नाटक, कथा आदि अनेक विषयों की कृतियों में चित्रकला के संबंध में ऐसी चर्चायें होने लगी थीं, जिनको पढ़कर लगता है कि विद्वानों, राजाओं और जन-सामान्य में सर्वत्र उसका प्रचार-प्रसार हो चुका था। भोज (१००५-१०५४ ई०) का **'समरांगणसूत्राधार'** और सोमेश्वर भूपति (१२वीं श०) का **'मानसोल्लास'** इस युग की दो ऐसी विश्वकोषात्मक रचनाएँ हैं, जिनमें अन्य अनेक विषयों के अतिरिक्त चित्रकला के विधि-विधानों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इन लक्षण ग्रन्थों को पढ़कर सहज ही तत्कालीन चित्रकला की समृद्धि का पता लगता है। सोमदेव और क्षेमेन्द्र (११वीं श०) कृत **'कथासरित्सागर'** के दोनों संस्करणों में ऐसी चर्चायें देखने को मिलती हैं, जिनसे विदित होता है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला के प्रति गहरी अभिरुचि जागृत हो चुकी थी; और साथ ही यह भी कि उससे भी सैकड़ों वर्ष पहले भारत में चित्रकला की उपयोगिता पर आस्था होने लगी थी।

इस युग में अधिकतर, पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र निर्मित हुए। ऐसी सचित्र पोथियों का निर्माण प्रायः बंगाल, बिहार और नेपाल में हुआ। नालन्दा और विक्रमशिला आदि तत्कालीन विद्या-निकेतनों में ही अधिकतर इस प्रकार की सचित्र पोथियाँ लिखी गयीं। इन पोथियों में मुख्यतया बुद्ध-प्रतिमानों और अनेक देवी-देवताओं के चित्र निर्मित हुए। उक्त तीनों कन्द्रों की शैली भी प्रायः समान थी। इस युग की चित्रशैली के सम्बन्ध में राय कृष्णदास जी का कथन है कि "इनमें लाल (सिन्दूर, हिंगुल तथा महावर), पीला (हरताल वा संभवतः प्योड़ी), नीला (लाजवन्ती तथा नील), सफेद एवं काला—ये मूल रंग तथा इनके सम्मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैंगनी, फाखतई आदि रंगों का प्रयोग मिलता है। सोने का रंग इनमें नहीं पाया जाता। पटरों पर के चित्रों या उनकी रक्षा के लिए लाख चढ़ी होती थी।"

इस युग की चार प्रतिनिधि शैलियाँ रही हैं, जिनके नाम हैं पाल शैली, जैन शैली, अपभ्रंश शैली और गुजरात शैली। इन चारों शैलियों के चित्रों में प्रायः इतनी समानता है कि इनको पृथक् करने और इनका उपयुक्त नाम देने के संबंध में बड़ा विवाद चला आ रहा है। इस विवाद के कारणों को आगे स्पष्ट किया गया है।

पाल शैली

तिब्बतीय इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि ७वीं शताब्दी के पश्चिम भारत में जिस चित्रशैली का निर्माण हुआ था, उससे भिन्न ९वीं शताब्दी के पूर्वी भारत में एक नवीन चित्रशैली का उदय हुआ। पूर्वीय चित्रकला का केन्द्र बंगाल था। धर्मपाल एवं देवपाल नामक पाल राजाओं के संरक्षण में अजन्ता के अनुकरण पर जिस स्वस्थ शैली का बंगाल में निर्माण हुआ उसका प्रमुख चित्रकार धीमान तथा उसका पुत्र वितपाल था। इस चित्रशैली का विकास तिब्बत तक हुआ। नेपाल की चित्रकला में पहले तो पश्चिम भारत की शैली का प्रभाव बना रहा और बाद में उसका स्थान इस नव-निर्मित पूर्वीय शैली ने ले लिया।

नवम शताब्दी में जिस नयी शैली का आविर्भाव हुआ था उसके प्रायः सभी चित्रों का संबंध पालवंशीय राजाओं से था। अतः उसको **'पाल शैली'** के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त समझा गया।

पाल शैली में पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र ही अधिकतर निर्मित हुए हैं। इन दृष्टान्त-चित्रों में पहला स्थान तो उन चित्रों का है, जो **'प्रज्ञापारमिता'** आदि महायान बौद्ध ग्रंथों पर आधारित हैं। इस प्रकार के चित्रों का निर्माण १०वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी के भीतर बंगाल, नालन्दा, विक्रमशिला, नेपाल और बिहार में हुआ। इस काल की सभी पोथियाँ तालपत्र पर हैं, जिनमें सुन्दर लिपि, तराशे हुए अक्षर और चमकीली स्याही का प्रयोग हुआ है। इन पोथियों पर बीच-बीच में बौद्धधर्म-संबंधी चित्र बने हुए हैं। उनकी दफतियों या काष्ठपटों पर भी बुद्ध के जीवन तथा उनके शिक्षा-सम्बन्धी चित्र अंकित हैं, जो जातक-ग्रंथों पर आधारित हैं। इस शैली के चित्रों पर अजन्ता के शिल्प का प्रभाव है।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, पाल शैली के प्रमुख तीन केन्द्र थे: बंगाल, बिहार और नेपाल। इन तीनों केन्द्रों में आज भी इस शैली के चित्र सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त विदेशों में भी कुछ कृतियाँ मिलती हैं। भारत में ये कलाकृतियाँ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, तथा आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अजित घोष, राय कृष्णदास और बड़ोदा, बीकानेर, अहमदाबाद आदि के कला-संग्रहों में सुरक्षित हैं। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय और वहाँ के राजगुरु के निजी पुस्तकालय में पाल शैली की कुछ सचित्र पोथियाँ सुरक्षित हैं। विदेशों में इस प्रकार के ग्रन्थचित्र मुख्यतया बोस्टन (अमेरिका) के संग्रहालय में संग्रहीत हैं।

बंगाल के पटचित्र

१८वीं तथा १९वीं शताब्दी में बंगाल में जिस चित्रशैली का प्रचलन हुआ उसको 'गौड़ शैली' के नाम से कहा गया है। १९वीं शताब्दी में निर्मित गौड़ शैली के कुछ चित्रों का चयन श्री अजितघोष ने किया है। इस शैली के चित्रकारों में नीलमणिदास, बलरामदास और गोपालदास का नाम प्रमुख है, जिन्होंने **'रामायण'**, **'महाभारत'** और **'भागवत'** आदि के अच्छे दृष्टान्त चित्र बनाये।

पटचित्रों के निर्माण में गौड़ शैली की अपनी विशेषता रही है। इस प्रकार के पटचित्र गुजरात, राजस्थान और उत्तर प्रदेश आदि में भी बनाये गये। तिब्बत और नेपाल के पटचित्र प्रसिद्ध हैं। इन पटचित्रों के सम्बन्ध में सुबन्धु की **'वासवदत्ता'**, बाण की **'कादम्बरी'** और सोमदेव के **'कथासरित्सागर'** में अनेक तरह से उल्लेख किया गया है। किन्तु बंगाल में यह परम्परा विशेष रूप से प्रचलित रही और लगभग पचास वर्ष पूर्व, जब तक कि छापाखानों का अधिक प्रचलन न हुआ था, बंगाल में इन चित्रों के निर्माण की अटूट श्रृंखला बनी रही। ये पटचित्र मनोरंजन, विनोद और आजीविका के साधन माने जाते थे। विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए इस प्रकार के चित्रों को बड़े पैमाने पर उपयोग में लाया गया। बंगाल में ये चित्र बहुत ही लोकप्रिय रहे और ज्यों-ज्यों उनको आजीविका का सस्ता साधन बनाया गया त्यों-त्यों स्वभावतः उनकी लोकप्रियता, उपयोगिता और प्रसिद्धि कम होती गयी।

इस प्रकार के पटचित्रों का प्रचलन यद्यपि बहुत पुराना है; फिर भी बंगाल में हम जिन चित्रों का प्रचलन देखते हैं उनका आधार बहुत पुराना नहीं है, और उनमें जो लोककला की अभिरुचियाँ देखने को मिलती हैं उनमें भी प्राचीन परम्परा का कोई चिह्न विद्यमान नहीं है। वस्तुतः बंगाल में जिन पटचित्रों का प्रचलन हुआ उनके निर्माणकर्ता अशिक्षित और व्यवसायी थे। इसलिए न तो वे प्राचीन परम्परा को ग्रहण करने में समर्थ हो सके और न ही वे अजन्ता तथा बाघ आदि के भव्य वर्ण-विधान तथा लोकप्रिय विषय-वस्तु को ही ग्रहण कर सके। वस्तुतः उनमें न तो अपनी कल्पना थी, न अपने भाव और न नूतन अभिव्यंजना ही। इन चित्रों का वही महत्व एवं वही स्थिति थी, जो कि बंगाल की स्त्रियों द्वारा विशेष उत्सवों पर बनाये गये अल्पनाचित्र की है। इस प्रकार के पटचित्रों में परम्परा का निर्वाह मात्र था। नयी अभिरुचियों और नयी परिकल्पनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

ये पटचित्र इसलिए अधिक प्रसिद्धि न पा सके, क्योंकि पहले तो उनके निर्माता कलाकार परम्परा से प्राप्त अपने ज्ञान को एक ही तरह की घिसी-पिटी शैली में चला रहे थे, और दूसरे में उसको उन्होंने घरेलू व्यवसाय का रूप दे दिया था। उनके बहुधा कुछ गिने-चुने विषय हुआ करते थे, जिनमें प्रमुख दो ही थे। पहले प्रकार के चित्र तो वे थे, जो मेलों में बेचने के उद्देश्य से बनाये जाते थे और इसलिए जिनका मूल्य होता था दो-दो पैसा। मेलों के लिये बनाये जाने वाले चित्रों को एक दिन में दो-सौ तक बनाया जाता था। दूसरे प्रकार के चित्र वे हुआ करते थे, जिनमें **'रामायण'** या **'महाभारत'** अथवा कृष्णकाव्य, तांत्रिक देवी-देवताओं का चित्रण हुआ करता था। ये चित्र घूम-घूम कर प्रचारित किये जाते थे।

इन पटचित्रों में बंगाल की लोककला अवश्य ही १९वीं शताब्दी के अन्त तक अक्षुण रूप में बनी रही। उसके बाद इस प्रकार के चित्रों का प्रचलन बन्द हो गया। बंगाल के ये पटचित्र स्थानीय लोकशैली से सम्बन्धित होने के कारण कुछ महत्त्व रखते हैं।

गुजरात शैली

भारतीय चित्रकला के इतिहास में गुजरात शैली, अपभ्रंश शैली और जैन शैली का नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा जहाँ भारतीय चित्रकला का उज्ज्वल अतीत आलोकित होता है, वहाँ उनके समागम से सुनहरे भविष्य की पृष्ठभूमि का निर्माण भी होता है।

किन्तु इन तीनों शैलियों की एकता तथा भिन्नता के प्रश्न को लेकर हमारे कला-समीक्षकों में लम्बी अवधि तक विवाद चलता रहा, जो कि आज भी अपने स्थान पर पूर्ववत् बना है।

इस विवाद की सर्वसमर्थित मान्यताओं का स्पष्टीकरण न हो सकने के कारण अन्य दो शैलियों को किसी एक शैली के अन्तर्गत न मानने की अपेक्षा हमने अधिक उपयुक्त यही समझा है कि विद्वानों ने जिस रूप में उनका विकास दिखाया है उसी रूप में उनका व्योरा प्रस्तुत किया जाय। इसी दृष्टि से हमने तीनों शैलियों के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित विधाओं को, पुनरुक्तियों के बावजूद, उसी रूप में प्रस्तुत किया है।

पश्चिम भारत की प्रभावशाली गुजरात चित्रशैली के संबंध में आज से लगभग तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व हमें प्रायः कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं थी। उस समय भारतीय चित्रकला का विवेचन प्रस्तुत करते हुए अनेक विद्वानों की यही धारणा रही है कि अजन्ता, बाघ आदि के गुफाचित्रों के बाद, अर्थात् लगभग ७वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी में राजपूत चित्रकला के प्रकाश में आ जाने तक, लगभग आठ-नौ शताब्दियों का समय इस दृष्टि से अंधकारमय रहा है। इन शताब्दियों में भारतीय चित्रकार अपनी साधना के प्रति या तो उदासीन रहे अथवा उस समय की सभी कृतियाँ कालकवलित हो गयीं। इस धारणा के विपरीत आज गुजरात शैली की अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के प्रकाश में आ जाने के कारण अब यह भ्रांति निर्मूल-सी हो गयी है कि गुफाचित्रों के बाद तथा राजपूत शैली के निर्माण से पहले भारतीय चित्रकला की परंपरा ध्वस्त हो चुकी थी।

इस संबंध की सूचना देने वाले विद्वानों में पहला नाम डॉ० आनन्दकुमार स्वामी का है। उन्होंने १९२४ ई० में बर्लिन म्युजियम में सुरक्षित **'कल्पसूत्र'** की एक सचित्र प्रति का परिचय प्रस्तुत करके विद्वत्समाज में गुजरात चित्रशैली की गवेषणा के संबंध में जिज्ञासा जगायी। इसके कुछ समय बाद **'बालगोपालस्तुति'**, **'गीतगोविन्द'**, **'दुर्गासप्तशती'**, **'रतिरहस्य'**, और एक काव्यकृति आदि उक्त शैली के ऐसे सचित्र ग्रन्थ प्राप्त हुए, जिनका गुजरात से कोई रिश्ता नहीं था। अतः डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने इस शैली का नया नामकरण 'पश्चिम भारतीय शैली' किया।

इसी वर्ष श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने **'रूपम्'** पत्रिका में गुजरात शैली की गवेषणा से संबंधित अपना एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके इस लेख का आधार था **'वसन्तविलास'** की सचित्र प्रति। स्व० मेहता जी को गुजरात से **'वसन्तविलास'** नामक एक संस्कृत-गुजराती मिश्रित काव्यकृति उपलब्ध हुई। इसका लिपिकाल १४५१ ई० है। यह एक लम्बाकार कुण्डलीनुमा चित्रपट है, जो कि कपड़े पर बना हुआ है। इस चित्रपट पर ७९ चित्र हैं। ये सभी चित्र जैनधर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। इसलिए मेहता जी ने इन चित्रों को **'गुजरात शैली'** के नाम से कहा, क्योंकि वे गुजरात में मिले थे। बाद में अपनी पुस्तक में **'स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग्स ऑफ गुजरात'** नाम से स्वतंत्र अध्याय लिखकर उन्होंने गुजरात चित्रशैली के संबंध में महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनायें प्रस्तुत कीं। मेहता जी का कथन है कि 'वन में वसन्त का अवतार और नर-नारियों के उद्दाम यौवन को प्रदीप्त करने वाली उसकी कल्याणी शोभा का अत्यन्त सजीव चित्रण इस पट के चित्रों में प्रकाशित हुआ है; और उसी के अनुरूप भाव-बोधक गुजराती लिपि में संस्कृत के छन्द भी साथ-साथ लिखे हुए हैं।'

इस चित्रशैली को समझने के लिए एक भ्रम जैनचित्रों की उपलब्धि से भी उत्पन्न हुआ। १०वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी के बीच पश्चिम भारत में जिन चित्रों का निर्माण हुआ उनका विषय यद्यपि जैनेतर ग्रन्थ भी थे; किन्तु उसका सम्बन्ध मुख्यतया जैन धर्म के प्राकृत ग्रन्थों से ही था। इसलिए इन शताब्दियों में निर्मित चित्रों को **'जैन शैली'** के नाम से भी कहा गया। इन चित्रों को यह नाम इसलिए भी दिया गया, क्योंकि वे जैन साधुओं के द्वारा निर्मित हुए थे।

जैसा कि डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने इस शैली के चित्रों का नया नामकरण **'पश्चिम भारतीय शैली'** के नाम से भी किया, बाद में इस धारणा को भी मान्यता नहीं प्राप्त हुई। जब कि मारवाड़, अहमदाबाद, मालव, जौनपुर, अवध, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा और यहाँ तक कि नेपाल, बर्मा तथा स्याम आदि भारत तथा वृहत्तर भारत में इस शैली के चित्र बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए तो उनके संबंध में यह धारणा भी क्षीण पड़ गयी कि उन्हें **'पश्चिम भारतीय शैली'** के नाम से कहा जाय।

किन्तु इस समस्या का समाधान इतने ही पर नहीं हो जाता। **'वसन्तविलास'** के उक्त चित्रपट के अतिरिक्त गुजरात चित्रशैली के अस्तित्व को उभारने वाली संस्कृत के बिल्हण कवि (११वीं श०) कृत **'चौर पंचाशिका'** की एक सचित्र प्रति भी श्री मेहता जी को मिली थी, जिसमें कविराज बिल्हण और उनकी प्रेयसी चम्पावती की प्रणयलीला का आलेखन है। ये दोनों चित्रावली, क्योंकि जैनेतर ग्रन्थों से सम्बन्धित थीं, अतः मेहता जी के आगे यह समस्या उपस्थित हुई कि इसका क्या नाम दिया जाय ! क्योंकि अब तक इस शैली के जितने भी चित्र प्रकाश में आ चुके थे वे सभी प्रायः जैनग्रन्थों पर आधारित थे; फिर भी उन्होंने इसको **'गुर्जर चित्रशैली'** के नाम से ही अभिहित किया और उन्हें मुगल चित्रशैली के पूर्वकालीन भारत की चित्रकला का विशुद्ध रूप स्वीकार किया।

इस प्रकार गुजरात चित्रशैली के प्रति विद्वानों एवं कलाविदों में उत्तरोत्तर जिज्ञासा बढ़ती गयी। श्री डी० वी० रोमसन ने १९२६ ई० को **'रूपम्'** पत्रिका में लिखित अपने एक लेख द्वारा एलोरा की गुफाओं के भित्तिचित्रों का बारीकी से विवेचन करते हुए उन्हें ८वीं ९वीं शताब्दी का रचा हुआ बताया और उनके साथ, श्वेताम्बरीय जैनग्रंथों में उल्लिखित लघु कथाओं की तुलना करते हुए यह सिद्ध किया कि वे जैनग्रंथों के गुजराती चित्रों के पूर्वरूप हैं। एलोरा की इसी परम्परा ने गुजराती शैली की ताड़पत्रीय एवं कागद की पोथियों के तथा यदा-कदा उनकी काष्ठ-निर्मित दफ्तियों पर अंकित चित्रों के रूप में विकास पाया। इन चित्रों से दर्शित कर्ण यावत् विस्फारित आँखें और नुकीली नासिकायें एलोरा के भित्तिचित्रों का स्मरण दिलाती हैं।

गुजरात शैली के प्राचीन चित्रों के एक सुन्दर-संग्रह की सूचना १९२९ ई० में श्री अर्धेन्दुकुमार गांगुली ने दी। वे चित्र वैष्णवों के स्तोत्रग्रंथ **'बालगोपालस्तुति'** के थे। यह प्रति खण्डित है और उसके चित्रों की तुलना **'जैनकल्पसूत्र'** तथा **'कालकाकथा'** के चित्रों से की गयी है। इस प्रति के चित्रों के विवेचन द्वारा यह बताया गया कि वृहद् गुजरात में, जिसमें राजस्थान और मालवा भी सम्मिलित थे, उस समय प्रादेशिक शैली के रूप में गुजरात चित्रकला लघुचित्रों के द्वारा अपना विकास कर रही थी।

इतिहास

पश्चिम भारत में गुजरात की शासन परम्परा का कई दृष्टियों से बड़ा महत्व रहा है। लोथल घाटी से उपलब्ध अवशेषों के आधार पर गुर्जरों की संस्कृति, हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की संस्कृति जितनी प्राचीन ठहरती है। कौटिल्य के **'अर्थशास्त्र'** (३०० ई० पूर्व) में स्वतंत्र रूप से सौराष्ट्र गणतंत्र का उल्लेख किया गया है और अशोक के एक शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि यवनराज तुशप ने जूनागढ़ में राजधानी कायम करके गुर्जर शासन की सर्व-प्रथम स्थापना की थी। ५वीं शताब्दी तक गुजरात में शकों का अधिपत्य रहा। क्षत्रप रुद्रदामन् (१०० ई०) का जूनागढ़ की चट्टान पर खुदा हुआ अभिलेख भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

५वीं शताब्दी के अन्त में गुप्त राजाओं के मैत्रिक नामक सेनापति ने वलभी को अपनी राजधानी बनाया। वलभी के राजाओं की महत्वपूर्ण देन नालन्दा विश्वविद्यालय था, जो कि ७वीं शताब्दी तक बौद्धधर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। बाद में वहाँ चावड़ा राजवंश और तदनन्तर सोलंकियों का अधिपत्य स्थापित हुआ, जिसका पहला शासक मूलराज था। सोलंकीवंश के शासकों में सिद्धराज जयसिंह (१०९४ - ११४३ ई०) और कुमारपाल (११४३ - ११७४ ई०) का नाम न केवल उनकी अद्भुत साहसिकता के लिए, अपितु उनके साहित्यानुराग और कलाप्रेम के लिए भी प्रसिद्ध है। कुमारपाल ने प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर का दो बार पुनर्निर्माण कराया था। उसके द्वारा प्रोत्साहित एवं संरक्षित स्थापत्य एवं चित्रकला के नमूने आज भी वहाँ के मंदिरों में जीवित हैं। उसने जैनधर्म को स्वीकार किया और उसकी संरक्षकता में जैनाचार्य हेमचन्द के सहयोग से अनहीलपुर में कला और साहित्य का अभूतपूर्व केन्द्र स्थापित हुआ। कुमारपाल के शासनकाल में जैन चित्रकला ने अच्छा विकास किया। इस शैली के चित्रों में जैन साधुओं के हाथों शिल्प और सज्जा का समावेश होकर उनका समस्त गुजरात, पंजाब, राजस्थान और उत्तर भारत में प्रसार हुआ। इस समय प्रधानता ग्रन्थचित्रों की रही।

पश्चिम भारत में जिस चित्रशैली का उदय लगभग ११वीं शताब्दी में हुआ था और १६वीं शताब्दी तक जिसका प्रभाव मध्य भारत के अनेक अंचलों तक वर्तमान रहा उसी का नाम विद्वानों ने **'गुर्जर शैली'** रखा है। इस शैली के सैकड़ों सुवर्णाक्षरी चित्र उसकी समृद्धि एवं महानता के परिचायक हैं। ये चित्र जैन कल्पसूत्रों के अतिरिक्त **'कालकाचार्यकथा'**, **'निशीथचूर्णिका'**, **'उत्तराध्ययनसूत्र'** आदि ग्रंथों के दृष्टान्त रूप में बने। श्री मंजुलाल मजूमदार, डॉ० स्टेला क्रेमरिश और श्री नानालाल चमनलाल मेहता प्रभृति विद्वानों की चेष्टा से गुर्जर शैली के जिन जैनेतर सचित्र ग्रंथों की सूचना कला-जगत् को मिली उनके नाम हैं: **'गीतगोविन्द'**, **'बालगोपालस्तुति'**, **'देवी माहात्म्य'**, **'रतिरहस्य'**, **'वसन्तविलास'** और **'भागवत'** के १६वीं शताब्दी के कुछ फुटकर चित्र।

ये चित्रित ग्रंथ तथा फुटकर चित्र, जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि ११वीं से १५वीं शताब्दी के बीच, पाँच शताब्दियों में,

निर्मित हुए, अपना प्रामाणिक इतिहास रखते हैं। इन चित्रों में **'गीतगोविन्द'** के चित्रों की विशेष चर्चा रही है। **'गीतगोविन्द'** संस्कृत साहित्य का कृष्णकाव्य-विषयक गीतिकाव्य का उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है, जिसकी रचना जयदेव ने, बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समय १२वीं शताब्दी में की थी। **'गीतगोविन्द'** को अनेक आलोचकों ने उत्कट शृंगार का निकृष्ट ग्रंथ माना है, किन्तु उसमें जयदेव ने अपने काव्यकौशल से मानवीय पृष्ठभूमि में दैवी पात्रों का जो विचित्र निदर्शन किया है वह प्रशंसनीय है।

वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इस ग्रंथ का भी भारत भर में प्रचार हुआ; और यह प्रचार न केवल संस्कृतप्रेमी वैष्णवों के बीच, बल्कि चित्रकारों में भी अतिशय लोकप्रिय हुआ। उसके दृष्टान्त चित्र लगभग १९वीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला की अनेक शैलियों में बने। इस प्रकार ये चित्र भारत के विभिन्न प्रदेशों में पाये जाते हैं।

गुजरात शैली की विशेषताएँ

गुजरात शैली के चित्रों में १६वीं शताब्दी तक जो विकास हुआ, उसके सम्बन्ध में श्री मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार का कथन है कि :

१. गुजराती शैली के चित्रों ने, शताब्दियों पूर्व से अजन्ता, बाघ और एलोरा के भित्तिचित्रों की परम्परा को लघुचित्रों के रूप में ताड़पत्रीय पोथियों पर सुरक्षित रखा।

२. प्राचीन भित्तिचित्रों और राजपूत-मुगल-शैली के चित्रों के बीच की परम्परा में जो परिवर्तन हुए उनका इतिहास जानने के एकमात्र साधन यही चित्र हैं।

३. गुजराती शैली के चित्रों ने राजपूत चित्रशैली को जन्म दिया। पर्वत, नदी, सागर, पृथ्वी, अग्नि, बादल, मेघ, क्षितिज और वृक्ष आदि के आलेखनों की जो दर्शनीयता राजपूत चित्रशैलियों में देखने को मिलती है, वह गुजराती शैली ही की देन है। **'रागमाला'** के चित्रों की परम्परा का केन्द्र लाटदेश के चित्रकारों की शैली है।

४. अकबर के दरबारी चित्रकारों द्वारा अनायास ही ईरानी और फारसी शैलियों को ग्रहण करने का एक कारण यह भी था कि वे देशज-पद्धति में पारंगत थे। अकबर की शाही चित्रशाला में गुजरात के करीब सात चित्रकार थे, जिनमें केशव, माधव और भीम की विशेष पद्धति एवं ख्याति है।

अपभ्रंश शैली

गुजरात में चित्रों का जो सबसे बड़ा संग्रह प्राप्त हुआ वह जैन पोथियों से संबद्ध था। यद्यपि वहाँ इस प्रकार के चित्रों का भी अभाव नहीं रहा, जो जैनेतर और वैष्णवों के ग्रन्थों से भी संबंधित थे; किन्तु बहुलता सचित्र जैन पोथियों की ही रही। इसी प्रकार जिस शैली के चित्र व्यापक रूप में गुजरात से ही प्राप्त हुए, उस प्रकार के चित्रों की उपलब्धि गुजरात के बाहर अनेक प्रदेशों में भी हुई। आज भी गुजरात तथा गुजरात के बाहर जैनग्रंथों के और जैनेतर ग्रन्थों के अनेक ऐसे चित्र उपलब्ध हो रहे हैं कि उनको किस शैली के अन्तर्गत रखा जाय, इसका कोई निश्चय नहीं हो पाया है। इस सामग्री को देखते हुए उसके वर्गीकरण के संबंध में आज से २०-२५ वर्ष पूर्व हमारे समक्ष जो समस्या थी, आज भी लगभग वैसी ही है।

आरंभ में इस शैली के चित्रों को **'जैन शैली'** के नाम से कहा गया; किन्तु जब इसी प्रकार के चित्र मालवा, राजस्थान और गुजरात में दूसरे संप्रदायों के ग्रंथों में भी व्यापकता से पाये गये तो स्वभावतः उनका निश्चित नामकरण एक समस्या बन गया। इसलिए इस शैली को **'गुजरात शैली'** या **'पश्चिमी हिन्द शैली'** कहा जाना अधिक उपयुक्त जान पड़ा। किन्तु डॉ० मोतीचन्द्र प्रभृति विद्वानों का मत है क्योंकि इस शैली के चित्र पश्चिम भारत के अतिरिक्त, भारत के अन्य स्थानों में भी उपलब्ध हुए हैं इसलिए उसको पश्चिम के नाम पर थोपना उपयुक्त नहीं है। उसके लिए अब तक जो नाम दिये गये वे भी सार्थक नहीं हैं।

राय कृष्णदास ने इस शैली के चित्रों को **'अपभ्रंश शैली'** के नाम से कहना अधिक उपयुक्त समझा है। इस संबंध में उनका कथन है कि "जब इन चित्रों का आलेखन कोई नया उत्थान नहीं है; प्राचीन शैली की विकृतिमात्र है, तो **'अपभ्रंश'** ही एक ऐसा शब्द है, जिसके द्वारा उन विकृतियों की समुचित अभिधा एवं व्यंजना हो सकती है। इस प्रकार उन विकृतियों के समवायरूपी जिस निजस्व से यह आलेखन बना है; उसके अर्थ ही यहाँ **'शैली'** शब्द को लेना चाहिए।"

इस शैली का जन्म पश्चिम भारत में उसके साहित्य के साथ ही हुआ और भारतीय चित्रकला के लिए मूल्यवान् कृतियाँ देकर अपने साहित्य के साथ ही वह क्षीण भी हो गयी। इस अपभ्रंश शैली के चित्र आज तीन रूपों में उपलब्ध होते हैं: ताड़पत्रीय पोथियों पर, कपड़े पर और कागद पर। इस प्रकार के चित्र संप्रति भारत, अमेरिका तथा ब्रिटेन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इस अपभ्रंश शैली की अधिकतर सचित्र पोथियाँ **जैनधर्म से** संबद्ध हैं।

अपभ्रंश शैली के चित्र

जैन और अपभ्रंश दोनों शैलियों के सार्थक नामकरण के प्रसंग में '**वसन्तविलास**' (१४५१ ई०), '**बालगोपालस्तुति**', '**गीतगोविन्द**', '**दुर्गासप्तशती**' और '**रतिरहस्य**' नामक कुछ सचित्र पोथियों का उल्लेख किया जा चुका है। ये सभी चित्र अपभ्रंश शैली के हैं। मारवाड़ में इस शैली के चित्रों का निर्माण ७वीं शती में होने लग गया था। मध्य प्रदेश में भी इस शैली के कुछ चित्र मिले हैं। अहमदाबाद के श्री साराभाई माणिकलाल ने '**चित्रकल्पद्रुम' (कल्पसूत्र)** नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया है, जिसमें अपभ्रंश शैली के सादे और रंगीन सैकड़ों चित्र हैं। यह ग्रंथ उन्हें जौनपुर से उपलब्ध हुआ था, जिसका लिपिकाल १४६५ ई० (१५२२ वि०) है। अपभ्रंश शैली के चित्रों का जौनपुर प्रधान केन्द्र था। भारत कला भवन में भी इस शैली के कुछ ग्रंथचित्र सुरक्षित हैं, जिन्हें जौनपुर केंद्र का ही बताया जाता है, और जिनका सम्बन्ध किसी अवधी काव्य से है। इसी प्रकार के कुछ चित्र नेशनल म्युजियम, बम्बई तथा लखनऊ और प्रयाग आदि के संग्रहालयों में भी सुरक्षित हैं।

लाहौर, बंगाल और उड़ीसा में भी इस शैली के चित्र उपलब्ध होते हैं। बंगाक्षरों में लिखित '**बालग्रह**' नामक एक सचित्र ग्रंथ साराभाई के संग्रह में सुरक्षित है। बंगाल तथा उड़ीसा में इस शैली के पटचित्र भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वेरूल के भित्तिचित्रों को अपभ्रंश शैली का उत्कृष्ट नमूना बताया जाता है, जिनका निर्माण भोज के भतीजे उदयादित्य (१०५९-१०८० ई०) ने करवाया था।

अपभ्रंश शैली के ताड़पत्रीय ग्रंथचित्रों में श्वेताम्बरीय जैनों की पुस्तकें '**निशीथचूर्णी**', 'अंगसूत्र', '**दशवैकालिक लघुवृत्ति**', '**ओधनियुक्ति**', '**त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**', '**नेमिनाथचरित**', '**कथासरित्सागर**', '**संग्रहणीयसूत्र**' '**उत्तराध्ययनसूत्र**', '**कल्पसूत्र**', और '**श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी**', उल्लेखनीय हैं। इनका लिपिकाल ११००-१५०० ई० के अन्तर्गत है और ये सभी पोथियाँ पाटन, खंभात, बड़ौदा, और जैसलमेर आदि के ग्रंथकारों तथा अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

इस शैली के बहुमूल्य पटचित्र भी उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार के पटचित्रों में पाटन के संघवीना पाड़ा के ग्रंथ-भंडार में सुरक्षित (किन्तु अब अप्राप्य) पंचतीर्थों का पट उल्लेखनीय है, जिसके चित्रों की प्रतिकृति '**इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स**' नामक पत्र में (पृ० ७१-७८, १९३२ ई०) प्रकाशित हो चुकी हैं। गुजरात के आचार्य केशवलाल हर्षदराय द्वारा उपलब्ध '**वसन्तविलास**' (१४५१ ई०) का उल्लेख किया जा चुका है। यह पटचित्र संप्रति वाशिंगटन की फ्रायर आर्ट गैलरी को सुशोभित कर रहा है।

इस शैली के कागद पर निर्मित ग्रंथचित्र और स्फुटचित्र भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। जिनमें '**कल्पसूत्र**' की दो प्रतियों में से एक प्रति तो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई में और दूसरी लीमडी के सेठ आणंद जी कल्याण जी के पास बतायी जाती है। इनका लिपिकाल १४१५ ई० है। तीसरी प्रति जौनपुर की '**कल्पसूत्र**' है, जो कि स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है और संप्रति बड़ौदा के नरसिंह जी की पोल के ज्ञान मंदिर में सुरक्षित है। यह प्रति १४६७ ई० में जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह शर्की के समय चित्रित की गयी थी। '**कल्पसूत्र**' की एक चौथी प्रति अहमदाबाद निवासी मुनि दयाविजय जी के संग्रह में है, जिसको १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का अनुमान किया गया है। यह भी स्वर्णाक्षरों में है; किन्तु इसमें जो चित्र बने हैं उनको अपभ्रंश शैली का सर्वोत्कृष्ट चित्र बताया जाता है।

इसी प्रकार कागद पर लिखी हुई बोस्टन संग्रहालय में तथा गुजरात के श्री भोगीलाल जी के संग्रह में सुरक्षित '**बालगोपालस्तुति**' और बड़ौदा के प्रो० मंजुलाल मजूमदार के संग्रह में सुरक्षित '**दुर्गासप्तशती**' की पोथियाँ उल्लेखनीय हैं। जोधपुर के किसी ज्ञानभंडार से प्राप्त देवभ्रमसूरि कृत '**पाण्डवचरित**' नामक महाकाव्य (१५वीं श०) के आदि तथा अंत के पत्रों में बने चार चित्रों को भी अपभ्रंश शैली का बताया गया है।

१५वीं शताब्दी के लगभग गुजरात और मेवाड़ में जिस समृद्धिशाली राजपूत शैली का उदय हुआ था और जिसके कारण भारतीय चित्रकला की प्रसुप्त चेतना उद्बुद्ध हुई, वह अपभ्रंश शैली का ही नवीन संस्करण था। भाव-विधान और आलेखन की दृष्टि

से राजपूत शैली यद्यपि अपने अपूर्व नये परिवेश को लेकर आयी थी, किन्तु विषयवस्तु के लिए उसने अपभ्रंश शैली का ही आश्रय लिया। रागमाला, शृंगार, ऋतु और कृष्ण-लीला सम्बन्धी जो उत्कृष्ट चित्र राजपूत शैली के कलाकारों ने दिये उनकी विषय-सामग्री अपभ्रंश शैली से उद्धृत है।

अपभ्रंश शैली का उद्गम और उससे प्रभावित दक्षिणी कलम

अपभ्रंश शैली के नामकरण की भाँति उसके उद्गम स्थान के सम्बन्ध में भी बड़ा विवाद रहा है। इतिहासकार लामा तारानाथ ने उसका उद्गम मारवाड़ बताया और श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने उसको गुजरात का सिद्ध किया। किन्तु अब इस दिशा में अधिक सामग्री प्राप्त हो जाने के कारण यह माना जाने लगा है कि अपभ्रंश शैली का जन्म दक्षिण भारत में हुआ। क्योंकि पहली बात तो यह है कि दक्षिण में ही इस शैली के अधिक जीवित प्रमाण देखने को मिलते हैं और दूसरे में आधुनिक विद्वानों का भी मन्तव्य इसी पक्ष में है।

अपभ्रंश शैली के प्राचीन चित्रों का एक रूप तो हमें एलोरा के भित्तिचित्रों में देखने को मिलता है और दूसरा रूप दक्षिण के हिन्दू राजाओं द्वारा पल्लवित विजयनगर शैली में। यद्यपि एलोरा और दक्षिण की शैलियों में कोई भौगोलिक तारतम्य नहीं है; फिर भी स्पष्ट है कि उन दोनों के मूलगत आधार एक हैं और इसलिए यह संभव जान पड़ता है कि उन गुफाचित्रों का निर्णायक कलाकार निश्चित ही दक्षिण की अपभ्रंश शैली का अभिज्ञ था। एलोरा की छतों पर गरुड़ स्थित विष्णु तथा नन्दी स्थित शिव के जो चित्र बने हैं उनमें जो रेखाओं का नुकीलापन, पिचके गालों का समावेश और अतिशय रूप से आँखों का उभरापन दर्शित है वह अपभ्रंश शैली का ही प्रभाव है। इन चित्रों का निर्माण ८वीं, ९वीं शताब्दी में हुआ। इसी प्रकार कैलाशनाथ मंदिर के चित्रों में एक दृश्य परमारों के साथ किसी दक्षिण राजा का युद्ध दर्शित है। इस दृश्य में अपभ्रंश शैली का विकसित रूप है। ये चित्र १२वीं, १३वीं शताब्दी के हैं।

१३वीं और १४वीं शताब्दी में निर्मित दक्षिण के मठ-मन्दिरों में जो विजयनगर-शैली के चित्र हैं वे अपभ्रंश का ही रूपान्तर हैं। बुक्कराय द्वितीय के मंत्री तथा सेनापति इरुगप्पा द्वारा १३८७-८८ ई० में निर्मित जिनकांची मन्दिर के संगीतमंडप के चित्र और देवराय द्वारा निर्मित अनेगुंडी के उचयप्प मठ के चित्र विजयनगर शैली, अवान्तर रूप से अपभ्रंश शैली, के प्राचीन प्रमाण हैं।

इसलिए अपभ्रंश शैली का उद्गम दक्षिण में ही हुआ और बाद में उसका विकास गुजरात, मालव, मद्रास तथा सुदूर दक्षिण-पश्चिम में हुआ। डॉ० मोतीचंद ने अपने एक लेख (**दक्खिनी कलम : बीजापुर, कलानिधि,** वर्ष १, अंक १, २००५ वि०) में बताया है कि "जो कुछ भी हो इस शैली का उद्गम स्थान दक्षिण को मानने के ही प्रर्याप्त कारण हैं। सबसे पहले हम इस शैली का दर्शन एलोरा के कैलाशनाथ के ८वीं ९वीं शताब्दियों के चित्रों में पाते हैं; और हो सकता है कि जिस तरह अपभ्रंश भाषा ने सर्वप्रथम दक्षिण में साहित्यिक रूप ग्रहण कर गुजरात, राजपूताना तथा मालवा में प्रवेश किया, उसी तरह अपभ्रंश चित्रशैली भी यहाँ से उद्भूत होकर देश के चारों ओर फैल गयी। यह बात असंभव नहीं; क्योंकि अपभ्रंश के कवियों और मध्यकालीन चित्रकारों में सांस्कृतिक एकता अवश्य मानी जाती थी। राजशेखर ने अपनी **'काव्यमीमांसा'** में तो कविसभा में अपभ्रंश के कवियों और चित्रकारों को एक ही श्रेणी में स्थान देने की बात कही है।"

दक्षिण में विजयनगर शैली के अतिरिक्त आदिलशाही सल्तनत द्वारा पोषित एवं पल्लवित बीजापुर शैली में भी अपभ्रंश शैली का प्रभाव है। यद्यपि अपभ्रंश शैली का जन्म दक्षिण में ही हुआ और भित्तिचित्रों के बाद उसके प्रभाव के पहले दर्शन दक्षिण की शैलियों से ही होते हैं; किन्तु इस प्रकार सामग्री का आज भी सर्वथा अभाव है कि दक्षिण में अपभ्रंश शैली का परिष्करण, परिवर्त्तन तथा संस्करण किस रूप में हुआ।

जौनपुर की **'कल्पसूत्र'** की प्रति, भारत कला भवन में सुरक्षित अवधी काव्य के ग्रन्थचित्र और मारवाड़, अहमदाबाद, मालव, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा तथा गुजरात आदि विभिन्न स्थानों से अपभ्रंश शैली के जो चित्र प्राप्त हुए हैं; और विशेष रूप से चेस्टरबेटी संग्रह में सुरक्षित **'नुजूम अल-उलूम'** के चित्रों की समीक्षा करके यह अनुमान लगाया जा सकता है कि १६वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में अपभ्रंश शैली की क्या स्थिति थी।

डॉ० मोतीचंद ने अपने उक्त लेख (**कलानिधि,** अंक १, वर्ष १, २००५ वि०) में गुजरात के अपभ्रंश चित्रों की **'नुजूम अल-उलूम'** की चित्रावली से तुलना करते हुए दक्षिण में वर्तमान १६वीं शताब्दी की अपभ्रंश शैली के कुछ रूप स्पष्ट किये हैं। उन्होंने गुजरात की अपभ्रंश शैली की ये १२ विशेषतायें बतायी हैं: (१) खाली जगह से निकली हुई आँख, (२) परवल के आकार की आँखें,

स्त्रियों की आँखों में कान तक गयी काजल की रेखा, (३) नुकीली नाक, (४) दोहरी ठुड्डी, (५) मुड़े हुए हाथ तथा ऐंठी उँगलियाँ, (६) अप्राकृतिक रूप से उभरी हुई छाती, (७) खिलौने की तरह पशु-पक्षियों का अलंकरण, (८) कमजोर लिखायी, (९) प्राकृत दृश्यों की कमी, (१०) इकट्ठा धरातल पर अनेक दृश्यों का अंकन, (११) १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर १६वीं शताब्दी तक हाथियों का अलंकरण और (१२) चटकदार रंगों तथा सोने का अत्यधिक प्रयोग ।

इस तालिका में '**नुजूम अल-उलूम**' की चित्रावली की विशेषताओं की समानता डॉक्टर साहब ने संख्या २ से १० तक तथा १२ में बतायी है। इस तुलना से बहुत हद तक इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं कि १६वीं शताब्दी में दक्षिण की अपभ्रंश शैली का क्या स्वरूप था ।

जैन शैली

जैनकला के प्राचीन अस्तित्व को खोज निकालने के लिए जब हमारा ध्यान उसके ऐतिहासिक महत्व की ओर उन्मुख होता है तो हमें लगता है कि उसकी महनीयता न केवल उसके वेष-विन्यास एवं भाव-विचारांकन के कारण विश्रुत है; अपितु भारतीय चित्रकला के इतिहास में कागद पर की गयी चित्रकारी की दिशा में उसका पहला स्थान है। राजपूत परम्परा की भाँति जैनकला ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है, जो राजपूत कलम के प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन चित्रों से भी एक शताब्दी पहले की सिद्ध होती है। ताड़पत्र पर अंकित '**कल्पसूत्र**' तथा '**कालकाचार्यकथा**' के आधार पर निर्मित पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और ऋषनाथ तथा अन्य बीस तीर्थंकर महात्माओं के दृष्टान्त चित्र जैनकला के सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण हैं ।

जैन चित्रकला की ऐतिहासिक उपलब्धि ७वीं शताब्दी से है, जिसके प्रमाण, सम्राट् हर्ष के समकालीन पल्लव राजा महेंद्रवर्मन (७वीं सदी) के समय में निर्मित सित्तनवासल गुफा की पाँच जिन-मूर्तियाँ हैं। समग्र भारतीय चित्रशैलियों में १५वीं सदी से पूर्व जितने भी चित्र प्राप्त हैं उन सब में मुख्यता और प्राचीनता जैन-चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बद्ध हैं, जिन्हें अपने संप्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित कराने एवं करने का बड़ा शौक था। इन आरंभिक जैन कला-कृतियों को कुछ विद्वानों ने प्रारंभिक पश्चिमीय शैली कहा; कुछ ने गुजराती शैली, और कुछ ने अपभ्रंश शैली के नाम से सम्बोधित किया है। १२वीं सदी के पूर्व जैन चित्रकला शिथिल पड़ गयी थी और मुगल शैली की विकासावस्था में तो उसका अस्तित्व सर्वथा ही मिट-सा गया था। १२वीं सदी के बाद वह पुनरुज्जीवित हुई और यह एक विचित्र संयोग की बात है कि महमूद गजनवी के विध्वंसों के बावजूद जैन चित्रकला आबू और गिरनार के केंद्रों में अपने परिवेश के नव-निर्माण में अग्रसर थी। बाद में जैन चित्रकारों ने राजपूत और मुगल शैलियों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाया। इतना ही नहीं, बल्कि जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से आरंभ होकर राजपूताना में वर्षों तक अपना विकास करती रही और बाद में ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर 'राजपूत कलम' में ही विलयित हो गयी ।

जैन कलाकारों एवं ग्रंथकारों की कलात्मक देन

दशवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के बीच और उसके बाद भी भारतीय चित्रकला की समृद्धि के लिए सर्वाधिक उल्लेखनीय योग जैन कलाकारों का रहा है। इस युग में इन जैन ग्रंथकारों तथा चित्रकारों ने जिस निष्ठा और जिस एकाग्रभाव से चित्रकला की पूर्व परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखा और भविष्य में राजपूत तथा मुगल शैलियों को जो नये प्रयोग एवं नये भाव-विधान दिये उनका विशिष्ट स्थान है। जैन कलाकारों की निपुणता का दर्शन ताड़पत्रीय पोथियों में देखने को मिलता है। स्थानाभाव के कारण इन ताड़पत्रीय पोथियों में, उनके निर्माता कलाकारों ने अति सूक्ष्म रेखाओं में जिन विराट् भावों को समाविष्ट किया है उसका उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकता ।

श्रद्धेय मुनि कांतिसागर का '**विशाल भारत**' (दिस० १९४७; भाग ४०, अंक ६, पृ० ३४१-३४८) में एक गवेषणात्मक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था '**जैनों द्वारा पल्लवित चित्रकला**'। अपने इस वृहद् लेख में उन्होंने ताड़पत्रों, वस्त्रों, कागजों आदि पर निर्मित जैन चित्रकारों एवं ग्रंथकारों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

लगभग १३५७ - १५०० ई० के बीच बने कुछ उपलब्ध चित्रों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि उस समय के चित्रों में बड़ी सजीवता थी। '**सिद्धहेम व्याकरण**' और '**कालकथा**' की अनेक ताड़पत्रीय पोथियों पर जो चित्र अंकित हैं उनको देखकर तत्कालीन चित्रकला की श्रेष्ठता के संबंध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

वस्त्रों या कपड़ों पर लेखन एवं चित्रण का कार्य तिब्बत तथा गढ़वाल में सदियों पूर्व से होता आया है। इसी प्रकार की पुष्कल सामग्री जैन-ग्रंथागारों में भी सुरक्षित है। जैन हस्तलेखों में उपलब्ध विज्ञप्ति पत्रों का इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। साथ ही उनके द्वारा भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में जैनों द्वारा आश्रित चित्रकला के स्वतंत्र अस्तित्व का भी पता चलता है। ये विज्ञप्ति पत्र भौगोलिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। वाशिंगटन की फ्रेयर आर्ट गैलरी में सुरक्षित **'वसंतविलास'** नामक कृति (१५०८ वि० में लिखित) अपने ढंग की संसार भर में चित्रकला की अनुपम कृति है। यह वस्त्र पर ही चित्रित है।

जिस प्रकार नेपाल, तिब्बत और गढ़वाल में सचित्र तंत्रग्रंथों के निर्माण की परंपरा रही, वैसे ही जैनियों में भी अनेक तांत्रिक देवी-देवताओं के वस्त्रचित्र भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के वस्त्रपटों पर चित्र बनाने का सर्वाधिक प्रचार तिब्बत में ही रहा है, और यही कारण है कि वहाँ आज इस प्रकार की संसार-दुर्लभ कला-कृतियाँ देखने को मिलती हैं। मुनि कांतिसागर के संग्रह के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत संग्रहों और लखनऊ, इलाहाबाद तथा कलकत्ता आदि के संग्रहालयों में इस प्रकार के मूल्यवान् वस्त्रचित्रों के नमूने देखने को मिल सकते हैं। जिनभद्र सूरि के समय का जैनशास्त्रों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला एक बहुमूल्य एवं वृहत् पटचित्र, जिसको कि मुगल-राजपूत शैलियों के पूर्व का सर्वोच्च पटचित्र कहा जा सकता है, ब्रिटिश म्युजियम में सुरक्षित है। नाहटा कला भवन, बीकानेर में भी इस प्रकार के सुंदर वस्त्रचित्र सुरक्षित हैं।

'हमजानामा' के कपड़े पर निर्मित चित्रों के संबंध में श्री पर्सी ब्राउन महोदय का कथन है कि उस समय भारत में सुंदर कागद के अभाव से चित्रों को निर्मित करने के लिए कपड़े का आश्रय लिया गया। यह स्थिति लगभग १०वीं, ११वीं शताब्दी तक बनी रही। तदनंतर १२वीं से १४वीं शताब्दी की सहस्रों कागद की पोथियाँ विभिन्न संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं।

कपड़े पर निर्मित होने वाले चित्रों या पोथियों की परंपरा बहुत प्राचीन है। लंबे एवं बड़े ग्रंथों के लिए कपड़े का उपयोग कागद-निर्माण के बाद भी होता रहा। श्री नानालाल चमनलाल मेहता का कथन है कि "मेरा अनुमान है कि **'हमजानामा'** के चित्र बड़े होने के कारण ही कपड़े पर बनाये गये। **'कथासरित्सागर'** में दीवारों पर चित्रित पटों के चिपकाने की आधुनिक प्रथा का भी उल्लेख है।"

इस शैली के वस्त्रचित्रों का निर्माण सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक निरंतर होता गया। वस्त्रों को बुनते समय भी उन पर रंग-बिरंगा शिल्प अंकित किया जाता था। अठारहवीं शताब्दी में निर्मित कुछ इस प्रकार के वस्त्रचित्र भी प्राप्त हुए हैं, जो कि भारतीय शिल्प का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी का समय बड़ा ही क्रांतिमय समय रहा है। उस समय अल्लाउद्दीन खिल्जी जैसे सरदारों ने जहाँ भी जो हिन्दुओं से संबद्ध कला-कृति देखी वहीं उसको विनष्ट कर दिया। ऐसे समय जैन-विद्वान् ही ऐसे बचे थे, जिन्होंने जी-जान से परंपरा की रक्षा की। इन दिनों ताड़पत्रों का स्थान काश्मीर में बने कागजों ने ले लिया था। कागज को ताड़पत्रीय आकार में काटकर उस पर लेखन या चित्रण का कार्य संपन्न किया जाता था। इस युग के जैन कलाकारों एवं विद्वान् मुनियों ने भी स्वर्णमय और रजतमय स्याही से मूल्यवान् चित्रों एवं पोथियों का निर्माण किया। इस संबंध में मुनि कांतिसागर के लेख का निम्नांकित अंश अवलोकनीय है। उनका कहना है कि :

" **'कल्पसूत्र'** की एक प्रति, जो अहमदाबाद में सुरक्षित है, इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपए तक आँका जा चुका है। भारतीय नाटच, संगीत और चित्रकला, तीनों दृष्टियों से उसका स्थान अपूर्व है। इन चित्रों में **राग-रागिनी, मूर्छना, तान** आदि की योजना संगीतशास्त्र के अनुसार है, और **आकाशचारी, पादचारी, भोमचारी,** वगैरह भरतमुनि के **'नाटचशास्त्र'** में वर्णित नाटच के विभिन्न रूप बड़े ही भावपूर्ण हैं। प्रत्येक की मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्नकर साधारण मानव को भी अपनी ओर आकृष्ट करती है। यही उक्त प्रति की कुछ विशेषताएँ हैं।"

इस युग में जैन कलाकारों ने जहाँ **'मार्कण्डेय पुराण'** तथा **'दुर्गासप्तशती'** जैसे वैष्णव संप्रदाय-संबंधी ग्रंथों के चित्र निर्मित किये, वहीं **'रतिरहस्य'** और वात्स्यायन मुनि के **'कामसूत्र'** संबंधी चित्रों का भी निर्माण किया। किन्तु इन सभी प्रकार के चित्रों में कलात्मक सूक्ष्मता सर्वत्र विद्यमान रही। चित्र-निर्माण का यह कार्य उस समय पश्चिम भारत की ही भाँति दक्षिण भारत में भी फैल चुका था।

ताड़पत्र और कागद पर बने चित्रों में एक अंतर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ताड़पत्रों पर जो चित्र बनाये जाते थे, स्थानाभाव के कारण, उनमें रेखाओं की बारीकी और कलाकार की प्रतिभा का कौशल देखने को मिलता है; किन्तु कागद पर बने चित्रों में, यथेष्ट स्थान होने के कारण, सूक्ष्मता एवं प्रतिभा का निदर्शन मंद पड़ गया। इसलिए कागज की सुलभता के कारण चित्रों की संख्या में तो अधिकता हुई, किन्तु उनमें वैशिष्टच का अभाव खटकने लगा।

जैन शैली के चित्रों में आँखों की बनावट भी दर्शनीय है। यह चक्षु-निर्माण-शैली वस्तुतः जनचित्रों की देन न होकर जैनशिल्प एवं

स्थापत्य की देन है; जिसको कि जैन-प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। राजपूत और मुगल कला में इस प्रकार का चक्षु-निर्माण कार्य बड़ा ही कौशलपूर्ण है।

रंगों और रेखाओं की दिशा में भी जैन कलाकार बड़े सजग रहे हैं। ताड़पत्रों पर अंकित जैनचित्र प्रायः पीतरंग के हैं, यद्यपि स्वर्णराग को भी उपयोग में लाया गया है। कुछ चित्रों की पृष्ठभूमि पीले और लाल रंगों में हैं और वस्त्रों पर छोटे-छोटे धब्बे दे दिये गये हैं।

रेखाओं का सबसे बड़ा उद्देश्य होता है भावों को व्यक्त करना। इस दृष्टि से ताड़पत्र के चित्रों में जैनकलाकारों ने जो सूक्ष्म रेखाएँ, अंकित की हैं, वे इतनी सार्थक और व्युत्पन्न हैं कि कलाकार की प्रतिभा को दाद दिये बगैर नहीं रहा जा सकता। किन्तु कागज का प्रचार हो जाने के कारण रेखाओं के द्वारा भावांकन का जो उद्देश्य था वह जाता रहा।

इस दृष्टि से जैनकलाकारों की चित्रकला के क्षेत्र में बहुत बड़ी देन कही जा सकती है। जैन पोथियों के बाहर जो लकड़ी की दफ्तियाँ सुरक्षा के लिए बँधी रहती हैं, उन पर भी बहुत ही सुंदर चित्रकारी देखने को मिलती है। जैसलमेर के जैन मंदिरों में जितनी भी सचित्र लकड़ी की दफ्तियाँ थीं उनका फोटो लेकर उन्हें सुरक्षित रखा गया है। यह बड़े महत्व का कार्य हुआ है। ऐसी ही व्यवस्था सभी जैन-भंडारों की होनी चाहिए।

१५वीं शताब्दी में जैन धर्मानुयायी गृहस्थों ने जहाँ लाखों रुपया कला के निर्माण में व्यय किया, वहीं जैन मुनियों ने भी एकाग्र भाव से हजारों ग्रंथों की स्वतंत्र रचना एवं प्रतिलिपि करके ज्ञान-भंडारों की समृद्धि में अपूर्व योग दिया। इसी समय सोने और चाँदी की स्याही से बहुमूल्य चित्रों का निर्माण हुआ। कागद के चित्रों के हाशिये प्राकृतिक दृश्यों से इतने सुंदर पहिले सज्जित नहीं किये गये थे। इस युग में बेल-बूटों का अंकन तो अद्वितीय है। राजपूत और मुगल कला-शैलियों में जो बेल-बूटों की बनावट का गुणगान किया जाता है, उसकी मूल प्रेरणा वस्तुतः जैनचित्रों में सुरक्षित थी। जैन ग्रंथकारों या कलाकारों की कृतियों में एक विशिष्ट बात यह भी देखने को मिलती है कि लिखते समय बीच-बीच में वे इस ढंग से स्थान छोड़ते जाते थे कि अपने-आप छत्र, कमल, स्वास्तिक आदि उभर आते थे।

मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने पर १५वीं शताब्दी के बाद जैन कलाकारों द्वारा इस क्षेत्र में जो कार्य हो रहा था वह मंद पड़ गया। जहाँगीर के दरबारी चित्रकारों में सालिवाहन नामक जैन चित्रकार ने दो अच्छी कृतियों को चित्रित किया। एक का नाम है **'आगरा का विज्ञप्ति पत्र'** (१६६७ वि०), जिसमें तत्कालीन लोककला पर अच्छा प्रकाश डाला गया है और सौभाग्य से जिसकी पुष्पिका पर लिखा हुआ मिलता है कि "उस्ताद सालिवाहन बादशाही चित्रकार ने जैसे भाव अपनी आँखों से देखे, वैसे ही उन सूक्ष्म ऊर्मियों को अपनी मस्तिष्क-हृदययुक्त कल्पना के सहारे तूलिका से निर्मित किये।" सालिवाहन की दूसरी कृति का नाम है मतिसार रचित **'धन्नाशालिभद्र-चौपई'**। इसी प्रकार मुगलकाल में जैन कलाकारों द्वारा त्रित्रित अनेक कला-कृतियाँ विभिन्न ज्ञान-भंडारों में सुरक्षित हैं।

इसी प्रकार समयसुंदर नामक एक जैन मुनि ने १७वीं शताब्दी में **'अर्थरत्नावली'** के नाम से एक अद्भुत ग्रंथ की रचना की थी, जो ग्रंथ कि उन्होंने अकबर को भेंट किया था। इस ग्रंथ में मुनि महाराज ने अकबर युगीन भित्तिचित्रों तथा दूसरे प्रकार के चित्रों का भी वर्णन किया है।

श्रद्धेय मुनि कांतिसागर ने 'स्मृति के आधार पर' कुछ ऐसे ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनमें जैनचित्रों का विवरण है। ऐसे ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं:

१. **श्री कल्पसूत्र**	आगमोदय समिति, सूरत से प्रकाशित
२. **सचित्र कल्पसूत्र**	साराभाई माणिकलाल नवाब, अहमदाबाद
३. **जैनचित्रकल्पलता**	"
४. **श्रीजैनचित्रकल्पद्रुम**	"
५. **महाप्रभाविक नवस्मरणं**	"
६. **स्टोरी आव कालम्**	नारमन ब्राउन, पेन्सिल्वेनियाँ
७. **मिनिएचर पेंटिंग वर्क आव जैनकल्पसूत्र**	"
८. **उत्तराध्ययनसूत्र**	"
९. **एंशियेंट विज्ञप्ति पत्राज**	डा० हीरानंद शास्त्री, बड़ौदा

मुनि महोदय का यह भी कहना है कि कलकत्ता, अहमदाबाद, खंभात, बड़ौदा, सूरत, पूना, बम्बई, बीकानेर, जैसलमेर और पाटण आदि स्थानों में महत्वपूर्ण जैनाश्रित कला के उत्कृष्ट नमूने विद्यमान हैं; किन्तु आवश्यकता इस समय इस बात की है कि यह निश्चय किया जाय कि किन उपायों से यह सामग्री चिरस्थायी संरक्षण पा सकेगी।

जैनकला के प्रमुख प्रतीक

जैनकला की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करने के लिए उसके प्रमुख प्रतीकों से परिचित होना आवश्यक है। जैनकला में हमें महावीर स्वामी की दूसरी क्षत्राणी माता त्रिशला के 'चतुर्दश स्वप्नों' के अनेक चित्र मिलते हैं। उन चतुर्दश स्वप्नों में हस्ति, वृष, केसरी सिंह (सुण्ड सहित), पद्मावती, पुष्प मालायें, सूर्य, चन्द्र, ध्वजा, कलश, पद्म, सरोवर-सरिता, मालकी, मणि-भंडार और अग्नि की गणना की जाती है। इसी प्रकार 'अष्ट-मंगल-दृष्यों' में सोत्थिय (स्वस्तिक), सिरिवच्छ (श्रीवत्स), नंदियावत्त (नंदियावत), वद्धमांग (वर्धमानक्य), भद्दासन (भद्रासन), कलश, मच्छ (मीनयुगल) और दप्पण (दर्पण) को अयागपटों पर बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। जैन धर्म के प्रवर्तक २४ तीर्थंकरों के चित्र भी अधिकता से बनाये गये हैं। उनके लिए जैनकला में अलग-अलग वर्ण, प्रतीक चिह्न और दीक्षातरु नियुक्त हैं। इस प्रकार के चित्र प्रमुखतया चार तीर्थंकरों के अंकित हुए मिलते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है :

तीर्थंकर	वर्ण	प्रतीक चिह्न	दीक्षातरु
महावीर	पीला	केसरी सिंह	अशोक
पार्श्वनाथ	नीला	सर्प	घातकी
नेमिनाथ	काला	शंख	वेधस्
ऋषभनाथ	स्वर्णिम	वृष	कदली

जैनचित्रों में तीर्थंकरों के आसन भाग में जो तिर्यक् अर्ध चंद्राकार वस्तु अंकित की जाती है उसको **'ईषत्प्रभभार'** या **'सिद्धशिला'** कहा जाता है, जिसके महत्व पर **'उत्तराध्ययनसूत्र'** में प्रकाश डाला गया है। जैनचित्रों का एक विषय **'समवसरण-स्तवन'** से सम्बद्ध है। समवसरण वह स्थान है, जिसमें बैठकर जिनाचार्य कैवल्यप्राप्ति का उपदेश दिया करते थे। यह स्थान गोलाकृति और चौकोर, दोनों प्रकार का होता है और जिसको मणि-माणिक्य एवं सुवर्ण से सजाया जाता है। इनके अतिरिक्त जैन दर्शन के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार 'ब्रह्माण्ड सृष्टि' विषयक चित्र और जैनधर्म के नियमों के अनुसार पौराणिक चित्रों की भी जैनकला में प्रचुरता है। इस श्रेणी के चित्रों से जैनकला की प्राचीनता प्रमाणित होती है।

नारी चित्र

धर्मानुगत जैनकला में यद्यपि नारी-रूपों का चित्रण एक निश्चित सीमा में हुआ है और उनके द्वारा यद्यपि जैनकला की समृद्धि का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं होता, फिर भी इस प्रकार के कुछ उत्कृष्ट चित्र कलारसिकों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार की लोहनीपुर (पटना) और कंकाटी टीले (मथुरा) की जिन-प्रतिमाओं में अंकित यक्ष-युगल उदात्त लावण्य के प्रतीक हैं। बहुधा चौबीस तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षणियों के युगल चित्र भी बड़े ही सौम्य हैं। नारी-चित्रण के क्षेत्र में तीर्थंकरों की अधिष्ठात्री देवियाँ अम्बिका, पद्मावती, सरस्वती, शासन, चक्रेश्वरी और सोलह विद्यादेवियाँ प्रमुख हैं। इन देवी-चित्रों एवं मूर्तियों में उज्वल धूम-वर्ण, लोकशैली की अल्हड़ता, वस्त्रसज्जा और हस्त-मुद्राएँ, सभी में कलात्मक श्रृंगार तथा माधुर्य ओतःप्रोत है। इस प्रकार के नारी-चित्रों के उत्तम दृष्टान्त श्री साराभाई मणिकलाल नवाब के **'जैन कल्पद्रुम'** में देखे जा सकते हैं।

वर्ण : सज्जा : आकार

जैनचित्रों में रंग-योजना की दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है, उनकी पृष्ठभूमि में बहुधा लाल रंग का प्रयोग किया गया है और आनुसंगिक रूप से बदली, पीत, श्वेत तथा नीले रंगों का भी समावेश किया गया है। राजपूत शैली के चित्रकारों ने भी यद्यपि लाल रंग का उपयोग किया, किन्तु उसमें श्रृंगार-उद्दीपन की दृष्टि थी।

वस्त्राभूषणों की दृष्टि से जैनकला में धोतियों की सज्जा बहुत ही मोहक है। आरंभिक चित्रों में जैन साधुओं के वस्त्रों को मोती जैसा श्वेत या स्वर्णिम चित्रित किया गया है; किन्तु बाद में ईरानी प्रभावों के कारण वे मोगल ढंग के बनने लगे। उनमें हल्की छाप, सोने के रंगों का काम, बेल-बूटों की पच्चीकारी और मुकुटों की जगह पागों का प्रचलन होने लगा। पुरुषों के वस्त्रों में धोती, दुपट्टा और कटिपट प्रमुख हैं। स्त्रियों के लिए चोली, चूनर, रंगीन धोती और कटिपट का प्रयोग किया गया। वस्त्रों की डिजाइनों में विभिन्नता एवं चारुता है।

आभूषणों में मुकुटों और मालाओं की प्रधानता है। स्त्रियों के मुखों पर टिकुली, कानों में कुण्डल और बाहों में बाजूबन्द हैं। सभी चित्र रत्नमालाओं से अलंकृत हैं। ये मालायें अनेक प्रकार की हैं, जो कि गले से लेकर पैरों तक सारी आकृति को घेरे हुए हैं।

चित्रों का आकार एक चश्म, डेढ़ चश्म और दो चश्म है। एक चश्म या डेढ़ चश्म वाले चित्रों में ठोढ़ी सेब की तरह बाहर की ओर उभर आयी है और उसके नीचे की रेखा में गौरव, गर्व तथा अभिमान को प्रकट करने के उद्देश्य से झोल दे दिया गया है। दो चश्म आकार के खड़े हुए जैन मुनियों की ठोढ़ी में त्रिशूल की भाँति तीन रेखाएँ और नासिका, भाल की नोक की तरह अंकित है। भवें और नयनों का फैलाव समरूप है। एक चश्म तथा डेढ चश्म चेहरों में नासिका शुकचंचु की भाँति नुकीली और अनुपात से अधिक लम्बी हो गयी है। नेत्र उठे हुए तथा बाहर की ओर उभर हुए हैं। उनकी लम्बाई कर्णभाग को छूती है। वस्तुतः नेत्रों और नासिका के चित्रण में जैन कलाकारों की निपुणता की तुलना नहीं है।

इस प्रकार जैनियों द्वारा पल्लवित चित्रकला का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपूत और मुगल चित्र-शैलियों से पूर्व इस दिशा में जो महत्वपूर्ण कार्य हो रहा था उसका एकमात्र श्रेय जैन कलाकारों को है। भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में जैनियों ने ऐसी अनुपम सचित्र कृतियाँ दीं, जो कला और साहित्य, दोनों दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जैनकला की एक बड़ी विशेषता यह भी रही है कि राजपूत और मुगल शैलियों को उसने नयी प्रवृत्तियाँ तथा प्रगतिशील तत्त्व दिये।

जैनकला और हिन्दूकला की समानता

जैसा कि कहा जा चुका है गुजरात की श्वताम्बर कलम से जैन चित्रकला का आरंभ हुआ और राजपूताना में वर्षों तक अपना सर्वांगीण विकास करने के उपरान्त कालान्तर में ईरानी शिल्प से संयुक्त होकर वह राजपूत कलम में विलयित हो गयी थी। जैन कलाकार राजपूत कलम की ओर लगभग १५वीं शताब्दी से ही आकर्षित होने लगे थे और बाद में मुगल शैली के साथ ईरानी वस्तु-विधान के प्रचलित हो जाने के बाद जैन कलाकार भी ईरानी शिल्प के बढ़ते हुए प्रभाव से अछूते न रह सके; और फलतः अपनी शैली की परिणति उन्होंने राजपूत कलम की तत्कालीन बढ़ती हुई समृद्धि के रूप में की। बौद्ध प्रभावों को ग्रहण करने में भी जैनकला सक्रिय रही; किन्तु हिन्दुओं की पौराणिक परम्पराओं के साथ तो लगभग वह एकाकार हो गयी थी।

जैन कलम के नेमिनाथ और स्वयंभू के राम लगभग हिन्दुओं के श्रीकृष्ण और राम हैं। हिन्दुओं के सरस्वती, इन्द्र, वरुण, काली, यक्ष-यक्षिणी आदि देवता जैन रूपान्तरों में परिवर्तित हो गये। विशिष्ट प्रतीकों को छोड़कर विषयवस्तु की दृष्टि से जैनकला, हिन्दू-कला से निरन्तर मिलती गयी। हिन्दूकला के साथ एक बात में जैनकला की असमानता भी बनी रही। जब हिन्दू-राजपूत-कला स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हुई और राग-रागिनी, नख-शिख तथा बारहमासा आदि विषयक चित्रों का अम्बार-सा लगने लगा, तब भी जैनकला अपनी परम्परागत धार्मिक निष्ठा में अडिग बनी रही। संभवतः यही कारण था कि उच्चादर्शों के प्रति उसकी आस्था बनी रही। जैन चित्रकला में जो थोड़े-से चित्र रीतिकालीन प्रभावों से युक्त कहीं देखने को मिलते हैं उनमें वह आकर्षण और प्रभावोत्पादकता नहीं है।

हिन्दू-राजपूत-कला के लिए जैनकला एक महत्वपूर्ण देन है। भारतीय चित्रशैलियों में बेल-बूटों की बनावट की जन्मदात्री सर्व प्रथम जैनकला ही रही है। उसके बाद मुगलकला में यह विशेषता दिखायी देती है। मुगलकला को यह विरासत एक ओर तो ईरानी शैली से प्राप्त हुई और दूसरी ओर राजपूत कला के माध्यम से जैनकला द्वारा। बाद में अपनी परम्परा का सारा उत्तराधिकार राजपूत कला को सौंप कर जैनकला विलुप्त हो गयी। उसके विलुप्त होने का एक कारण यह भी था कि हिन्दू चित्रकला राजभवनों के विलासमय जीवन में जाकर सिमिट गयी, जिस वातावरण में कि धर्मनिष्ठ जैनकला का जीवित रहना संभव नहीं था।

जैनकला और बौद्धकला की एकता

जिस प्रकार आरंभिक बौद्ध कला-कृतियाँ जातक-कथाओं पर आधारित हैं उसी प्रकार **'कल्पसूत्र'** और **'कलककथा'** के अनुकरण पर जैन तीर्थंकरों के आरंभिक दृष्टान्त चित्र भी जैन-कथाओं पर आधारित हैं। ये जैन कृतियाँ प्रमुखतया ताड़पत्रों पर हैं। सातवीं सदी में वर्तमान पाल राजा महेंद्रवर्मन् के समकालीन सित्तनवासल की गुफा में अंकित पाँच जिन-मूर्तियाँ तत्कालीन बौद्धकला से अद्भुत समानता रखती हैं। पन्द्रहवीं सदी से पूर्व भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में या तो पश्चिम भारत के श्वेताम्बरीय जैनियों की कला-कृतियाँ ही उपलब्ध होती हैं या पूर्वी भारत के बौद्धों की। बौद्ध चित्रकला की अपेक्षा जैन चित्रकला की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि सर्वप्रथम वह भित्तिचित्रों के क्षेत्र से ग्रन्थचित्रों की ओर उन्मुख हुई। जैनकला में आरंभ से ही समन्वय के ऐसे तत्त्व विद्यमान थे कि एक ओर तो उसने बौद्ध-शिल्प को अपना कर अपने अलंकरण सम्बन्धी विधानों को अधिक आकर्षक बनाया और दूसरी ओर हिन्दुओं की पौराणिक परम्पराओं के साथ एकाकार होती गयी।

बौद्धकला का अस्तित्व सारे भारत और सारे एशिया में व्याप्त हुआ; किन्तु जैनकला भारत की सीमा के अन्दर ही बनी रही। बौद्धकला ने कई देशों को कला का पहली बार पाठ पढ़ाया, जब कि जैनकला बौद्धकला का अनुकरण करती रही। सित्तनवासल की जिन पाँच जिन मूर्तियों को प्राचीन माना जाता है उन पर भी अजन्ता की बौद्ध शैली का प्रभाव झलकता है। यदि प्रतीकों को छोड़ दिया जाय तो अधिकांश जिन मूर्तियों और बुद्ध मूर्तियों में कम अन्तर दिखायी देता है। बौद्धकला ने अपना विकास हिन्दूकला से विलग होकर किया, जब कि जैनकला हिन्दूकला की पौराणिक पद्धति की ओर ढलती गयी। बौद्धकला का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से बना रहा; किन्तु जैनकला हिन्दूकला में विलयित हो गयी। बौद्धकला को अशोक, कनिष्क तथा सेन आदि साम्राज्यों का संरक्षण प्राप्त था, जब कि जैनकला किसी भी युग में राज्याश्रित नहीं रही।

बौद्धकला ने एक ओर तो अनेक राजनीतिक कारणों से अपना अन्तर्राष्ट्रीय विकास किया और अनेक सामाजिक कारणों से उसकी ख्याति राजमहलों तथा संघारामों से लेकर सामान्य जन-जीवन तक व्याप्त हुई। बौद्ध कलाकारों ने नारी-चित्रों के क्षेत्र में अतिशय यश प्राप्त किया। भारतीय कला की श्रेष्ठता का परिचायक कमल पुष्प बौद्ध कलाकारों को बड़ा प्रिय रहा है, जिसको कि उन्होंने बोधिसत्व के हाथों में, स्तम्भों पर, परिचारिकाओं के हाथों में और प्रेमीजनों के बीच, सर्वत्र दिखाया है। वाह्य अलंकरण और आन्तरिक भावों को व्यक्त करने में कमल पुष्प का चित्रण बौद्धकला में बड़ा ही मनोहारी है। इसकी तुलना में जैनकला सदा ही धर्म की पगडंडियों पर चलती रही और फलतः मानव की रागवृत्तियों से विलग रहने के कारण वह उतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकी। धर्मपरक होने के कारण उसमें कठोरता, पवित्रता और नीरसता सर्वत्र व्याप्त है। नारी-चित्रों के निर्माण में जैन कलाकारों की कृतियाँ ब्राह्मणी देवनन्दा, क्षत्राणी त्रिशला, सरस्वती, पद्मावती, ज्वालामालिनी देवियों, चौबीस यक्षिणियों, सोलह विद्यादेवियों, तीर्थंकरों की अधिष्ठातृ देवियों और परिचारिकाओं में उतना सौष्ठव, उतनी सम्मोहकता और वह सौन्दर्य कहाँ जो अजन्ता की राजकुमारियों, प्रेमिकाओं तथा परिचारिकाओं में अनायास ही एक साथ देखने को मिलता है!

लोककला का आधार

फिर भी जैनकला में हमें एक असामान्य विशेषता यह दिखायी देती है कि उसमें तत्कालीन लोक-जीवन की सच्चे अर्थों में अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा तभी संभव हुआ, जब कि वह धार्मिक सीमाओं में बँधी रही और राज्याश्रयों के विलासमय वातावरण की ओर से सदा ही विमुख रही। उसकी आकृतियों, रेखाओं और साज-सज्जा आदि सभी में लोककला का समर्थ रूप विद्यमान है। उसमें वैसे ही लोक-सौन्दर्य एवं लोक-संस्कृति के तत्त्व छिपे हैं, जैसे साँची और भरहुत की कृतियों में हैं। इसलिए लोककला का जो वास्तविक प्रतिनिधित्व जैनकला में समाहित है वैसे न तो बौद्धकला में दिखायी देता है और न तो राजपूत कला में ही। जैनचित्रों की इस लोककला का आधार **'कल्पसूत्र'** तथा **'आचारांगसूत्र'** में वर्णित जैन तीर्थंकरों की जीवनी और **'कालकाचार्यकथा'** रही है। ये कथायें बड़ी ही मनोरंजक हैं और तत्कालीन लोक-जीवन, लोक-संस्कृति और लोक-विचारों की अभिव्यंजना करती हैं।

चौबीस जैन तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में जो यक्ष-यक्षिणियों के युगल चित्र अंकित हैं वे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और उनसे जैन तीर्थंकरों का लोक-जीवन के प्रति अनुराग ध्वनित होता है तथा ऐसे चित्रों के द्वारा जैनकला का लोक-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है। बौद्धकला और हिन्दूकला में इन यक्ष-यक्षिणियों के युगल-चित्रण की परम्परा व्यापक रूप से रही है। लोककला के उदात्त दृष्टिकोण को प्रकट करने वाली मथुरा की यक्षिणियों के अर्धनग्न चित्र और करधनियों से अलंकृत प्रस्तर मूर्तियाँ इस शैली के उत्तम दृष्टान्त हैं।

साहित्य के क्षेत्र में जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा ने लोक-जीवन के उदात्त पक्ष को व्यक्त किया, चित्रकला के क्षेत्र में उसी प्रकार जैनकला ने जन-जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। उसकी सचित्र हस्तलिखित पोथियों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने उदयकाल से ही वह लोक-परम्पराओं एवं लोक-विश्वासों को ग्रहण करने लग गयी थी। वस्तुतः उसका आरंभ लोक-प्रेरणा से हुआ था और अपनी सम्पन्नावस्था से लेकर अपनी सांध्यवेला तक उसमें लोक-संपर्क की भावना बनी रही।

ऐसी स्थिति में, जब कि मुगल, राजपूत और पहाड़ी आदि चित्र-शैलियों से भारत का कला-धरातल अपनी उन्नतावस्था में था तो, सहसा ही लोककला पर आधारित जैनकला क्यों विलुप्त हो गयी, इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि जैनकला की धार्मिक अतिवादिता ने उसकी उदात्त सौन्दर्यानुभूति और नित नवीन प्रवृत्तियों को सोख लिया। उसमें निरन्तर एक ही बात दुहरायी जाने लगी, जिससे कि उसके प्रति आकर्षण कम हो गया और उसकी उपयोगिता भी कम होने लगी। उसमें ठूँस-ठूँस कर पच्चीकारी भर दी गयी। धार्मिक और पौराणिक प्रतीकों की तथ्य-वादिता से उसमें भावनाओं, अनुभूतियों तथा आकर्षणों का अभाव हो गया।

★

दक्षिण शैली

दक्षिण शैली का उद्भव और विकास

भारतीय चित्रकला की उपलब्धि का प्रामाणिक इतिहास गुफाचित्रों के निर्माण से प्रारंभ होता है। १०वीं शताब्दी ई० से पहले भारतीय चित्रकला की प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व भित्तिचित्रों में मिलता है। ये भित्तिचित्र अधिकांश में बौद्धकला से और अल्पांश में जैनकला से अनुबद्ध हैं। भित्तिचित्रों के निर्माण से पूर्व बौद्धकला और जैनकला का समृद्ध रूप मूर्तियों तथा मंदिरों के शिल्प में व्याप्त हो चुका था। भित्तिचित्रों के निर्माण के बाद उसका पूरा रूप निखर आया। जोगीमारा, अजन्ता, बाघ, बादामी, सित्तनवासल और एलोरा इनके प्रमुख केन्द्र हैं। ये गुफाचित्र अपनी सुन्दरता और समृद्धि के स्वयं उपमान हैं। इनका निर्माण लगभग ३०० ई० पूर्व से लेकर लगभग १००० ई० के बीच हुआ। फिर भी इनके प्रभाव, प्रसार और इनकी प्रेरणा की सीमाएँ इनके निर्माण के बहुत समय पहले से लेकर इनके निर्माण के बहुत समय बाद तक फैली हुई हैं। यह निश्चित सा है कि ईसा की कई शताब्दियों पहले ही इस देश में चित्रकला की उन्नत परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। उसी शृंखला की अन्तिम लड़ियाँ इन गुफाओं में सुरक्षित रहकर हम तक पहुँच सकी हैं।

इन गुफाचित्रों के विधान में अनेक प्रकार की शैलियों का समावेश है। इन अनेक प्रकार की शैलियों में एक शैली दक्षिण भारत की है। अजन्ता की ९वीं तथा १०वीं गुफा में दक्षिण शैली के चित्र इसके प्रमाण हैं। इन चित्रों की समीक्षा करने वाले विद्वानों का अभिमत है कि प्राचीन भारत की जिस कलात्मक विरासत को जिन अनेक शैलियों ने गौरव के साथ आगे बढ़ाया और जिनके अस्तित्व का आज पता तक नहीं चलता या जिनके संबंध में बहुत ही कम सूचनायें उपलब्ध होती हैं, उनमें दक्षिण शैली का भी एक स्थान है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक दक्षिण शैली का महत्वपूर्ण योग रहा है। गुफाचित्रों की निर्माण-परम्परा का अन्त हो जाने के बाद से मुगल चित्रकला के जन्म तक, चित्रकला के इतिहास को जोड़ने वाली कड़ियों में दक्षिण शैली का उल्लेखनीय स्थान है। भारतीय चित्रकला के इन पाँच सौ वर्षों का इतिहास आज अज्ञातावस्था में ही रहता, यदि उसको दक्षिण शैली का योग न मिला होता। १०वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक के समय की भारतीय चित्रकला दक्षिण में ही सुरक्षित रही। यद्यपि पालि और संस्कृत के ग्रन्थों के विवरणों से हमें यह विदित होता है कि ईसा की कई शताब्दियों पहले से उत्तर भारत में चित्रकला का अच्छा प्रचलन हो चुका था और उसका विकसित रूप दक्षिण में पहुँचा; किन्तु उत्तर भारत की चित्रकला समय की यातनाओं के कारण सर्वथा नष्ट हो गयी जब कि दक्षिण में वह बची रह गयी। दक्षिण की इसी अवशिष्ट चित्रथाती के आधार पर हम उत्तर भारत की उस समृद्धि का भी अन्दाजा लगा सकते हैं जो अस्त हो चुकी थी और जिसका रिक्थ दक्षिण में सुरक्षित था।

भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में दक्षिणात्य पद्धतियों की एक सर्वथा अपने ढंग की मौलिक निष्पत्तियों का विशेष महत्त्व है। इन दक्षिणात्य कला-पद्धतियों ने यद्यपि स्वतंत्र रूप से, वहाँ की तत्कालीन संस्कृति-संस्कारों के अनुरूप, अपना विकास किया, तथापि उसका उत्तरकालीन स्वरूप मध्ययुगीन मुगल और राजपूत शैलियों के प्रभाव-प्रसार से अछूता न रह सका; और देखा जाय तो दक्षिण शैली की संमृद्धि के लिए उत्तर भारत की इन मुगल -राजपूत शैलियों के सामंजस्य का परिणाम शुभंकर ही सिद्ध हुआ।

दक्षिण में निर्मित कला की प्रमुख तीन पद्धतियाँ देखने को मिलती हैं, जिनके नाम हैं: **द्राविड़, बेसर** और **नागर**। पहली पद्धति का जन्म दक्षिण में हुआ और वहीं के क्षेत्र में रहकर उसका विकास हुआ। **नागर** पद्धति, जो **'आर्यावर्त्त शैली'** के नाम से विश्रुत है, उत्तर भारत से निर्मित होकर दक्षिण में आयी। दक्षिण में **नागर** की अपेक्षा **द्राविड़** की ही प्रमुखता रही। शिल्पकला के क्षेत्र में इन **द्राविड़ शैली** के कलाकारों ने बहुत ही उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण किया, जिनकी तुलना **आर्यशैली** के देवी-देवताओं की भव्य आकृतियाँ भी नहीं कर पातीं। पल्लव एवं चोल राजवंशों के युग में निर्मित प्रस्तर तथा काँस्य-मूर्तियों में **द्राविड़ शैली** की अतुलनीय विशेषताओं को देखा जा सकता है। जब कि उत्तर भारत में १२वीं शताब्दी के बाद मूर्तिकला का प्रायः ह्रास हो चुका था, दक्षिण में तब भी काँस्य-मूर्तिकला अपने उत्कर्ष पर थी। दक्षिण की काँस्य-मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध नटराज की मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ के राजाओं तथा वैष्णव-शैव साधु-संतों की मूर्तियों का कौशल भी दर्शनीय है। शिल्पकला के अतिरिक्त चित्रकला के क्षेत्र में भी यही बात दिखायी देती है। द्रविड़ लोग वास्तुकार और मूर्तिकार ही नहीं थे, चित्रकला में भी प्रवीण थे।

पल्लववंशीय राजा महेंद्र वर्मा का एक ऐसा शिलालेख समुँदर में सुरक्षित है, जिसमें लिखा है कि "प्राचीन **'मानदण्ड-कल्प'** के आधार पर उन्होंने दक्षिण चित्र (दाक्षिणात्य चित्रकला) पर ऐसे ग्रंथ के लिए निर्धारित नियमों और पद्धतियों का पूर्णतः पालन करते हुए टिप्पणी (वृत्ति) संकलित करवाई थी।" राजा महेन्द्र वर्मा के अभिलेख का यह अवतरण यद्यपि चित्रकला की दाक्षिणात्य पद्धतियों का संकेत मात्र प्रस्तुत करता है, तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि **'दक्षिणी चित्र'** के नाम से वहाँ अनेक पद्धतियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं।

दक्षिण भारत की चित्रकला के परिचायक वे आदि रूप यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, फिर भी उनके संबंध में जो विवरण, साक्ष्य और उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि साहित्य-निर्माण की भाँति चित्रकला की दिशा में भी दक्षिण की अपनी अन्यन्य विशेषता थी। दक्षिण में उपलब्ध कला-विषयक हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर स्पष्ट है कि वहाँ लेखन और चित्रण दोनों विषयों को एक समान मान्यता प्राप्त थी। दक्षिण में आज भी ऐसे कला-विषयक हस्तलिखित ग्रंथों के प्राप्त होने की पूरी संभावना है, जो अब तक प्रकाश में नहीं आये हैं, और जिनके संबंध में किसी भी खोज रिपोर्ट में कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

दक्षिण में हाल के कुछ मुसलिम शासकों ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ **'हिंदिया'** कला शाखा का उदय हुआ। यह शाखा पूर्णतया फारसी शैली से प्रसूत थी। दक्षिण के कुछ मंदिरों में प्राचीन शैली के चित्रकारी के नमूने अस्पष्ट हालत में देखने को मिलते हैं। वृहदीश्वर मंदिर तंजोर के भित्तिचित्र और जिनकांची तिरुपतिकुरम् के वर्धमान मंदिर की चित्रकारी का संकेत आगे किया गया है। इस कला पर व्यापक रूप से अजंता की शैली का प्रभाव है।

इन कला-कृतियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि दाक्षिणात्य चित्रशैली की बाहरी साज-सज्जा तो इस्लामी प्रभावों से अभिभूत है; किन्तु उसका भीतरी भाव-विधान सर्वथा भारतीय है, जिस पर अजंता का दाय स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। १६वीं शताब्दी की दो हस्तलिखित चित्रित पोथियाँ प्राप्त हुई हैं। पहिली पोथी तो अली आदिलशाह के राज्यकाल में निर्मित **'नुजूम अल-उलूम'** है, जो कि संप्रति लंदन के चेस्टरबेटी संग्रह में सुरक्षित है। दूसरी पोथी भी उसी समय अहमदनगर में निर्मित हुई, जो संप्रति पूना में है। इन दोनों पुस्तकों के चित्रों तथा लिपियों में इस्लाम और भारत (अजंता) के संस्कारों का सम्मिश्रण है। अजंता के बाद की चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० की चित्रकारी में भी कम आकर्षण नहीं है। दक्षिण में वास्तुकला और मूर्तिकला की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी अबाध रूप से कार्य होता रहा। बाघ की गुफाओं, सित्तनवासल के जैन मंदिरों, तंजौर के मंदिरों और केरल के पद्मनाभपुरम् के महलों तथा कृष्णपुरम् के चित्रों तक चित्रकला का निर्माण होता रहा। कोचीन के मट्टनचेरी महल की १९वीं शताब्दी के भित्तिचित्रों से हमें दक्षिण की चित्रकला के निरन्तर विकसनशील इतिहास का पता लगता है।

गुफाओं के निर्माण और गुफाचित्रों के अंकन में दक्षिण भारत का महत्वपूर्ण योग रहा है। उत्तर भारत की सीताभांजी आदि दो-तीन स्थानों के गुफाचित्रों के अतिरिक्त भारत की प्राचीन चित्रकारी का केन्द्र दक्षिण ही रहा है। विशाखापत्तनम् के निकट इस प्रकार की अनेक गुफायें और पल्लवकालीन तिरुचिरापल्ली की गुफाओं को उद्धृत किया जा सकता है। औरंगाबाद की गुफाओं में निहित कारीगरी का अब तक कम प्रचार हुआ है। बम्बई के निकट भज, कार्ले, नासिक की बौद्धकालीन गुफायें और कान्हेरी की बौद्धोतरकालीन गुफाओं का यदि योग किया जाय तो उनकी संख्या १५० तक पहुँचती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण की चित्रकला को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। विजयनगर के राजाओं के तथा बहमनी सुल्तानों के समय को दक्षिण की चित्रकला का उद्भव युग कहा जा सकता है। उसका दूसरा युग बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की सलतनतों की स्थापना से आरंभ होता है, जिसका समय १५वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से १७वीं शताब्दी के मध्य में रखा जा सकता है। दक्षिण की चित्रकला का वास्तविक अभ्युत्थान इसी समय हुआ। इसके बाद दक्षिण में चित्रकला सदा के लिए अस्त हो गयी।

पल्लव और चोल राजाओं के समय की कला यद्यपि उत्तर भारत की पद्धतियों से प्रभावित एवं प्रेरित है, तथापि अपने भौगोलिक प्रभाव के कारण उसमें दाक्षिणात्य प्रकृति का ऐसा निजस्व वर्तमान है, जो कि उत्तर की चित्र शैलियों से बहुत कुछ भिन्नता लिए है। सीतनवासल के पल्लव चित्रों और चोल शासक राजराजा प्रथम के समकालीन वृहदीश्वर मंदिर (तंजौर) के बरामदों तथा दीवारों पर चित्रित कलाकृतियों की शैली यद्यपि अजन्ता के आदर्शों पर निर्मित हलके एवं लभप्रधान चित्रों के अनुरूप है, फिर भी उसकी सजावट एवं वस्त्रालंकरण की विधियाँ तथा अभिव्यक्ति के अधिकांश प्रकार नितान्त दाक्षिणात्य हैं।

१३वीं, १४वीं शताब्दी में तिरुपतिकुरम् (जिनकांची) में वर्तमान भगवान् वर्धमान मन्दिर के संगीत-मण्डप पर अंकित चित्र और

अनेगुंडी के उचयप्प मठ में अंकित भित्तिचित्र दक्षिण की चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस संगीत-मण्डप को बुक्कराय द्वितीय के मंत्री एवं सेनापति इरुगपा ने १३८७-८८ ई० में बनवाया था। उचयप्प मठ को संभवतः देवराज ने बनवाया था। इस मंदिर और मठ के चित्रों को विजयनगर-शैली के अन्तर्गत रखा गया है, क्योंकि इस युग के अधिकांश मठ-मन्दिर विजयनगर की सत्ता के अधीन थे। इन चित्रों की विशेषताओं के सम्बन्ध में डॉ० मोतीचंद्र ने (**कलानिधि** अंक १, वर्ष १, २००५ वि०) लिखा है कि "(१) रंग से पोल दिखाने की क्रिया का अवशेष, (२) रेखाओं में नुकीलापन और तरलता, (३) आकृतियों में एक विशेष लोच और गति, (४) मुकुट, वस्त्र और गहने विजयनगर के प्रारम्भिक युग के हैं तथा अजंता-एलोरा के वस्त्रभूषणों से भिन्न हैं।"

विजयनगर के राजाओं के ही समकालीन दक्षिण में बहमनी सुल्तानों का भी आधिपत्य था, जिनकी सल्तनत की सीमाओं को १४वीं से १६वीं शताब्दी के बीच रखा जा सकता है। अहमदशाह बली बहमनी के द्वारा १४३२ ई० में निर्मित बीदर दुर्ग के रंगमहल के तीन कमरों में किसी समय सुन्दर पुष्पलताओं के चित्र थे, किन्तु अब वे नष्ट हो चुके हैं। इन्हीं शाह बली का मकबरा इरानी शैली की सुन्दर नक्काशी से चित्रित है, जिसका चटकीला वर्ण-विधान आज भी सुरक्षित है। यद्यपि बहमनी सुल्तान कला के पारखी तथा कलाप्रेमी थे, किन्तु उनके समय में दक्षिण में चित्रकला का ह्रास ही हुआ। उसका कारण यह था कि उनमें इस्लाम की कट्टरता और धर्मद्रोह की भावना की अधिकता थी।

बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण में एक साथ पाँच सल्तनतें कायम हुई, जिनके नाम थे: बीजापुर के आदिलशाह, अहमदनगर के निजामशाह, गोलकुण्डा के कुतुबशाह, बिरार के इमादशाह और बीदर के बदरीशाह। इन पाँच सल्तनतों में बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की सल्तनतों ने ही दक्षिण में चित्रकला की परम्परा को आगे बढ़ाया। लगभग १७वीं, १८वीं शताब्दी में दक्षिण की ये चित्रशाखायें हैदराबाद, पूना, कडप्पा, कुर्नूल और शोरापुर (गुलबर्ग) आदि की स्थानिक उपशाखाओं के रूप में पल्लवित हुई।

दक्षिण में उक्त पाँचों राज्यों के स्थापित होने के पूर्व भारतीय चित्रकला की क्या स्थिति थी, इसका परिचय प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का अध्ययन किया जाय। तत्कालीन चित्रकला की जानकारी के लिए हमें मुगल साम्राज्य की स्थिति को जानना होगा। मुगल शाहँशाह अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की संरक्षता में इस्लामी चित्रकला अपनी उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। अकबर ने उसको बड़ा प्रोत्साहन दिया था। तैमूरवंशीय होने पर भी हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू कला के लिए उसके हृदय में बड़ा प्रेम था। वह चाहता तो मुगल कला को ही चमका सकता था, किन्तु उसकी हार्दिक अभिलाषा थी कि इस्लामी, इरानी और भारतीय कला में समन्वय स्थापित किया जाय।

उस समय दक्षिण के रजवाड़ों की स्थिति कुछ भिन्न थी। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के शासक अकबर की नीति तथा विचारों से अनभिज्ञ थे। इन शासकों के सम्बन्ध में डूगलस बारेट महोदय ने ठीक ही लिखा है कि 'वे जैसा देश, वैसा वेश के पक्षपाती थे। युद्ध के समय वे अपना पराक्रम दिखाते और बड़ी बहादुरी से लड़कर दुर्ग पर अधिकार कर लेते थे; किन्तु शान्ति के समय सारा राज-काज अपने मंत्रियों को सौंपकर अपना समय भोग-विलास और अन्तःपुर में नृत्य आदि के आनन्द में व्यतीत करते थे।' ये लोग चित्रकला के भी प्रेमी थे और राज्य में अमन-चैन के समय चित्रकला की ओर ध्यान दिया जाता था। जिस प्रकार दिल्ली के दरबार में चित्रकला को राजकीय संमान प्राप्त था वैसे ही दक्षिण के उक्त रजवाड़ों में संगीतज्ञ, चित्रकार और कवियों का बड़े आदर से स्वागत किया जाता था। अवकाश के समय शासक स्वयं भी चित्रकारी किया करते थे। यही कारण था कि १६५० ई० से लेकर १७५० ई० तक दक्षिण भारत में चित्रकला की अच्छी उन्नति हुई।

ऊपर संकेत किया गया है कि बहमनी सल्तनत के बाद जिन पाँच राज्यों का दक्षिण में जन्म हुआ उनमें बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर के तीन राज्यों में ही चित्रकला के लिए कार्य हुआ।

बीजापुर का आदिलशाही वंश कला का बड़ा प्रेमी था। आदिलशाही सल्तनत के प्रतिष्ठापक सुल्तान यूसुफ आदिलशाह (१४९० - १५१० ई०) बड़ा कलाप्रेमी बादशाह था। अकबर की भाँति वह भी उदारनीति का शासक था। उसने ईरान तथा तुर्की से प्रख्यात साहित्यकारों और कलाकारों को आमंत्रित कर दक्षिण में चित्रकला तथा साहित्य के विकास के लिए सराहनीय कार्य किया। उसका पुत्र इस्माइल अली आदिलशाह (१५५८ - १५८० ई०) तथा उसकी पत्नी चाँद सुल्ताना कला के पारखी और कलाकारों के आश्रयदाता थे। **'नुजूम अल-उलूम'** नामक प्रसिद्ध पुस्तक इन्हीं आदिलशाह के शासनकाल १५७० ई० में चित्रित हुई थी। इस पुस्तक की चित्रावली में एक ओर तो दक्षिण की भव्य चित्रशैली (बीजापुर शैली) के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर प्राचीन फारसी-भारतीय चित्रकला के इतिहास के लिए वह मानदण्ड का कार्य करती है। इस पुस्तक के चित्रों की संख्या ८७६ है, जिनमें १४० नक्शे तथा तालिकायें

और शेष मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के चित्र हैं। इन चित्रों के प्रमुख विषय ज्योतिष, तंत्र-मंत्र, शालिहोत्र, हस्तिशास्त्र और शस्त्रविद्या है। इस चित्रावली पर ईरानी और अपभ्रंश शैली का प्रभाव है।

अली आदिलशाह प्रथम के भतीजे इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८० - १६२७ ई०) के समय बीजापुर कलम की बड़ी उन्नति हुई। उसके समय की शबीहें, भित्तिचित्र और प्रादेशिक लोकशैली की कृतियाँ इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मुहम्मद आदिलशाह (१६२७ - १६५७ ई०) ने भी अपने पिता द्वारा पोषित एवं पल्लवित कलाभिरुचि को उसी शान-मान के साथ आगे बढ़ाया। इनके उत्तराधिकारी अली आदिलशाह द्वितीय (१६५७ - १६७२ ई०) और उसके उत्तराधिकारी सिकन्दर अलीशाह (१६७२ - १६८७ ई०) ने भी बीजापुर कलम की उन्नति के लिए सतत चेष्टा की। इनके समय मुगल, राजपूत और पश्चिम की शैलियों का भी बीजापुर की कलम में प्रवेश हो चुका था।

१६८७ ई० में औरंगजेब ने बीजापुर पर विजय प्राप्त की और इस प्रकार दक्षिण में आदिलशाही सल्तनत का अन्त हुआ। इस प्रकार लगभग १९७ वर्ष राज्य करने के उपरान्त बीजापुर के आदिलशाही वंश का अन्त हुआ।

चित्रकला के अतिरिक्त आदिलशाही शासकों के कलाप्रेम का परिचय स्थापत्य में भी देखने को मिलता है। उत्तर मध्य युग में, स्थापत्य के क्षेत्र में जितने महत्वपूर्ण कार्य बीजापुर में हुए उतने किसी दूसरे नगर में नहीं हुए। मुगलों के कलाप्रेम का उदाहरण एक ओर यदि ताजमहल का सौन्दर्य है तो दूसरी ओर उनकी (आदिलशाही सल्तनत को) कलाभिलाषा का भव्य उदाहरण यमुना तट पर अवस्थित बीजापुर का विशाल दुर्ग है। उनके लम्बे शासन में उनकी उदार एवं समन्वयवादी विचारधारा की उपलब्धियाँ गोलगुम्बद, जामा मस्जिद, इब्राहीम रोजा, सतमंजला महल, महता महल हैं। इन विशाल भवनों में हिन्दू-मुसलिम स्थापत्य का अपूर्व समन्वय दर्शित है।

बीजापुर का आदिलशाही वंश उत्कट कलाप्रेमी होने के साथ-साथ साहित्य और संगीत का भी अनुरागी था। उसके शासनकाल में मीरांजी, बुरहानुद्दीन तथा जानम जैसे सूफी संतों और नुसरती जैसे यशस्वी कवियों ने हिन्दी में सुन्दर साहित्यिक ग्रंथों का प्रणयन किया। इब्राहीम आदिलशाह (द्वितीय), जो कि 'जगद्गुरू' की उपाधि से विभूषित था, कुशल संगीतज्ञ भी था। ब्रजभाषा में लिखे हुए कृष्ण भक्त कवियों के पदों से बीजापुर का शाही महल सदा गुंजायमान रहता था। इब्राहीम की संगीतप्रियता और उसके हिन्दीप्रेम का उज्ज्वल उदाहरण उसके द्वारा विरचित **'नवरत्न'** नामक ग्रंथ है।

दक्षिणात्य शैली के चित्र दृष्टांत और स्फुट, दोनों रूपों में मिलते हैं। रागमाला की एक चित्रावली बड़ौदा के संग्रहालय में सुरक्षित है। हैदराबाद म्युजियम में कुछ स्फुट चित्र ऐसे संग्रहीत हैं जिनमें उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की विभिन्न शैलियों का अपूर्व सम्मिश्रण देखने को मिलता है। इसी प्रकार १७वीं शताब्दी के दक्षिण शैली के कुछ चित्र गोलकुण्डा तथा सालारजंग (हैदराबाद) के संग्रहालयों में उपलब्ध होते हैं। दक्षिण शैली के तत्कालीन चित्रकारों में मीर हाशिम और रहीम आदि का नाम उल्लेखनीय है।

दक्षिण शैली का यह सुन्दर रूप-विधान बीजापुर तथा गोलकुण्डा शैली के नाम से भी कहा गया है। एशियाटिक संग्रहालय एमस्टर्डम, पेरिस के म्युजियम में सुरक्षित गोलकुण्डा के राजाओं की प्रतिकृतियाँ इसी श्रेणी की हैं। उत्तर भारत की मुगल और राजपूत शैली ने भी दक्षिणात्य शैली को प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई में कपड़े पर चित्रित बीजापुर के राजाओं का विशाल पटचित्र इसके उदाहरण हैं। दक्षिण के कलाप्रेमी राजाओं के यत्न से उत्तर भारत से भी कुछ ऐसे चित्र क्रय करके दक्षिण में लाये गये, जिन पर दक्षिण शैली का कोई प्रभाव नहीं था। इस प्रकार के कुछ चित्र हैदराबाद के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त बोडलियन लाइब्रेरी आक्सफोर्ड (बिशप लॉड के संग्रह में), भारत इतिहास विशोधन मंडल, पूना, ब्रिटिश म्युजियम लंदन, चेस्टरबेटी संग्रह, लंदन और विभिन्न व्यक्तिगत संग्रहों में बीजापुर-गोलकुण्डा कलम के चित्र सुरक्षित हैं।

☆

राजपूत शैली

उद्भव : उत्कर्ष

भारत में चित्रकला और हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में १५वीं शताब्दी का समय पुनरुत्थान का समय रहा है। इस शताब्दी में कला के विभिन्न अंगों, यथा संगीत, वास्तु, नृत्य आदि की दिशा में सर्वत्र एक नयी चेतना का स्फुरण हुआ। धर्म और साहित्य का भी अपूर्व विकास हुआ।

इस समय संगीत की अभ्युन्नति के साथ-साथ रागमाला-संबंधी चित्रों का निर्माण, भित्तिचित्रों के साथ-साथ चित्रों का निर्माण, रीतिकालीन साहित्य के साथ-साथ छंदशास्त्र विषयक चित्रों की रचना और रामानुजीय भक्ति-संप्रदाय के साथ-साथ कृष्ण-लीलाओं के चित्रों का भी निर्माण हुआ। इस युग के संगीत, वास्तु, छंद और भक्ति विषयक सभी आरंभिक चित्रों पर अपभ्रंश शैली का प्रभाव है।

किन्तु इस युग की विशिष्ट देन अपभ्रंश शैली के उक्त चित्र न होकर एक सर्वथा नवाविर्भूत राजपूत शैली का निर्माण था। बालकृष्ण संबंधी धार्मिक चित्रों के क्षेत्र में अपभ्रंश शैली का पूरा स्थान राजपूत शैली ने ले लिया था। स्त्रियों की चोली आदि के अंकन में अपभ्रंश शैली में जो पुरानी परंपराएँ चली आ रही थी, उनमें भी राजपूत शैली के चित्रकारों ने सर्वथा नये प्रयोग किये।

प्रकृतिचित्रों के अंकन में; कबीर, नानक, वल्लभ आदि के व्यक्तिचित्रों के क्षेत्र में और राग-रागिनी संबंधी शृंगारप्रधान चित्रों के निर्माण में राजपूत शैली ने अपने आकर्षक प्रयोगों से अपभ्रंश शैली को पराभूत कर दिया था। राजपूत शैली का आंशिक निर्माण गुजरात और मेवाड़ के क्षेत्रों में १५वीं शताब्दी के लगभग हुआ।

यह युग साहित्यिक जागरण के क्षेत्र में भी बड़ा प्रभावकारी सिद्ध हुआ। १६वीं शताब्दी में हम देखते हैं कि भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में **'रामायण'** तथा **'महाभारत'** के अनुवाद तथा रूपान्तर होने लग गये थे। एक ओर शिवाजी जैसे प्रतापी वीर हुए और दूसरी ओर जयसिंह जैसे कलाप्रेमी राजा ने नये नगरों का निर्माण कराया—और वृहद् यज्ञ को संपन्न करके वर्ण-व्यवस्था को कायम किया; साथ ही ज्योतिष की अभ्युन्नति के लिए देश के विभिन्न भागों में वेधशालाएँ स्थापित कीं। इसी समय हिन्दी में रीतिकविता के उद्भावक केशव, मतिराम, देव, बिहारी आदि कवियों एवं आचार्यों ने संस्कृत की शैली पर लक्षणग्रंथों की रचना की।

राजपूत शैली की प्राचीनता

साहित्य और कला की गति सदैव विकासोन्मुख रही है। उनके भावी परिवेश के सम्बन्ध में हम संभावनाएँ तो प्रकट कर सकते हैं; किन्तु उनके लिए न तो निश्चित सीमाएँ निर्धारित कर सकते हैं और उनके वर्तमान स्वरूप को सामने रखकर न तो उनके सम्बन्ध में ऐसी मान्यताएँ ही निर्धारित कर सकते हैं, जो अंतिम कही जायँ। ठीक इसी प्रकार उसके विगत स्वरूप के सम्बन्ध में गवेषणारत विद्वानों द्वारा जो स्थापनाएँ स्थिर की गयी हैं वे हमारे अध्ययन-अन्वेषण के लिए पथ-प्रदर्शन एवं प्रेरणा का कार्य तो अवश्य कर सकती हैं; किन्तु उन्हें भी अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। विशेष रूप से इसलिए भी कि ज्ञान की जो अथाह थाती काल-कवलित हो गयी उसके सम्बन्ध में क्या कहा जाय और भारत के विभिन्न अंचलों से प्राचीन ज्ञान की जो दबी हुई निधि आज प्रकाश में आ रही है उसके बिना इस सम्बन्ध में एक अकाटच तथा अंतिम बात कहने का साहस कैसे किया जाय ?

पुरानी स्थापनाओं की जगह नयी स्थापनाओं के प्रतिष्ठित होने का एकमात्र कारण यही रहा है।

राजपूत चित्रकला के सम्बन्ध में आज से कुछ वर्ष पूर्व जो निष्कर्ष निकाले गये थे, आज हमारे समक्ष इतनी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है कि उन निष्कर्षों को ठीक उसी रूप में मान लेने के लिए हम तैयार नहीं हैं। उदाहरण के लिए आक्सफर्ड से १९१६ ई० में प्रकाशित आनन्दकुमार स्वामी की पुस्तक **'राजपूत पेंटिंग'** में राजपूत-चित्रकला के सम्बन्ध में जो थोड़ी-सी बातें सुझायी गयी हैं, वे यथेष्ट नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

राजपूत चित्रकला के सम्बन्ध में जिन अनेक विद्वानों ने नये सिरे से मौलिक कार्य किया है उनमें बासिल ग्रे, ओ० सी० गांगोली

और डॉ० हरमन ग्वेत्स का नाम उल्लेखनीय है। उनमें भी ग्वेत्स महोदय का कार्य अधिक खोजपूर्ण और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। आज तक की खोजों के परिणामस्वरूप जो नये तथ्य प्रकाश में आये हैं उन सभी पर उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इसलिए राजपूत चित्रकला पर विचार करते समय यदि हम ग्वेत्स महोदय की बातों को भी साथ लेकर चलें तो वास्तविक स्थितियों को हम अधिक विश्वसनीय और सहज रीति से हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेंगे।

कुछ समय पूर्व राजपूत चित्रों पर डॉ० हरमन ग्वेत्स का एक महत्वपूर्ण लेख **'इंडियन आर्ट एंड लेटर्स'** (१९४७ ई०) के प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ था। यह लेख उन्होंने बीकानेर के महलों से उपलब्ध सर्वथा अपूर्व एक विशाल चित्र-संग्रह के आधार पर तैयार किया था। लेख से विदित होता है कि इस चित्र-संग्रह में ऐसी भी सामग्री है, जिससे राजपूत शैली के इतिहास पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ता है। इस सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजपूत चित्रकला के सम्बन्ध में अब तक की सारी मान्यताएँ शिथिल पड़ जाती हैं। इन चित्रों के सम्बन्ध में ऐसा सुना गया था (**कलानिधि**, वर्ष १ अंक १) कि महाराज बीकानेर उनको अमेरिका ले गये थे। वे चित्र वापिस आये या नहीं, कहा नहीं जा सकता।

राजपूत चित्रकला के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो उसकी तह में प्रसुप्त दो बातें हमारे समक्ष उभर आती हैं। पहली बात तो यह है कि राजस्थान की इस उर्वर धरती में पहले-पहल जब कला के बीज अँकुरित हुए थे तब उनका स्वरूप क्या था, और वे परिस्थितियाँ क्या थीं जिन्होंने उसको जन्म दिया? दूसरी बात यह कि राजस्थान की इस वीर-भोग्या धरती का राजनीतिक और सामाजिक जीवन इतना उलझनमय तथा युद्धरत रहा है कि जब हम उसके कलात्मक इतिहास की खोज करते हैं तो हमारे समक्ष एक साथ अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

कलान्वेषक विद्वानों ने राजा-महाराजाओं, राजपुत्रों, सामन्तों और जागीरदारों के नामांकित जो बहुसंख्यक चित्र प्राप्त किये हैं उनके आधार पर अब इस बात का बहुत-कुछ हद तक पता लग गया है कि १७वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक राजपूत चित्रकला को जो राज्याश्रय प्राप्त हुआ उसका इतिहास क्या था। इस प्रकार की सामग्री में कुछ सचित्र पाण्डुलिपियों और पाण्डुलिपियों के अधिकतर स्फुट चित्र भी उपलब्ध हैं; किन्तु उनमें उस पुष्पिका-पत्र का अभाव रहता है, जिससे उनके मूलस्थान और समय का पता लगाया जा सके। इसलिए तिथियुक्त चित्र ही एकमात्र ऐसी सहायक सामग्री है, जिससे राजस्थानी चित्रकला की परम्परा का इतिहास खोजा जा सकता है।

आरंभ में चित्रों का उद्देश्य मनोरंजन तक ही सीमित था। इसलिए उनका प्रचलन राज-महलों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार की चित्रकारी के लिए राजमहलों में वेतनभोगी कलाकार होते थे, जो बहुधा वंशानुगत होते थे। किन्तु कभी-कभी अन्य कलाकार भी इस उद्देश्य के लिए बुलाये जाते थे। उनको नकद मूल्य दिया जाता था। इस प्रकार की कुछ सचित्र पाण्डुलिपियाँ भी मिली हैं, जिनकी पुष्पिका में तीन-हजार से लेकर छः-हजार तक का मूल्य अंकित है।

इन निष्कर्षों से यह प्रगट होता है कि राजपूत कला आरंभ में दरबारों की वस्तु रही है और जन-सामान्य से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्र रूप से कोई भी समर्थ शैली तब तक निर्मित नहीं हो पायी थी।

शनैः-शनैः उसका व्यापक प्रचार हुआ। बड़े-बड़े राज्यों के अनुकरण पर छोटे पैमाने के क्षत्रपों, राजपरिवार के सदस्यों, सामन्तों और जागीरदारों के यहाँ भी चित्रकला का प्रवेश हुआ। ये छोटे पैमाने के क्षत्रप आदि इस बात के लिए यत्नशील रहते थे कि बड़े-बड़े राज्यों की भाँति उनके यहाँ भी चित्रकला की वही परिपाटी बनी रहे; किन्तु, क्योंकि उनमें अधिकांश का आर्थिक स्तर इतना दृढ़ नहीं था कि वे बड़े-बड़े कलाकारों का खर्च बर्दाश्त कर सकते, अतः वे अपनी अलग परंपराएँ ही कायम करते थे। बड़े दरबारों में जो कलाकार कार्य करते थे, स्वभावतः ही उनका सम्बन्ध बाहरी क्षेत्र से अधिक होता और एतदर्थ उनकी कला का क्षेत्र भी अधिक उन्नत होता; किन्तु छोटे क्षेत्र के कलाकारों के लिएय ह सुविधा प्राप्त न होती, यद्यपि कभी-कभी बड़े दरबारों में भी वे आते-जाते थे और वहाँ के कलाकारों से विचारों का आदान-प्रदान कर उनसे प्रेरणा प्राप्त करते थे।

इस प्रकार आश्रयों की अनेकता के कारण चित्र-शैलियों में भी अनेकता के दर्शन होते हैं। १६वीं, १७वीं शताब्दी की आरंभावस्था में जो चित्र बने उनमें से अधिकांश या तो मुगलों द्वारा नष्ट किये गये अथवा लूट लिये गये। ये सभी चित्र राजदरबारों में बने थे। सामन्तों, जागीरदारों या दूसरे-व्यक्तियों द्वारा तैयार कराये गये अधिकांश चित्र-संग्रह सुरक्षित रह गये। ये चित्र इसलिए सुरक्षित रह सके कि वे बेच दिये गये थे। इसलिए, वे जन-साधारण तक पहुँच चुके थे। इस प्रकार के चित्रों में लघुचित्रों की अधिकता है। ये लघुचित्र आज इतनी संख्या में उपलब्ध हैं कि उनके अध्ययन से बहुत-कुछ हद तक राजपूत चित्रकला की १८वीं शताब्दी तक विकसित अनेक शैलियों की सहज ही में समीक्षा प्रस्तुत की जा सकती है।

किन्तु यह समीक्षा उन चित्रों के अभाव में अधूरी ही कही जायगी, जो राजदरबारों में बने थे और जिनके आधार पर निश्चित रूप से राजपूत चित्रकला की तत्कालीन शैलियों की वास्तविक व्याख्या की जा सकती है।

राजपूत कला के मूल उद्गम की खोज करते समय कुछ विद्वानों का कथन है कि वह मुख्यतः जहाँगीरकालीन मुगल शैली की एक शाखा मात्र थी। इस प्रसंग में कहा गया है कि १६वीं शताब्दी तक का कोई भी राजपूत शैली का चित्र ऐसा नहीं मिलता, जिसपर तिथि दी गयी हो। **'उत्तराध्ययनसूत्र'** की जिस सचित्र प्रति पर १५९१ की तिथि दी हुई है उसको जैन-गुजराती-मिश्रित शैली सिद्ध किया गया है। अन्य भी जो तिथियुक्त कृतियाँ मिली है उनको भी यह कहकर टाल दिया गया कि वे उन नयी स्थानीय शैलियों की हैं, जिनके इतिहास का कुछ पता नहीं है।

इस मत के विरुद्ध कुछ नयी दलीलें भी प्रकाश में आ चुकी हैं। इन दलीलों में कहा गया है कि राजस्थान में राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अभ्युदय लगभग १४वीं शताब्दी के अंत में ही हो गया था। १६वीं शताब्दी तक वहाँ के साहित्यिक क्षेत्र और कला के धरातल में इस तीव्र गति से नये निर्माण होने आरंभ हो गये थे कि जिनको दृष्टि में रखकर यह कहना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता कि राजस्थान में तब चित्रकला का कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस प्रसंग में जो यह बात कही जाती है कि राजपूत शैली, जहाँगीर कालीन मुगल शैली की एक शाखा थी, वह भी सर्वथा असत्य है। जो मुगल शैली तुर्किस्तान और फारस से आयी है, उससे राजपूत शैली सर्वथा भिन्न है। वह विशुद्ध हिन्दू-परम्परा पर आधारित है। मुगल शैली के लघुचित्रों से ओ राजपूत शैली के लघुचित्रों की समानता प्रतीत होती है वह तो तब की बात है जब कि राजपूतों से अकबर के मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि अकबर के समय युद्धों में प्रायः सभी राजपूत-राजधानियाँ लूट ली गयी थीं। इसीलिए राजपूत शैली के अधिकांश प्राचीन चित्र-संग्रह विलुप्त हो गये थे।

इस प्रकार की संभावनाओं एवं विश्वासों के विरुद्ध, कि राजपूत-चित्रकला का उदय बहुत बाद में हुआ और उसकी प्राचीन समृद्धि को बताने वाले प्रमाणों का अभाव है, अब बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो चुका है। राजपूत-शैली की प्राचीन समृद्धि के परिचायक सूत्र हरमन ग्वेत्स की खोज के अनुसार इस प्रकार हैं:

१. ग्वालियर किले में मानसिंह तोमर (१४८६–१५१६ ई०) की प्रशंसा में आकृतियुक्त जालियाँ, फर्श तथा दीवारों पर बने चित्र, जो उत्तरकालीन जैन-गुजराती परम्परा के विकसित रूप हैं, किन्तु जो अकबरकालीन मुगल तथा राजपूत चित्रकला से सम्बन्धित हैं।
२. जयपुर के पोथीखाना में **'रज्मनामा'** पर आधारित चित्र (१५८३–१५८७ ई०), जिनकी शुद्ध मुगल पृष्ठभूमि में पूर्णतः विकसित राजपूत शैली विद्यमान है।
३. बैराट में सुरक्षित मानसिंह कछवाहा के उद्यान-भवन के भित्तिचित्र जिनकी तिथि वाह्य प्रमाणों से १५८६–१५८७ ई० में निर्धारित की गयी है।
४. अम्बर के राजा विहारीमल और भगवानदास की छतरियों के छतों पर बने चित्र, जिनकी तिथि लगभग १६वीं शताब्दी के अंत में बैठती है।
५. ओरछा (मध्य प्रदेश) के राजमहल पर बने जहाँगीरकालीन भित्तिचित्र।
६. अम्बर, मथुरा, वृन्दाबन और नूरपुर के कछवाहा मन्दिरों पर बने चित्र, जो १५७०–१६१३ ई० के बीच के हैं और जिनमें प्राचीन राजपूत कला के अस्तित्व के प्रमाण विद्यमान हैं।
७. सारे राजस्थान में व्याप्त स्मृति शालाएँ (पालियाँ), जो बीकानेर, मारवाड़ के कुछ क्षेत्रों में और जयपुर में १५वीं शताब्दी के अंत में निर्मित हुई तथा जिनमें तत्कालीन राजपूत शैली के सर्वोच्च सभी गुण विद्यमान हैं।
८. **'भागवत'** की एक सचित्र पाण्डुलिपि से यह विदित होता है कि असम में १५३९ ई० में एक समानान्तर शैली का अस्तित्व था। इसी प्रकार विजयनगर के सिंहासन की छत को देखकर पता चलता है कि दक्षिण में एक मिलती-जुलती चित्र-शैली का प्रचलन था।
९. राजपूत चित्रकला, भारत में मुसलमानों की सल्तनत प्रतिष्ठित होने से पहले की है। मुगल सल्तनत के जमाने में भी हिन्दू चित्रकारों द्वारा जिस चित्रशैली का निरन्तर निर्माण एवं विकास हो रहा था वही राजपूत शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने **'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ'** में एक लघु लेख लिखकर यह सिद्ध किया है कि जब मुसलमान

भारत में नहीं आये थे तभी राजपूत शैली का निर्माण हो चुका था। ये चित्र महाराज उदयादित्य के समय ११वीं शताब्दी के हैं। महाराज उदयादित्य, महाराज भोज के भतीजे थे, जिन्होंने अपने चाचा भोज के दाक्षिणात्य विजेताओं को पराजित करके मालवा की आन को पुनः चमकाया था। भिलसा के निकट इन्होंने लाल पत्थर का एक शिव मन्दिर बनवाया था, जो समग्र भारत में अपने ढंग का अनन्य है। उस मन्दिर में महाराज उदयादित्य ने संस्कृत भाषा की प्रशस्ति खुदवायी थी। इस मन्दिर के उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण १११६–११३७ वि० (१०५९–१०८० ई०) के बीच हुआ।

डा० जायसवाल का अभिमत है कि दाक्षिणात्य राजाओं पर विजय प्राप्ति की स्मृति में उदयादित्य ने एलोरा की गुफाओं के कुछ चित्र बनवाये थे। ये चित्र युद्ध-विषयक हैं, जिन पर **'प्रमार'** लिखा हुआ है। इन चित्रों में अंकित बड़ी-बड़ी मूँछें और ऊपर कपोलों की ओर चढ़ी हुई दुकाट दाढ़ी राजपूती वेश-भूषा की नकल है। इससे यह प्रकट होता है कि क्षत्रियों में दाढ़ी रखने की प्रथा बहुत पुरानी है। ये चित्र सिपाहियों के हैं, जिनमें कुछ तो घोड़ों पर बैठे हैं और कुछ पैदल हैं। सभी चित्र रंगीन हैं। ये चित्र अजन्ता के बाद के और राजपूत-मुगल शैली से पहले के हैं। इनमें नागरी अक्षरों में लिखित **'स्वस्ती त्रि प्रमारराज'** उदयादित्य के समय की लिपि से मिलते हैं।

इसलिए एलोरा गुफा के ये युद्ध-विषयक चित्र उदयादित्य के समय ११वीं, १२वीं शताब्दी में निर्मित राजपूत शैली की आरंभावस्था के चित्र हैं जिन पर मुगल शैली की छाया तक नहीं।

इन सभी प्रमाणों के अतिरिक्त प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम में सुरक्षित **'गीतगोविन्द'** की सचित्र प्रति, जिसको १७वीं शताब्दी के मध्य में चित्रित किया गया, उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त चावन्दा में १६०४ ई० में चित्रित राग-रागिनी के चित्र; नेशनल म्युजियम में सुरक्षित नायक-नायिकाओं के, १६४० ई० में बने चित्र; और जगतसिंह प्रथम के समय में चित्रित अनेक पाण्डुलिपियाँ एवं बहुत-से स्फुट चित्र राजपूत शैली के प्राचीन अस्तित्व का प्रामाणिक हवाला प्रस्तुत करते हैं।

राजपूत शैली की समृद्धि के अनेक केन्द्र

राजपूत-चित्रकला के अध्ययन के लिए हमें तत्कालीन राजनीतिक वातावरण और समकालीन आस-पास की शैलियों को साथ लेकर चलना होगा। मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उत्तर भारत के मध्ययुगीन हिन्दू रजवाड़ों का कलाप्रेम प्रायः शिथिल पड़ गया था; किन्तु पश्चिम भारत के रेगिस्तानी तथा पर्वतीय जैन-समाज में, बंगाल, उड़ीसा और विजयनगरम् आदि में चित्रकला की पुरानी परम्परा का अस्तित्व बना हुआ था। तुगलक-साम्राज्य के पतनान्तर हिन्दुओं की दशा में सुधार हो जाने के बाद कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण हुआ। राणा कुंभा के समय (१४३३–१४६८ ई०) चित्तौड़गढ़ के केन्द्र में इस पुनर्जागरण की चरमोन्नति के परिणाम प्रकाश में आये। १६वीं शताब्दी में मेवाड़ का रचनात्मक विकास पुनः बन्द हो गया। उसका कुछ कारण तो १५३५ ई० में बहादुरशाह और १५६८ ई० में अकबर द्वारा चित्तौड़ विजय थी और कुछ कारण ऐसे भी घटित हुए कि मेवाड़ की तत्कालीन रूढ़िवादी शैली के कलाकारों ने नव-निर्माण सम्बन्धी क्रांतिकारी शैलियों को अपनाने के बजाय उनकी आलोचना की। उक्त मुगल-युद्धों के कारण मेवाड़ की कला को बड़ी क्षति पहुँची।

ग्वालियर तथा अम्बर शैली

कला के रचनात्मक विकास का केंद्र दक्षिण और पश्चिम के बजाय अब उत्तर में स्थापित हुआ, जिसके पोषक कछवाहा तोमर और बुन्देला राजपूत थे। इस नये कला-केंद्र में ८वीं से ११वीं शताब्दी की प्राचीन राजपूत लोक-कला पुनरुज्जीवित हुई और उसका प्रभाव वास्तुकला तथा मूर्तिकला पर भी पड़ा। इस नव-निर्माण का प्रभावशाली केंद्र ग्वालियर के मानसिंह तोमर (१४८६–१५१६ ई०) का दरबार नियुक्त हुआ। ललितकलाओं के क्षेत्र में भारतीय संगीत की एक सर्वथा अछूती शैली का प्रादुर्भाव भी हम ग्वालियर दरबार से होते देखते हैं। इसी समय वास्तुकला और मूर्तिकला के साथ-साथ चित्रकला की कुछ नवीन शाखाओं का भी निर्माण हुआ। ऐसी शैली जो गुजराती परम्परा से भिन्न किन्तु राजपूत और अकबरयुगीन मुगलकला, दोनों के रिक्थ से प्रभावित है ग्वालियर में उत्पन्न हुई। उस युग में ग्वालियर कलाकारों का बहुत बड़ा गढ़ बन चुका था और अकबरी-दरबार के कुई चित्रकार स्वयं को 'ग्वालियरी' कहते थे।

१५१८ ई० में जब लोदियों ने ग्वालियर जीत लिया तो वहाँ के कलाकार छिन्न-भिन्न हो गये। इन बिखरे हुए कलाकारों के

कारण ग्वालियर-कला का सर्वाधिक प्रभाव बुंदेलखण्ड पर लक्षित हुआ। दतिया के काव्यप्रेमी एवं कलारसिक राजा वीरसिंह देव के महल की छत का रासलीला-विषयक चित्र और ओरछा के राज-महलों के कुछ भित्तिचित्रों में अंशतः अकबर शैली तथा बैराट एवं अम्बर के भित्तिचित्रों का प्रभाव और अधिकांशतः जाली तथा फर्श की बनावट में ग्वालियर की शैली का प्रभाव है।

ग्वालियर के बाद उस समय का सर्वाधिक प्रभावशाली केंद्र अम्बर में स्थापित हुआ। अम्बर के राजा अकबर की राजपूत-नीति के समर्थक होते हुए भी, मानसिंह से किसी कदर कम क्रांतिकारी नहीं थे। १६वीं शताब्दी के मध्य से लेकर जहाँगीर के शासनकाल तक अम्बर के मंदिरों में पुरानी अविकसित राजपूत शैली के चित्रों की भरमार है।

राजपूत शैली के पूर्णतः विकसित एवं प्रभावशाली भित्तिचित्रों के दर्शन, अम्बर के शाहपुरा-द्वार के समीपस्थ बिहारीमल (१५८४ ई०) और भगवानदास (१५८९ ई०) की छतरियों तथा बैराट में मानसिंह के उद्यान-भवन (१५८६–८७ ई०) की कला में होते हैं। इन भित्तिचित्रों की शैली को देखकर कहा जा सकता है कि बीकानेर राजदरबार के संग्रह में सुरक्षित **'भागवत'** महापुराण की सचित्र प्रति महाराज मानसिंह (१५९२–१६११ ई०) के शासनकाल में प्रचलित चित्रकला की अम्बर शैली से सम्बद्ध है। इस बात की पुष्टि इसलिए भी होती है कि महाराज मानसिंह द्वारा शासित बंगाल और उड़ीसा की सूबेदारी के समय प्राप्त वहाँ की कुछ पोथियों के आवरण-चित्रों में भी वही विशेषताएँ समन्वित हैं। जयपुर के प्रसिद्ध **'रज्मनामा'** (१५८३–८४) के चित्रों में भी अम्बर शैली का प्रभाव है।

मानसिंह के राज्यकाल में बहुत-सी कला-कृतियाँ निर्मित हुईं; किन्तु उनमें से बहुत कम बची रह सकीं। मानसिंह की मृत्यु के बाद जब उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तो आरंभिक अंबर-शैली भी समाप्त हो गयी। उसकी जगह जहाँगीर काल में मुगल-कला की एक नयी शैली ने जन्म लिया। इस नयी शैली के निर्माणक संभवतः मानसिंह के दरबार के कलाकार ही थे, जो दिल्ली-दरबार में चले गये थे।

इसी समय मारवाड़ में राजपूत-चित्रकला की एक नयी शाखा प्रकाश में आयी। ऐसा प्रतीत होता है कि अम्बर के विरुद्ध मालदेव और चंद्रसेन के गुरिल्ला युद्ध के समय मारवाड़ शैली की अधिकांश कृतियाँ नष्ट हो गयी थीं।

मेवाड़ शैली

भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजस्थान के कलाकारों की देन सर्वथा अतुलनीय है। वास्तविकता तो यह है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण कला एवं काव्य की उद्भावना के लिए राजस्थान की धरती बड़ी ही उपयुक्त रही है। आज हम जिसको राजस्थान या राजपूत शैली के नाम से पुकारते हैं उसका निर्माण, दूसरी अधिकांश चित्र-शैलियों की भाँति, न तो एक स्थान में हुआ और न ही उसके निर्माता कलाकार उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। राजस्थान के जितने भी प्राचीन नगर और धार्मिक-सांस्कृतिक स्थल हैं, उन सभी में एक साथ असंख्य आश्रित कलाकारों एवं स्वतंत्र कलाकारों के द्वारा वर्षों तक निरंतर कला-कृतियों का सृजन होता रहा।

राजपूत शैली की जो विभिन्न शाखाएँ आज हमारे समक्ष विद्यमान हैं उनमें मेवाड़-शैली का गण्य-मान्य स्थान माना गया है। मेवाड़-चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्ध कृति **'रूपासनाचर्यम्'** है, जिसका लिपिकाल १४२३ ई० है और जिसका उल्लेख **'विजयवल्लभ सूरी स्मारक ग्रंथ'** (बंबई, १९५६–पृ० १७६) में हुआ है। रीति-रिवाजों और स्थानीय उत्सवों पर आधारित दक्षिण भारत के लघुचित्रों का प्रमुख स्थान है, जो कि राजस्थान और गुजरात की कला के प्राचीनतम प्रमाण हैं। जिसको कुछ लेखकों ने गुजरात और जैन शैली के नाम से अभिहित किया है, वह दक्षिण शैली है।

उपलब्ध प्रमाणों के अभाव में यह बताना कठिन है कि १६वीं शताब्दी में मेवाड़-शैली की स्थिति क्या थी। वास्तविकता यह है कि मेवाड़ शैली के प्राचीनतम प्रमाणों के अभाव में प्रसिद्ध कला-समीक्षक श्री आनन्दकुमार स्वामी को लिखना पड़ा (बोस्टन म्युजियम के भारतीय संग्रह का सूचीपत्र, भाग ५) कि मेवाड़ शैली का सर्वस्व श्रीनाथजी की भद्दी एवं अस्पष्ट अनुकृतियों तक ही सीमित था। १८वीं, १९वीं शताब्दी तक श्रीनाथजी के तत्संबन्धी चित्र उस धर्म के अनुयायी लोगों के लिए आदान-प्रदान की वस्तु मात्र रह गये थे।

किन्तु इधर मेवाड़ शैली की अनेक कला-कृतियों के प्रकाश में आ जाने और उस पर अनेक विद्वानों द्वारा लिखे जाने के कारण, श्री आनन्दकुमार स्वामी का उक्त अभिमत भ्रांत सिद्ध होता है। जिन विद्वानों ने इस संबन्ध में प्रामाणिक प्रकाश डाला है और नये तथ्यों का पता लगाया है उनमें डा० मोतीचंद का नाम उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि (**मेवाड़ पेंटिंग** की भूमिका) मेवाड़

शैली की सामग्री की निश्चित तिथि खोज निकालने पर यह बात असत्य साबित हो जाती है कि नाथद्वारा उसका सब से बड़ा केंद्र था; बल्कि उस महान् कलाथाती का वास्तविक अधिकारी उदयपुर सिद्ध होता है।

वास्तविक स्थिति यह थी कि चित्तौड़ और चावन्दा मेवाड़ चित्रकला के प्रमुख केंद्र थे। नाथद्वारा में, मेवाड़ शैली के, जिन चित्रों का निर्माण हुआ, वे काफी बाद के थे और उनको एक प्रकार से उस परम्परा का अर्वाचीन रूप कहा जा सकता है। इसलिए, यह स्वाभाविक ही था कि इस दिशा में आरंभिक अन्वेषण करने वाले लोग कुछ भ्रमात्मक बातें कह गये; जैसे कि डा० मोतीचन्द के मतानुसार उक्त सूचीपत्र में उद्धृत 'कृष्ण द्वारा राधा की प्रतीक्षा' शीर्षक चित्र को आनन्दकुमार स्वामी ने दक्षिण राजस्थानी या गुजरात शैली का बताया और उसकी निश्चित तिथि १६वीं शताब्दी के पहले सिद्ध की। किन्तु प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम में सुरक्षित **'गीतगोविन्द'** के चित्रों के आधार पर और तत्सम्बन्धी दूसरी उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने पर उक्त चित्र की तिथि १७वीं शताब्दी के मध्य में निश्चित होती है और वह चित्र उदयपुर केंद्र का सिद्ध होता है।

कुछ तिथियुक्त पाण्डुलिपियाँ ऐसी उपलब्ध हुई हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि १६वीं शताब्दी के अंत में या उससे पहले राजस्थानी शैली, जिसने अब तक दाक्षिणात्य शैली का अनुसरण किया था, अपना स्वतंत्र स्थान बना रही थी; और इस परिवर्त्तन-काल में मेवाड़ शैली का महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली योग रहा। मुगल शैली के प्रकाश में आने से पूर्व, मेवाड़ के दूसरे राज्यों की भाँति वहाँ भी दाक्षिणात्य शैली का ही प्रचलन था; किन्तु उक्त नयी शैली के प्रभाव ने इस क्षेत्र में भी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया; और १६वीं शताब्दी के अंत तक राजस्थानी शैली ने अपने नये परिवेश का निर्माण किया।

इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि १७वीं शताब्दी के आरंभ में विरुद्ध राजनीतिक वातावरण के बावजूद भी मेवाड़ की चित्रकला ने अपना स्वतंत्र विकास किया। कुछ रागिनी चित्र १६०५ ई० में चावन्दा में चित्रित किये गये थे। चावन्दा में राणा प्रताप ने अपनी राजधानी बदल कर स्थापित की थी। ये चित्र चमकदार रंगों, उनकी सीधी रेखाओं और सुन्दर आकृति आदि के कारण सभी दृष्टि से दक्षिण भारत की परम्परा के परिचायक हैं।

मेवाड़ शैली ने १६०५–१६५० ई० के भीतर जो प्रगति की थी, उसका प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता; किन्तु नेशनल म्युजियम में सुरक्षित नायक-नायिकाओं का जो युगल चित्र १६४० ई० का है उससे उक्त शैली की उन्नत परम्परा के सूत्रों का पता चलता है। १६०५ ई० में निर्मित लोकशैली पर आधारित जो आरंभिक मेवाड़ शैली की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं उनमें अच्छे शिल्प-विधान के सभी गुण विद्यमान हैं। समय के साथ-साथ यद्यपि मेवाड़ शैली और भी दूषित हो गयी थी, और उस स्थिति में भी यद्यपि उसका अपना अस्तित्व बना रहा; फिर भी उसका झुकाव १७वीं शताब्दी की सर्वाधिक प्रभावशाली मुगल शैली की ओर रहा। जगतसिंह प्रथम के समय (१६२८–१६५२ ई०) इस शैली का स्वर्णिम युग रहा। इसीलिए इस शैली के अध्ययन के लिए हमारे पास तत्कालीन पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

बल्लभाचार्य के वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार के कारण कृष्णभक्ति का ही सर्वोपरि महत्व माना जाने लगा था और तत्कालीन चित्रकारों के समक्ष **'भागवत पुराण'** ही अपनी कला-कृतियों के लिए प्रमुख विषय रह गया था। यही कारण है कि १७वीं शताब्दी के मध्य में 'भागवत पुराण' की बहुत-सारी सचित्र प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। **'भागवत'** की एक संपूर्ण सचित्र प्रति उदयपुर केंद्र के कलाकार साहबादी द्वारा चित्रित उपलब्ध है (कार्ल खांडेलवाल द्वारा **मार्ग,** वाल्यूम ४, संख्या ३ में प्रकाशित)। यह प्रति जोधपुर महाराज के संग्रह में है और इसी प्रकार की एक प्रति कोटा की लाइब्रेरी में भी उपलब्ध है। **'भागवत'** के कुछ सचित्र पृष्ठ नेशनल म्युजियम और दूसरे अनेक संग्रहालयों में भी देखने को मिलते हैं। इन सभी चित्रों में मेवाड़ शैली के सर्वोच्च स्वरूप के दर्शन होते हैं।

डा० मोतीचंद का कथन है (**मेवाड़ पेंटिंग**) कि १७वीं शताब्दी के मध्य में, ऐसा अवगत होता है कि **'रामायण'** की भी बड़ी लोकप्रियता थी। कलाकार मनोहर द्वारा चित्रित **'रामायण'** की एक प्रति प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम में सुरक्षित है, जिसकी तिथि १६४९ ई० है। इसी प्रकार की दूसरी प्रति सरस्वती भंडार, उदयपुर में भी है, जिसका समय १६५१ है। यह प्रति चित्तौड़ में लिखी गयी थी और संभवतः वहीं चित्रित की गयी।

इसी प्रसंग में रागमाला के चित्रों को भी नहीं भुलाया जा सकता; और इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नेशनल म्युजियम में सुरक्षित हैं। हिन्दी साहित्य में नायक-नायिकाओं के भेदों पर प्रामाणिक प्रकाश डालने वाला लक्षण ग्रंथ केशवदास की **'रामचन्द्रिका'** है। उसके सभी भेदों पर विभिन्न विधियों के चित्र राजस्थान की मेवाड़-शैली में पाये जाते हैं। बीकानेर दरबार के संग्रह में सुरक्षित **'रसिकप्रिया'** की जिस प्रति को डा० ग्वेत्स ने (**आर्ट ऐंड आर्किटेक्चर आफ बीकानेर**) १५९७ ई० के लगभग का बताया था और जिसको उन्होंने अम्बर

शैली का सिद्ध किया था, उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि (**मार्ग**, वाल्यूम ४, नं० ३, पृ० ५२; वाल्यूम ५, नं० १, पृ० १६) **'रसिकप्रिया'** की उक्त पाण्डुलिपि १७वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित मेवाड़ शैली की थी।

'रामायण' के अतिरिक्त, राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णनों से संबद्ध, कृष्णकाव्य **'गीतगोविन्द'** का भी उस समय प्रचलन था। गुजराती मिश्रित मारवाड़ी शैली में चित्रित **'गीतगोविन्द'** के अनेक चित्र प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम में सुरक्षित हैं, जिनका समय १६५० ई० है। इसी प्रकार के कुछ चित्र नवलगढ़ के कुमार संग्रामसिंह के संग्रह में विद्यमान हैं, जो उक्त चित्रों के कुछ समय बाद ही रचे गये हैं।

जगतसिंह प्रथम के इस स्वर्णिम युग में **'सूरसागर'** पर भी मेवाड़ शैली में चित्र बनाये गये। इस प्रकार के कुछ चित्र गोपीकृष्ण कनोड़िया के संग्रह में हैं, जिनका निर्माण-काल निश्चित रूप से १६५०-५१ ई० आँका गया है।

जगतसिंह के युग में निर्मित चित्रों का विश्लेषण करने पर डा० मोतीचंद ने नीचे लिखे निष्कर्ष निकाले हैं:

(१) बहुत ही सुन्दर रंगों की योजना : विशेषतः लाल, जोगिया, पीला; पृष्ठभूमि में विपरीत रंगों का प्रयोग; (२) नाक की विशेष बनावट; गोल चेहरे; मछली की तरह आँखें; छोटे कद की स्त्रियाँ; किन्तु आकर्षक; (३) पेड़ों की बनावट के अनेक प्रकार; किन्तु समय-समय पर अकबर-जहाँगीर के समय का स्वाभाविक प्राकृतिक ढंग; अधिकतर प्रकाश को छानते हुए फूलों से नमित वृक्षों का चित्रण; पहाड़ों और पत्थरों के चित्रण में मुगल शैली का प्रभाव; पानी का प्रवाह गतिमय; (४) वास्तविक दृश्यों को उतारने में अभिरुचि; विपरीत वातावरण में मैदानी दृश्य; दृष्टि को केन्द्रित कर देने वाले चित्र के विशेष हिस्सों में सुन्दर मार्दव; सहायक दृश्यों द्वारा अप्रधान घटनाओं का निर्माण; (५) भूमिचित्रों का चित्रण अतिशय भावनामय ढंग पर; (६) पशु, पक्षी तथा जानवरों का चित्रण दक्षिण भारत की परम्परा के अनुसार; मुगल शैली से भी संबद्ध, यथा हाथी, घोड़ों के चित्रण में शाहजहाँकालीन प्रभाव; (७) पृष्ठभूमि के रात्रिकालीन दृश्य गहरे रंग में; उसमें भव्य चाँद-तारों का अंकन; (८) हाथियों का चित्रण बहुधा अकबर-जहाँगीर के समय का; उन चित्रों का निर्माण जो शाहजहाँ के समय में नहीं थे, किन्तु जिनमें मेवाड़ शैली की पुरानी परम्परा के बीज वर्तमान; (९) पुरुष-पोशाकें जामे सहित; अकबरकालीन शैली का कढ़ाईदार पटका; पगड़ियों में जहाँगीर शैली की बनावट; स्त्रियों के चित्रों में बहुधा चोली का प्रयोग; फूल-पत्ते कढ़े हुए लिबास; पारदर्शी ओढ़नी, बाहों तथा हाथों में काले रंग के धागे; (१०) सादे भवनों पर गुंबदों की योजना; मुँडेरों तथा बुर्जों की अधिकता; इन सब के चित्रण में अकबर-जहाँगीर-कालीन शैली का अनुकरण।

ये सभी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर मेवाड़ शैली के जगतसिंहकालीन चित्रों के सम्बन्ध में बारीकी से कुछ जाना जा सकता है; और उसके बाद की कृतियों से उनकी पृथक्ता का अनुमान किया जा सकता है।

क्योंकि वह युग कृष्णभक्तिप्रधान वैष्णवधर्म का समर्थक युग था, अतः उसकी उन्नत स्थिति को समाज में बनाये रखने के उद्देश्य से अथवा उसके प्रभाव से, कृष्ण तथा गोपियों के सभी सम्बन्धों के चित्र बनाये गये। इसके साथ-साथ रागमाला-सीरीज के नायक-नायिकाओं के चित्रों का निर्माण भी जारी रहा। मेवाड़ की चित्रकला में इस प्रकार के चित्रों से न तो कोई सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं और न ही उनको उस परम्परा के विशिष्ट चित्रों में रखा जा सकता है। इसके विपरीत उसी युग में निर्मित **'भागवत'** तथा **'रामायण'** पर आधारित चित्रों में कलात्मक निवेश की अधिकता रही। इन सभी बातों के अतिरिक्त नायक-नायिका शैली में राजपूतों का चित्रण, तत्कालीन लोक-संस्कृति का चित्रण, दरबारी जीवन का चित्रण, देहाती जीवन का चित्रण, विवाह का तथा नाच-गानों का चित्रण और राजमहलों, भवनों एवं युद्ध आदि का चित्रण भी बहुत प्रभावशाली ढंग से किया गया। ये चित्र राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक स्थिति की बहुत ही उपयुक्त व्याख्या करते हैं। उपलब्ध चित्र-संग्रहों में संप्रति इस प्रकार की कला-कृतियों का अभाव है।

मेवाड़ शैली की आरंभिक कला-कृतियों में दर्शित कलात्मक अभिरुचि उल्लेखनीय है। यद्यपि अपनी समकालीन मुगल-शैली के टेकनीक तथा उसकी उच्चता को मेवाड़ शैली ग्रहण नहीं कर सकी; फिर भी उसमें निहित फिनिशिंग की बारीकी, उसके सुहावने दर्शनीय रंग, उसके ढंग और लैंडस्केप की सज्जा आदि सभी में एक विचित्र आकर्षण निहित है। कुछ-एक और भी बातें थीं, जो मुगल शैली की अपेक्षा मेवाड़ शैली की विशेषता को प्रकट करती हैं। यथा मुगल चित्रकला अधिकतर दरबारों पर आश्रित थी, जब कि मेवाड़ शैली के चित्रकारों ने अपनी कला-कृतियों के लिए वे विषय चुने, जिनसे आम लोग परिचित थे और जिनको अधिकांश लोग प्यार करते थे। यही कारण है कि मेवाड़ चित्रकला अधिक लोकप्रिय रही, क्योंकि उसमें जनता की रुचि समन्वित थी, इसीलिए वह अमीरों के महलों तक ही सीमित न रह कर जन-सामान्य तक फैली। ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जो बताते हैं कि मेवाड़-कला को ऐसे व्यक्तियों का भी संरक्षण प्राप्त था, जिनका दरबारों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और जो संभवतः किसी तत्कालीन कला-केंद्र के आचार्य थे। उदाहरण के लिए १६४९ में चित्रित **'रामायण'** की एक सचित्र पोथी की पुष्पिका को देखने से विदित होता है कि वह जगतसिंह प्रथम के लिए न होकर किसी आचार्य जसवन्त को समर्पित थी।

जगतसिंह प्रथम की मृत्यु (१६५२ ई०) से जयसिंह की मृत्यु (१६९८ ई०) पर्यन्त की कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर तत्कालीन मेवाड़ शैली के संबन्ध में विश्वासपूर्वक कुछ कहा जाय; किन्तु ऐसा अनुमान है कि जगतसिंह की मृत्यु की एक दशाब्दी तक वही परम्परा बनी रही। राजसिंह (१६५२–८० ई०) एक वीर योधा था और साथ ही एक सुसंस्कृत राजकुमार भी। किन्तु उसके सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी ज्ञात नहीं होता कि उसने चित्रकला को भी संरक्षण दिया या नहीं? संभवतः उसके समय में रागमाला पर भी कुछ चित्र उतारे गये थे। यह भी संभव है कि **'भागवत'** के आधार पर निर्मित 'कृष्ण का गोवर्द्धन-धारण' और 'वनाग्नि' शीर्षक चित्र या तो उसी के समय में बनाये गये या तो उनका निर्माण जयसिंह (१६८०–१६९८ ई०) के समय हुआ। **'भागवत'** के अधार पर निर्मित 'कृष्ण का गोपियों से जमुना-तट पर केलिक्रीड़ा' शीर्षक चित्र (१७वीं श० के अंत) मेवाड़-चित्रकला के उन्नत युग का सर्वश्रेष्ठ परिचायक है।

१७वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में मेवाड़-शैली की प्रसिद्धि तो बढ़ रही थी, किन्तु उसमें परंपरागत सौंदर्याकर्षण कम हो रहा था। उसमें कलाध्येयों की कमी और व्यापार-भावना की अधिकता हो गयी थी। इसी समय मेवाड़ की चित्रकला राजाओं के अतिरिक्त सामन्तों, धनिकों और आचार्यों तक फैल चुकी थी। इसीलिए इस समय के चित्रों में राजाओं, मंत्रियों, सामन्तों, राजमहलों और स्त्रियों आदि के चित्रों की अधिकता है। हाथी, घोड़े और कुत्तों के चित्र भी बार-बार बनाये गये। यूरोपीय शैली पर आधारित चित्रों की भी कुछ कमी नहीं रही। **'भक्तिरत्नावली'**, **'पृथ्वीराजरासो'**, **'दुर्गामाहात्म्य'** और **'पंचतंत्र'** पर आधारित बड़े चित्रों या चित्र-अलबमों की भी अधिकता रही; जब कि नायिकाभेद, बारहमासा और रागमाला के चित्र भी अपने क्षेत्र में अद्वितीयता दर्शित करते रहे।

१८वीं और १९वीं शताब्दि में भी मेवाड़ शैली के बहुत से चित्र बनाये गये, किन्तु उनमें, पूर्वापेक्षया, न तो उतनी सौंदर्यमयता, न उतनी सुरुचि और न उतना मार्दव था। उनमें एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि तत्कालीन जीवन के आचार-विचारों का उनमें यथार्थ चित्रण हुआ है। कदाचित् अपने कटु यथार्थ के कारण ही, उनमें आकर्षण की कमी रही हो।

मेवाड़ शैली की सर्वोच्च स्थिति १६वीं, १७वीं शताब्दी में बनी रही; और यही समय भारतीय चित्रकला की अभ्युन्नति के लिए स्वर्णिम काल रहा।

अम्बर और मारवाड़ शैलियों का अन्तर

अन्यत्र भी संकेत किया जा चुका है कि अम्बर के विरुद्ध मालदेव और चंद्रसेन के गुरिल्ला युद्ध के समय इस शैली की अधिकांश कृतियाँ नष्ट हो गईं। इस शैली का स्वरूप मूलतः अपभ्रंश था: प्राचीन परम्परा की भाँति मिली-जुली आकृतियाँ; सादा, सपाट, रेखांकन, एकतलीय चित्रण; चौकोने आकार या पहियों में चित्रांकन और रंगों में तीव्र विरोधाभास। मारवाड़ शैली की कृतियों की कुछ अलग विशेषता भी है। अम्बर शैली की आकृतियाँ जहाँ लम्बी एवं दुबली हैं; शिर ऊँचे तथा कोणात्मक हैं; माथा सीधा है; ठीक वैसा ही स्वरूप बुन्देला आकृतियों का भी है, यद्यपि वे कुछ स्थूलकाय भी हैं; वहाँ मारवाड़ की आकृतियाँ कद में छोटी और बहुधा स्थूलकाय हैं; सिर नीचे और गोल है; मस्तक पीछे की ओर झुके हैं।

इसी प्रकार अम्बर और बुन्देला शैलियों की अपेक्षा मारवाड़ शैली में पोशाक तथा आभूषणों का अन्तर स्पष्ट है। प्रारंभिक मारवाड़ शैली के जो लघुचित्र आज उपलब्ध हैं उनके समृद्ध चित्रण का कारण शायद यह था उनमें कलात्मकता और भावकौशल था। **'हम्जानामा'** जैसे पुराने स्रोतों की देन के बावजूद ये कृतियाँ काफी बाद की हैं।

दक्षिण-पश्चिमी मारवाड़ में, जालोर में अहमदाबाद के सुल्तानी दरबार की मुस्लिम-गुजराती-शैली कम से कम शाहजहाँ के समय तक चलती रही। उससे पुरानी जैन-गुजराती-शैली भी कम-से-कम मध्यवर्ग में प्रचलित रही, जैसा कि बड़ौदा-संग्रहालय में सुरक्षित **'उत्तराध्ययनसूत्र'** की पाण्डुलिपि (१५९१ ई०) से स्पष्ट है।

बीकानेर शैली

राजपूत चित्रशैली की एक प्रभावशाली शाखा का उदय बीकानेर से हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि १७वीं से पूर्व बीकानेर की स्थानीय शैली का विकास नहीं हो पाया था। राजा रायसिंह (१५७१–१६११ ई०) को यद्यपि कला-संग्रह का बड़ा शौक था, फिर भी उनके समय की एक ही सचित्र पाण्डुलिपि हमें मिलती है। वह है सटीक **'मेघदूत'** की एक अपभ्रंश शैली की प्रति, जो कला की दृष्टि

से तो निम्नकोटि की है; किन्तु राजपूत-चित्रकला के उद्गम को समझने के लिए जिसका बड़ा महत्व है। इस सचित्र प्रति से ज्ञात होता है कि बीकानेर शैली अभी अपनी आरंभिक अवस्था में थी।

बीकानेर के राजा रायसिंह (१५७१–१६११ ई०) के वंशजों के संरक्षण में बीकानेर शैली के चित्रों में दो प्रकार की संवैधानिक दृष्टियाँ प्रकाश में आयीं। एक प्रकार के चित्र वे थे, जो मुगल शाहंशाहों के दरबारों से पदच्युत, निराश्रित और बीकानेर के राजाओं द्वारा संरक्षित चित्रकारों द्वारा बनाये गये; और दूसरे प्रकार के चित्र वे थे, जो शाहंशाहों द्वारा मित्रतावश बीकानेर राज्य को भेंट स्वरूप दिये गये थे। राजा रायसिंह को चित्रों के संग्रह का बड़ा शौक था। उन्होंने अम्बर, जोधपुर और उदयपुर आदि अनेक राज्यों से उत्तम श्रेणी के कुछ लघुचित्रों का अच्छा संग्रह किया था, जो अधिकतर **'भागवत'** और केशवदास की **'रसिकप्रिया'** से संबद्ध थे। इनके अतिरिक्त अहमदनगर से रागमाला के कुछ उत्कृष्ट चित्र भी उन्होंने एकत्र कराये थे, जो विजयनगर के सुल्तानों द्वारा बनवाये गये थे। राजा रायसिंह के बाद राजा करनसिंह (१६३१–१६५२ ई०) के समय इस दूसरी श्रेणी के चित्रकारों ने बीकानेर शैली में जहाँगीर और शाहजहाँ शैली से प्रभावित सुन्दर सुनहरे चित्रों का निर्माण किया। इस प्रकार के चित्रों का मुख्य आधार दक्षिण की बीजापुर शैली थी।

राजा करनसिंह के बाद राजा अनूपसिंह के समय (१६७४–१६९८ ई०) जो चित्र तैयार किये उनमें विशुद्ध बीकानेर शैली का दर्शन होता है। बीकानेर शैली के निर्माण में, शाहंशाह औरंगजेब द्वारा निराश्रित चित्रकारों में शिल्पी रुक्नुद्दीन का नाम प्रमुख है, जिसने **'भागवत'** और **'रसिकप्रिया'** के सुन्दर दृष्टान्त चित्र तैयार किये। ये चित्र तिथियुक्त हैं और इनके अध्ययन से राजपूत चित्रकला और विशेष रूप से बीकानेर शैली के महत्त्व का पता चलता है।

१७वीं शताब्दी के आरंभ के साथ-साथ राजपूत-शैली की विकास-परम्परा में सहसा परिवर्त्तन हो गया। उसका कारण राजनीतिक स्थिति थी। उधर तो मुगल-साम्राज्य की जड़ें जम चुकी थीं और दूसरी ओर अम्बर के मानसिंह तथा बीकानेर के रायसिंह की मृत्यु के कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। १६२६ ई० तक राजपूतों के साथ अधीनस्थों जैसा व्यवहार किया जाने लगा था। औरंगजेब के समय में तो उन पर खुले-आम अत्याचार होने लगे थे। इसी राजनीतिक स्थिति ने राजपूतों के कलाप्रेम में भी परिवर्त्तन ला दिया था। राजपूत-चित्रकला का आरंभिक वैभव पहले रनिवासों तक ही सीमित था; वहाँ से निकल कर वह सामन्तों के यहाँ पहुँची थी; और अंत में छोटे-छोटे स्थानीय केंद्रों तथा बाजारों में पहुँचकर शिथिल पड़ गयी।

दिल्ली दरबार का स्वामित्व अब औरंगजेब के हाथों में आ चुका था। तत्कालीन कला-शैलियों में बुन्देल-कलम का अस्तित्व तब तक भी बना हुआ था। महाराज वीरसिंह देव (१६०५–१६२७ ई०) तक बुन्देल शैली का समृद्धि काल बना रहा, यद्यपि उस पर मुगल-प्रभावों की प्रतिक्रिया बढ़ती जा रही थी। ज्यों ही वीरसिंह देव के पुत्र जुझारसिंह ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह किया कि सारे बुन्देल-राज्य में अव्यवस्था फैल गयी और फलस्वरूप वहाँ के चित्रकार भी बिखर गये। ये चित्रकार अपने युग के इतने प्रभावशाली व्यक्ति थे कि उनकी कला-कृतियों के अवशेष पूर्वी राजस्थान में मालवा तक मिलते हैं, जहाँ कि शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने कुछ छोटे-छोटे राजपूत-वंश मेवाड़ पर नजर रखने के लिए सत्तारूढ़ कर दिये थे। इन अवशिष्ट कला-कृतियों में सर्वश्रेष्ठ कृति नरसिंहगढ़ में स्थित **'रागमाला'** की (१६८० ई०) है, जो कि औरंगजेब की आज्ञा से स्थापित एक नये राज्य के शासक के लिए बनवायी गयी थी और जिसपर तत्कालीन अम्बर शैली का अधिक प्रभाव है। आरंभिक अम्बर शैली का प्रभाव शाहजहाँ के समय की कृतियों तक बना रहा।

मुगलों का अब इतना प्रभुत्व बढ़ा कि राजपूत दरबारों तक में मुगल शैली का प्रचलन हो गया। अकबर के शासन के अन्तिम वर्षों में प्रायः सभी राजपूत राजाओं के चित्र दिल्ली-दरबार के कलाकारों द्वारा तैयार कराकर राजस्थान ले जाये गये थे; संभवतः यह मुगल शैली के प्रचार-प्रसार का प्रयास था। अम्बर और मारवाड़ में भी मुगल प्रकृतिवाद की नयी सज्जाओं को ग्रहण करने की चेष्टाएँ की गयीं। किन्तु मुगल शैली का सार्वभौम प्रभाव जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में ही स्थापित हुआ। इसके प्रमुख पोषक थे अम्बर के मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम (१६२५–१६६७ ई०), बीकानेर के कर्णसिंह (१६३९–१६७४ ई०) तथा अनूपसिंह (१६७४–१६९८), जोधपुर के सूरसिंह (१५९५–१६२० ई०), गजसिंह (१६२०–१६३८ ई०) तथा जसवन्तसिंह (१६३८–१६७० ई०) उदयपुर के अमरसिंह द्वितीय (१६९८–१७१० ई०), संग्रामसिंह द्वितीय (१७१०–१७३४ ई०), बूंदी के छत्रसाल (१६५२–१६५८ ई०) और वहीं के भाऊसिंह (१६५८–१६७८ ई०)।

किन्तु मुगलों का वैभव भी शनैःशनैः ध्वस्त होने लगा। औरंगजेब ने दक्षिणी-युद्धों में अपना सारा कोष समाप्त कर डाला। फर्रुसियर के बाद सारी शासन-व्यवस्था विघटित हो गयी और मोहम्मद शाह के समय तो दरबार इतना निर्धन हो गया कि वहाँ के कलाकार सर्वथा आश्रयहीन हो गये। इसके विपरीत राजपूत-राजा अब स्वतंत्र और आर्थिक स्थिति में बहुत कुछ संपन्न भी हो चुके थे।

अपने दरबारों की शानमान को स्थापित करने के लिए वे पुनः उत्सुक थे। मुगल-दरबार के निराश्रित कलाकारों में अधिकांश कलाकार या उनके वंशज राजपूतों के यहाँ रह चुके थे। पुनः उन्होंने आश्रय के लिए राजस्थान की ओर प्रस्थान किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में भारत का राजनीतिक धरातल फिर डोलने लगा। दरबारी-जीवन यद्यपि अब भी ऐश्वर्यशाली था; किन्तु युद्ध, साहस और शौक की सभी बातें क्षीण हो गयी थीं। राजस्थान की धरती पर यह अंग्रेजी राज्य के पूर्णाधिपत्य की सूचना थी। राजस्थान में यातायात की सुविधाएँ हो गयी थीं। वस्तुओं का आदान-प्रदान होने लग गया था।

चित्रकला के क्षेत्र में यद्यपि कुछ अलंकारिता तब भी प्रचलित थी; किन्तु वह गंभीर और अर्ध-प्राकृतिक स्थिति को पहुँच गयी थी। आलस्य और ऐश्वर्य के जीवन से निःशक्त राजपूत राजा और सरदार अब पतन की ओर अग्रसर थे। उनकी रुचियाँ बड़ी ही निम्नकोटि की हो गयी थीं। स्थानीय चित्रकार केवल महलों और मकबरों के सज्जाकार रह गये; या फिर जीविका के लिए दफ्तरों और विदेशी पर्यटकों के लिए चित्र बनाकर बाजारों में बेचने के लिए बाध्य हुए; या मकानों की दीवारों के लिए सस्ते साधारण चित्रों का निर्माण करने लगे। अन्ततः ऐसा कुसमय आया कि उनकी सुन्दरतम कला, सस्ती कारीगरी बन कर रह गयी।

परिवर्त्तन की यह स्थिति सभी स्थानीय शैलियों पर एक समान चरितार्थ नहीं होती। मारवाड़ में जहाँ औरंगजेब और बहादुरशाह के विरुद्ध संघर्ष ने एक नये वीर-युग को जन्म दिया था, चित्रकला की स्थिति बहुत उन्नत थी। अभयसिंह (१७२४–१७५०) और बखतसिंह (१७२६–१७५३) के समय मारवाड़ में नयी राजपूत शैली का विकास हुआ। विनयसिंह के समय उक्त शैली श्रृंगारप्रधान हुई, जो मानसिंह (१८०३–१८४३) के समय में पराकाष्ठा को पहुँची और तखतसिंह के समय (१८४३–१८७३) में पहुँच कर भद्दी एवं अश्लील परिणति में पहुँचकर शिथिल पड़ गयी। मारवाड़ शैली की एक उन्नत शाखा कृष्णगढ़ की भी थी, जिसके बहुत ही उच्चकोटि के चित्र उपलब्ध होते हैं और अपने समय में जिसका बड़ा नाम था।

राजा अनूपसिंह (१६७४–९८ ई०) के बाद राजा गजसिंह के समय (१७८५–८७ ई०) बीकानेर शैली की परम्परा में कुछ बाधा उपस्थित हुई। राजा सूरतसिंह (१७८७–१८२८ ई०) और राजा रतनसिंह (१८२८–५१ ई०) के समय बीकानेर में चित्रकला की अपेक्षा भवन-निर्माण-कला की विशेष उन्नति हुई। राजा गजसिंह ने शाही महल को रंगवाया और उसके दरवाजों को कृष्णलीला संबंधी धार्मिक चित्रों से सज्जित करवाया। उसके समय मुगल शैली के प्रभाव का एक वेग दिल्ली से जयपुर होते हुए और दूसरा लाहौर से होकर बीकानेर शैली में लक्षित हुआ।

राजा सूरतसिंह ने सुन्दर शीशमहल का निर्माण करवाया और अनूपमहल को फिर से सजाया गया। धीरे-धीरे बीकानेर के शाही महलों को राम-सीता-लक्ष्मण, उमा-महेश्वर, राधा-कृष्ण आदि के पौराणिक एवं धार्मिक चित्रों से अलंकृत किया गया। इन चित्रों पर धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त व्रतोत्सवों और लोकतत्त्वों का भी प्रभाव है।

१८वीं शताब्दी के आरंभ में, जब कि मुगल शैली में हिन्दू देवी-देवताओं की आकृतियों के चित्रण के बाद एक नयी शैली के आह्वान की भूमिका तैयार हो रही थी, बीकानेर शैली में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। १८वीं शताब्दी के मध्य में सुजान महल के दरवाजों पर राजपूत शैली की जिस नवीनता के दर्शन होते हैं, वह इसी का परिणाम था। बीकानेर शैली की भावी परिस्थितियों पर उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव लक्षित हुआ। सुजान महल की कला में जिस राजपूती संस्कृति का दर्शन होता है, बाद में उसका पूर्ण विकास नागौर के राजा भखतसिंह के यहाँ परिलक्षित हुआ।

राजा सुजानसिंह (१७००–१७३६ ई०) के समय एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि वहाँ रनिवास के कक्षों को तथा उनके दरवाजों को सुन्दर-स्त्री चित्रों से अलंकृत किया गया।

बीकानेर के गजसिंह के समय (१७८५–१७८७ ई०) मुगल शैली पुनः प्रकाश में आयी; उसके साथ ही पश्चिमी मारवाड़ (नागपुर) की शैली का स्वरूप भी उभरा, जिसके अवशेष तत्कालीन महलों के दरवाजों तथा दीवारों पर सुरक्षित हैं। सूरतसिंह के समय (१७८७–१८२८ ई०) से स्थानीय शैली का प्रभाव पुनः प्रकाश में आया और रतनसिंह के समय (१८२८–१८५१ ई०) में मेड़ता तथा जोधपुर से कलाकार पुनः बुलाये गये।

बीकानेर शैली के चित्रों का प्रौढ़ रूप अनूपमहल तथा फूलमहल की सज्जा में, चन्द्रमहल तथा सुजानमहल के दरवाजों की चित्रकारी में और रागमाला तथा बारहमासा के दृष्टान्त चित्रों में दिखायी देता है। बीकानेर शैली के अधिकतर चित्रकार मुसलमान रहे हैं, जिन्होंने प्रायः शुद्ध हिन्दू विषयों पर चित्र-रचना करके अपने औदार्य तथा नैपुण्य का प्रमाण उपस्थित किया।

जयपुर शैली

जयपुर में मुगल कला का अस्तित्व सवाई माधोसिंह के समय तक (१७५१–१७६८ई०) बना रहा। जयपुर की शैली पर मुहम्मदशाह और अवध के नवाबों की तत्कालीन प्रभावशाली कला के लक्षण प्रकट हुए। यह शैली जोधपुर की अपेक्षा अधिक गंभीर और सौम्य थी। सवाई प्रतापसिंह द्वितीय (१७७८–१८०३), सवाई जगतसिंह द्वितीय (१८०३–१८१८) और सवाई जयसिंह तृतीय (१८१८–१८३५) के समय इसमें मारवाड़ शैली की भाँति कुछ शृंगारी प्रवृत्तियों का विकास हुआ; किन्तु उसमें स्त्रैणता की अधिकता थी। सवाई रामसिंह के समय (१८३५–१८८०) पुनः उक्त जयपुर शैली की स्त्रैणप्रधान प्रवृत्तियों में गंभीरता आई।

किशनगढ़ शैली

जैसा ऊपर संकेत किया गया है कि मारवाड़ शैली की एक उन्नत शाखा कृष्णगढ़ की शैली थी, उसके सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से कुछ जान लेना आवश्यक है। किशनगढ़ एक समय वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख केन्द्रों में से था। इसलिए किशनगढ़ के प्राचीन चित्रों पर उसका प्रभाव है। बाद में भी राधा-कृष्ण और कृष्णलीला-सम्बन्धी अन्य अनेक चित्रों का निर्माण इसी भावना से होता रहा। बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित वल्लभाचार्य के दो चित्रपट इस शैली के प्राचीन चित्रों में हैं। किशनगढ़ के राजाओं के जो चित्र प्रदर्शित हुए उनमें कलात्मकता एवं प्राचीनता की दृष्टि से महाराज सहस्रमल (१६१६ ई०) का चित्र उल्लेखनीय है।

किशनगढ़ की शैली को विशिष्टता प्रदान करने और उसको ख्याति के मार्ग पर लाने के लिए जिन कलाकारों ने कार्य किया और जिनके नाम अब तक मिल पाये हैं उनमें निहालचन्द, ऊमरचंद तथा सीताराम का नाम उल्लेखनीय है। ये तीनों चित्रकार १८वीं शताब्दी के मध्य में हुए और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अन्तिम दो चित्रकार उस्ताद निहालचंद के ही सहयोगी थे। इस प्रकार का एक चित्र, जो पौराणिक विषय से संबद्ध है, निहालचंद का १७०० वि० (१७५७ ई०) का बनाया हुआ मिला है। निहालचंद, किशनगढ़ के राजा सामंतसिंह के दरबार में रहता था और उसने दरबार के लिए सैकड़ों चित्र तैयार किये थे। किशनगढ़ की चित्रशैली के इतिहास में महाराज सामंतसिंह और उनके चित्रकार निहालचंद का वही स्थान है, जो कांगड़ा की शैली में महाराज संसारचंद और उनके कलाकार का स्थान है। महाराज सामंतसिंह, कवि नागरीदास के शिष्य थे, जिन्होंने 'नागरसमुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वे श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे।

महाराज सामंतसिंह की एक चित्रशाला थी, जिसमें अनेक कलाकार कार्य करते थे। निहालचंद उनमें प्रमुख था। एक उपलब्ध दस्तावेज से यह विदित हुआ है कि उस्ताद निहालचन्द को राज्य की ओर से कुछ जागीर मिली थी। किशनगढ़ में आज भी उसका घर है, जिसमें उसके वंशज रहते हैं। उसके सहयोगी कलाकार ने उसकी एक शबीह (प्रतिकृति) तैयार की थी। निहालचंद की कलम में जो विशेषता थी उसके दर्शन फिर नहीं होते; यहाँ तक कि उसके सहयोगी चित्रकारों की कृतियों में भी वह कौशल नहीं है। निहालचंद के बाद में बने किशनगढ़ के चित्राधारों (मुरक्कों) में चित्रित नायिकाओं की छवियाँ इसका प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि निहालचंद की कलम का दाय दूसरे रजवाड़ों में भी पहुँचा। बूँदी के महल में बने भित्तिचित्रों में उसकी कलम की स्पष्ट छाप है।

किशनगढ़ चित्रशैली का संविधान

पहाड़ी शैलियों में काँगड़ा कलम के चितेरों ने जिस प्रकार नारी छवि के मनोहर अंकन में अपनी कला को निखार करके रख दिया, ठीक वैसे ही किशनगढ़ शैली के चित्रकारों द्वारा नारी रूप का सुलेखन अनुपम है। वास्तविकता तो यह है कि किशनगढ़ की चित्रशैली का मूल्यांकन नारी चित्रों की दृष्टि से है। नारी सौन्दर्य का चित्रण जितना भी संभव हो सकता था, इन कलाकारों ने दर्शित किया।

राधा-कृष्ण की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत करने में भी इन कलाकारों ने कमाल किया। स्वर्ग को भी विमुग्ध कर देने वाली इन झाँकियों में कल्पना की ऐसी पारदृष्टि है कि पार्थिव जगत् में ही बैठकर हम उसका रसपान कर लेते हैं। इस प्रकार के चित्र किशनगढ़ शैली की मौलिक देन हैं। ये चित्र जैसे अपने वृहदाकार के लिए प्रसिद्ध हैं, वैसे ही उनकी अंकनशैली में भी विशेषता है। उनमें रंगों की योजना, वस्त्रों की सज्जा और आभूषणों की दृष्टि से परिधानों (चोलियों) के ऊपर लहराते हुए मोतियों के आजानु लटके हुए हारों के चित्रण में अनुपम सौन्दर्य भरपूर है। किशनगढ़ की शैली में स्वतः मोतियों का भव्य-चित्रण उसकी निजी पहचान है, जो यद्यपि जयपुर के रासलीला विषयक चित्रों में भी देखने को मिलता है, किन्तु ऐसी सौम्यता उनमें नहीं है।

किशनगढ़ की शैली में इस प्रकार की एक मनमोहिनी छवि राधा की है। राधा जी का यह चित्र, जो कि समस्त राजस्थानी शैली के उत्कृष्ट चित्रों में गिना जाता है, कृष्णगढ़ की शैली की अनोखी देन है। इस चित्र में कविता का भावमय सौन्दर्य साकार उभर आया है। घूंघट का दाहिना छोर कुछ आगे को खींचे राधा जी की यह छवि बड़ी ही मुग्धकारी है। उसकी शुकनासिका, कमान की तरह बनी हुई भवें, पीछे की ओर ढलकता हुआ त्रिकोणाकार माथा, मत्स्याकार आँखें और भावों को अभिव्यक्त करने वाली अंगुलियाँ सभी मिलकर श्रृंगाररस का पूर्ण परिपाक करने में सक्षम हैं। यह चित्र एक चरम है।

किशनगढ़ की शैली में प्रतिकृति चित्रों (शबीहों) का भी अपना महत्व है। इस श्रेणी के चित्रों में सुप्रसिद्ध संतों, दरवेशों, गायकों, राजा-महाराजों, नवाबों, बादशाहों और नायक-नायिकाओं की अधिकता है। ये चित्र विभिन्न कालों के हैं, जिन पर राजपूत शैली का प्रभाव है। यद्यपि राजा और उमरावों के चित्रों के क्षेत्र में उदयपुर, जोधपुर तथा जयपुर के केन्द्रों की विशेष देन है, तथापि किशनगढ़ भी इस दृष्टि से पीछे नहीं रहा। इस प्रकार के कुछ चित्र प्रेमोपहारस्वरूप बाहर से भी किशनगढ़ में आये। इस प्रकार के चित्र वहाँ अधिकता से प्राप्त होते हैं।

किशनगढ़ की शैली के प्रतिकृति चित्रों में पुष्टिमार्गीय आचार्यों एवं अष्टछाप के कवियों के चित्रों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके अतिरिक्त किशनगढ़ की शैली में उत्सव, नौका-बिहार, प्रेम और प्रकृति चित्रण की अधिकता है। राजदरबारों के वैभव और अन्तःपुर के विलासरत जीवन का चित्रण भी उनमें है। भौतिक जीवन के राग-रंग और धार्मिक जीवन की सात्विकता का दर्शन भी उनमें होता है। किशनगढ़ की चित्रशैली की सबसे बड़ी विशेषता है सौन्दर्य-व्यंजना।

कोटा बूँदी

राजपूत शैली की एक समृद्ध एवं प्रभावशाली शाखा कोटा-बूँदी के नाम से प्रसिद्ध है। कोटा और बूंदी के सुदृढ़ राजमहलों में उस भव्य शैली के नमूने आज भी देखने को मिलते हैं। बूंदी में आज भी अनेक व्यक्तियों के पास, वहाँ की शैली के सुन्दर चित्र-संग्रह सुरक्षित हैं। इस शैली के जो चित्र भारत के कुछ संग्रहालयों में देखने को मिलते हैं, उनकी अपेक्षा बहुसंख्यक सुन्दर चित्र विदेशों में जा चुके हैं। जहाँ तक इस शैली के चित्रों का संवैधानिक पक्ष है, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १८वीं शताब्दी के चित्रित लघुचित्रों पर मुख्यतः जोधपुर शैली का प्रभाव है और पोशाकों में जयपुर शैली का अनुकरण।

इस शैली के चित्रों का सर्वोच्च संग्रह संप्रति विक्टोरिया ऐंड अलबर्ट म्युजियम लन्दन में सुरक्षित है, जो कि १९५२ ई० में कर्नल टी०जी० गेयर अंडरसन ने प्रदान किया था। ये चित्र कई तरह के हैं और ऐतिहासिक विश्लेषण से यह पता लगाया गया है कि कोटा-बूंदी शैली का जन्म १७वीं श० के अन्त तक हो चुका था।

राजा रामसिंह (१६८६-१७०८ ई०) के समय में निर्मित कुछ चित्र प्रयाग संग्रहालय में भी सुरक्षित हैं, जो कि बूँदी कलम के भव्य शिल्प को प्रस्तुत करते हैं। राजा अर्जुन सिंह (१७२०-१७२४ ई०) के समय में भी बूंदी कलम की अच्छी स्थानीय लोकप्रियता रही। बूंदी कलम पर अम्बर शैली का प्रभाव लक्षित होता है। बूंदी कलम का अस्तित्व १८वीं तथा १९वीं शताब्दी तक बना रहा।

बूंदी कलम का यह स्थानीय वैभव कुछ वर्षों बाद कोटा राज्य में उदित हुआ। कोटा कलम के मुख्य आश्रयदाता थे राजा उमेदसिंह। उनके समय (१७७१-१८२० ई०) कोटा शैली की बड़ी उन्नति हुई। उमेदसिंह को घुड़सवारी और आखेट का बड़ा शौक था। विक्टोरिया अलबर्ट म्युजियम में सुरक्षित एक चित्र में, जिस पर कि १७७१ ई० अंकित है, उनके आखेट का दृश्य चित्रित है। इसी प्रकार, इस विषय के अनेक चित्र कोटा महल की दीवारों पर भी सुरक्षित हैं। इन चित्रों में पेड़, पौधे, चट्टान, वन्य-पशु आदि के भव्य प्राकृतिक दृश्य अंकित किये गये हैं। हरे रंग की पृष्ठभूमि पर गुलाबी और भूरे रंगों का समन्वय कोटा शैली की नितान्त नवीन संविधा को अभिव्यक्त करता है।

राजा रामसिंह के समय (१८२६-१८६६ ई०) कोटा चित्रशैली का अधिक उत्कर्ष दिखायी देता है। इस युग के चित्रों में दृश्यांकन की सूक्ष्मता और भावाभिव्यंजन की पटुता उल्लेखनीय है, जिनकी तुलना मुगल शैली के अच्छे चित्रों से की जा सकती है। राजा रामसिंह के साहसिक एवं शौर्यशाली व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने वाले सुन्दर चित्र कोटा महल की दीवारों पर शीशों में सुरक्षित आज भी देखने को मिलते हैं। ये चित्र कुछ तो प्राकृतिक दृश्यों से संबद्ध हैं और कुछ दरबारी वातावरण की स्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रों में सर्वत्र ही राजा रामसिंह की विनोदप्रियता का आभास मिलता है।

राजा रामसिंह के बाद राजा छत्रसिंह (१८६६-१८८९ ई०) के समय कोटा चित्रशैली की परम्परा बनी रही। इन चित्रों में

काली स्याही का प्रयोग दर्शनीय है। संभवतः कोटा शैली पर जयपुर शैली का प्रभाव बढ़ रहा था; और यद्यपि इस समय के कुछ चित्रकार ब्रिटिशवासियों के प्रति व्यंग का परोक्ष तीखा भाव प्रकट कर रहे थे; फिर भी कोटा शैली का वह पुराना वैभव लगभग शिथिल पड़ता जा रहा था।

राजपूत शैली का संविधान

भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजपूत शैली का अपना विशिष्ट स्थान है। उसके विराट् परिवेश के भीतर अनेक शाखायें समाविष्ट हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। राजस्थान में जितने भी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक केन्द्र और जितने भी प्रमुख नगर रहे हैं उन सब की अपनी-अपनी शैली रही है। राजस्थान जैसी वीरप्रसू धरती में कितने रजवाड़े स्थापित हुए और कितने मिटे, इतिहास इसका साक्षी है। साथ ही यह भी अविदित नहीं कि राजस्थान ही भारत में एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ के लोगों ने कला के प्रति अपार प्रेम प्रदर्शित किया। इन सभी परिस्थितियों ने राजस्थान की चित्रकला को असामान्य रूप में प्रतिष्ठित किया। राजपूत शैली के संविधान का अब तक अनेक कला-समीक्षक विद्वानों द्वारा अनेक बार समीक्षण किया जा चुका है।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि राजपूत शैली की सभी शाखायें १८वीं शताब्दी तक अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँच चुकी थीं। कई शाखायें तो इस युग में पहुँचकर अन्तर्धान भी हो चुकी थीं। इसी प्रकार कुछ शाखाओं का निर्माण इस से बाद भी होता रहा। फिर भी सामान्य रूप से राजपूत शैली के सभी प्रमुख संविधान एवं दृष्टिकोण १८वीं शताब्दी तक प्रकाश में आ चुके थे।

१८वीं शताब्दी के प्रथम दशक में राजस्थान में मुगल चित्रों की भरमार हो चुकी थी; किन्तु उनका भावनात्मक एवं विषयात्मक स्वरूप हिन्दू चित्रों से भिन्न था। इस प्रकार के हिन्दुत्व-भावना से मंडित चित्र राजा-रानियों की रुचि के अनुसार रागमालाओं, भक्तिप्रधान दृश्यों और सन्तों से संबद्ध थे। कुछ चित्रों में केवल राधा-कृष्ण का ही चित्रण था। इस प्रकार के चित्रों पर दक्षिणी शैली का प्रभाव अंकित हैं क्योंकि १७०७–१७१८ ई० तक अधिकतर राजपूत राजा मुगलसेना के साथ दक्षिण में, विशेषतः औरंगाबाद और दौलताबाद में रहे।

१८वीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में मुगलों और राजपूतों के आपसी सम्बन्धों के टूटने पर राजपूत चित्रकला, मुगल प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो गयी; किन्तु इस परिस्थिति में भी प्रारंभिक राजपूत परम्परा फिर से प्रतिष्ठित न हो पायी। बाद की नवीन राजपूत शैली के जो चित्र प्रकाश में आये उनमें मुगल शैली का अंकन-विधान, मुगल-रीति, मुगल-परिप्रेक्ष्य और मुगल-सज्जा का प्रभाव था; किन्तु तब भी उनके विषय बहुधा पुरानी राजपूत शैली के ही थे। रेखाओं में अब पुरानी संगीतात्मक गति तथा लय का समावेश था और रंगों का उपयोग सरल सतहों पर विरोधाभास उत्पन्न करने के लिए किया गया। इन चित्रों का कम्पोजिशन एकतलीय था और उसे पैनेल तथा पट्टियों में बनाया जाने लगा था। इस शैली में न तो आकृतियाँ ही सुगठित थीं और न उनमें कोई प्रवाह ही था। इनका रंग-विधान भी चटकीला, भड़कीला नहीं रह गया था। उसके आदर्शों के रूप भी १६वीं शताब्दी के रहस्यवादी, धार्मिक एवं रोमानी दृष्टिकोण से भिन्न थे।

१७वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक की कला रोमानी होने के साथ-साथ ऐन्द्रिक, श्रृंगारिक और सस्ती रुचियों के अनुकूल थी। जब तक अंग्रेजों ने राजपूतों को पूर्णतया निःशक्त नहीं किया तब तक कला की यही परम्परा वहाँ बनी रही, किन्तु शीघ्र ही उन वीरों, वीरमाताओं और वीरपत्नियों की सत्ता एवं महत्ता क्षीण हो गयी। इस समय के चित्रों में रसिकों की अनुत्तरदायी युद्धपरता और अनियंत्रित श्रृंगारिकता की भरमार थी।

इस स्थिति में परिवर्तन धीरे-धीरे बिना किसी विशेष घटना के हुआ। १८वीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में निर्मित राजपूत तथा मुगल शैली के लघुचित्र (मिनिएचर्स) एक समान लगते हैं। इनका चित्रांकन चपटा था और छाया का प्रयोग भी नाममात्र के लिए किया गया था। पृष्ठभूमि तो इनमें थी ही नहीं। १८वीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश में रेखाओं में लय की मात्रा और चटकीले रंगों का प्राधान्य हो गया। १८वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रेखायें पूर्णतः सुगठित हो गयीं। इसके साथ-साथ भड़कीली पोशाकें, ऊँची पगड़ियाँ, चेहरों पर अत्युक्तिपूर्ण सौन्दर्य, कानों तक खिंची हुई भवें, गोल कपोल, आभूषणों की भरमार, चमकते हुए रंग और पुरुषों की बड़ी बड़ी मूँछें, सभी में अत्यधिक ऐश्वर्य और अतिशय श्रृंगार समन्वित था। यदि इन्हीं चित्रों को कोई मुगल चित्रकार अंकित करता तो तत्काल ही ऐसे राजपूत चित्रों की कृत्रिमता आँखों के सामने नाचने लगती। उदाहरण के लिए तत्कालीन राजपूत चित्रों में जोधपुर के मानसिंह और तखतसिंह जिस तरह के उद्धत शूर और सजे-सजाये रसिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं, मुगल चित्रों और अंग्रेजी फोटो चित्रों

में वही व्यक्ति सर्वथा आभाहीन दिखायी देते हैं। किन्तु अपने सारे एकांगीपन के बावजूद इस चित्रकला में शानदार गुण होने की क्षमता विद्यमान थी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

राजपूत चित्रकला की एक श्रेणी **'इंडो-पर्शियन'** (भारतीय-फारसी) चित्रों की है, जिनको कि **'प्राचीन मुगल चित्र'** भी कहा जाता है। ये चित्र मुगलों की संरक्षता में जहाँगीर के शासनारूढ़ होने तक बनते गये। इस श्रेणी के चित्रों की चार शाखायें हैं : (१) पर्शियन प्रेम-कथाओं के चित्रों की भारतीय नकलें; (२) **'रामायण'**, **'महाभारत'** आदि के फारसी अनुवादों के आधार पर निर्मित चित्र; (३) लैला-मजनू, जैसी पर्शियन कथाओं पर निर्मित चित्र; और (४) भारतीय-पर्शियन प्रणाली के मिश्रित चित्र।

राजपूत चित्रकला में यह स्थिति लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक बनी रही। उसके बाद उसमें शिथिलता आती गयी। इसका पहला कारण तो यह था कि सत्रहवीं शताब्दी के बाद पर्शियन कला के नाजुक अवयवों पर मध्य एशिया (मुगल) का उग्र प्रभाव पड़ा; और दूसरा कारण यह था कि भारत की स्वदेशी विशेषताएँ अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में अग्रसर रहीं।

इस प्रभाव के कारण दो प्रकार के चित्र सामने आये। एक तो व्यक्तिचित्र, जिनमें विदेशी प्रभाव की मात्रा अधिक थी; और दूसरे काल्पनिक तथा रोमांटिक चित्र, जिनकी भावभूमि विशुद्ध स्वदेशी थी।

१८वीं शताब्दी में मुगल चित्रकला ह्रासोन्मुख रही। उस समय वह लखनऊ के नवाबों के संरक्षण में चल रही थी। उस समय कला का सम्बन्ध या तो दरबारों तक ही सीमित था या उसका अस्तित्व रईसों के यहाँ बना रहा। और जब नवाब तथा रईस समाप्त हुए तो मुगल कला भी समाप्त हो गयी।

किन्तु राजपूत चित्रकला ने, मुगल चित्रकला के विपरीत, पर्शियन चित्रकला और हिन्दू चित्रकला के बीच की कड़ी बनकर अपनी स्थिति को बनाये रखा। उसके पर्शियन गजलों में समाविष्ट भावनाओं की इतनी गहराई है कि जिसको मुगलों के व्यक्तिचित्र छू तक नहीं सकते। राजपूत कला की प्रवृत्तियाँ धार्मिक और विधियाँ आदर्शवादी हैं। उसमें यद्यपि व्यक्तिचित्रों की कमी है; किन्तु काव्य की कोमलता और पुराणों की धार्मिक प्रवृत्तियों ने उसकी श्रेष्ठता को सदा ऊँचा उठाये रखा।

राजपूत चित्रों का विषय-वैशिष्टय, उनका सुन्दर आलेखन और उनके रंगों एवं रेखाओं का प्रवाह यह बताता है कि वर्षों के अध्ययन, अभ्यास और अध्यवसाय के बाद ही उनमें इतनी प्रौढ़ता आ सकी। राजस्थानी चित्रों की अपनी शैली का स्वतंत्र महत्व है। श्री रामगोपाल विजयवर्गीय के अनुसार कहा जाय तो कहना चाहिए कि उनके लाल हिंगुली रंग के हाशिये, बेलबूटों की सजावट, सोने की आसफाँ से युक्त उनकी सुनहरी खत, कमलों से पूरित सरोवर, काले मेघों से आच्छन्न आकाश में सर्पाकार विद्युतरेखायें दर्शनीय हैं। पक्षियों से भरे निकुंजों, मृग, मयूर तथा बलाकाओं की पक्तियों, दीपमालाओं, दास-दासियों, अलंकृत प्राचीरों से युक्त राजभवनों की शोभा, स्त्रियों के विशाल नेत्र, उन्नत भाल, आजानुबाहु, नितम्ब प्रदेश को स्पर्श करने वाले केश, पुरुषों की कर्णप्रदेश तक फैली हुई गुच्छेदार मूछों की ऐंठन आदि अनेक विशेषतायें राजपूत शैली में सर्वत्र दिखाई देती हैं। राजपूत शैली में चटकीले, चमकदार और दीप्तियुक्त रंगों की संयोजना भी दर्शनीय है।

नारीस्वरूप को चित्रित करने में भी राजपूत शैली के चित्रकारों ने बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। अप्रतिभ सौन्दर्य से भरपूर अंगप्रत्यंगों का आकर्षक मार्दव और साथ ही जौहर की बलिवेदी पर आत्मविसर्जन करने का उनका कठोर संकल्प, नारी के इन दोनों रूपों को राजपूत शैली में बड़ी विदग्धता के साथ दर्शित किया गया है।

शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार नायिकाओं के विभिन्न स्वरूपों को चित्रित करने में भी उन्होंने निपुणता दिखालायी है। नायिकाओं के प्रत्येक अवयव को उन्होंने इतना आकर्षक बना दिया है कि देखने वाला मोहित हो जाता है। उनके चित्रों में रीतिकालीन कवियों की कल्पना को साकार रूप में उपस्थित कर देने की पूरी क्षमता है। नायिकाओं की सुगठित मुखाकृति में विभिन्न भावों को ध्वनित करने वाले नयन, नितम्ब प्रदेश को स्पर्श करके अपनी शोभा को बिखेरता हुआ केश-कलाप, यौवन की खुमारी से मदहोश अंग, कुँवारे वक्षों पर झूलते हुए आभूषण और रंग-रंजित अधर तथा हाथ-पैर की अनुपम शोभा राजपूत शैली में देखने को मिलती है।

विषय की दृष्टि से उनमें विविधता है। **'रामायण'**, और **'महाभारत'** के धार्मिक तथा पौराणिक विषयों के अतिरिक्त सूर की कविताओं का भक्तिभाव, वात्यभाव एवं युवाभाव, मतिराम, केशव, देव, बिहारी और पद्माकर आदि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित शृंगार की विभिन्न स्थितियों का चित्रण, मीरा के आत्मसमर्पण का भाव सभी का अविकल रूप राजपूत चित्रों में दर्शित है। राग-रागिनी, ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि के चित्रण में भी उनका कौशल दर्शनीय है।

राजस्थान के प्राकृतिक वातावरण में ही कला का आवास है। वहाँ के दुर्ग, वहाँ के प्रासाद, वहाँ की पार्वत्य भूमि, वहाँ के मंदिर,

हवेलियाँ, राज प्रासाद, सामान्य घरों की चौकों, दीवालों आदि सभी में एक अनोखा आकर्षण है। राजस्थान की नारियों की रंग-बिरंगी पोशाकें वहाँ की कलापूर्ण रुचि के परिचायक हैं।

राजस्थान में भी जयपुर चित्रकला का प्रमुख केंद्र रहा है। राजस्थान की चित्रकला का वैभव यद्यपि मध्ययुगीन भारतीय चित्रकला के वैभव के साथ ही समाप्त हो गया था; किन्तु वहाँ आज भी ऐसे चित्रकारों की कमी नहीं है जो इतनी सुंदर प्रतिकृति तैयार करते हैं कि मूल चित्र और उसकी प्रतिलिपि में भेद करना कठिन हो जाता है।

राजस्थानी चित्रशैली के निर्माण में यद्यपि मुगलशैली का बहुत हाथ रहा है; फिर भी वहाँ के वृक्ष, लता, पशु-पक्षी प्रधान चित्रों में आज भी यह देखा जा सकता है कि उनके आलेखन ईरान की अपेक्षा भारतीय अधिक हैं। मुगल शैली के आलेखनों में भारतीय भावनाओं का संयोग सर्वत्र दिखायी देता है। राजस्थान की चित्रकला में इस सम्मिश्रण की भावना का कारण राजस्थानीय राजा-महाराजाओं और मुगल बादशाहों के आदान-प्रदानों के कारण हुआ। और इस आदान-प्रदान के प्रमुख माध्यम भी तत्कालीन चित्रकार ही थे।

जयपुर शैली के चित्रों में मुख्यतया हरे रंग का उपयोग किया गया है। उसी प्रकार उनका हाशिया रजतवर्णी, कालापन और लाली लिए है। उसमें प्रकृति, पशु-पक्षी संबंधी चित्रों की अधिकता है। मझोले कद के मानवी चित्र और उनमें भी विशेषतया मीनाक्षी नारियों की गठन अनुपम है।

कलाकारों को आश्रय देने वाले और कला के क्षेत्र का विस्तार करने वाले राजस्थान के राजाओं में जयसिंह, ईश्वरीसिंह, प्रतापसिंह, रामसिंह, और रावल शिवसिंह आदि का नाम प्रमुख है। राजस्थान में यद्यपि सैकड़ों कलाकार हुए; किन्तु भारतीय कला शैलियों के निर्माताओं की ही भाँति राजपूत शैली के चित्रकारों में से कुछ ही नाम आज तक सुरक्षित रह सके हैं। उनमें साहिबराम, लालचंद, लक्ष्मनदास, हुकुमचंद, सालगराम, मन्नालाल, रामचंदर, मुरली और गंगाबख्श का नाम लिया जा सकता है।

महाराजा जयसिंह ने चित्रकारों को भरसक आश्रय दिया। उनके समय में यद्यपि राग-रागिनी, राधाकृष्ण और रीतिकालीन कवियों, विशेषतया बिहारी, की कविताओं पर भी अनेक स्फुट चित्र बने; किन्तु जयपुर के पोथीखाने में सुरक्षित 'रज़्मनामा' (महाभारत) के रंगीन चित्रों के लिए महाराजा जयसिंह की विशेष देन है। ये चित्र मुगल उस्तादों ने आज से लगभग ढाई-सौ वर्ष पहिले बनाये थे; किन्तु वे चित्र आज के बनाये हुए मालूम होते हैं। ब्रह्मपुरी की पुँडरीक हवेली के चित्र भी इसी कोटि के हैं।

जयसिंह के बाद ईश्वरीसिंह जी के शासनकाल में निर्मित हाथियों की लड़ाई और आखेट-संबंधी वास्तविक चित्रों का उल्लेखनीय स्थान है। महाराजा प्रतापसिंह के समय में बने चित्र बहुमूल्य हैं। उन पर मुक्ता, माणिक और स्वर्ण अलंकरणों की प्रधानता देखने को मिलती है। महाराजा रामसिंह और रावल शिवसिंह के युग में निर्मित चित्रों पर कुछ पाश्चात्य प्रभाव लक्षित होता है। महाराजा रामसिंह के समय में जो चित्र बने वे अपेक्षया आकार में बड़े और इसलिए अधिक श्रमसाध्य हैं।

राजपूत शैली की समृद्धि में जैनियों का योग

श्वेताम्बरीय जैनों की एक शाखा जती संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है, जिनको सामान्यतया 'गुरु' के संमान्य शब्द से संबोधित किया जाता है। उनको यह संमान अकारण प्राप्त नहीं है। उन लोगों का पुश्तैनी पेशा जैन-पोथियों को चित्रित करना था। उदयपुर, मेवाड़, जयपुर और जोधपुर में इन जैनी गुरुओं के आवास आज भी वर्तमान हैं, और यद्यपि उन्होंने अब अपना पुरातन पेशा प्रायः छोड़ सा दिया है, तथापि जैनी-समाज की ओर से उन्हें आज भी उस संमानित पद के लिए वृत्ति मिलती रहती है एवं उन्हें आज भी गुरु ही कहा जाता है।

सारे भारत में हस्तलिखित पोथियों का जितना अपरिमित भंडार आज भी जैन-साहित्य का मिलता है उतना दूसरे धर्मावलंबियों के साहित्य का नहीं। साथ ही इतनी पुरानी पोथियाँ भी दूसरे विषयों की नहीं मिलती हैं। जैनधर्म की ये मूल्यवान पोथियाँ कुछ तो ताड़पत्रों, कुछ भोजपत्रों और शेष हाथ के बने देशी कागद पर, बड़े श्रम से लिखी हुई, मिलती हैं। कला की दृष्टि से भी उनका अपना अलग महत्व है। ये जैन-पोथियाँ यद्यपि अपने धार्मिक विचारों के अनुरूप चित्रों से सज्जित रहती हैं, और उनका किसी शैली विशिष्ट से कोई संबंध नहीं रहा है, तथापि उनका अधिकांश निर्माण, राजस्थानी चित्रकला के वैभवयुग में हुआ। राजपूत शैली के चित्रकारों को प्रेरणा प्रदान करने में जैनी चित्रकारों का उल्लेखनीय स्थान रहा है।

राजपूत चित्रकला का राज्याश्रय

भारत के बहुसंख्यक रियासतों या रजवाड़ों में राजस्थान के राजाओं का इतिहास अपनी शान-बान के लिए प्रसिद्ध है। भारतीय कला तथा साहित्य का अध्ययन करते हुए हमें ज्ञात होता है कि उनको समृद्ध करने में भारतीय राजवंशों का बड़ा योग रहा है। यद्यपि वे राजवंश आज कथावशेष हैं; किन्तु ज्ञान के व्यसन और कला की भूख के लिए उनमें जो उत्कट अभिलाषा थी उसका साक्षी इतिहास है। भारतीय राजा-महाराजाओं के वृहद् 'सरस्वती भण्डार' और समृद्ध 'कलानिकेतन' आज भी इस सत्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उनके आश्रय में रह कर यहाँ के विद्वानों, कवियों और कलाकारों ने साहित्य तथा कला की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया।

राजस्थान के राजदरबारों में कवियों, कलाकारों और विद्वानों का बड़ा संमान रहा है। वास्तविक बात तो यह थी कि एक सेनापति तथा एक राजमंत्री की भाँति वहाँ एक राजकवि का संमान था। एक राजकवि एक सेनापति हो सकता था और अपनी कविता के द्वारा तथा अपने युद्धकौशल के द्वारा वह समय आने पर राज्य की सेवा कर सकता था।

कवियों के अतिरिक्त कलाकारों को भी वहाँ राज्याश्रय प्राप्त था। वे निरन्तर अपनी कला का सृजन करते रहे, इसके लिए कलाकारों की वृत्तियाँ बँधी हुई थीं। उन्हें यथेष्ट धन-मान से संमानित किया जाता था तथा उन्हें जागीरें दी गयी थीं। आज राजस्थान के विभिन्न भागों में विशाल चित्र-संग्रहों के अतिरिक्त शिल्प और स्थापत्य के भी उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं। वहाँ के राजप्रासादों की विशाल अट्टालिकाओं और सामान्य घरों तक वहाँ के शिल्पियों तथा स्थपतियों के कौशल की सर्वत्र छाप दिखायी देती है। आज भी राजस्थान के अधिकांश घर चित्रकारी से सज्जित हैं, वरन् उन घरों के अन्दर रखी हुई छोटी-छोटी वस्तुयें भी चित्रांकित हैं। राजस्थान में परम्परा से यह प्रथा चली आ रही है कि बिना चित्रसज्जा के घरों को अशुभ समझा जाता है। कल्याण, सुख और समृद्धि के लिए घरों पर चित्रकारी करने का निर्देश सभी कला-विषयक ग्रन्थों में किया गया है।

राजस्थान में कुछ राजा ऐसे भी हुए, जिन्होंने लाखों रुपया व्यय करके चित्रों को तैयार कराया तथा खरीदा। उन पर सच्चे मोती, माणिक, पन्ना तथा नग लगाकर उन्हें राजदरबारों में सज्जित किया जाता था। जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, ईश्वरीसिंह, रामसिंह, कोटा के छत्रसाल, बूंदी के रामसिंह, उदयपुर के संग्रामसिंह द्वितीय, अमरसिंह, भीमसिंह, जोधपुर के बख्तावरसिंह और बीकानेर के सूरतसिंह आदि कलाप्रेमी नरेशों का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

वल्लभ संप्रदाय की परम्परा के वर्तमान आचार्यों के अनेक पीठ राजस्थान में हैं। इन आचार्यपीठों की अधिकतर संपत्ति पर यद्यपि आज सरकार का नियंत्रण हो गया है; फिर भी साहित्य और कला के संवर्द्धन के लिए उन्होंने दक्षिण और राजस्थान में जितना कार्य किया उसको भुलाया नहीं जा सकता। राजस्थान के राजाओं की भाँति वल्लभ पीठ के आचार्यों के संरक्षण में कला और साहित्य का किसी कदर कम संवर्धन नहीं हुआ है। राजपूत शैली के मूल्यवान् चित्र-संग्रह और हस्तलिखित ग्रन्थों का बहुत बड़ा संग्रह आज भी इन आचार्यों के पास सुरक्षित है।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजपूत शैली की महत्ता को सरलता से जाना जा सकता है। आशय यह है कि राजस्थान के प्रत्येक नगर तथा रजवाड़े में अपने-अपने ढंग से चित्रकला का सृजन होता रहा है और इसी लिए राजपूत शैली में जितनी स्थानीय शाखाओं के दर्शन होते हैं उतने अन्य शैलियों में नहीं। इन सभी स्थानीय शाखाओं ने राजपूत चित्रकला को सर्वांगीणता एवं सार्वभौमिक प्रतिष्ठा प्रदान की।

मुगल शैली की पूर्व पीठिका

इस्लाम धर्म की दृष्टि में कला का मूल्यांकन

इस्लामी चित्रों की परम्परा

धार्मिक दृष्टि से जब हम कला के मूल्यांकन की पुरातन परम्परा के बारे में विचार करते हैं तो हमें लगता है कि सभी युगों में कला को आस्था और विश्वास के साथ अपनाया गया। यदि मनुष्य जाति के विकास क्रम में कला का सहयोग न हुआ होता तो मानव समाज में इतनी सहज शालीनता देखने को न मिलती। कला के संस्पर्श से मनुष्य की दुर्दान्त प्रवृत्तियों में कोमलता का समावेश हुआ और उसको यह बुद्धि मिली कि कोई निरपेक्ष सत्ता इस जगत् के मूल में अधिष्ठित है, जिसके द्वारा यह नाना नामरूप जगत् संचालित हो रहा है। यही उसकी धर्मबुद्धि थी, जिसको उजागर किया कला ने।

संसार के प्रायः सभी देशों की आदिम संस्कृति में कला को इसी रूप में पूजा एवं अपनाया गया है। जहाँ तक इस्लाम धर्म की दृष्टि से कला के मूल्यांकन का प्रश्न है, स्पष्ट ही यह जानने को मिलता है कि पवित्र धार्मिक जीवन बिताने के लिए वहाँ कला को बाधक जानकर छोड़ दिया गया। उसको अपनाने और जीवन में उसकी उपयोगिता के लिए विशेष उत्सुकता न रही।

किन्तु सर्वत्र सभी युगों में इस्लाम धर्मानुयायियों का ठीक यही आचरण कला के प्रति रहा हो, ऐसा भी नहीं है। अनेक सामाजिक निषेधों और धार्मिक प्रतिबंधों के होते हुए भी कला को और विशेष रूप से स्थापत्य एवं चित्रकला को वहाँ बड़े साहस और अदम्य उत्साह-उल्लास के साथ अपनाया भी गया। इस्लाम धर्मानुयायियों के इस मिले-जुले दृष्टिकोण के फलस्वरूप कला के तथा चित्रकला के रूप में आज जो थाती हमें उपलब्ध है वह किसी भी प्रकार कम नहीं। इस्लाम में धर्म के साथ कला के संबंध की विशेष उत्सुकता लगभग ७वीं, ८वीं श० ई० से आरंभ होती है।

संसार के धर्मप्रवण एवं धर्मप्रवर्तक महात्माओं में महात्मा मानी का नाम उल्लेखनीय है। कई शताब्दियों तक ईरान और संपूर्ण पश्चिम एशिया में उनके द्वारा प्रवर्तित धर्मभावना का एकाधिकार रहा। वह महात्मा धर्मगुरु के अतिरिक्त एक चित्रकार भी था; जिसके नाम से स्वतंत्र **'मानी शैली'** का प्रचलन हुआ। उसने धर्म की अनेक पोथियों को चित्रित किया और उसके अनुयायी चित्रकारों ने उसकी इस कलाप्रिय रुचि को लगभग १०वीं शताब्दी तक बनाये रखा। महात्मा मानी के अनुयायी चित्रकारों द्वारा चित्रित धर्म की अनेक पोथियों को जर्मन विद्वान् ल-कॉक ने प्राप्त किया, जो संप्रति बर्लिन के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। तुरफान (मध्य एशिया) के एक भग्न मन्दिर में भी मानी शैली के चित्र मिले हैं, जिनमें से कुछ का विषय भारतीय है। श्री नानालाल चमनलाल मेहता का इस संबन्ध में कथन है कि "सन् ९२३ ई० में मानी धर्म के १४ थैले भर ग्रन्थ बगदाद में जलाये गये थे और उसी वक्त, कहा जाता है, चित्रों में लगे हुये सोने-चाँदी का एक प्रवाह-सा बह चला था।" कला के प्रति इसी धर्मद्रोह के कारण ईरान के बादशाह बहराम ने २७४ ई० में सूली पर चढ़ा कर महात्मा मानी का अन्त किया।

इस्लामी सभ्यता के परिचायक, दीवारों पर बने, ८वीं शताब्दी के चित्र कुशेर अम्र के शिकारगाह में मिले हैं। मुहम्मद ग़ज़नवी (९९८–१०३० ई०) ने भी अपने पराक्रमों और विजयों के चित्र बनवाकर अपने शाही महलों में सज्जित किया था। इसी युग में अबासीद तथा उमय्यद प्रभृति खलीफाओं के प्रासादों में भी उत्तम चित्र सज्जित होने का पता चलता है।

विश्व के साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में **'पंचतंत्र'** की कथाओं की लोकप्रियता रही है। **'बाइबिल'** के बाद **'पंचतंत्र'** का ही दूसरा स्थान है, जिसका संसार की समस्त भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, वरन् कई भाषाओं में अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। **'पंचतत्र'** का पहला अनुवाद हकीम बुरजोई (५३३ ई०) ने पहलवी (प्राचीन फ़ारसी) भाषा में किया। उसके बाद एक ईसाई पादरी बुद ने (५७० ई०) **'कलिलग और दमनग'** नाम से उसका अनुवाद सीरियन भाषा में किया। सीरियन भाषा से उसका एक अनुवाद **'कलीलह और दमनह'** नाम से अरबी (५७० ई०) में हुआ। अनुवादक का नाम था अब्दुल्ला-बिन-अलमकफ्फ़ा। अब्दुल्ला-बिन-हवाजी

ने (७८१ ई०) भी एक अरबी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसका आधार पहलवी संस्करण था। इसी अनुवाद के आधार पर सहल-बिन-नवबख्त ने यहिया बरम की आज्ञा से एक पद्यवद्ध अरबी अनुवाद किया। इन अनुवादों के अतिरिक्त नसीर-इब्न-अहमद (९१३–९४२ ई०) ने अपने शाही कवि रूदगी से **'पंचतंत्र'** का अनुवाद **'कलीला और दमना'** नाम से करवाया और चीनी चित्रकारों की शैली पर उसको चित्रित भी करवाया। **'पंचतंत्र'** का एक अनुवाद **'अनवार-इ-सुहैली'** नाम से भी हुआ। **'पंचतंत्र'** के इन अनुवादों को मुस्लिम बादशाहों ने बहुत ही पसन्द किया और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उन्हें चित्रों में भी लिखवाया।

इसी प्रकार मुहम्मद तुगलक के महल में सज्जित क्रीड़ा-चित्र और तैमूरशाह द्वारा निर्मित कराये गये उसके उद्यान-भवन के चित्र इस परम्परा में उद्धरणीय हैं।

इस्लामी सभ्यता के सम्बन्ध में यह एक स्मरणीय बात है कि जब तक उसकी स्थिति केवल अरब में ही बनी रही, तब तक की अरबी पोथियाँ चित्ररहित थीं; किन्तु अरबों ने जब स्पेन, मिश्र, ईरान और भारत आदि विभिन्न देशों में अपनी सल्तनत को फैलाया तभी से उनका ध्यान चित्रकला की ओर उन्मुख हुआ। अरब के विजेता अपने द्वारा विजित देशों के चित्रकारों की कला से प्रभावित हुए और तब से उन्होंने चित्रकारों को आश्रय देना आरंभ किया। भारत में मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने से पूर्व इस्लामी स्थापत्य पर भारतीय कला का प्रभाव पड़ चुका था। महमूद ग़ज़नवी अपनी विजय-यात्राओं में अनेक भारतीय कलाकारों को भी साथ लेता गया था। उसने उस युग के प्रख्यात कलाकार हकीम अबीसेना को अपने यहाँ बुलाने के लिए बहुत यत्न किया। मध्ययुगीन चित्रकारों में हकीम साहब की बड़ी ख्याति थी। जब कि यह विख्यात कलाकार ग़ज़नवी के हाथों न लग सका तो उसने अपने चित्रकारों से उसकी लगभग चालीस आकृतियाँ बनवाकर अपने पड़ोसी राजाओं के पास भेजीं; किन्तु इस यत्न से भी उस कलाकार को पा सकने में ग़ज़नवी असफल रहा।

मुगलों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही हिन्दू कलाकारों की प्रसिद्धि हो चुकी थी। अकबर के कलानिकेतन में हिन्दू कलाकारों की अधिकता का भी यही कारण था। मुगल काल के सभी कलाकारों में अधिकतर हिन्दू ग्रन्थों के दृष्टान्त चित्र बनाये, जिनमें **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'पंचतंत्र'**, **'गीतगोविन्द'** और केशव की **'रसिकप्रिया'** का मुख्य स्थान है। इन चित्रित ग्रन्थों के माध्यम से ही चित्रकला की ख्याति सामान्य जनता तक पहुँची; और साथ ही यह भी सत्य है कि इससे पूर्व चित्रकला का जो रूप था उसमें परम्परा की रूढ़ियाँ मात्र थीं।

लगभग १४वीं शताब्दी के अन्त में इस्लामी सभ्यता में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के प्रतिक्रियास्वरूप हमें दिखायी देता है कि कला के प्रति या छवियों के अंकन करने के संबंध में जो धार्मिक भय और परम्परा का पूर्वाग्रह था वह शिथिल पड़ने लगा था। तैमूरवंश को इस परिवर्तन की प्रतिक्रिया का पहला उदाहरण माना जा सकता है। अकबर ने इस क्षेत्र में काफी साहसपूर्ण कार्य किया। उसने तो यहाँ तक घोषित कर दिया था कि चित्रकार ही एकमात्र ऐसा उपदेशक या गुरु है, जो परमेश्वर की विभूतियों को ठीक से समझा सकता है। अकबर का विश्वास था कि चित्रकार की साधना में ईश्वर की कृपा वास करती हैं। तभी तो वह इतना बड़ा कार्य कर सकता है!

फिर भी यह कहा जा सकता है कि अकबर की इस उदार वृत्ति के बावजूद जन-सामान्य ने अपने धर्मस्थानों एवं अपनी आध्यात्मिक अभ्युन्नति के लिए चित्रकला को कोई स्थान नहीं दिया था। तब तक उसको मनोरंजन का ही एकमात्र साधन माना जाता था। मुगल बादशाहों द्वारा आश्रित और प्रोत्साहित चित्रकला मस्जिदों में न होकर उनके शाही पुस्तकालयों तक ही सीमित थी।

मुगल बादशाहों में कुछ ने सिक्कों पर भी अपनी आकृतियाँ ढलवायीं। ख़लीफा अब्दुल मलीक (६८५–७०५ ई०) और जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) के सिक्के इसके प्रमाण हैं। जहाँगीर के सिक्कों में उसकी प्रेयसी बेगम नूरजहाँ भी उसके साथ अंकित है।

इस युग में कुछ धार्मिक चित्र भी बने; उनमें विशेषतः फरिश्तों आदि के चित्र थे। इस प्रकार के चित्र रशी उद्दीन (१६वीं श०) के **'जाम अत-तवारीख'**, मीर ख्वांद के **'रौदात-ए-सफ़ा'**, (१५९५ ई०), नवाई के **'नजम-अल-जवाहर'** (१५वीं श०), अलबरूनी के **'अल-आथार-अल-बाँकिया'**, और निजामी के **'खमसा'** प्रभृति ऐतिहासिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

अकबर के शासनकाल में **'अमीरहमजा'** से संबद्ध लगभग १४०० उत्कृष्ट चित्र तैयार किये गये, जिनमें से आज थोड़े-से ही वियना तथा लंदन आदि के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। फिर भी इस्लामी मुसव्विर अपनी धार्मिक अनुदारता के कारण अपना अच्छा विकास न कर सके।

धार्मिक कमजोरियों का दुष्परिणाम

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि कला के क्षेत्र में और विशेष रूप से चित्रकला को प्रोत्साहन देने में सबसे बड़ी भावना धर्म की रही है; किन्तु इस्लाम धर्म का आचरण हमें इसके विपरीत मिलता है। जहाँ एक ओर तो मन्दिरों, गिरजाघरों और बौद्ध विहारों में चित्रों के उत्कृष्ट नमूने अंकित हुए मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर मस्जिदों में हमें इसका सर्वथा अभाव दिखायी देता है। विश्व की कला प्रवृतियों की तुलना में इस्लाम धर्म की यह अलग धारणा विचित्र-सी प्रतीत होती है।

यद्यपि मुसलिम बादशाहों के समय में निर्मित कुछ कृतियों को देखकर प्रतीत होता है कि लगभग नवम शताब्दी से ही उनमें चित्रकला के प्रति रुचि हो गयी थी; और अकबर के समय से तो जैसे यह अभिरुचि बड़ी तेजी से आगे बढ़ी, तथापि अकबर से पहले और उसके बाद भी इस्लाम के कट्टर अनुयायी कुछ धर्मप्राण मुसलमानों द्वारा चित्र और प्रतिमायें यथावसर विनष्ट किये जाते रहे।

यदि हम प्राचीन इस्लामी चित्रकला की प्राचीन भारतीय तथा प्राचीन योरोपीय चित्रकला से तुलना करते हैं तो हमें लगता है कि भारत तथा योरोप के देशों में चित्रकला को जिस आदर्श एवं पवित्र भाव से अपनाया गया और सामान्य जन-जीवन तथा विशिष्ट राजकीय वर्ग में उसका जिस सहजता से स्वागत, सम्मान हुआ, वैसा इस्लामी संस्कृति में नहीं दिखायी देता। इस्लामी चित्रकारों का इस्लामी समाज ने न तो आदर ही किया और न उनकी कलाकृतियों की रक्षा ही की।

अरबवासियों को चित्रों और मूर्तियों से घृणा थी। किसी मनुष्य तथा पशु का चित्र अंकित करना उनकी दृष्टि से निहायत हेय कार्य था। जैसे-जैसे इस्लाम धर्म का उत्थान होता गया और उसके साम्राज्य की सीमायें बढ़ती गयीं वैसे-वैसे कला के प्रति उसका वैमनस्य बढ़ता ही गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम के अनुयायियों ने न केवल इस्लामी कलाकारों की कृतियों को ही विनष्ट किया; बल्कि कला के नाम पर सर्वत्र ही उनका यही दृष्टिकोण रहा। इस प्रवृत्ति का पोषण किया धर्म-नेता मौलवियों ने।

चित्रकला के प्रति इस्लामी सभ्यता आरंभ में नितान्त उदासीन रही। इस्लाम के प्राचीन अनुयायी यहूदियों ने इस उदासीनता का बीजारोपण किया। यद्यपि **'कुरानशरीफ'** में शराब एवं द्यूत की भाँति प्रतिमा-निर्माण को भी शैतानों की आदत बताया गया है, तथापि चित्रकला के संबंध में स्पष्ट रूप से कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया गया। हदीस के अनुसार कयामत के रोज़ चित्रकार को नरक में जाना पड़ता है, क्योंकि उसने निर्जीव वस्तु में प्राण-संचार करने का दुःसाहस किया, जिसका एकमात्र अधिकार सृष्टिकर्ता को है। १३वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मौलवी नवव्वी साहब ने तो यहाँ तक कहा है कि सृष्टिकर्ता द्वारा निर्मित किसी भी वस्तु की, कपड़े, कालीन, सिक्के और बर्तन आदि किसी भी वस्तु पर छवि अंकित करना इस्लाम धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। उसका यह भी कहना है कि फरिश्ते उस घर में प्रवेश नहीं करते, जहाँ किसी जानदार वस्तु का मूर्ति या चित्र अंकित होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम धर्म के प्राचीन अनुयायी कला एवं चित्रकला के प्रति कितने अनुदार तथा कट्टर थे?

जो तथ्य किसी प्रकार जीवित हैं और जिनको उस युग के इस्लाम समाज में बड़े पैमाने पर अपनाया जाता रहा उनको देखकर यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन इस्लाम में कला को कोई प्रश्रय प्राप्त नहीं था, बल्कि कला के नाम पर उन्हें जो कुछ भी मिला और परम्परा से जो भी सुरक्षित था उसको भी नष्ट कर दिया गया।

सुलतान फ़ीरोजशाह (१४ वीं० श०) ने स्वयं अपने घर के पर्दों, कुर्सियों, दरवाजों और दीवारों पर बने चित्रों को धर्म भय के कारण पुतवा दिया और अनेक उत्तम चित्रों पर स्याही फेर दी या उनकी आकृतियाँ नुचवा ली गयीं। इस धार्मिक संकीर्णता के कारण उत्तम पोथियों और चित्रों को नष्ट कर दिया गया। चंगेज खाँ और उसके पौत्र हलाकु ने तो अपने विजित प्रदेशों में अवस्थित प्रतिमाओं तथा चित्रों को सर्वथा विनष्ट कर डाला था। बुख़ारा, बग़दाद, नैशापुर आदि संस्कृति प्रधान प्राचीन नगरों को उक्त दोनों शासकों ने सर्वथा ध्वस्त कर डाला था। शाहंशाह अकबर के ऐतिहासिक पोथीखाने को १७३९ ई० में, नादिरशाह ने और उसके रहे-सहे भाग को रुहेलों ने अपहृत किया। ये मुगलकालीन पोथियाँ बड़ी ही निर्दयता से नष्ट कर दी गयीं।

कला के प्रति कुछ इस्लामी शासकों में यह मतभेद अन्त तक बना रहा। तुर्की के सुलतान महमूद द्वितीय (१८०८–१८३९ ई०) ने जब अपनी शाही तस्वीर को कुस्तुनतुनिया की बारकों में रखने का आदेश दिया तो दूसरे लोगों ने धर्मविरुद्ध समझकर उसका प्रबल विरोध किया। विरोध यहाँ तक बढ़ा कि लगभग चार हजार मनुष्य उसकी भेंट चढ़े।

इस्लाम धर्म के अनुयायियों के समाज में आदि से ही दो विपरीत भावनायें दिखायी देती हैं। यह असमानता साधारण जनता और समृद्ध लोगों के बीच रही। जितनी भी धार्मिक आज्ञायें थीं उनका सामान्य समाज ने बड़ी-निष्ठा से पालन किया; किन्तु समृद्धशाली तथा अधिकारप्राप्त समाज ने इन बातों पर कम ध्यान दिया या बिलकुल ध्यान नहीं दिया। इस सम्बन्ध में श्री नानालाल चमनलाल मेहता

का कथन है कि "इस्लामी सभ्यता के आरंभ से ही कला के संबंध में, शास्त्रों के आदेश और लोगों के आचार में बड़ा ही अन्तर रहा है।"

इस प्रकार चित्रकला के प्रति इस्लाम धर्मानुयायी समाज का दृष्टिकोण अच्छा नहीं रहा। किन्तु यह स्थिति कुछ ही समय तक बनी रही। सौभाग्यवश इस्लाम के अधिकतर उत्तरवर्ती शासकों ने परम्परा के विपरीत कला का हृदय से आदर किया।

चित्रकला के इतिहास में मुगल-कालीन भारत का विशेष महत्व है। इस्लाम धर्म में चित्रों को अंकित करने की परम्परागत रूढ़ियों, कुण्ठाओं और अनेक प्रकार के निषेधों के होते हुए भी कलाप्रेमी मुगल शासकों ने जो सब से पहला कार्य किया वह था स्थापत्य एवं चित्रों की उन्नति का। उन्होंने विशाल दुर्गों, भव्य स्मारकों को स्थापित करके अपनी कलाप्रियता का परिचय दिया। उन्होंने कलाकारों को समुचित राजकीय संमान दिया। उनकी कला-साधना के लिए उन्हें समुचित सुविधायें दीं, उनके नाम ज़मीन-जागीरें बाँधी, उन्हें आर्थिक सहायता दी और दरबार में उनके लिए स्थान निश्चित किये। वे बड़ी दिलचस्पी से स्वयं भी कला-संविधानों की बारीकियों को जानने और क्रियात्मक रूप से चित्रशालाओं में बैठकर अभ्यास करने लगे। इस प्रेरणा, प्रोत्साहन और आदर-संमान का परिणाम यह हुआ कि कलाकारों के अनेक वर्ग बड़ी तेजी से प्रकाश में आये।

अतः यह संभव ही था कि मुगल शाहंशाहों तथा नवाबों की इस कलाभिरुचि के कारण इस्लाम में कला के प्रति जो कड़ुवाहट और धार्मिक भय था वह धुल गया। कदाचित् यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि मुगल शैली की उन्नति तथा जागृति के कारण भारत की परम्परागत चित्र-शैलियों में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। इसका विश्लेषण दोनों शैलियों के तुलनात्मक प्रसंग में आगे किया गया है।

और यही कारण है कि इस्लाम के अनुयायियों का प्रवेश जब अपनी सीमाओं से निकलकर बाहरी देशों में हुआ तो उनकी धर्मभीरु प्रवृतियाँ, परिस्थितियों का अनुभव करके, अपने आप दबती गयी। मध्यकाल की मुगल सल्तनत ने इन परम्परागत कुण्ठाओं एवं लीकों को सर्वथा उतार दिया और इसका प्रभाव समस्त इस्लामी देशों की संस्कृति पर पड़ा। इस्लामी सभ्यता, संस्कृति और कला के नवनिर्माण और उसको नयी दिशाओं में अग्रसर करने के लिए मुगलों की यह देन इस्लामी इतिहास में सर्वथा नये युग का सूत्रपात करने वाली घटना सिद्ध हुई, जिसकी समृद्धि का इतिहास आगे प्रस्तुत किया गया है।

☆

मुगल शैली

कला के प्रति मुगलों का नया दृष्टिकोण

भारत में चित्रकला का आरंभ भित्तिचित्रों और छविचित्रों के अंकन से हुआ है। भित्तिचित्र, भवनों, दीवारों, छतों और फर्शों पर बनाये जाते थे। इस प्रकार के चित्रों के केन्द्र राजा-महाराजाओं के दरबार हुआ करते थे। छविचित्रों का सम्बन्ध मनुष्यों तथा देवताओं की आकृतियों से होता था। उनका प्रचलन सामान्य जन समाज में था। इसके अतिरिक्त चमड़े पर, वस्त्रों पर, लकड़ी पर और हस्तलिखित ग्रंथों पर भी चित्र बनाये जाते थे।

भारत में चित्रकला का यह निर्माण-कार्य किसी न किसी प्रकार अविच्छिन्न रूप में अनेक शताब्दियों तक होता रहा। इस परम्परा में प्रबल अवरोध तब उपस्थित हुआ जब भारत में मुगलों ने प्रवेश करना आरंभ किया। इस विधर्मी सल्तनत के कारण और भारतीय रजवाड़ों में आपसी गृह-कलहों के कारण कई वर्षों तक चित्रकला की परम्परा मृतप्राय-सी बनी रही।

किन्तु मुगलों का उद्देश्य कला की इस पुनीत थाती को विध्वस्त करना नहीं था; अपितु भारत में अपने अस्तित्व की जड़ें जमाना था। कलाप्रेम तो उनकी रगों में कूट-कूट कर भरा हुआ था। यहाँ तक कि इस्लाम के कटु निषेध और अनेक प्रकार के प्रतिबंध भी मुगलों के कलाप्रेम को कम न कर सके। प्रकृति का मोह और सौन्दर्य-दर्शन की भावना का समावेश उनके स्वभाव में जन्मतः ही था। बाबर और जहाँगीर के संस्मरणों को पढ़कर ज्ञात होता है कि स्वान्तःसुखाय एवं आत्म-शान्ति के लिए वे कई घंटों एकान्त में बैठकर प्रकृति का रसास्वादन किया करते थे। अकबर तो चित्र-साधना को ईश्वरप्राप्ति तथा ज्ञान-वृद्धि का माध्यम स्वीकार करता है, और इसी लिए ऐसे लोगों से वह घृणा करता था, जो चित्रकला के प्रति आस्था एवं अनुराग नहीं रखते थे।

शाहंशाह अकबर पहला कलाप्रेमी शासक था, जिसने प्रसुप्त भारतीय चित्रकला को पुनरुज्जीवित किया। उसने बड़े उद्योग से अच्छे चित्रकारों को अपने यहाँ आदरपूर्वक आमंत्रित किया। उसने बाहरी चित्रकारों को उनकी कृतियों पर पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहित किया। उसने धर्म के प्रतिबंधों से नियंत्रित चित्रकला को उभारा और उसको लोक-गोचर करके जनता के हृदय में अपना वास्तविक स्थान बनाया। धर्म के ठेकेदार मौलवी-मुल्लाओं के कुप्रचार के भय से भारतीय चित्रकार अपने क्षेत्र से हटते जा रहे थे; किन्तु अकबर की इस उदारता ने उनमें नये जीवन का संचार किया, जिसका प्रबल समर्थक हुआ शाहंशाह जहाँगीर।

इस युग में प्रमुखतया दो प्रकार के चित्र बने : (१) **व्यक्तिचित्र** (पोरट्रेट) और (२) **लघुचित्र** (मिनिएचर)। ये दोनों प्रकार के चित्र छविचित्रों के अन्तर्गत माने गये हैं। प्रकृतिचित्रों और फूल-पत्ती तथा पशु-पक्षी-सम्बन्धी चित्रों का निर्माण भी इस युग में हुआ। इनके अतिरिक्त दरबारियों के चित्र और पुस्तकों के उदाहरण चित्रों का भी इस युग में प्रचलन रहा।

इन मुगलकालीन चित्रों में दो प्रकार की शैलियों का सम्मिश्रण है : भारतीय और ईरानी। अन्तःसौंदर्य की अभिव्यक्ति जिन चित्रों में दर्शित है उनमें भारतीय शैली को अपनाया गया है और वाह्य-सौंदर्य का अभिव्यंजन ईरानी शैली के माध्यम से हुआ है। इस प्रकार भारतीय शैली के चित्रों में भावना की प्रधानता और ईरानी शैली के चित्रों में उत्तम रेखांकन का समावेश हुआ।

शाहंशाह जहाँगीर के शासन में मुगल कला के क्षेत्र में एक महान् परिवर्तन यह देखने को मिलता है कि उसमें इससे पूर्व, जो विदेशी प्रभाव की मात्रा थी, वह सर्वथा मिटती जा रही थी। इसी लिये जहाँगीर के युग में निर्मित अधिकांश चित्र विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोणों के अनुरूप दिखायी देते हैं। इसका कारण यह था कि समस्त मुगल बादशाहों के दरबारों में आदि से अंत तक हिन्दू चित्रकारों की अधिकता बनी रही।

किन्तु जहाँगीर के बाद मुगल चित्रकला की उक्त उन्नत स्थिति शिथिल पड़ती गयी; और यद्यपि इस दिशा में शाहजहाँ ने अपनी शक्ति भर यत्न किया; फिर भी अपने शासन की विपरीत परिस्थितियों के आगे उसके उद्योग पूर्णतया फलीभूत न हो सके। औरंगजेब के कठोर शासन ने कला की इस महान् थाती को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

मुगल शाहंशाह और उनकी कलात्मक अभिरुचि

भारत में मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद भारतीय चित्रकला के परंपरागत विकास में एक तीव्र अवरोध सामने आया। भारतीय कलाकारों में कला के प्रति जो आंतरिक मोह और जीवन के प्रति जो मौलिक कल्पना थी, मुगल सल्तनत की विपरीत परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने के कारण वे सब शिथिल पड़ गये। सुल्तान वंश के धर्मभीरु और संकीर्ण विचार वाले शासकों ने कला को भी धर्म के दायरे में कसकर, उसकी स्वतंत्र सत्ता को अपहृत कर दिया। सुल्तान शाहंशाहों का यहूदियों की तरह यह विश्वास था कि आकृतियों का अंकन करना खुदा से प्रतिस्पर्धा करना है; क्योंकि कयामत के समय जब चित्रकार की कृतियों में प्राण-संचरित करने का प्रश्न उठेगा तो, अपना प्रतिस्पर्धी जानकर खुदा उसे इस गुनाह के लिए दोज़ख में पटक देगा।

इस परंपरागत धार्मिक भय के कारण फीरोजशाह तुगलक ने अपने कला-कक्ष के सभी चित्र एवं भित्तिचित्र तोड़कर नष्ट कर दिये थे। सैकड़ों हिन्दू-मन्दिरों को ध्वस्त करके उनकी जगह मस्जिदें स्थापित करने का सुल्तान-शासकों का एक कारण यह भी था कि मंदिरों की मूर्तियों और मंदिरों के निर्माण में एक अद्भुत कला का समावेश था, जिसको वे फूटी आँखों नहीं देख सकते थे।

किन्तु इमारतों को निर्मित करने का मुगलों को गजब का शौक था। ग़ज़नवी ने स्वयमेव अनेक हिन्दू कारीगरों को साथ लेकर ग़ज़नी का भव्य निर्माण करवाया था। इधर गुलाम वंशीय कुतुबुद्दीन ऐबक ने कुतुब मीनार को बनाने में अपने इस शौक को प्रकट किया, जिसको कि इल्तुतमिश ने पूरा किया। खिलजी वंश के शासकों में अलाउद्दीन को भवन-निर्माण का भारी शौक था। तदनन्तर तुगलक शासकों ने भी अपनी सल्तनत की इस परंपरा को पूरी तरह कायम रखा।

बाबर

भारत में मुगलों की सल्तनत कायम हो जाने के बाद चित्रकला के क्षेत्र में एक नयी दिशा प्रकाश में आयी। मुगल सल्तनत के अधिष्ठाता बाबर का जन्म १४८३ ई० को महान् विजेता तैमूर की पाँचवीं पीढ़ी में हुआ। उसकी माता तथा मातामही मंगोल वंश की थीं। इसी लिए बाबर का शाही वंश मुगल वंश के नाम से प्रख्यात हुआ। बाबर स्वयमेव तुर्क वंश का था। किन्तु मुगल वंश के प्रायः सभी उत्तराधिकारियों ने मंगोल और तुर्क दोनों वंशों की परंपरा का भली भाँति निर्वाह किया।

तैमूर उमरशेख, बाबर का पिता था। जब कि बाबर ग्यारह वर्ष पूरे भी न कर सका था कि १४९४ ई० में उसके पिता की आकस्मिक मृत्यु हो गयी, जिससे कि असमय में ही बाबर को सल्तनत की भारी जिम्मेदारी सँभालनी पड़ी।

बाबर एक उच्चाकांक्षी व्यक्ति था। उसका मन एक छोटी-सी शासन सत्ता को सँभालने से ही संतुष्ट न था। भारत पर उसकी दृष्टि बहुत समय पहले से लगी हुई थी। भारत की शासन-व्यवस्था की डाँवाडोल स्थिति का पता लगते, अविलंब ही ३६ वर्ष की अवस्था में लगभग १५१९ ई० को उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और निरंतर संघर्ष करते हुए अंततः १५२७ ई० में वृहद् भारत के शासनाधिकार का वह एकमात्र स्वामी बन बैठा।

तुर्की रक्त की एक बड़ी विशेषता आरंभ से ही यह रही है कि वह स्वयं गुणज्ञ, विद्यानुरागी और गुणियों, विद्वानों का आदर करने वाला वंश था। तैमूर का पुत्र शाहरुख एक अच्छा शायर और कलाकारों का आश्रयदाता था। सुलतान हुसैन मिर्जा के चित्रकारों में विजहाद ईरानी शैली का अद्भुत चित्रकार था। तैमूर बैसुंगर मिर्जा के दरबार में मीर अली नामक एक ऐसा कलाविद् था जिसे फारसी लिपि के सर्वश्रेष्ठ लिपिकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त थी।

शाहंशाह बाबर एक अद्भुत कला पारखी शासक था। वह एक सिद्धहस्त कवि और साथ ही सुंदर गद्य का लेखक था। तुर्की भाषा में उल्लिखित **'बाबर का आत्मचरित'** बड़े महत्व की पुस्तक है। उसके महान् व्यक्तित्व एवं सर्वांगीण जीवन का परिचय तुर्की भाषा की इस अमर कृति में समाविष्ट है। अपने संस्मरणों में बाबर ने फारसी कला की और विशेषतया बिजहाद की आलेखन शैली की बड़ी ही समदृष्टिपूर्ण समीक्षा की है। किन्तु यह कलाप्रेमी शासक नव स्थापित राज्य के कारण चित्रकला की अभ्युन्नति के लिए जो कुछ कर सकता था, वह भी नहीं कर पाया और अपने उच्च कला-व्यसन की इस विरासत को अपने पुत्र हुमायूँ के हाथों में सौंपकर दिवंगत हुआ।

भारत आते हुए अपने कलाप्रेम के कारण जिन पुस्तकों को बाबर साथ लाया था उनमें **'शाहनामा'** की एक सचित्र प्रति भी

थी, जो लगभग २०० वर्षों तक शाही पुस्तकालयों में सुरक्षित रही और बाद में अँग्रेजों के शासन में लंदन पहुँची और आज वह एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय की संपत्ति बनी हुई है।

हुमायूँ

कला की अभिरुचि हुमायूँ को पुश्तैनी रूप से मिली थी किन्तु उसके सिंहासनारूढ़ होते ही राजनीति के कठोर घटना-चक्रों ने उसकी कोमल कलाप्रवण भावनाओं को सहसा ही झुलस दिया। अपनी २६ वर्ष की बादशाहत में वह कभी भी चैन से न रह सका। बंगाल के अफगान शेरशाह से पराभूत होकर उसने फारस के तत्कालीन शाह तहमास्प की शरण ली। यह शाह स्वयमेव एक उच्चकोटि का कलाकार था और अपने दरबार में अनेक कलाकारों को आश्रय देकर कला की निरंतर सेवा कर रहा था। हुमायूँ की कलाप्रवण विलुप्त भावनायें इस वातावरण में पुनरुज्जीवित हुईं।

हुमायूँ एक वर्ष तक ईरान में रहा। १५४४ ई० के लगभग जब वह काबुल लौट रहा था तो तबरेज में ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी और मीर सैय्यद अली से उसकी भेंट हुई। ये दोनों शीरींकलम के कुशल चित्रकार थे। अब्दुस्समद शीराजी पशु-चित्रण में पारंगत और सैय्यद अली ग्राम्य-चित्रण का धनी था। दिल्ली में अपनी स्थिति को सँभाल चुकने के बाद हुमायूँ ने इन दोनों कलाविदों को संमानपूर्वक अपने यहाँ आमंत्रित किया और हुमायूँ की मृत्यु के बाद गुणग्राही अकबर के दरबार में भी ये दोनों बड़े संमान के साथ अपनी कला का सृजन करते रहे। ऐसा कहा जाता है कि इन दोनों चित्रकारों ने ईरानी शैली को भारतीय शैली में ढालकर चित्रकला के क्षेत्र में एक नये युग का आरंभ किया। इनके अतिरिक्त नादिर-उल-मुल्क हुमायूँशाही, मीर सैय्यद अली 'जुदाई' और कमालउद्दीन बैहजाद आदि मुसव्विरों की रची हुई **'दास्तान-ए-मीर-हम्जा'**, **'मासिर-उल-उमरा'**, **'हम्जानामा'** आदि महत्वपूर्ण सचित्र पोथियाँ हुमायूँ के समय की प्रसिद्ध पोथियाँ हैं। **'हम्जानामा'** तो मुगलकला का उद्गम ग्रंथ है।

हुमायूँ के संबंध में विद्वानों का कहना है कि वह इतना कलाप्रेमी शासक था कि युद्ध-प्रयाण में भी अपने पास सुंदर चित्रकला की पोथियों को रखता और अवकाश के क्षणों में उनको देखकर अपनी कलाभिरुचि को संतुष्ट करता था। उसके दरबारी चित्रकार हर समय उसके निकट रहते थे।

फिर भी इतना स्पष्ट है कि हुमायूँ के शासनकाल में मुगल दरबार की अपनी कोई कला नहीं थी। ईरानी शैली की **हिरात-कलम** का ही तब तक वहाँ एकाधिपत्य था। हुमायूँ के बाद मुगल सल्तनत की बागडोर उसके पुत्र अकबर के हाथों में आते ही मध्यकालीन इतिहास में एक सर्वथा नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। अकबर १५५६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। तब उसकी उम्र केवल तेरह वर्ष की थी।

अकबर

हुमायूँ ने दिल्ली के तख्त को स्वायत्त तो अवश्य कर लिया था; किन्तु उसके चारों ओर जो राजनीतिक घटनाचक्र और रहस्यमय वातावरण व्याप्त था, उस पर काबू पाना अकबर जैसे अपरिपक्व बाल-शासक के लिए कठिन ही नहीं असंभव भी था; किन्तु अकबर की विलक्षण सूझ-बूझ और कार्यप्रणाली ने अल्पकाल में ही लोगों के दिलों पर उसके व्यक्तित्व एवं विश्वास की ऐसी छाप डाल दी कि जिससे असंभव कार्य भी संभव होता दिखायी देने लगा। अकबर को इतना अद्वितीय कार्यक्षम और दूरदर्शी बनाने में सबसे बड़ी सहायता उसकी समन्वयात्मक नीति ने की।

रात-दिन के अविरत श्रम से एक ओर तो उसने धार्मिक द्रोह से भड़की हुई प्रजा को अपने सद्गुणों से अपनी ओर आकर्षित किया और दूसरी ओर उसने कुलक्रमागत अपने कलाप्रेम की विरासत को भी कायम रखा। अपने पिता से भेंट रूप में पाये हुए अब्दुस्समद और मीर सैयद अली जैसे चित्रकारों को उसने पर्याप्त मात्रा में उत्साहित किया। इन दोनों महान् कलाकारों ने अकबर की रुचि और नीति के ही अनुसार कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य की भावना भर दी। उन्होंने ईरानी आकारों को भारतीय रंगों में सँजोकर अकबर के विचारों को साकार कर दिया। इस्लाम के एक पौराणिक वीर पुरुष के जीवन पर १२ खंडों एवं १४ सौ शेरों में उल्लिखित **'दास्तान-ए-मीर-हम्जा'** नामक पुस्तक के लगभग १४०० दृष्टान्त चित्रों की रचनाकर इन दोनों कलाकारों ने अपने अथाह ज्ञान और अपरिमित साधना का परिचय देकर, अपने आश्रयदाता के यश को अमर बनाया।

अकबर के कलाप्रेम और गुणग्राही स्वभाव का यथार्थ पता हमें अबुल फजल की पुस्तक **'आइ-ने-अकबरी'** से मिलता है। इस पुस्तक में लिखा है कि अकबर का बाल्यकाल से ही चित्रकला के प्रति स्वाभाविक झुकाव था। उसने बड़े-बड़े कलाकारों को अपने दरबार में

आश्रय दिया और उन्हें उचित अर्थ एवं संमान प्रदान करके चित्रकला की अधिकाधिक उन्नति के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार के लगभग सौ से ऊपर उच्चकोटि के चित्रकार अकबर के दरबार की शोभा बढ़ाते थे। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे चित्रकारों का तो जैसे वहाँ जमघट ही था। अकबर के आश्रय में रहने वाले चित्रकारों की ख्याति ईरान और यूरोप तक फैल चुकी थी।

इसी पुस्तक में लिखा हुआ है कि मुस्लिम चित्रकारों की अपेक्षा हिन्दू चित्रकार अधिक निपुण, सूक्ष्मदर्शी और बड़े भावनाप्रवण थे। उनकी कलाकारिता के सामने समस्त विश्व में कुछ थोड़े ही चित्रकार ठहर सकते थे। उनकी कला में जैसे जीवन बोल उठता था।

चित्रकला से नफरत करने वाले लोगों से अकबर को नफरत थी। उसका विश्वास था कि कलाकार ही एकमात्र ऐसा उत्तम प्रकृति का होता है, जिसमें ईश्वर को हृदयंगम करने की क्षमता होती है। अकबर का यह विचार, इस्लाम की मान्यताओं के विरुद्ध होते हुए भी बड़ा ऊँचा था।

कलाप्रेम उसमें जन्मतः था; और हिन्दू-पत्नियों के सहयोग से उसकी रुचि में काफी परिष्कार हुआ एवं उसमें गुणग्राहिकता का माद्दा बढ़ा। उसके अंतःपुर, शयनकक्ष और अतिथिशाला आदि सुंदर-सुंदर चित्रों से सुसज्जित रहते थे। दीवारों और फर्श पर भी कुछ मनोरम भित्तिचित्र अंकित थे, जिनमें सूफियानापन एवं हृदय को मोह लेने वाला आकर्षण भरा रहता था।

अकबर के दरबारी चित्रकारों में हिन्दू और मुस्लिम दोनों थे। अब्दुस्समद और सैय्यद अली जैसे चित्रकारों को छोड़कर, जिनमें स्वाभाविक रूप से भारतीय शैली के लिए प्रेम था, कुछ दूसरे मुस्लिम चित्रकार ईरानी शैली से अधिक प्रभावित थे। किन्तु अकबर हृदय से भारतीय शैली का कद्रदान होने के कारण ईरानी शैली के चित्रकार भी भारतीय प्रभाव में आने लगे। और, इस प्रकार अकबर के युग की चित्रकला भारतीय रुचियों एवं भारतीय साज-सज्जा की ओर उन्मुख होने लगी।

अकबर अद्भुत अनुभूति युक्त एवं विचित्र रुचि का शाहंशाह था। उसके असामान्य व्यक्तित्व की शान उसके दरबारी थे। अपने विषय के पारंगत लोगों को उसने चुन-चुन कर परख-परख कर अपने दरबार के लिए जुटाया था। साहित्य के क्षेत्र में उसके नवरत्न तो जैसे सुदूर ग्रामीण जनता की जिह्वा में भी बसे हुए हैं, और इस दिशा में सहसा उसके साहित्यप्रेम एवं विद्वत्सेवी स्वभाव की तुलना हिन्दू सम्राट् विक्रमादित्य से ही की जा सकती है।

उसके दरबार के उच्चकोटि के कलाकारों में ख्वाजा अब्दुस्समद, मीर सैयद अली जनशद, खुसरव कुली, दसवंत, बसावन, मुकुंद, माधो, केसो, जगन्नाथ, गोवर्द्धन, गोविन्द, मथुरा, महीश, ताराचंद, साँवलदास, खेमकरण, नैहल, राम, हरवंश, लाल, मिसकीन, फर्रुख कुलमाक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें हिन्दू ही अधिक थे।

अकबरकालीन चित्रों को राय कृष्णदास ने चार श्रेणियों में विभक्त किया है:

१. **अभारतीय कथाओं के चित्र :** हम्जा-चित्रावली इसका उदाहरण है, जिसका निर्माण १५६०–१५७५ ई० के बीच अकबर ने तैयार करवाया था।

२. **भारतीय कथाओं के चित्र :** इन चित्रों में काश्मीरी और राजस्थानी शली की प्रधानता है। इनका विषय भारतीय काव्य है; विशेषतया **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'नैषधचरित'** आदि।

३. **ऐतिहासिक चित्र :** शाहंशाह अकबर का शाही पोथीखाना लगभग चौबीस हजार हस्तलिखित कलापूर्ण पोथियों से सुसज्जित था। उसके ऐतिहासिक महत्व की कई पोथियाँ चित्रों में थीं। ऐसा अनुमान किया गया है इन सचित्र पोथियों की संख्या सैकड़ों में थी।

४. **व्यक्तिचित्र:** व्यक्तिचित्रों के अंकन में भी अकबरकालीन चित्रकारों ने बड़ी निपुणता दिखलायी है। ये व्यक्तिचित्र आज यूरोप के संग्रहालयों से लेकर भारत के संग्रहालयों तक सर्वत्र व्याप्त हैं; किन्तु इनकी संख्या इससे भी अधिक थी। अकबर को पोर्ट्रेट चित्रों का बड़ा शौक था। वह स्वयं भी छवि-चित्रों को तैयार करता था। राज्य के विशिष्ट व्यक्तियों और पूर्व पुरुषों के चित्रों का उसने एक बिहुत बड़ा अलबम तैयार करवाया था, जिसमें से अब कुछ ही चित्र शेष हैं।

कला के समुचित मूल्यांकन और कलाकारों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अकबर के दरबार में प्रति सप्ताह चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन होता था। उसने अपने कलाकारों को बड़े-बड़े ओहदों पर रखा था। इस प्रकार की प्रदर्शनी से कला के प्रति समाज में रुचि जागृत होती थी। अकबर ने अलग से एक कला-निकेतन की भी स्थापना की थी, जिसका अध्यक्ष अब्दुस्समद था। प्रत्येक सम्मानित अतिथि को वह बड़ी रुचि से अपने इस संग्रह को दिखाता था।

यद्यपि व्यक्तिचित्रों के अंकन में भी उसकी दिलचस्पी थी; किन्तु पुस्तकों के आधार पर चित्रावली तैयार कराने में उसने विशेष उत्सुकता दिखायी। वह फारसी का उतना ही गुणग्राही, एवं संमान करने वाला था, जितना कि संस्कृत का। संस्कृत और फारसी की हस्तलिखित पोथियों के दृष्टांत चित्रों को उसने बड़ी रुचि से तैयार करवाया। ये ग्रंथ धार्मिक, शास्त्रीय, काव्य, कथा, नीति, इतिहास, नाटक, जीवनी आदि सभी विषयों के थे।

ऐसी सचित्र पोथियाँ अकबर के शाही-पोथीखाने में सहस्त्रों की संख्या में थीं। उनमें से कुछ का नाम है: **'किस्सा अमीर हम्जा', 'शाहनामा', 'तवारीख-खानदान-ए-तैमूरिया', 'रज्मनामा'** (**महाभारत** का अनुवाद), **'वाकआत-बाबरी'** (बाबर की आत्मकथा), **'अकबरनामा', 'अनवार सुहैली'** (पंचतंत्र का अनुवाद), **'अयारदानिश'** (पंचतंत्र का अनुवाद). **'तारीख रशीदी दराबनामा', 'खमसानिजामी', 'बहारिस्ताने जामी', 'रामायण', 'हरिवंश', 'महाभारत', 'योगवाशिष्ठ', 'नलदमयन्ती कथा', 'शकुन्तला', 'कथा सरित्सागर', 'कालियदमन', 'चंगेजनामा', 'जाफरनामा', 'दशावतार', 'कृष्णचरित', 'तूतीनामा', 'अजीबुलमखलूकात', 'खम्सानिजामी',** निजामी के काव्य, जसवंत तथा बसावन की कृतियाँ, **'आई-ने-अकबरी',** आदि।

इन सचित्र पोथियों की कुछ पूरी प्रतियाँ और कुछ खंडित प्रतियाँ आज भी भारतीय तथा विदेशी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। कुछ पोथियाँ इनमें से ऐसी भी हैं, जिनकी लागत लगभग एक लाख से अधिक है।

अकबर का शाही पुस्तकालय अपने समय के तीन विभिन्न बड़े नगरों में स्थापित था—आगरा, दिल्ली और लाहौर। इन पुस्तकालयों की अनेक पोथियाँ ब्रिटिश म्युज़ियम, लंदन; केंसिंग्टन साउथ संग्रहालय; लूव्र-संग्रहालय, फ्रांस; चेस्टरबेरी संग्रह, लंदन; रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन और अमेरिका तथा यूरोप के निजी एवं सार्वजनिक संग्रहालयों में पहुँचीं।

अकबरकालीन सचित्र पोथियों की उपलब्धि भारत के जिन संग्रहालयों में संभव है उनके नाम हैं: खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना; राजकीय पोथीखाना, जयपुर; राजकीय संग्रहालय, हैदराबाद; भारत कला-भवन, वाराणसी; महाराज बलरामपुर का संग्रहालय; राजकीय संग्रहालय, रामपुर; राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली आदि। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत घरों और छोटे-बड़े संग्रहालयों में भी यह सामग्री बिखरी हुई है।

अकबरकालीन चित्रशैली की समीक्षा

अकबर की चित्रशाला के अनेक उस्तादों की कला का वर्णन करना आवश्यक है। इसी समय ईरानी कलम की जगह भारतीय शैली ने ली। हिन्दू चित्रकारों और ईरानी चित्रकारों में एक बड़ा भेद वर्णमाला या अंक-लेखन के संबंध में था। हिन्दू चित्रकारों ने अपने दृष्टान्त चित्रों के साथ जिस वर्णमाला या अंकमाला का उल्लेख किया है, वह बहुत ही भद्दी है। बल्कि सुंदर-सुंदर चित्रों के शीर्ष या अगल-बगल लिखी हुई इस प्रकार की लिपि से चित्रों का आकर्षण ही कम हो जाता है। लेकिन फारसी मुसव्विरों में यह आदत देखने को नहीं मिलेगी। फारसी कलाकारों में यह प्रचलन था कि एक पोथी को लगभग तीन व्यक्ति पूरा करते थे। उनमें पहिला शेर लिखता, दूसरा चित्रकार होता और तीसरा उसमें रंग-विधान करता। ऐसे कलाकारों में कातिब मीरअली, सुलतानअली, मुहम्मद हुसैन, उस्ताद गफ्फारी, अब्दु-अलरहीम आदि के नाम प्रमुख हैं।

भारतीय चित्रकार पटचित्रों और भितिचित्रों में माहिर थे, रंग-विधान उनका उतना आकर्षक नहीं था; किन्तु ईरानी कलाकारों के सहयोग से उन्होंने रंग-विधान की बारीकियों को अच्छी तरह से हृदयंगम करके अपनी कला में प्राण फूंक दिया। अकबर की चित्रशाला में कश्मीर, लाहौर और गुजरात से चित्रकारों को आमंत्रित किया गया था। इनमें भी गुजराती चित्रकारों की अधिकता एवं अधिक प्रतिष्ठा थी। जीवनी एवं ऐतिहासिक ग्रंथों को लिखने-लिखाने तथा उन्हें चित्रित कराने का मुगल बादशाहों को बड़ा शौक था।

अकबर के युग में पुस्तकों को चित्रित करने की परंपरा में काफ़ी वृद्धि हुई। उसके शाही पोथीखाने में २४,००० हस्तलिखित पोथियों का वृहद् भंडार था, जिनमें बहुत-सी पोथियाँ चित्रों से विभूषित थीं। कुछ पोथियाँ तो ऐसी भी थीं, जिनकी लागत एक लाख से ऊपर थी। फैजी की मृत्यु के बाद (१५९५ ई०) शाही पुस्तकालय कुतुबखाने में रखा गया। मुगलों के अस्तित्व तक यह पुस्तकालय भारत के महान् गौरव के रूप में विख्यात रहा और उसके बाद उसमें संग्रहीत पोथियाँ दुनियाँ के हर हिस्से में प्रवासित हुईं, जिनसे आज भी विदेशी पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों का मान बढ़ रहा है।

पोथीखाने के साथ अकबर ने एक चित्रशाला की भी स्थापना करवायी थी। जैन कवि देवविमलगणि के **'हीरसौभाग्य'** से प्रतीत होता है कि अकबर द्वारा स्थापित चित्रशाला में जैन गुरु हीरविजय को आमंत्रित किया गया एवं उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि से संमानित

किया गया था। दूसरे जैन विद्वान् शांतिचंद्र कृत **'कृपारसकोश'** में भी इस घटना का रोचक उल्लेख है। अबुलफ़जल ने **'आई-ने-अकबरी'** में शाहंशाह अकबर की चित्रशाला के विख्यात १३ चित्रकारों के नाम गिनाये हैं : केशव, लाल, मुकुन्द, मिसकीन, फरुख बेग, माधौ, जगन्नाथ, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला, हरिवंश और राम। इन सभी चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्र न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त दसवंत और बसावन आदि भी अनेक चित्रकार थे। **'रज्मनामा'** के चित्रण का कार्य इन दोनों चित्रकारों को ही दिया गया था। अकबर के जमाने में **बारहमासा** और **रागमाला** पर भी चित्र बने।

अकबर के युग की चित्र-विभूषित पोथियों में **'बाबरनामा'**, **'दाराबनामा'**, **'खमसा-इ-निजामी'** ब्रिटिश म्युजियम में; **'तैमूरनामा'** खुदाबख्श लाइब्रेरी बाँकीपुर (पटना) में; **'रज्मनामा'** राजकीय पोथीखाना, जयपुर में; **'अनवार-इ-सुहैली'** रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, ब्रिटिश म्युजियम, लंदन में; **'लैला मजनू'** इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन में; और **'बहारिस्तान-ए-जामी'** बोडलियन लाइब्रेरी, आक्सफर्ड में आज भी सुरक्षित है।

जहाँगीर

अकबर के बाद उसका पुत्र जहाँगीर मुगल सल्तनत का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ, जिसका शासनकाल १६०५–१६२७ ई० था। अपने वंश का कलाप्रेम और पिता की कलाभिलाषा को संभालने में वह पूर्णकाम सिद्ध हुआ। वह हिन्दू-पत्नी से प्रसूत था; अतएव उसके अंदर हिन्दुत्व की भावना जन्म से ही समाविष्ट थी। कला के क्षेत्र में अकबर ने जिस भारतीकरण का बीजारोपण किया एवं उस परंपरा की यत्नपूर्वक रक्षा की, जहाँगीर के हाथों में आकर वह अपनी चरमोन्नति को पहुँची। उसके युग के चित्र, शैली और स्वरूप की दृष्टि से भारतीय स्वभाव के अधिक निकट प्रतीत होते हैं।

भारत में यद्यपि मुगल शैली का समारंभ अकबर के शासन में हुआ; किन्तु उसमें उच्च कलात्मक ध्येयों और नये विकास तत्वों का समावेश हुआ जहाँगीर के समय में। मानवीय अभीप्साओं, आचरणों और भावनाओं के ठीक अनुरूप चित्र जहाँगीर के ही समय में बने। जहाँगीर के समय में जिन रंगों का निर्माण हुआ और उनका जिस ढंग से उपयोग किया गया, वह अपूर्व था। रंगों के अतिरिक्त रेखाओं की दिशा में भी जहाँगीरकालीन चित्रकारों ने अपनी विशेषता का परिचय दिया। वस्त्राभूषणों की योजना करते हुए उनकी दृष्टि यथार्थ पर रही है। इसी प्रकार अंग-प्रत्यंग का चित्रण करने, विशेषतया मीनाकृति आँखों, सम्पूर्ण मुखाकृति और हाथों का चित्रण करने में जहाँगीरकालीन चित्रकार बड़े निपुण थे।

जहांगीरकालीन मुगल शैली की उक्त सभी विशेषताओं का दृष्टान्त **भारतीय सुन्दरी** शीर्षक चित्र में देखने को मिलता है, जो कि भारत कला-भवन, वाराणसी, में सुरक्षित है और जिस पर राय कृष्णदास जी ने विस्तार से **'कलानिधि'** (वर्ष १, अंक १, २००५ वि०) प्रकाश डाला है। इस चित्र में एक सुन्दरी शिवार्चन के लिए, एक हाथ में पुष्पहार और दूसरे हाथ में फूलों की डाली लिए जाती दिखायी गयी है। उसकी अंग-प्रत्यंग की सुघराई और कर्ण, कंठ तथा हाथों में पहनाये गये आभूषण उसके प्रकृत सौन्दर्य को अधिक प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाते हैं।

मुगलकालीन चित्रों में जो आकृति की सुघराई, स्तन-सौन्दर्य और नाभि की बनावट अपने उत्कर्ष को प्राप्त हुई थी, उन सभी विशेषताओं का एक साथ समावेश इस **'भारतीय सुन्दरी'** में दर्शित है। इसमें आलंकारिकता के साथ-साथ स्वाभाविक सौन्दर्य दर्शित है।

जहाँगीर सर्वगुणसंपन्न उच्चकोटि का कला-पारखी था। उसके समीक्षकों का उसके संबंध में कहना है कि वह 'सहृदय, सुरुचि-संपन्न, पहले दरजे का चित्रप्रेमी, प्रकृति-सौंदर्य-उपासक, वृक्ष-खग-मृग-विज्ञानी, संग्रहकर्ता, विशद वर्णनकार और सबसे अधिक पक्का जिज्ञासु और प्रज्ञावादी था।' उसकी साधना इतनी परिपक्व थी कि वह एक ही आकृति एवं एक ही रूप-रंग से तैयार किये गये अनेक चित्रकारों के चित्रों को छाँटकर अलग कर सकता था। इससे भी आगे उसकी साधना यहाँ तक बढ़ चुकी थी कि अनेक चित्रकारों द्वारा तैयार किये गये एक ही चित्र के विभिन्न कलाकारों के अंश को वह अलग कर सकता था। चित्रकला का रहस्य जैसे उसे स्वयंसिद्ध हो चुका था।

शाही रक्त की ताजगी जैसे उसके हर व्यवहार में प्रकट होती रहती थी। वह अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिए अपने चित्रकारों को आदेश देता; उन्हें वह अपरिमित धन एवं संमान देकर खुश करता। आका रिजा नामक एक ईरानी चित्रकार और उसका पुत्र अबुलहसन जहाँगीर के बड़े प्रेमपात्र थे। अपने हिन्दू चित्रकार बिशनदास के संबंध में जहाँगीर ने आत्मचरित में बड़ी ही प्रशंसापूर्ण बस्तें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त मोहम्मद नादिर, मोहम्मद मुराद, गोवर्द्धन, मनोहर, दौलत तथा उस्ताद मंसूर जहाँगीर के दरबार के दिव्य रत्न थे। आका रिजा का पुत्र अबुलहसन पर उसकी विशेष कृपादृष्टि थी। उसको बादशाह ने **'नादिर उल-जमां'** की उपाधि से

विभूषित किया और एक बार उसके एक चित्र पर प्रसन्न होकर एक सहस्त्र मुद्राएँ पुरस्कार स्वरूप प्रदान की थीं। जहाँगीर ने अबुलहसन का अपने दरबार का सर्वोत्कृष्ट चित्रकार के रूप में उल्लेख किया है। अब्दुल अहमद के पुत्र शरीफ खाँ को भी पर्याप्त शाही संमान प्राप्त था। उसके शासनकाल में पुरुषों के अतिरिक्त महिलायें भी चित्र अंकित करती थीं।

कला का वह इतना शौकीन था कि जो भी सुलिपि में लिखी हुई पोथियाँ उसके सामने से गुजर जातीं उन्हें रोककर वह उनकी पोस्तीन पर अपने दस्तखत कर देता। अच्छे-अच्छे चित्रों के अलबम तैयार करने का भी उसको अद्‌भुत व्यसन था। जहाँ भी उसे प्रकृति विषयक, पशु-पक्षी विषयक, आखेट विषयक या व्यक्ति विषयक चित्र रुच जाते वह बड़ी-से-बड़ी रकम खर्च करके उन्हें अपने अलबम में नत्थी कर लेता। भारतीय कला-समीक्षकों का कहना है कि सुंदरी नूरजहाँ के सहयोग से जहाँगीर की भावनाप्रवण प्रकृति चित्रकला और विशेषतः प्रकृति चित्रों की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हुई और इसी का प्रभाव था कि उस्ताद मंसूर को उसने सैकड़ों तरह के पुष्पों को चित्रित करने का आदेश दिया।

उसके इस कलाप्रिय कोमल स्वभाव के कारण उसके हिन्दू-मुस्लिम दरबारी आपस में ऐसे घुल-मिल गये थे कि यदि हिन्दू चित्रकार रेखाएँ तैयार करता तो मुस्लिम चित्रकार उनमें रंग भरता। जहाँगीर के स्वभाव की इन खूबियों से उसकी प्रजा भी प्रभावित हुए बिना न रही। ऐसे प्यारे शासक को पाकर प्रजा विभोर थी और अपने हृदयों का सारा विश्वास प्रजाजनों ने अपने स्वामी को सौंप दिया था।

जहाँगीरकालीन चित्रों में एक ओर तो धर्म की संकीर्णताओं को स्थान नहीं दिया गया है, जिससे कि वे ईरानी प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो गये, और दूसरी ओर उनकी बारीकी बहुत ही आकर्षक है। अकबरकालीन चित्रकला हमें पुस्तकों के दृष्टान्त रूप में अधिक मिलती है; किन्तु जहाँगीरकालीन चित्र स्फुट रूप से अधिक बने। जहाँगीरकालीन चित्र आज भी भारत तथा यूरोप के बड़े-बड़े संग्रहालयों एवं व्यक्तिगत संग्रहों में पर्याप्त रूप से सुरक्षित हैं।

जहाँगीर ने आत्मचरित पर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम है **'तुजुक-ए-जहाँगीरी'**। उसके वास्तविक व्यक्तित्व का परिचय इस पुस्तक को पढ़ने से प्राप्त होता है। शाहंशाह बाबर की आत्मकथा के ही समान जहाँगीर के आत्मचरित का साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। उसके इस जीवनी ग्रंथ से विदित होता है कि वह दिल का कितना पवित्र, विचारों से कितना उदार, राजनीति में कितना दूरदर्शी, बुद्धि का कितना प्रतिभाशाली और स्वभाव का कितना विनोदी व्यक्ति था! उसने अपने इस आत्मचरित की कई सचित्र प्रतियाँ तैयार करवायीं। देश-विदेश के संग्रहालयों में उसके समय के कुछ स्फुट चित्र आज भी उपलब्ध होते हैं।

जहाँगीर के युग में अबुलहसन, लाल, साँवला, मुहम्मद नादिर, फरुखबेग, मुहम्मद मुराद, राजा मनोहर और गोवर्द्धन आदि चित्रकारों का नाम उल्लेखनीय है। जहाँगीर में भी अपने पिता की भाँति हिन्दू तथा जैनों के धर्मगुरुओं को संमानपूर्वक आमंत्रित करने की विशेषता विद्यमान थी। जैन मंदिरों या दूसरे हस्तलेख-संग्रहों के उसके इस ऊँचे व्यक्तित्व के परिचायक अनेक वृतांत-चित्र आज भी सुरक्षित हैं।

उसने अपने मुसव्विरों को 'उस्ताद-अल-मुसव्वरीन' (चित्रकार-शिरोमणि), 'नकवात-अल-मुहर्ररीन' (लेखक-शिरोमणि), 'नादिर-उल-असर' (युग-शिरोमणि) और 'नादिर-उल-जमां' आदि उपाधियों से संमानित किया था। जहाँगीर के युग की चित्रित पुस्तकें और स्फुट चित्र बाँकीपुर, पटना और रामपुर के संग्रहालयों में आज भी वर्तमान हैं।

शाहजहाँ

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ १६२८ ई० में मुगल सल्तनत का स्वामी नियुक्त हुआ और उसने लगभग १६५८ ई० तक तीस वर्ष शासन किया। पिता के समय से नियुक्त कलाकार यद्यपि अभी भी दरबार के परंपरागत कलाप्रेम की साक्षी दे रहे थे; किन्तु शाहंशाह की रुचि में हमें वैसी उत्सुकता नहीं दिखायी देती, जैसी कि उसके पूर्वजों में हम देख चुके हैं। शाहंशाह की इस उदासीनता का आभास पाकर दरबारी चित्रकारों की कलम में भी अब कृत्रिमता के भाव आने लगे थे। चित्रकला का उद्देश्य अब मुगल सल्तनत के वैभव का प्रदर्शन करना मात्र रह गया था। उसमें अब भीतरी साधनों के भाव प्रदर्शित न होकर रियाज, बारीकी, रंगों की तड़क-भड़क, हस्त-मुद्राओं का आकर्षण, अंग-प्रत्यंगों का उभार और हकूमत का दबदबा आदि की अधिकता थी। स्त्रियों के अंगों का आकर्षक अंकन करने में चित्रकारों ने अवश्य ही कमाल हासिल किया; किन्तु चित्रकला के भावी विकास के लिए यह स्थिति शुभकर साबित न हुई।

वस्तुतः अकबर से लेकर जहाँगीर तक की मुगल चित्रकला में जो विशेषताएँ और शासकों की जो स्वाभाविक रुचि दिखायी देती है, वह फिर न दिखायी दी। शाहजहाँ का युग यद्यपि मुगल-सत्ता का सर्वाधिक बल-वैभव संपन्न युग रहा है, तथापि चित्रकला के क्षेत्र में इस युग ने पूर्वागत परम्परा एवं कलाप्रेम का कुछ भी निर्वाह नहीं किया। शाहजहाँ के शासन में गोवर्द्धन, मोहम्मद नादिर, मनोहर, विचित्तर,

अनूपचत्तर, चित्रमन, होनहार, बालचंद आदि कलाकारों की जो कुछ उत्कृष्ट कला-कृतियाँ हमें देखने को मिलती हैं, उनका कारण शाहजहाँ का शासन न होकर, जहाँगीर के अत्यधिक कलाप्रेम का प्रभाव था, जो कि उसकी मृत्यु के बाद भी कुछ वर्षों तक बना रहा। विचित्तर जैसे असामान्य कोटि के चित्रकार के चित्र आज भी लंदन के साउथ केंसिंग्टन म्युज़ियम के चेस्टरबेटी संग्रह तथा पेरिस आदि के संग्रहालयों में सुरक्षित अपने निर्माता के यश को अमर बनाये हैं। जहाँगीर के युग का शाह अब्बास को प्रदत्त एक मुरक्का जर्मनी से **'इंडियन बुक पेंटिंग'** के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

दारा

एक कार्य शाहजहाँ द्वारा अवश्य ही बड़े महत्व का हुआ; वह था उच्चकोटि की भवन-निर्माण-कला का आरंभ। उसकी इस प्रेरणा के मूल में संभवतः मुमताज की ममता थी, जिसका परिणाम ताजमहल है। यद्यपि वास्तुकला के क्षेत्र में शाहजहाँ, अकबर ने भी काफी उत्सुकता दिखायी, जिसके उदाहरण हुमायूं का मकबरा, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, बुलन्द दरवाजा, जामा मस्जिद और दीवाने खास प्रसिद्ध हैं। सिकन्दरे का मकबरा अकबर ने शुरू किया था और उसको अंतिम रूप जहाँगीर ने दिया। शाहजहाँ द्वारा निर्मित कलापूर्ण भवनों में मोती मस्जिद, जामा मस्जिद, लाल किला के दीवाने खास और दीवाने आम उल्लेखनीय हैं।

शाहंशाह की अपेक्षा उनके बड़े भाई शाहजादा दारा में हम चित्रकला के प्रति स्वाभाविक रुचि का सन्निवेश पाते हैं। दारा एक आध्यात्मिक अभिरुचि का व्यक्ति था। हिन्दू विद्वानों और चित्रकारों के प्रति उसका दृष्टिकोण अपने पूर्वजों जैसा बना रहा। दारा का लगभग चालीस चित्रों का मुरक्का (अलबम) जो संप्रति इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन में सुरक्षित है, उसके सच्चे कलाप्रेम की गवाही देता है। दारा द्वारा अपनी अनुगता पत्नी सुलतान परवेज की पुत्री नादिरा बेगम को उपहार में दिया हुआ एक चित्राधार भी उक्त अलबम में संग्रहीत है, जिसका सबसे पहिला चित्र १४९८ ई० में बना था।

शाहजहाँ यद्यपि परिष्कृत रुचि का शासक था और छोटी अवस्था में ही वह कुछ दिनों तक नियमित रूप से शाही पुस्तकालय में बैठकर कला के संबंध में अध्ययन करता रहा तथा उसके आश्रित चित्रकारों ने संगीत, नाट्य एवं दैनिक व्यवहार के सामान्य विषयों पर भी प्रकाश डाला; किन्तु अपनी ओर से, अपने पूर्वजों की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में वह कोई भी ऐसी देन न छोड़ गया, जिससे कि उसके व्यक्तित्व का अलग से उल्लेख किया जा सके।

औरंगजेब

शाहजहाँ के उद्योग और उत्सुकता से उक्त शाही इमारतों में वास्तुकला के चरमोत्कृष्ट नमूने उत्कीर्णित हैं। उनकी अलंकरणसज्जा, महीन नक्काशी, रंगों का अंकन, स्थायित्व आदि सभी बातों में गजब का हस्तकौशल चित्रित है। शाहजहाँयुगीन कला-समीक्षकों का कथन है कि उस समय वास्तुकला की बहुमुखी पद्धतियाँ विकसित हुई और वास्तुकला चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब के हाथों में शासनाधिकार (१६५८–१७०७ ई०) आते ही इस क्षेत्र की रही-सही खूबियाँ भी सर्वथा जाती रहीं। उसने इस्लाम की छाँट-छाँट कर कट्टर विधियों को अपनाया। उसकी संकीर्णवृति और कट्टर मुगलपन ने कला के सभी स्रोतों को सुखा दिया। औरंगजेब के शासक होते ही जैसे मुगल सल्तनत की उज्जवल ऐतिहासिक परंपरा छिन्न-भिन्न होकर अंधकार के अंतराल में समा गयी। उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य कट्टरपंथी राज्य की प्रतिष्ठा थी, जिसमें कि कला जैसे सुकुमार विषयों को पनपने के लिए वातावरण का सर्वथा अभाव था।

मुगल कला की परिणति

औरंगजेब के दरबारी चित्रकारों में भी यद्यपि हिन्दुओं की ही अधिकता थी; तथापि अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुसार अब उनमें कला-उद्भावना की स्वाभाविक प्रेरणा न रह कर राग-रंग, विलासता और खुशामदी प्रवृतियों का प्राबल्य हो गया था।

कुछ चित्र औरंगजेब की आज्ञा से भी तैयार किये गये; किन्तु वे चित्र उसके उन परिवारजनों के थे, जिन्हें उसने ग्वालियर के किले में कैद कर रखा था। वह प्रति मास उनकी गति-विधि का पता लगाने के लिए अपने चित्रकारों द्वारा उनकी छवियाँ बनवा करके देखा करता था। इस संबंध में कुछ विद्वानों का यह मत है कि इन चित्रों को वह अपने ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा मुहम्मद सुलतान की ममतावश

उसके स्वास्थ्य की जानकारी के लिए निर्मित करवाया करता था, जिसको कि उसने कैद में ठूँस रखा था; किन्तु ऐसा करने में भी उसका परोक्ष अभिप्राय दुष्प्रवृतियों से ही भरा जान पड़ता है।

औरंगजेब की उदासीन प्रवृति के बावजूद उसके युग में शाही चित्रशालाएँ कायम रहीं; किन्तु आगे अग्रसर होने की जगह अब वे अवनति की ओर उन्मुख थी। दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा के दरबारों के मुसव्विरों का संमान पूर्ववत् बना हुआ था। हमें १७वीं श० के अंत में निर्मित जो चित्र मिलते हैं उनका निर्माण औरंगजेब के आश्रय में न होकर उक्त दाक्षिणात्य दरबारों में ही हुआ।

औरंगजेब द्वारा चित्रकला का ऐसा बहिष्कार हो जाने के फलस्वरूप समाज में चित्रकला का महत्व कम होता गया और स्वयमेव चित्रकार हतोत्साह होकर धनिकों का आश्रय पाने की लालसा से इधर-उधर बिखरते गये। कलाकारों के इस प्रकार विकेंद्रित हो जाने से भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में एक नया अध्याय जुड़ा और इस नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ चित्रकला की प्रांतीय शाखाओं के पनपने की वजह से। चित्रकला की प्रांतीय शाखाओं के रूप में राजपूत कला का अपना विशिष्ट स्थान है।

मुगल और राजपूत शैलियों का तुलनात्मक विश्लेषण

मुगल शैली का मूल आधार भारतीय न होकर ईरानी था। ईरानी और भारतीय कला-शैलियों के सम्मिश्रण से जिस नयी शैली का जन्म हुआ उसी को 'मुगल कलम' कहा जाता है। किन्तु राजपूत शैली विशुद्ध भारतीय है। उसके प्रतिमान, उसके संविधान, सभी में भारतीयता है। इसलिए मुगल और राजपूत, दोनों शैलियों में भिन्नता का होना अस्वाभाविक नहीं है।

इन दोनों कला-शैलियों के निर्माण एवं विकास का प्रायः एक ही समय है। इस दृष्टि से उनका एक-दूसरे को प्रभावित करना स्वाभाविक ही है। फिर दोनों शैलियों की अपनी मौलिक भिन्नतायें हैं। विषय की दृष्टि से मुगल शैली के चित्र राजसी तथा सामन्ती परम्पराओं से प्रभावित और यथार्थवादी हैं; किन्तु राजपूत शैली के चित्र कल्पनाप्रचुर, तत्कालीन जनवादी विचारों से संपृक्त हैं और उनमें रूमानीपन है। मुगल कला को राज्याश्रय प्राप्त था। मुगल सम्राट् स्वयमेव कलाकार और कला के अनन्य उपासक थे। इस पर भी मुगल कलम के मुसव्विर जहाँ सामन्तों और बादशाहों के पोर्ट्रेट चित्र बनाने तक ही सीमित रहे हैं वहाँ राजपूत कलम के चित्रकारों ने समस्त जन-जीवन को अपनी कला का विषय बनाया। मुगल शैली के चित्रों का विषय प्रायः राजउद्यान, राजपरिवार, राजदरबार और युद्ध आदि के दृश्यों का चित्रण करना था; किन्तु कल्पनाप्रचुर राजपूत शैली के चित्रों का विषय ग्रामीण जन-जीवन का चित्रण, काव्यमय प्रेमकथाओं, लोककथाओं और धार्मिक रीति-रिवाजों से मुख्यतया संबद्ध रहा है। वस्त्र बुनता हुआ जुलाहा, छपाई करता हुआ रंगसाज, जाड़े की रातों में अलाव के आसपास आग सेंकते हुए किसान और प्रेम-पत्र लिखती हुई कोई प्रेमिका—समाज के इन सभी क्षेत्रों पर राजपूत शैली के चित्रकारों की दृष्टि रही है। यह व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि मुगल शैली के चित्रकारों में नहीं दिखायी देती।

राजपूत कलाकारों ने लोक-जीवन की सुंदर भाव-भूमि को छोड़कर दरबारों के वैभवशाली वातावरण में लिप्त हो जाना आत्माभिमान के उपयुक्त नहीं समझा। उनके चित्रों में काव्यमयी कल्पना की अभिव्यक्तियों का बाहुल्य है। कृष्ण के लीलामय रूपों, आनंददायिनी ब्रजभूमि के सुंदर दृश्यों, रामानंद कबीर जैसे रहस्यवादी संतों की वैराग्यमयी वाणियों का समावेश राजपूत शैली की धार्मिक निष्ठा एवं उसकी सौंदर्यबोध की भावना के परिचायक हैं। उसका हर पहलू माधुर्य, अकृत्रिमता, आडंबर आदि से रहित और सादी तथा सनातन भावना से ओतःप्रोत है। नारीजीवन का श्रृंगार रूप, आमोद-प्रमोद रूप, मातामयी ममता और परसेवारति आदि अनेक रूपों को राजपूत कलाकारों ने बड़े ही आदर्शमय ढंग से अपने चित्रों में चित्रित किया है।

राजपूत शैली का रंग-विधान और अलंकरणसज्जा भी, मुगल शैली के राजसप्रधान घोर यथार्थवाद से सर्वथा मुक्त है। मारवाड़ी घाघरे की शोभा, सज्जा और संगीतम लहरियाँ आदि का चित्रण राजपूत शैली के चित्रकार का अतिप्रिय विषय रहा है। राजपूत कला-परंपरा की प्रकृति, मुगल कला की भाँति, सूक्ष्म चित्र अथवा प्रकाशमय हस्तलिपि दर्शित करना नहीं रहा है। मुगल चित्रकला फारसी हस्तलिपि के समान पूर्ण रूप से एक-एक रेखा की अनुकृति होती है, जब कि राजपूत कला में गति की स्वतंत्र तीव्रता और सहज रूढ़ियाँ होती हैं। राजपूत शैली का चित्रांकन मुगल शैली के चित्रांकनों से भिन्न, यहाँ तक कि जैन चित्रों की भाँति लिखावट के ढंग की न होकर, शिल्प के ढंग की होती है।

राजपूत शैली, मुगल शैली की भाँति एकमात्र दरबारों पर आश्रित न होकर उसके अस्तित्व की छाप स्वतंत्र रूप से है। मुगल शैली जहाँ छोटे-छोटे चित्रों के अंकन से आरंभ हुई, वहाँ राजपूत शैली का आरंभ भित्तिचित्रों के निर्माण से हुआ। मुगल शैली में कलम की बारीकी, रंगों का आकर्षण, परंपरा एवं पूर्वाग्रह की लीक और कुछ मामलों में प्रतिबंध भी था; किन्तु राजपूत शैली में आदर्शमय हिन्दू जीवन की पौराणिक परंपराओं के साथ-साथ सौंदर्य तथा शौर्य का भी समावेश था। राजपूत शैली में सौंदर्य और शौर्य की अवतारणा

उस युग के कलाकारों का व्यसन था। मुगल शैली में जहाँ मुगल-वैभव की अतिशयता एवं विलासमय जीवन की उद्दाम प्रवृत्तियों का चित्रण हैं, राजपूत शैली में वहाँ तुलसी, सूर और मीरा जैसे महान् संतों की वाणियों का प्रभाव और ऐहिक प्रेम-वर्णन में भी पारलौकिक प्रणय की छाप सर्वत्र व्याप्त है।

मुगल शैली के चित्रों में अंतःपुर का रूप-सौंदर्य और विलासपूर्ण जीवन का चित्रण, बादशाहों के आमोद-प्रमोद के लिए दासियों तथा बेगमों की भड़कीली पोशाकें एवं झीने वस्त्रों के भीतर उभरे हुए अंग-प्रत्यंगों का रूपांकन अधिकता से पाया जाता है। इसके विपरीत राजपूत शैली में राधा-कृष्ण तथा गोपियाँ-कृष्ण के रासविषयक चित्रों में आध्यात्मिक प्रेम-भावना या आत्म-भावना का प्राधान्य दर्शित है।

राजपूत चित्रकला की उत्पत्ति अजंता के टेम्परा चित्रों से हुई; और यद्यपि सोलहवीं शताब्दी की इस राजपूत कला के चित्रों में गजब का सौंदर्य समाहित है, फिर भी अपने पूर्ववर्ती हिन्दू चित्रों की कोटि में उनकी तुलना कुछ हीनत्व को प्रकट करती है।

तुलनात्मक दृष्टि से मुगल चित्रकला और राजपूत चित्रकला में पहिला अंतर तो विषय की दृष्टि से है। राजपूत कला में वैष्णव तथा शैव गाथाओं पर आधारित और विशेषतया कृष्ण संबंधी चित्रों की अधिकता है। **'रामायण', 'महाभारत'** और पौराणिक चित्र भी उसमें हैं, राग-रागनियों के जो रसभावपेशल चित्र हैं उनकी तुलना दूसरे चित्रों से नहीं की जा सकती। वैसे सामान्य जीवन से संबद्ध तथा पशु, पक्षी आदि के चित्रों की भी कमी नहीं है।

राजपूत चित्रकला की अपनी विशेषता यह है कि उसके चित्रों में चित्रकार का नाम नहीं मिलता; किन्तु मुगल चित्रों में चित्रकार का नाम लिखा हुआ मिलता है। राजपूत चित्रों में विषय, रंग या नाम सभी बातें देवनागरी लिपि में लिखे होते हैं। राजपूत शैली के चित्रों की निर्माणभूमि उत्तर भारत, राजस्थान, पंजाब और हिमाचल प्रदेश आदि तक विस्तृत था; जब कि मुगल कला की सीमायें बड़े-बड़े नगरों, विशेषतया आगरा, दिल्ली, लखनऊ और लाहौर तक ही बनी रहीं।

राजपूत चित्रों पर चीनी आदि विदेशी कला का प्रभाव साफ झलक आता है; किन्तु मुगल चित्रों में वह एकाकार हो गया है। राजपूत चित्रों का दृश्यपट सर्वथा भारतीय है। राजपूत चित्रों का आकार कुछ बड़ा भी होता है। वे दीवारों पर तथा कागदों पर अंकित होते हैं; किन्तु मुगल चित्र दीवारों पर अंकित हुए नहीं मिलते हैं। राजपूत चित्र कागद पर बने हुए सदा छोटे आकार के होते हैं।

फिर भी मुगल चित्रकला के संबंध में इतना अवश्य है कि उसने विदेशी प्रभाव को आत्मसात् करके, प्राचीन और नवीन, दोनों की परंपरा को जीवित रखा तथा भविष्य के लिए एक नये समुन्नत मार्ग का निर्माण किया, जो कि भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में नवीन प्रगति का द्योतक सिद्ध हुआ।

मुगल और राजपूत शैली के शिल्पविधान में सम्मिश्रण

मुगल-राजपूत शैली का बारीकी से तुलनात्मक समीक्षा करने पर, जहाँ उनमें मौलिक भिन्नताएँ दिखायी देती हैं, वहाँ उनके शिल्प-विधान में सम्मिश्रण के भाव भी लक्षित होते हैं। इस प्रकार के सम्मिश्रित चित्रों में रेखांकन और शिल्प-विधि पुरानी राजपूत शैली की है; किन्तु उसमें रंग-योजना, आभूषणों, पोशाकों, हथियारों, सामानों, बर्तनों और वास्तुकला आदि में मुगल शैली की सूक्ष्मता विद्यमान है। राजपूत शैली के कलाकारों ने मुगल शैली के चित्रों से प्रकाश और छाया के प्रभाव का भी अनुकरण किया है। इतना सब होने पर भी, मुगल शैली के सुंदर प्रभाव को आत्मसात् करने में राजपूत शैली के चित्रकारों के यत्न विफल ही रहे।

राजपूत शैली के चित्रकार वस्तुओं को लम्बाई-चौड़ाई के दो तलों में देखने के आदी रहे हैं। वे घनत्व, गहराई, विस्तार, परिप्रेक्ष्य, प्रकाश और वातावरण आदि का भव्य चित्रण करने में निष्फल रहे। अपनी कला के विकासकाल तक उनका दृष्टिकोण पुरानी परम्परा में ही बना रहा। अभिव्यक्ति की दृष्टि से राजपूत शैली में सर्वश्रेष्ठ चित्र अम्बर से आये, विशेषतः रागमालाओं और **'बिहारी सतसई'** के चित्र। जोधपुर के चित्रों में कोमलता की अतिशयता है। कर्णसिंह के राज्यकाल में निर्मित बीकानेर में जो वास्तविक मुगल-चित्र हैं उन्हें छोड़कर अन्य चित्र निर्बल और अस्पष्ट हैं। इसके विपरीत बीकानेर के अनूपसिंह (१६७४-१६७८) ने मुसलमान चित्रकारों को आश्रय दिया और अपने निजी संग्रह के पुराने लघु चित्रों तथा कांस्य-मूर्तियों का अध्ययन कराने के बाद उन्हें एक नयी राजपूत शैली का विकास करने का सुअवसर और प्रोत्साहन दिया।

मुगल और राजपूत शैली के चित्रों में सम्मिश्रण की शुरुआत अनूपसिंह के ही समय से हुई। इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप

'रसिकप्रिया' पर एक श्रेष्ठ चित्रमाला का निर्माण हुआ, जिसके कुछ चित्रों का सौंदर्य अनुपम है। जोधपुर शैली के सम्मिश्रित चित्रों के सम्बन्ध में यद्यपि अभी तक प्रमाणिक समीक्षा नहीं हुई है; फिर भी इतना निश्चित है कि सौन्दर्य की दृष्टि से उनका भी अपना महत्व है।

मुगल शैली पर राजपूत शैली का प्रभाव

भारत में मुगल सल्तनत का अस्तित्व कायम हो जाने के बाद भारतीय कला और साहित्य के परंपरागत प्रतिमानों के क्षेत्र में एक प्रबल परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस नवागत संस्कृति को पचा जाने या उसके आवरण में स्वयं को आच्छादित करने का विकल्प भारतीय कवियों, कलाकारों और ज्ञान-जीवियों के समक्ष एक प्रबल समस्या के रूप में सामने आया। विधर्मी शासन की सहसा ही इस प्रकार दुर्दिन की भाँति विपत्तियों के बादल अपने शिरों पर मँडराते जान भारतीय राजवंशों के सारे सुख-वैभव फीके पड़ गये। कला और साहित्य के प्रति उनकी सारी अभिरुचियाँ अलसा कर मुरझा गयी। कवियों के आश्रय छूटने लगे; कलाकारों की आशाएँ-अभिलाषाएँ क्षीण होने लगीं। भारतीय जन-जीवन में एक गहरी उदासी व्याप्त हो गयी।

किन्तु अपनी प्रजा की इन अनेकविध विषमताओं को एक साथ ही समा देने वाली अतलस्पर्शी योग्यता शाहंशाह बाबर के नीति-निपुण स्वभाव को सुप्राप्य थीं। उसके सामने भारतीय जनता की सारी तस्वीर खुली हुई पड़ी थी। उसे भली भाँति विदित था कि जनता के मन को जीतना, बड़े-बड़े साम्राज्यों को जीतने से कहीं अधिक दुष्कर है। इसलिए रजवाड़ों की ताकत को दबाये रखकर सबसे पहिले उसने अपनी धर्मनिरपेक्ष्य नीति को प्रजाजनों में फैलाया। उसने हिन्दुओं के भयभीत एवं आशंकित मनों से इस बात को दूर कर दिया कि वे किसी भी मामले में अपनी स्वतंत्रता को पहिले की तरह बरकरार रख सकते हैं। उसने इस बात पर भी बड़ा नियंत्रण रखा कि हिन्दू जनता के साथ सल्तनत की ओर से कोई अत्याचार न होने पावे।

इधर कवियों और कलाकारों को भी दरबार में सादर आमंत्रित किया जाने लगा। पहिले-पहिल यद्यपि दरबार में ईरानी कलाकार अपनी कलाकृतियों के निर्माण में व्यस्त थे; किन्तु कलाप्रेमी मुगल बादशाह भारतीय कला की खूबियों पर फिदा थे और इसलिए वे अधिक से अधिक हिन्दू चित्रकारों को प्रश्रय देना चाहते थे। धीरे-धीरे दरबार के विशाल कक्ष और कला-निकेतन भारतीय कलाकारों की विभिन्न दृष्टिकोणों से युक्त कला-कृतियों से जगमगाने लगे। इधर ईरानी शैली की सुंदर नक्काशी, सुघर अंतराल और सूक्ष्म रेखाओं के प्रभाव से हिन्दू चित्रकार भी अछूते न रह सके। फलस्वरूप भारतीय-ईरानी कला के इस सामासिक समझौते के कारण कला के क्षेत्र में एक अद्वितीय, अपूर्व एवं अद्भुत युग का सूत्रपात हुआ।

अकबरकालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव के आगे पूर्वागत राजपूत शैली का प्रचलन कुछ मंद पड़ गया था। इसका प्रभाव यह हुआ कि राजपूत शैली के चित्रकारों ने नये रूप-रंग देकर अपने कला-कौशल को चमकाना आरंभ किया। राजस्थान, गुजरात, ब्रज और बुंदेलखंड में यह भावना प्रबल रूप से सामने आने लगी। इस समय के बने रागमाला के चित्र उल्लेखनीय हैं।

मुगल दरबारों में राजपूत कलाकारों की भी कमी नहीं थी। अकबर के आश्रय में निर्मित **'रज्मनामा'** के चित्रों में राजस्थानी शैली के प्रायः सभी मौलिक तत्त्व अविकृत रूप से दर्शित हैं। मुगलकाल में निर्मित त्रिकोणाकार अंगरखियों के झूलते हुए पल्लों तथा उष्णीष की बनावट में राजस्थानी वेश-भूषा है। उस काल में निर्मित वृक्ष, लता, पक्षी, मुद्रा और एकचश्म आकृतियों में राजस्थानी बनावट प्रत्यक्ष हैं। मुगलकालीन कुछ चित्रों में भाव-प्रदर्शन जहाँ-जहाँ हस्त-मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित है, वहाँ-वहाँ राजपूत शैली का प्रभाव है। मुख मुद्राओं द्वारा भाव-प्रदर्शन की प्रणाली का सूत्रपात जहाँगीर के समय में प्रचलित हुआ, जो कि पश्चिम की कला का प्रभाव था।

मुगल शैली का महत्व

भारतीय चित्रकला के इतिहास में मुगल शैली का कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान है। उसके कारण नये संविधानों, नयी साज-सज्जाओं और नये भाव-विषयों का समावेश होकर भारतीय चित्रकला का सर्वांगीण विकास हुआ। इसके अतिरिक्त देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अभ्युन्नति की दिशा में भी संतोषजनक कार्य हुआ। कलाप्रेमी मुगल शाहंशाहों ने भारत की पुरातन कलाथाती की सुरक्षा की, भारतीय साहित्य की लोकप्रिय कृतियों का अनुवाद और उनके दृष्टान्त चित्र बनवाये। मुगलों की यह स्थायी देन भारतीय कला के इतिहास के लिए चिरस्मरणीय है।

मुगल शैली की ठोस एवं सुन्दर पृष्ठभूमि पर राजपूत शैली के संविधानों को लेकर पहाड़ी शैली और उसकी विभिन्न उपशाखाओं के जन्म के कारण भारतीय चित्रकला को एक नया आलोक मिला। पहाड़ी शैली को जीवनी तत्त्व राजपूत शैली से

मिले; किन्तु उसको संवैधानिक लोकप्रियता प्राप्त हुई मुगल शैली से। पहाड़ी शैली के निर्माण और उत्थान का श्रेय मुगल दरबार से निराश्रित कलाकारों को ही दिया जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला के निर्माण और विकास में मुगल शैली का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होता है कि मुगल शैली के परिवेश में मुगल सल्तनत का संपूर्ण इतिहास समाहित है। शाहंशाह बाबर से लेकर औरंगजेब के समय तक भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक उत्थान-पतन का वास्तविक स्वरूप तत्कालीन चित्रों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। मुगलकालीन भारत की तथ्यात्मक एवं प्रामाणिक जानकारी के लिए मुगल शैली ही एकमात्र साधन है।

इस दृष्टि से कदाचित् यह भी संभव जान पड़ता है कि अपने शासन की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता के लिए मुगल शाहंशाहों ने कला को एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। तत्कालीन इतिहास हमें बताता है कि शाहंशाहों के द्वारा कला का जितना ही संमान एवं संरक्षण होता गया, शासन को उतनी ही अधिक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती रही। इसके विपरीत कला के प्रति जितनी ही उदासीनता एवं उपेक्षा बरती गयी, शासन के लिए प्रजाप्रेम में उतनी ही शिथिलता होती गयी। यही कारण था कि बाबर, अकबर, जहाँगीर जैसे दूरदर्शी बादशाहों ने कला का हृदय से संमान किया और देश के कलाकारों को राजकीय संरक्षण देकर कला के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर यत्न किया।

यही कारण था कि मुगल शैली अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची और भारतीय चित्रकला के इतिहास में उसके द्वारा युगान्तर की प्रतिष्ठा हुई। मुगलकालीन शासन और समाज की सौन्दर्यप्रियता का ऐसा सुन्दर उदाहरण इतिहास में नहीं दिखायी देता।

★

काँगड़ा शैली

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

काँगड़ा घाटी की शांत, एकान्त प्रकृति से प्रेरणा प्राप्तकर वहाँ के कलाकारों ने जिन कृतियों का निर्माण किया उनका चिरस्थायी महत्व है। काँगड़ा घाटी के आरम्भिक इतिहास के बारे में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। वहाँ के सामाजिक जीवन में जब शासन व्यवस्था का आरंभ हुआ उस प्राचीन युग में वहाँ अनेक ठकुरातियाँ थीं, जो सामन्तों, राणाओं और ठाकुरों के बीच बँटी हुई थीं। वे अपनी सीमाओं को बढ़ाने के लिए तथा अपना बल-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से परस्पर लड़ा करते थे। कभी-कभी बाहर से आकर कोई शक्तिशाली क्षत्रिय राजा इन सामन्तों तथा ठाकुरों को पराजित करके उन्हें अपने अधीन कर लेता था और वे उसको कर दिया करते थे।

ठाकुरों और सामन्तों के अतिरिक्त काँगड़ा में जिन प्राचीन जातियों का वर्तमान होना पाया जाता है उनमें कनेत, गिरथ (गृहस्थ), बहती, चंग और गद्दी आदि का नाम उल्लेखनीय है। गद्दियों के अतिरिक्त अन्य जातियाँ कृषिजीवी थीं। गद्दी एक प्रकार से जिपसियों की भाँति घुमक्कड़ लोग थे। ये लोग भेड़-बकरियों का व्यवसाय करके अपना जीविकोपार्जन किया करते थे। ये गद्दी लोग बड़े सरल प्रकृति थे।

पश्चिमी हिमालय के लगभग २०–२२ राज्यों में काँगड़ा का प्रमुख स्थान रहा है। उसके उत्थान-पतन की लम्बी कहानी है। काँगड़ा के प्राचीनतम राजवंशों में कटोच राजवंश का नाम मिलता है। इस कटोच राज्य का मूल स्थान काँगड़ा था; किन्तु गुलेर, जसवन, सिबा और दातारपुर आदि इलाकों का भी वही शासक था। बाद में इन इलाकों ने स्वतन्त्र राज्यों के रूप में अपना विकास किया।

कटोच वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में **'ब्रह्माण्ड पुराण'** में कहा गया है कि देवताओं द्वारा दैत्यों का विनाश न होने पर देवताओं ने एक शक्तिशाली मानव की रचना की। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को आधी रात में भगवती देवी के पसीने की एक बूँद पृथ्वी पर गिर पड़ी, जिससे एक शक्तिशाली मानव का जन्म हुआ। इस मानव को भूमिचन्द्र के नाम से कहा गया। देवलोक के प्रसिद्ध गायनाचार्य पद्मकेतु ने अपनी पुत्री वसुमती का उसके साथ विवाह किया। भूमिचन्द्र ने दैत्यों का विनाश किया और पुरस्कार स्वरूप देवताओं ने उसको त्रिगर्त का राज्य प्रदान किया।

कनिंघम ने पश्चिमी हिमालय के जिन प्राचीन राज्यों को तीन समुदायों में विभक्त किया है, उसमें तीसरा त्रिगर्त संघ है। इस तीसरे संघ के अन्तर्गत कनिंघम ने काँगड़ा, गुलेर, चम्बा, सुकेत आदि १४ राज्यों की गणना की है। इन राज्यों में परस्पर युद्ध भी होते थे और विवाह संबन्ध भी। मुग़लों के भारत आने पर लगभग २०० वर्षों तक इन संघ राज्यों पर उनका शासन रहा।

आज जिसे हम जालन्धर के नाम से जानते हैं, प्राचीन काल में यही त्रिगर्त के नाम से प्रख्यात था, क्योंकि हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) के **'अभिधान चिन्तामणि'** नामक कोष-ग्रंथ में 'जालन्धर' और 'त्रिगर्त' का पर्यायवाची शब्द कहा गया है। कटोच राजाओं की राजधानी आरंभ में इसी त्रिगर्त या जालंधर में अवस्थित थी। काँगड़ा इसी के अन्तर्गत था और यहाँ भी कटोच की एक राजधानी थी।

दसवीं शताब्दी के अन्त में या ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में जब पंजाब पर मुहम्मद गज़नवी का भयंकर आक्रमण हुआ तो कटोच-राजवंश ने अपनी सुरक्षा के लिए नगरकोट (काँगड़ा) में आश्रय लिया, क्योंकि नगरकोट उस युग का सर्वाधिक सुदृढ़ स्थान था। किन्तु अन्त में काँगड़ा (नगरकोट) के किले पर भी गज़नवी का अधिकार हुआ और वह लगभग ३० वर्षों तक बना रहा। अन्त में दिल्ली के शासक पर्णभोज की सहायता से कटोच राजा ने चार मास के घमासान युद्ध के बाद गज़नवी के सामन्तों से काँगड़ा का किला छुड़ाकर अपने अधिकार में किया। बाद में भी काँगड़ा दुर्ग पर मुहम्मद तुग़लक, शेरशाह सूरी, जहाँगीर, रणजीत सिंह और गुर्खों के भयंकर आक्रमण होते रहे; और इस प्रकार उसके इतिहास की उदयास्त की लम्बी कहानी रही।

ऐसी स्थिति में काँगड़ा के इतिहास का क्रमबद्ध रूप नहीं मिलता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि काँगड़ा की शासन सत्ता लगभग ५०० शासकों को हस्तांतरित होती गयी। वे सभी शासक पौराणिक थे और इसीलिए कटोचवंश से पूर्व वहाँ के राजवंश का इतिहास सर्वथा विलुप्त है। काँगड़ा का यह कटोच राजवंश भारत के ही नहीं संसार के प्राचीनतम राजवंशों में गिना जाता है। काँगड़ा में इस कटोच राजवंश की स्थिति कई सौ वर्षों तक बनी रही। इस समय वहाँ राजा पृथ्वीचन्द्र का शासन था। काँगड़ा से उपलब्ध सिक्कों से ज्ञात

होता है कि पृथ्वीचन्द्र के बाद पूरनचंद (१३४५ ई०) और तदन्तर रूपचंद (१३६० ई०) ने गद्दी का सभाला। जब फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने नगरकोट (काँगड़ा) को स्वायत्त किया था तब यही रूपचंद गद्दी पर था। तदन्तर यह परम्परा संगरचंद–मेघचंद–करमचंद–संसारचंदप्रथम–सुमेरचंद–प्रयागचंद–रामचंद–धरमचंद–माणिकचंद–जयचंद–विधिचंद–त्रिलोकचंद–हरीचंद–चन्द्रभान–विजय रामचंद–उदयराजचंद–भीमचंद–आलमचंद–अभयचंद और गम्भीरचंद के बाद १७६१ ई० में घमंडचंद काँगड़ा की गद्दी पर बैठा।

राजा घमंडचंद बड़ा ही नीतिज्ञ शासक सिद्ध हुआ। उसने कटोच वंश की अस्त हुई समृद्धि को पुनरुज्जीवित किया। १७५८ ई० में उसको जालन्धर सूबे का सरदार बनाया गया था, किन्तु अपनी बुद्धिमत्ता और अपने पराक्रम से उसने धीरे-धीरे अपने पूर्वजों की अस्त हुई भाग्य लक्ष्मी को पुनः लौटाया।

राजा घमंडचंद महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। निर्माण-कार्यों की ओर भी उसकी अभिरुचि थी। उसके बनाये हुए रिआह और पथुआर के गगनचुम्बी दुर्ग इसके प्रमाण हैं। इससे अधिक उसके शासन की उल्लेखनीय बात कलाओं के संवर्द्धन और विशेष रूप से चित्रकला की अभ्युन्नति की दृष्टि से है। कदाचित् यही कारण था कि आगे चलकर उसके पौत्र राजा संसारचंद ने इस दिशा में इतना महान् कार्य किया, जिसको बड़े सम्मान के साथ इतिहास में स्मरण किया जाता है। राजा घमंडचंद के बाद उसका पुत्र तेगचंद गद्दी पर बैठा, किन्तु कुछ ही महीनों में उसका स्वर्गवास हो गया था। उसके तीन पुत्र थे, जिसमें संसारचंद सबसे बड़ा था।

राजा घमंडचंद के १२ वर्ष राज्य करने के बाद काँगड़ा के शासन की बागडोर उसके पोते राजा संसारचंद के हाथ में आ गयी। उसका जन्म जनवरी १७६५ ई० में हुआ था और जब उसके पिता की मृत्यु हुई तो उसकी उम्र कुल १० वर्ष की थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही था कि राजगद्दी तक पहुँचने के लिए संसारचंद को बड़े संघर्ष करने पड़ते। उसने कई वर्षों के भयंकर युद्ध और रक्तपात के बाद काँगड़ा के दुर्ग पर अपना अधिकार किया और उसके बाद लगभग २० वर्षों तक वहाँ का शासन किया। उसके अधीन लगभग २२ पहाड़ी राजा थे। इनमें से अधिकतर राज्यों को संसारचंद ने मुग़लों के अधिकार से मुक्त किया था।

१९वीं शताब्दी के आरंभ में समस्त पहाड़ी राज्यों को एक भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा। वह विपत्ति थी गुरखों का आक्रमण। गुरखों के इन अनेक बार के हमलों से पहाड़ी राज्यों में अपार जन-जीवन की हानि हुई; किन्तु इससे बढ़कर भी गुरखा आक्रमणों द्वारा इन प्रदेशों के मंदिरों, मूर्तियों और कला की दिशाओं में जो ध्वंसलीला हुई, वह अपूरणीय थी।

काँगड़ा पर यह विपत्ति १८०६ ई० से १८०९ ई०, चार वर्ष तक रही। नेपाल के राजा का आदेश प्राप्त करके अमरसिंह थापा गढ़वाल और कुमायूँ को ध्वस्त करते हुए सुकेत मंडी होता हुआ काँगड़ा पहुँचा। उसने गुलेर, नूरपुर, चम्बा, सुकेत, केटलेहर, जसवन आदि राज्यों के राजाओं को अपने साथ मिला दिया। लगभग २ वर्षों तक घमासान युद्ध होता रहा; किन्तु राजा संसारचंद ने पराजय स्वीकार नहीं की। अन्त में १९०९ ई० में संसारचंद ने महाराजा रणजीतसिंह को सहायता के लिए बुलाया और तब उसके मुकाबले में असमर्थ अमरसिंह थापा ने संधि कर ली और सतलज को सीमारेखा निर्धारित कर वहाँ से लौट आया।

किन्तु काँगड़ा की शासनसत्ता महाराजा रणजीतसिंह के हाथों में चली गयी और काँगड़ा राज्य के अतिरिक्त जालन्धर दोआब के बाकी राज्य भी सिक्खों के आधिपत्य में आ गये। महाराजा संसारचंद के ये बुरे दिन तीरा-सुजानपुर में बीते। साल भर में एक दिन उन्हें लाहौर-दरबार में उपस्थित होना पड़ता था, जो उनके लिए बड़ी अपमान की बात थी। किन्तु ऐसा करने के अलावा कोई चारा नहीं था। उन्होंने १८२३ ई० में अपना शरीर छोड़ा।

संसारचंद का कलाप्रेम

कटोच राजवंश की कीर्ति को उच्च शिखर पर पहुँचाने वाले महाराज संसारचंद का नाम इतिहास में अमर है। वह महान् योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ और प्रजा का वास्तविक स्वामी था। उसके यशस्वी जीवन को अमर बनाये रखने वाला उसका कलाप्रेम उल्लेखनीय है। उसके दरबार में चित्रकारों का जमघट लगा रहता था। चित्रकार प्रतिदिन अपने चित्र बनाकर संसारचंद को दिखाते थे और वह उनका निरीक्षण करता तथा उन्हें परामर्श देता था। दूर-दूर से चित्रकार ही नहीं, बल्कि नट और कथाकार भी उसके दरबार में जाते थे और यथोचित सम्मान पाकर लौटते थे। उस जमाने का वह हातिम और दानशीलता में रुस्तम कहा जाता था। नगौद दुर्ग के निकट नर्मदेश्वर मंदिर का निर्माण महाराज संसारचंद की महारानी के कलाप्रेम का साक्षी है। इस मंदिर की सारी दीवारें चित्रित हैं। इन भित्तिचित्रों में काँगड़ा कला के लघु चित्रों का इतिहास सुरक्षित है।

संसारचंद के उत्तराधिकारी

संसारचंद के बाद उसका पुत्र अनिरुद्धसिंह गद्दी पर बैठा। कुछ वर्षों तक महाराज रणजीतसिंह के साथ उसके अच्छे संबन्ध रहे; किन्तु जम्मू के राजा ध्यानसिंह के पुत्र के साथ अनिरुद्धसिंह की बहन की शादी की बात को लेकर दोनों में बड़ा विवाद हो गया। यहाँ तक नौबत आयी कि अनिरुद्धसिंह अपनी माता और दोनों अविवाहित बहिनों को साथ लेकर रातों-रात सतलज पार करके अंग्रेजों के राज्य में चले गये। बाद में इन्होंने अपनी इन दोनों बहिनों का विवाह टिहरी गढ़वाल के राजा के साथ कर दिया और स्वयं शिमला के निकट अर्की में रहने लगा। तीन-चार वर्ष बाद अनिरुद्धसिंह की भी मृत्यु हो गयी। रणवीरचंद और प्रबुद्धचंद, उनके दो लड़के थे, जो १८३३ ई० में ब्रिटिश सरकार से अनुरोध करने पर ५०,००० रुपये की जागीर प्राप्त करके जीविकोपार्जन करते रहे। तदन्तर ९ मार्च १८४६ ई० को प्रथम सिख युद्ध के समय अंग्रेजों ने पंजाबकेशरी महाराज रणजीतसिंह से काँगड़ा राज्य को हस्तगत कर लिया; और इस प्रकार काँगड़ा से कटोच वंश सदा के लिए समाप्त हो गया।

काँगड़ा शैली

भारतीय चित्रकला के इतिहास में मध्य युग का विशिष्ट स्थान है। इस युग की कलात्मक देन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में मुगल चित्रों, द्वितीय भाग में राजस्थानी चित्रों और तृतीय भाग में पहाड़ी शैली के चित्रों को रखा जा सकता है। मुगल और राजस्थानी शैली के चित्रों पर यथास्थान प्रकाश डाला गया है। पहाड़ी शैली की जो अनेक शाखाएँ आज हमारे संमुख विद्यमान हैं उनमें काँगड़ा कलम का नाम उल्लेखनीय है।

काँगड़ा की इस कलात्मक थाती ने ही विभिन्न रूपों में विकसित होकर प्रभावशाली पहाड़ी शैलियों को जन्म दिया; और अपनी समन्वयात्मक प्रकृति के कारण अंत तक उसने अपनी उन सहयोगी शैलियों के साथ अपना अटूट संबन्ध बनाये रखा। भारतीय चित्रकला के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना है कि लगभग एक ही समय में उद्भूत पहाड़ी शैली की विभिन्न शाखाओं ने, अपने भौगोलिक वातावरण की असमान परिस्थितियों को ग्रहण कर, पारस्परिक सहयोग-सद्भाव के बीच अपने-अपने परम्परागत स्वत्वों को समान रूप से उन्नत बनाये रखा; और यद्यपि आज जम्मू, गढ़वाल, पठानकोट, कुल्लू, चम्बा, बसौली, काँगड़ा, गुलेर और मंडी आदि के विभिन्न पर्वतीय प्रान्तरों की जितनी भी चित्र-शैलियाँ हमारे समक्ष विद्यमान हैं, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं उनके संवर्द्धन की असमान परिस्थितियाँ रही हैं, फिर भी वे इस प्रकार संयुक्त हैं कि उनमें से किसी एक का अध्ययन करने के लिए हमें अनिवार्यतः उन सब के इतिहास का एक साथ अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

पहाड़ी चित्रशैली के प्रसंग में आज हम जिस काँगड़ा कलम से परिचित हैं, उसका जन्म यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ही हो चुका था; फिर भी इस शताब्दी के तृतीय पाद तक के समय की हमारे पास आज ऐसी कोई भी कलाकृति सुरक्षित नहीं है, जिसके आधार पर हम काँगड़ा कलम के तत्कालीन स्वरूप की समीक्षा कर सकें। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में पंजाब का पर्वतीय प्रांतर काँगड़ा भारतीय चित्रकला का महत्वपूर्ण केंद्र प्रसिद्ध हो चुका था।

भारतीय चित्रकला के मर्मज्ञ विद्वान् डब्ल्यू० जी० आर्चर महोदय ने काँगड़ा कला की आरंभिक कला-कृतियों को पश्चिम से प्रभावित माना है। काँगड़ा-कलम की इन कृतियों में ताल-सुर-सम्बन्धी रेखाएँ, उसकी सामान्य प्राकृतिक सुषमा, उसके नारी-आकारों का चित्रण, उसकी कल्पित कहानी का आधार—ये सभी बातें पश्चिम की कला और कविता के अनुरूप सिद्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त बल्जियन के वर्तमान कलाकार पाल डेल्वेक्स की कलाकृतियों में काँगड़ा-कलम की अद्भुत समानता बतायी गयी है। डेल्वेक्स की कला में प्रणयाविभूत नारी की प्रेम-विह्वलता को प्रकट करने वाले शिष्ट सेक्चुअल संकेत, उसकी तीव्र इच्छाओं का निदर्शन, बादल, पेड़, फूल आदि को पृष्ठ भूमि द्वारा प्रकट किया गया है। आंतरिक मनोभावों को दर्शित करने के लिए काँगड़ा के कलाकारों ने अपनी कृतियों की पृष्ठभूमि में जिस कवितामय वातावरण की सृष्टि की है, डेल्वेक्स की कृतियों में भी ठीक वही भावना समाहित है।

इन सभी बातों के बावजूद काँगड़ा चित्रशैली की अपनी विशिष्ट परंपरा रही है। आज जिस रूप में उसकी स्थिति हमारे समक्ष विद्यमान है उसको देखते हुए कदाचित् ही यह बात सही उतरती हो कि काँगड़ा के उन महान् कलाकारों ने अपनी कृतियों के लिए पश्चिम का ऋण स्वीकार किया हो।

काँगड़ा कलम का उदय

काँगड़ा चित्रशैली से हमारा परिचय लगभग १७८० ई० से होता है। इस शैली का उदय अकस्मात् ही ऐसी स्थिति में हुआ, जब कि प्रांत भर में तब तक चित्रकला का कोई भी अच्छा स्कूल नहीं था। १७५१–१७७४ ई० तक काँगड़ा के शासक राजा घमंडचंद की राज्यस्थिति काफी उन्नत दशा को पहुँच चुकी थी। कला के प्रति उसका कुछ भी अनुराग नहीं था। उसके समय के लगभग चार चित्र उपलब्ध हैं। ये चित्र भी, सिखों द्वारा प्रचलित उत्तरी क्षेत्र की चित्रकला के अपूर्ण अनूदित नमूने हैं। इन चित्रों की कुरूप एवं आभाहीन अनुकृतियों और काँगड़ा की लालित्यपूर्ण सरस चित्रकारी में सर्वथा असमानता है; और ये चित्र चाहे जहाँ बनाये गये हों, एवं उनमें भले ही जो भी विशेषता रही हो; किन्तु इतना निश्चित है कि काँगड़ा कलम की भावी उन्नत परंपरा के निर्माण में उनका कुछ भी योग नहीं रहा।

१७७५ ई० में अकस्मात् ही ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण इस दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। पहला परिवर्त्तन तो यह हुआ कि काँगड़ा की राजगद्दी पर एक ऐसा शासक प्रतिष्ठित हुआ, जो कि अपने अच्छे कार्यों के कारण अपनी परंपरा में अद्वितीय शासक सिद्ध हुआ। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि समीप की रियासत से नौकरी की अभिलाषा लिए उच्चकोटि के कलाकार काँगड़ा दरबार की शरण में आये। एक गुणग्राही एवं कलाप्रेमी शासक का काँगड़ा की राजगद्दी पर प्रतिष्ठित होना और इसी समय राज्याश्रय की अपेक्षा में उच्च कलाकारों का वहाँ उपस्थित होना, इन दोनों बातों का एक साथ संयोग होने के कारण काँगड़ा शैली के भावी निर्माण के लिए अच्छी भावभूमि तैयार हुई। ये दोनों बातें यदि एक ही समय में घटित न हुई होतीं तो संभव था कि काँगड़ा शैली की तत्कालीन शुभंकर स्थिति के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती।

काँगड़ा की चित्रशैली की उद्भावना के मूल में एक तीसरा भी कारण विद्यमान था; और वह था वहाँ का अनुकूल पर्वतीय वातावरण। इस संबंध में यह कहना ज़रा भी अनुचित न होगा कि जिस भव्य कला का जन्म काँगड़ा में हुआ उसका श्रेय वहाँ के पर्वतीय प्रांतर को ही दिया जा सकता है। काँगड़ा की चित्रकला निश्चित रूप से पहाड़ों में ही उग सकती थी; क्योंकि उसके मूल में भी एक रहस्य था।

राजपूती परंपरा का आदर्शवादी रिक्थ

काँगड़ा चित्रशैली में नारी-जीवन की अभिव्यक्ति और उसकी धार्मिक पृष्ठभूमि में राजपूत-परंपरा का रिक्थ विद्यमान था। समग्र राजस्थान में मुगल प्रभाव ही व्याप्त था; और जब कि कुछ स्वदेशी शैलियाँ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर रही थीं तो उनमें सर्वत्र ही उस विशिष्ट गुण का अभाव था, जो कि काँगड़ा की चित्रकारी में दूर से ही पहचाना जा सकता था। उसका वह गुण था उसकी उन्नत आदर्शवादिता।

काँगड़ा कलम की इस उन्नत आदर्शवादिता को हम इस आधार पर अलग करके पहचान सकते हैं कि समस्त भारत में पंजाब का पर्वतीय भू-भाग ही एक ऐसा प्रांत था, जहाँ कि राजपूती संस्कृति को अधिक स्वतंत्रता से भोगने का सुयोग मिला। संभवतः यही कारण था कि काँगड़ा के कलाकारों ने दरबारी-जीवन के मूल विचारों को व्यक्त करने में अधिक निपुणता और सच्चाई को दर्शाया। इसीलिए यह संभव हो सका क्योंकि चिर आकांक्षित कला-साधकों को कला के परम अनुरागी संरक्षकों का अनुकूल आश्रय प्राप्त हुआ; और दोनों की भावनाओं से प्रेरित काँगड़ा की चित्रकारी को उन्नत स्थान प्राप्त होने का संयोग मिला।

गुलेर और बसौली का योगदान

काँगड़ा की चित्रशैली को जीवन, गति और व्याप्ति प्रदान करने में गुलेर और बसौली के कलाकारों का बड़ा योग रहा है। वे सभी कलाकार, जिन्होंने काँगड़ा-कला को जीवनी तत्त्व प्रदान कर अपनी अपूर्व कला-कुशलता का परिचय दिया, गुलेर की छोटी-सी रियासत से सम्बन्धित थे। उसकी स्थापना काँगड़ा की एक उपशाखा के रूप में हुई थी और काँगड़ा घाटी के सुदूर दक्षिण में स्थित होने के कारण पंजाब के सुदूर मैदानी भागों तक सुगमता से पहुँच सकने में समर्थ थी; किन्तु ऐसा हुआ नहीं। यह कार्य बसौली की छोटी-सी रियासत से आये हुए कलाकारों के माध्यम से संपन्न हुआ। इन बसौली के कलाकारों ने काँगड़ा की स्थानीय शैली को फैलाया और उसमें लोकप्रिय तत्त्वों का समावेश किया।

राजा कृपाल पाल के कुछ वर्ष पूर्व से पंजाब की पहाड़ियों में चित्रकला की अत्यंत समृद्ध शैली बसौली स्कूल का प्रभुत्व था। उस

युग में बसौली शैली अपनी उत्कट तीव्रता के लिए विख्यात थी। इस शैली की विशेषता उसके उत्कट तीव्र रंगों, अतिशयोक्तिपूर्ण ऐंठनों और एक प्रकार की विनीत, किन्तु, अशिष्ट सजावटों में देखा जा सकता है।

लगभग १७०० ई० के आस-पास बसौली के कलाकारों का धीरे-धीरे विकेंद्रित होना आरंभ हो गया था। इस विकेंदीकरण का प्रभाव जम्मू, बन्दरलटा और चम्बा की उत्तरी रियासतों पर एक साथ लक्षित हुआ; बल्कि गुलेर रियासत का दक्षिणी हिस्सा भी इस परिवर्त्तन का लक्ष्य हुआ।

गुलेर की उन्नत सुख-समृद्धि का परिचय हमें राजा दलीपसिंह (१६४५–१७३० ई०) के शासनकाल में मिलता है। इसी समय चित्रकला की एक नयी शैली का जन्म हुआ, जो कि बसौली शैली के अधिक निकट थी। इस शैली के कलाकारों ने बहुधा अपने चित्रों की पृष्ठभूमि के लिए चौरस लाल मैदानों के दृश्य अंकित किये हैं। यह स्थिति राजा गोवर्द्धन के शासनकाल (१७३०–१७७३ ई०) की है, जिस समय की बनी हुई कुछ कृतियों में वे भिन्नताएँ दिखायी देती हैं, जो बसौली की चित्रकला में नहीं हैं।

१७४० ई० के लगभग मुगल शैली के एक निपुण कलाकार ने मैदानी प्रदेश से आकर गुलेर के दरबार में आश्रय प्राप्त किया। उसकी शैली शाहंशाह अकबर के युग की प्रसिद्ध मुगल शैली से सर्वथा भिन्न थी। इस शैली में अकबर के राज्यकाल के अंतिम दिनों में सुरभित 'प्रवहमान प्राकृतिक-सज्जा' की अविकल समानता विद्यमान थी। उसके चित्रांकन के तौर-तरीके कलाकार पं० नैनसुख के चित्रों से सर्वथा मिलते-जुलते थे। यह नैनसुख पहाड़ी और मुगल शैली का विख्यात कलाकार था, जो कि जम्मू राजघराने के राजा बलवन्तसिंह के यहां चित्रकारी करता रहा। इन दोनों कलाकारों के चित्रांकन में इतना सामीप्य था कि विश्वास होता है कि या तो नैनसुख ने गुलेर में रहकर चित्र बनाये थे, या तो बहुत संभव है कि उसके कला-निपुण पूर्वज गुलेर दरबार में रह चुके थे।

इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप हमें १७४०–१७७० ई० तक गुलेर की चित्रकला में, एक साथ, दो विधियों की ऐसी कला कृतियों के दर्शन होते हैं, जो एक-दूसरी से बहुत ही प्रभावित हैं; किन्तु जिनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व तथा जिनके अपने अलग-अलग उद्देश्य थे। गुलेर की इस संमिश्रित चित्रशैली में मुगल कला का भी प्रभाव है। यह प्रभाव उसके बाहरी स्वरूप तक ही सीमित है, जो कि चित्रों की साज-सज्जा और राजा तथा उसके दरबारियों की अनेकविध स्थितियों की व्याख्या मात्र करता है। कुछ धार्मिक विषयों की अभिव्यक्ति के लिए भी उसका आश्रय लिया गया है।

इन चित्रों का वह भाग, जो गुलेर से सम्बन्धित है, अपनी कुछ अलग विशेषतायें रखता है। उदाहरण के लिए गुलेर की कला में सर्वत्र ही वर्ण्य-विषय की विशेष परिस्थिति को सदा ही ध्यान में रखा गया है। मुद्राओं के अंकन और तीव्र अनुराग की अभिव्यक्ति का भी ध्यान रखा गया है। व्यक्ति-चित्रों की अभिव्यक्ति में आकृति की स्पष्टता, रेखाओं की गतिमत्ता और रंगों का सरलीकरण, सभी के सहयोग से चित्रों में एक भव्य प्राकृतिक भाव दर्शित है।

इन चित्रों का दूसरा भाग, जिनका निर्माण बसौली की शैली को लेकर हुआ है, उनकी भाव-भूमि शांत वातावरण से पूरित है। उनमें दर्शित कलापूर्ण यत्न प्रशंसनीय हैं। उनकी चौरस पृष्ठभूमि या तो लाल रंग से या तो लाल, नीला तथा सफेद रंगों के संमिश्रण से निर्मित है। इसी प्रकार जो चित्र आकस्मिक रूप से बनाये गये हैं, उनमें और जो चित्र स्थायी रूप से बनाये गये हैं, उनमें स्पष्ट अंतर झलकता है।

उक्त दोनों प्रकार की गुलेर कलम में नारी-विषयक सभी चित्र सुंदर हैं। उनके ताल-स्वर-संबन्धी भाव, हिलने-डुलने की गतिमत्ता और प्रसन्नचित्त मुख-मुद्रा, सभी में स्वाभाविक आकर्षण है। नर-नारी के सेक्स संबंधी चित्रों की भी उसमें अधिकता रही है।

१७७३ ई० में राजा गोवर्द्धनसिंह स्वर्गवासी हुए। तब तक गुलेर कलम के कलाकार अपनी कृतियों के लिए भिन्न-भिन्न भौतिक तरीकों को प्रयोग में ला रहे थे। अभी तक कोई भी ऐसे प्रामाणिक तथा अधिकारपूर्ण तरीके प्रकाश में नहीं आये थे, जिनका सामूहिक रूप से स्वागत किया गया हो। पारस्परिक स्पर्धा को उभाड़ने वाले चित्रों के क्षेत्र में भी तब तक कोई कमी नहीं आयी थी। इसी समय कुछ महत्व के कार्य भी हुए, जिनके परिणामस्वरूप कला के लिए एक शानदार एवं सफल मंच का निर्माण हो रहा था। इसी समय काँगड़ा में एक प्रभावशाली शासक का उदय हुआ।

संसारचंद का आश्रय

इस प्रभावशाली शासक का नाम था राजा संसारचंद। राजा संसारचंद तब तक केवल दस वर्ष का ही था कि वह अपने दादा राजा घमंडचंद की राजगद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त हो चुका था। उसका शासन-काल १७७५–१८२३ ई० तक रहा। अपने दादा

के विश्रुत पराक्रम और अपूर्व साहस की राह पर चलकर थोड़े ही समय में दूसरी रियासतों पर भी उसके बल-विक्रम की धाक जम गयी। अपनी ख्याति और प्रभाव के लिए उसने कुछ निर्दयी तरीकों को भी अपनाया। काँगड़ा की राजगद्दी की शान-शौकत को उसने पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। एक नवयुवक शासक को एक साथ सुगमता से इतनी सफलताएँ प्राप्त हो जाने पर यह भी संभव था कि वह अपने दादा घमंडचंद का अनुकरण कर शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकता था; किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उसकी रुचि और उसके विचार के तरीकों में असाधारणता थी। शासन की सर्व-संपन्नता तथा सुखोपयोग करना मात्र ही उसका उद्देश्य नहीं था; बल्कि कला के प्रति उसका स्वाभाविक अनुराग और कलाकार के लिए उसकी हार्दिक निष्ठा थी।

किशोरावस्था में ही वह कला के प्रति आसक्त हुआ जान पड़ता है। जब उसकी अवस्था १२, १३ वर्ष की थी तो वह चित्रकारों के कार्य का निरीक्षण और उनकी कला-कृतियों के सम्बंध में तर्क-वितर्क करने लग गया था। उसके असाधारण व्यक्तित्व की ये बातें काँगड़ा की तत्कालीन कला-कृतियों में चित्रित होकर इस सारी कहानी को आज हमारे समक्ष उद्घाटित करती हैं। अपनी कला-प्रिय अभिरुचि के कारण उसके सुयश की उज्ज्वल कथा दूर-दूर तक विस्तारित हुई। सन् १८२० ई० के सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् मूरक्राफ्ट का कथन था कि 'राजा संसारचंद के दरबार में तब भी अनेक कलाकार निरन्तर कला का सृजन कर रहे थे। चित्रों का उसे बड़ा शौक था और परिणामस्वरूप उसके पास महत्वपूर्ण कला-कृतियों का वृहत् संग्रह सुरक्षित था।'

मूरक्राफ्ट आगे लिखता है कि 'राजा संसारचंद के अंदर यदि धर्म और संस्कृति के लिए जन्मजात अभिरुचि न होती तो चित्रकला की जिस महान् थाती को वह सुरक्षित रख सका और उसकी समृद्धि को आगे बढ़ा सका, कदाचित् ऐसा न हुआ होता। उसका जीवन बड़ा ही नियमित था। प्रातःकाल वह संध्या-वंदना, पूजा-अर्चना में व्यतीत करता और सायंकाल वह नियमित रूप से गायन तथा नृत्य का भी आनन्द लेता। इस नृत्य-गायन में वह श्रीकृष्ण की रासलीलाओं और ब्रजभाषा के पद्यों का प्रयोग कराता। श्रीकृष्ण का वह अनन्योपासक था और उसकी यह कृष्णभक्ति उसके जीवन की महत्वपूर्ण यादगार है।'

उसका जीवन राजपूती संस्कारों से ओतःप्रोत था, जहाँ कि उसने जन्म लिया था। राजपूती परम्परा के अनुसार स्त्रियों को एकान्त में रखा जाता था। उनको बड़ी पवित्र एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता था। प्रेम-सम्बन्ध या तो पत्नी के साथ होता था या तो उसके लिए वेश्याएँ नियुक्त होती थीं। चरित्र-सम्बन्धी दोषों पर बड़ी निगरानी थी। राजपूती संस्कृति में कृष्ण विषयक कविताओं और वैष्णव धर्म की अधिकता थी। ब्रजमंडल में श्रीकृष्ण की गोप-बालाओं के साथ की गयी लीलायें राजपूती सच्चरित्रता के अनुरूप नहीं थीं; किन्तु ये सभी बातें धर्म की दृष्टि से ग्रहण की जाती थीं। राधा को आत्मा को प्रतिनिधि शक्ति मान लिया जाता था; और इस प्रकार कट्टरपंथी राजपूत समाज में कथा के उक्त चारित्रिक पतन को काल्पनिक मान कर संतोष प्राप्त कर लिया जाता था।

राजा संसारचंद ने उक्त धर्म-संप्रदाय की बातों को विशेष रूप से ग्रहण किया था। स्त्री-पुरुष-संबन्धी उसकी प्रेम-भावना का रहस्य उसके कलाप्रिय स्वभाव में एक आश्चर्यमय तरीके से प्रकट हुआ था। कृष्ण भक्ति के प्रति जैसा उसका विश्वास था, प्रणय के सम्बन्ध में उसकी रुचि, अपने विश्वास से, सर्वथा भिन्न थी। कुछ ऐसे चित्र, जो कल्पित कथाओं के आधार पर निर्मित हैं, उनमें उसकी भक्ति-भावना और मानवीय प्रेम-भावना की समीक्षा सुगमता से की जा सकती है।

उसका ज्ञान और उसकी अभिरुचि केवल कला और कविता के ही क्षेत्र में प्रकट नहीं होती; बल्कि कुछ प्रेम-संबन्धी कल्पित कथाओं के आधार पर निर्मित चित्रों में भी उसके अंतःकरण के विश्वास प्रकट होते हैं।

जब संसारचंद काँगड़ा की गद्दी पर आसीन हुआ था तो काँगड़ा की चित्रकला में उसके जीवन की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ; कला के प्रति शौक और कृष्ण के प्रति अभिरुचि, प्रत्यक्ष प्रकाश में आयीं। उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से यह विदित नहीं होता कि देश के निपुण कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसने क्या तरीके अपनाये; किन्तु गुलेर के राजा गोवर्द्धनसिंह की मृत्यु (१७७३ ई०) के कारण वहाँ की राजगद्दी से जो एक विख्यात संरक्षक का अस्त हो जाना था, उससे निश्चित ही वहाँ के आश्रित कलाकारों को आजीविका के लिए किसी अच्छे संरक्षक की शरण में जाने के लिए विवश किया होगा। १७७० ई० के लगभग एक गुलेर का चित्रकार नैनसुख रियासत के उत्तरी भाग में चला गया प्रतीत होता है। इसी समय दूसरे गुलेर-चित्रकार टेहरी गढ़वाल की ओर प्रस्थान कर चुके थे, जहाँ पहुँचकर उन्होंने सौन्दर्य और प्रणय की ऐसी आकर्षक शैली को जन्म दिया, जिसकी तुलना केवल काँगड़ा की कृतियों से ही की जा सकती है।

इस प्रकार की परिस्थितियों के बीच गोवर्द्धनसिंह की मृत्यु के कारण निश्चित ही गुलेर के चित्रकार, उस समय के प्रभावशाली शासक, संसारचंद के आश्रय में काँगड़ा आये होंगे। यह बात उस दशा में और भी सही प्रमाणित सिद्ध होती है कि संसारचंद स्वयं कला के प्रति बड़ा ही अनुरक्त था और अच्छे कलाकारों को प्राप्त करने में वह निरन्तर उद्योगशील रहता था।

काँगड़ा शैली के कलाकार

जिन महान् कलाकारों ने काँगड़ा शैली को जन्म दिया था, उनमें से अधिकांश की कीर्ति-कथा विस्मृति के गर्भ में सदा के लिए खो गयी। उसे प्रामाणिक रूप से दो कलाकारों से ही हमारा परिचय हो सका है, जिनके नाम थे : फत्तू और कुशनलाल। इस परम्परा में एक तीसरे कलाकार नैनसुख का भतीजा कुशला का नाम भी देखने को मिलता है; किन्तु कार्ल खांडेलवाल के मतानुसार वह कुशनलाल ही था। काँगड़ा के अन्य कलाकारों की हस्ताक्षर-अंकित कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है; किन्तु उनकी कृतियों की समीक्षा करने पर स्पष्ट रूप से उनके विभिन्न रचयिताओं की बात अनायास ही समझ में आ जाती है। बसिया और पुरखू नामक दो चित्रकारों का इतिहासकारों ने जिक्र किया है। पुरखू इनमें सर्वाधिक निपुण कलाकार था। बेडन पावेल ने उसको राजा संसारचन्द के दरबार का चित्रकार बताया है और उसके हाथ की सफाई तथा कोमलता की प्रशंसा की है। राजा संसारचन्द के दरबार में रहने वाले बसिया नामक कलाकार के प्रपौत्र लक्ष्मणदास से फ्रेंक महोदय ने समलोटी में मुलाकात की थी। इनके अतिरिक्त काँगड़ा शैली के निपुण दो चित्रकारों के नाम का पता लगा है पन्नू और दोखू। इन्हें भी संसारचंद का दरबारी बताया जाता है।

हाल ही में काँगड़ा शैली के एक चित्रकार का पता लगा है, जिसका नाम है गुलाबराम और जो काँगड़ा जिला के समलोटी नामक गांव का रहने वाला है। वह आज भी अपने परम्परागत व्यवसाय को करता है। उसके पूर्वज राजा संसारचन्द के दरबार में रहा करते थे और उनकी बनायी हुई अनेक अधूरी कृतियाँ भी गुलाबराम के पास है। उसने अपने पूर्वजों की जो वंशावली दी है वह इस प्रकार है :
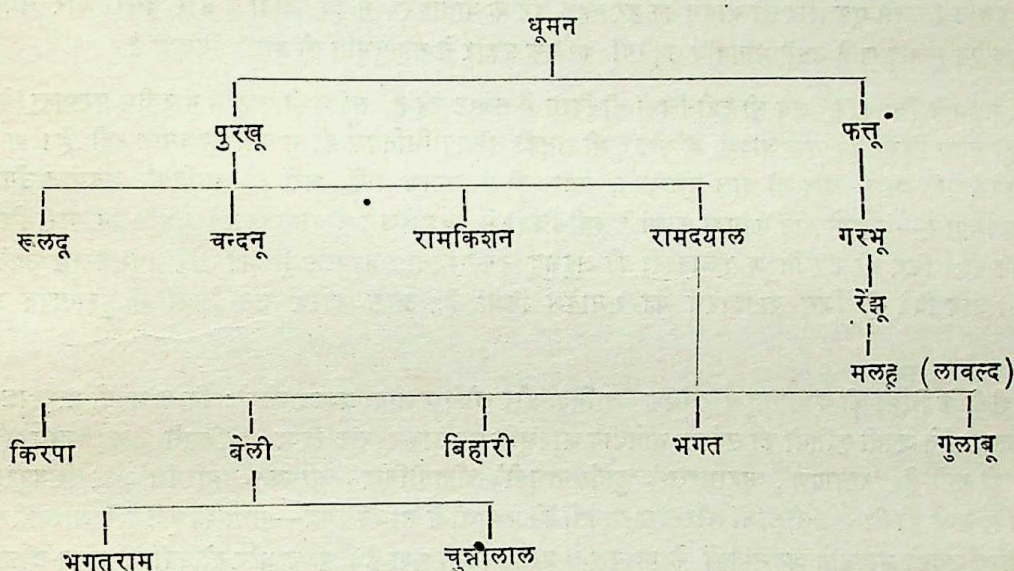
पुरखू के पिता धूमन को गुलेर का मूल निवासी बताया जाता है, जो बाद में काँगड़ा के समलोटी गाँव में आकर बस गया था; और जिसके वंशज आज भी वहाँ अपने परम्परागत व्यवसाय को जीवित रखे हुये हैं।

काँगड़ा शैली के जिन चित्रकारों का परिचय हमें आज उपलब्ध होता है, उनमें से अधिकांश मुगलों के दरबार में थे। मुगल सुल्तान के अंतिम दिनों में, जब कि वहाँ का शासनतंत्र अस्त-व्यस्त हो चुका था और कलाकार विकेन्द्रित होने लगे थे, उस समय अधिकांश कलाकार गुलेर चले आये थे, जो कि उन दिनों चित्रकला का समृद्ध क्षेत्र माना जाता था। काँगड़ा की शासन सत्ता जब गुणग्राही संसारचंद के हाथों में आयी तो गुलेर के कलाकारों ने काँगड़ा दरबार की शरण ली। इसी प्रकार के अनेक चित्रकारों में काश्मीर के पण्डित शिवराम का भी नाम आता है; जो कि गुलेर होते हुए काँगड़ा आये। चित्रकला उनका पैतृक व्यवसाय था। खुशाला, माणकू और नैनसुख जैसे विख्यात चित्रकार इन्हीं के पूर्व पुरुष थे। इस वंश के उत्तराधिकारी आज भी वर्तमान हैं।

काँगड़ा की चित्रकला का वैभव यद्यपि महाराजा संसारचंद की मृत्यु (१८२३ ई०) के साथ ही समाप्त हो गया; किन्तु उसके इतिहास की पगडंडियाँ कुछ आगे तक बढ़ीं। टेहरी नरेश सुदर्शनशाह के साथ राजा अनिरुद्धसिंह की दोनों लड़कियों की शादी हो जाने के कारण काँगड़ा शैली के कुछ चित्र और चित्रकार भी वहाँ गये। इसके अतिरिक्त शिमला के निकट अर्की में, जहाँ कि अनिरुद्धसिंह

काँगड़ा छोड़कर अपने परिवार के साथ रहने लगा था, काँगड़ा शैली का रिक्थ पहुँचा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अनिरुद्धसिंह के साथ अर्की में बस कर कुछ चित्रकारों ने अपनी परम्परा को जीवित बनाये रखा। इनके साथ काँगड़ा शैली के कुछ मूल्यवान् चित्र भी अर्की में गये हों तो कुछ असम्भव नहीं।

काँगड़ा शैली की विशेषताएँ

काँगड़ा शैली दृष्य प्रधान तथा रोमांटिक है। उसमें प्रमुखता पौराणिक कथाओं तथा रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के चित्रों की है और गौणतया उसमें व्यक्ति-चित्रों का भी एक स्थान रहा है। ये व्यक्ति-चित्र अधिक सजीव और वेगवान हैं और उनके द्वारा आन्तरिक भाव अधिक स्पष्ट होकर उभरे हैं। काँगड़ा शैली के चित्रों में सर्वाधिक प्रभावशाली आकृतियाँ स्त्रियों की हैं। इस प्रकार के चित्र अधिक वायवी एवं कृशकाय हैं। आँखें धनुषाकार हैं। उँगलियों में नज़ाकत तथा लय है। रंगों और तूलिका में कहीं भी बेतुकापन या अनावश्यक भड़कीलापन नहीं है। लगभग १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इमारतों के जो नमूने बनाये गये हैं उनमें भरपूर नक्काशी की गयी है।

काँगड़ा शैली की अनुपम विशेषता उनकी रेखाओं में है, जो कि दर्शक के हृदय में अपना स्थायी प्रभाव अंकित कर देती हैं। यही बात उनकी तूलिका में भी दिखायी देती है। इस शैली के चित्रों में एक गहरी काव्यात्मकता भी समन्वित है। इस काव्यात्मकता के कारण ये चित्र, दर्शक के मन पर संगीत और नृत्य जैसा आनन्दमय प्रभाव छोड़ जाते हैं। ये चित्र, क्योंकि, प्रमुखतया पौराणिक एवं काव्यात्मक हैं, इसलिये उनसे एक ओर तो जीवन का हर पहलू धर्म के वातावरण में डूब जाता है और दूसरी ओर संयोग तथा वियोग का जो हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख है उनसे मानवीय उद्वेगों को एक प्रकार से सहानुभूति की वाणी मिलती है।

काँगड़ा कलम के चित्रकार, जब भी स्त्री-चित्रों की दिशा में सचेष्ट रहे हैं, सर्वदा ही उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुसार उसके आदर्श रूप को ही ग्रहण किया है। इस आदर्श के भीतर भी उनकी सौन्दर्याभिनिवेश की भावना विद्यमान रही है। शरीर पर सत्कुल को अभिव्यक्त करने वाले वस्त्र, चाँद-सी गोल मुखाकृति, बड़ी-बड़ी भावप्रवण आँखें, भरी हुई छातियाँ, लयमान उँगलियाँ और मुख में रहस्यमय भाव छिपाये—ये सभी बातें काँगड़ा कलम के स्त्री-चित्रों में सर्वत्र देखने को मिलती हैं। यद्यपि इन नारी-चित्रों में परम्परा का पूर्वाग्रह अधिक है; फिर भी उन निपुण कलाकारों की अद्भुद् रंग-योजना, अभ्यस्त तूलिका और अनुभव-वृद्ध उनके मन-मानस ने अपने चित्रों में जो भाव दिये हैं, जिस वातावरण का समावेश किया है, उसके कारण उन चित्रों में पुरानापन प्रतीत ही नहीं होता है।

काँगड़ा शैली के चित्रों की कथावस्तु पौराणिक, धार्मिक और लौकिक तीनों प्रकार की है; किन्तु अपनी प्रत्युत्पन्न अनुभूतियों के कारण उसके कलाकारों ने अपनी कृतियों को सर्वथा मानवीय भावभूमि पर लाकर रख दिया है जिससे वे सहजगम्य और जनसामान्य के क्षेत्र की वस्तु हो गयी हैं। **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'दुर्गासप्तशती'**, **'गीतगोविन्द'**, **'भागवत'**, **'हरिवंश'** और **'शिवपुराण'** की कथाओं पर आधारित चित्र, कृष्ण की विभिन्न लीलाओं और शिव-पार्वती की कथाओं से सम्बद्ध चित्र—सभी की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक विचारों पर आधारित है; किन्तु उनको मानवीय अनुभूतियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण और गोपियों की प्रणय-लीलाएँ आत्मा और परमात्मा के संयोग की द्योतक हैं; किन्तु उनके प्रतिमान लौकिक भाव-भूमि पर आधारित हैं। काँगड़ा की इस आदर्शप्रधान शैली के मूल में यथार्थवादी तत्त्व विद्यमान हैं; किन्तु उसमें जो अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि की गयी है, वही उनकी विशेषता है; और उसके वृक्ष, बादल, जल, जंगल आदि प्रकृति चित्रों, पौराणिक तथा धार्मिक-चित्रों, शिव-पार्वती के चित्रों और हिन्दी की रीति-कालीन नायक-नायिकाओं के चित्रों, सभी में यही अभिनव सौन्दर्य विद्यमान है। यथार्थ के साथ आदर्श का यह अभिनवीकरण काँगड़ा शैली के कलाकारों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक और व्यक्तिचित्र भी उल्लेखनीय हैं।

काँगड़ा कलम के भित्तिचित्र

कुछ दिन पूर्व 'धर्मयुग' में काँगड़ा कलम के कुछ भित्तिचित्रों की अनुकृतियां प्रकाशित हुई थी। ये भित्तिचित्र कनखल में सुरक्षित हैं, जिनका निर्माण आज से लगभग १५०–२०० वर्ष पुराना बताया गया है। इन चित्रों की विषयभूमि प्रधानतया मानवीय है; किन्तु उनमें कुछ तो पौराणिक और कुछ आधुनिक विषयों से संबद्ध हैं। इन भित्तिचित्रों में मटीला, लाल, पीला, काला, श्वेत और हरे रंगों का प्रयोग किया गया है।

गुलेर और काँगड़ा शैली

गुलेर और काँगड़ा की दो चित्र शैलियाँ नहीं हैं, वे दो राज्य थे भी नहीं। गुलेर राज्य के निर्माण और नामकरण की एक मनोरंजन कहानी है। कहा जाता है कि १४०५ ई० के लगभग काँगड़ा का राजा हरीचन्द आखेट के लिये जंगल में गया और अपने साथियों से बिछुड़कर वह एक कुएँ में जा गिरा। बहुत खोज करने पर भी जब उसका कुछ पता न चला तो उसके परिवार वालों ने उसका श्राद्ध कर डाला और उसकी रानियाँ भी सती हो गयीं। उसका कोई पुत्र न था। अतः उसकी जगह उसका छोटा भाई करमचंद काँगड़ा की गद्दी पर बैठा।

किन्तु इसके बाद एक आश्चर्यजनक घटना घटी। कहा जाता है कि इक्कीस दिन बाद एक प्यासे राहगीर व्यापारी ने ज्यों ही कुएँ में रस्सी डाली कि वहाँ से उसे किसी मनुष्य की आवाज सुनायी दी। वह राजा हरीचंद ही था। वास्तव में वह अब तक मरा नहीं था। व्यापारी ने उसे ऊपर निकाला। बाद में उसे सारी वस्तुस्थिति का पता लगा। अब उसने यही तय किया कि काँगड़ा न जाया जाय। उसने करमचंद से राज्य छीनने की अपेक्षा नये राज्य का निर्माण करना अधिक उपयुक्त समझा। अतः उसने गुलेर के इलाके में हरीपुर नामक एक नये नगर की स्थापना की और उसमें नये राज्य की घोषणा कर दी। यही राज्य आगे चलकर गुलेर राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

काँगड़ा की महान् चित्र शैली के जन्मदाता गुलेर के ही कलाकार थे। यद्यपि पश्चिमी हिमालय के अनेक पहाड़ी राज्यों में उस समय चित्रकला का अर्जन-वर्द्धन हो रहा था; किन्तु गुलेर ही उसका प्रमुख केन्द्र था। यहाँ तक कि बसौली के अनेक कलाकार भी गुलेर चले आये थे। काँगड़ा शैली के चित्रों के साथ आज हम जो बसौली शैली का प्रभाव पाते हैं उसका कारण भी यही है कि बाद में वे ही चित्रकार काँगड़ा आये।

काँगड़ा राज्य की एक शाखा के रूप में राजा हरीचंद ने १४०५ में गुलेर राज्य की स्थापना की थी। गुलेर और काँगड़ा, दोनों राज्य कटोच वंश के अधीन थे। किन्तु गुलेर का राजा हरीचन्द बड़ा था, इसलिये काँगड़ा का उसके प्रति आदर-सम्मान का भाव बना रहा। समतल भूमि के अधिक निकट होने के कारण गुलेर का दिल्ली से भी संबन्ध बना था, जो कि उस समय कला का प्रमुख केन्द्र था। इस दृष्टि से और गुलेर के कलाप्रेमी शासकों के कारण गुलेर की राजधानी हरीपुर काँगड़ा कला का प्रमुख केन्द्र बना हुआ था। राजा गोवर्द्धनसिंह के समय तक गुलेर की कलाख्याति उत्कर्ष पर रही। किन्तु १७७३ ई० में उसका देहान्त हो जाने और उसकी जगह प्रकाशसिंह के गद्दीनशीन होते ही उसकी कला-शून्य वृत्ति के कारण गुलेर के कलाकारों ने चम्बा और काँगड़ा का आश्रय लिया। इसीलिए चम्बा में राजा राजसिंह (१७६४–१७९४ ई०) का शासनकाल कला का स्वर्णिम समय माना जाता है। दूसरी ओर काँगड़ा में उस समय राजा घमंडचंद के आश्रय में भी कलाकारों ने अच्छा संरक्षण पाया। काँगड़ा की गद्दी पर संसारचंद के आसीन होते ही चम्बा के चित्रकार भी वहाँ चले आये।

पश्चिम हिमालय के पहाड़ी राज्यों में बसौली और काँगड़ा ही दो ऐसे राज्य थे, जिनमें चित्रकला ने अपना पर्याप्त विकास किया। बाद में चम्बा, सुकेत, मंडी और कुलू आदि राज्यों में उसका प्रसार हुआ। इन पश्चिमी इलाकों में, जिन्हें कि प्राचीन समय में त्रिगर्त संघ के अन्तर्गत या जालन्धर क्षेत्र के अन्तर्गत गिना गया है, काँगड़ा चित्र शैली की प्रमुखता रही है। गुलेर, तीरा-सुजानपुर और नूरपुर, काँगड़ा घाटी के इन राज्यों में सर्वप्रथम इस शैली का विकास हुआ। काँगड़ा शैली की उत्कर्षता का कारण वहाँ की पर्वत-श्रेणियाँ हैं। गिरि-निर्झर, रंग-विरंगे फूल, पक्षियों से गुंजित घाटियाँ, पृथ्वी तथा गगन को छूती हुई मेघमालायें, उड़ती हुई बक-पंक्तियाँ, पहाड़ों, जंगलों और सारस, शुक, शेर, हाथी, कदली, चम्पा के लुभाव ने दृश्यों तथा फल-फूलों के चित्रण में इस शैली का अत्यन्त मनोहारी रूप अभिव्यक्त हुआ है।

गिलहरी के बालों से बनायी हुई तूलिका के द्वारा जिन नाज़ुक रेखाओं का सजीव चित्रण इस शैली के चित्रकारों ने किया है वह अपूर्व है। नारी-सौन्दर्य को उन्होंने बड़ी ही विलक्षणता से अंकित किया है। उनकी लम्बाकृति पतली भवें, उनके नीचे सौन्दर्य से बलबलाती आँखें, सीधी ठोढ़ी, अण्डाकार भरे हुए चेहरे, पतली कमर, लम्बी तथा पतली उँगलियाँ, वायुवेग से लहराते बालों को सम्हालने की चेष्टा में बलखाते हाथों आदि सभी में विलक्षण मार्दव है।

लारेंस बिनियन ने यूनान और जापान के सर्वोच्च चित्रांकन के साथ काँगड़ा की चित्रकला की तुलना करते हुए उसमें उतनी ही मिठास बतायी है, जितनी की ब्रिटेन की बैलेड कविता की। उसने लिखा है कि "यूनान के कलश चित्रों और जापान के डिज़ाइन चित्रों में भले ही अन्य आकर्षण, समृद्ध कल्पनायें, ओजस्विता और रूप-वैचित्र्य समाहित हो; किन्तु काँगड़ा के चित्रों में स्वातंत्र्य, गति और मोहकता है, जिसका हमारे ऊपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा कि बैलेड की कविता का।"

जे० सी० फ्रैंक के अनुसार "काँगड़ा के चित्रकारों की कृतियों में उषा और इन्द्रधनुषी रंगों का सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। उनके द्वारा अंकित मुखाकृतियों, पूर्णाकृति चित्रों में वीरता और स्त्री मुखाकृतियों में अद्वितीय सौन्दर्य, शालीनता और संयम टपकता है, इन्हें देखकर ऐसा लगता है कि हम किसी जादू के संसार में आ पहुँचे हैं।"

विषय की दृष्टि से उनमें विविधता है। पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम, रोमांस और नायिकाओं के शृंगारिक चित्रों के अतिरिक्त कुछ का विषय युद्ध, आखेट आदि से भी सम्बद्ध है। वह युग युद्ध, संघर्ष और राज्यों के उत्थान-पतन का युग था। कुछ चित्र ऐसे हैं, जिनमें पति-वियुक्त स्त्रियाँ युद्ध में गये अपने पति के सकुशल लौट आने की मनौती करती हुई चिन्तातुर दिखायी देती हैं। वे कौवों से, अपने पतियों के सकुशल लौट आने का सन्देश लाने की कामना कर रही हैं, और ऐसा करने पर उनके मुख को स्वर्ण से मढ़ देने की प्रतिज्ञा कर रही हैं। कई चित्रों में युद्ध से या आखेट से लौटते हुए पतियों को दिखाया गया है, जिनको देखकर उनकी पत्नियाँ प्रसन्नचित्त दिखायी गयी हैं। कुछ चित्र ऐसे हैं, जिनमें हिंसक पशुओं का चित्रण है, जिनसे आखेट का आशय प्रकट होता है और आखेट के प्रति राजाओं के अनुराग का भाव दिखाया गया है।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्र ऐसे हैं, जिनमें नवविवाहिता पति-पत्नी का, कुछ में रति-क्रीडालीन राजा-रानी, किसी में लाजभरी नायिका का हाथ पकड़कर कोई दासी नायक के शयनकक्ष की ओर ले जाती हुई, किसी में राज दरबार के दृश्य, किसी में जन-जीवन से संबद्ध पेड़ों के तले विश्राम करते तथा पहाड़ों में गाय चराते ग्वाले, किसी में लोक-विश्वास, किसी में त्योहार और किसी में आनन्दोत्सव मनाते हुए लोगों को चित्रित किया गया है।

ऊपर जहाँ काक-संदेश की बात कही गयी है वहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि साहित्य में संदेश-वाहक के लिए शुक की योजना सर्वत्र देखने को मिलती है; किन्तु काँगड़ा शैली के चित्रों में कौवे को वह स्थान दिया गया है। किन्तु इसका एक कारण है। आज भी अपने बीच प्रचलित लोक-विश्वासों में हम मुड़ेरे पर बोलते हुए कौवों को किसी प्रियजन तथा अतिथि के आगमन का सूचक या किसी शुभ-संदेश के आने की संभावना पाते हैं। शकुन की दृष्टि से भी काक-बोली का एक विशिष्ट उद्देश्य माना गया है।

भारतीय लोक-मानस में काक-संदेश का यह विश्वास बहुत प्राचीन है। देश के सभी अंचलों के लोक-गीतों में इसका व्यापक प्रचार रहा है। उसी लोक-भावना को ग्रहण कर काँगड़ा के चित्रकारों ने काक-संदेश के लिए आतुर और उसके चोंच को सोने से मढ़ देने की बात कही है।

अन्त में लारेंस विनियन को यह कहना पड़ा कि "काँगड़ा के चित्रों का आधार भित्तिचित्र रहे हैं। यह कहना कि काँगड़ा शैली, मुग़ल शैली पर आधारित है, सर्वथा भूल है। काँगड़ा शैली नितान्त निजी है और उसका संबन्ध प्राचीन कला से रहा है।" इसमें संदेह नहीं कि काँगड़ा के चित्र, भित्तिचित्रों पर आधारित हैं; और काँगड़ा के लघुचित्र एकमात्र भित्ति चित्रों पर बने हुए हैं। इस दृष्टि से मुगल चित्रों से, जिनके आधार पर ईरान के ग्रंथचित्र हैं और सचित्र पांडुलिपियाँ हैं, वे भिन्न हैं। संक्षेप में कहा जाय तो "मुगल चित्र, लघु चित्रों के बड़े रूप हैं; किन्तु काँगड़ा चित्र, भित्तिचित्रों के छोटे रूप हैं।"

जे० सी० फ्रैंक ने भी कहा है कि "प्राचीन भारतीय कला से संयोजित होकर अपने सुलेखन और सुसज्जा के ईरानी शैली ने मुग़ल शैली को जन्म दिया। भारत में अपना अन्त होने से पूर्व मुगल कला प्राचीन हिन्दू संस्कृति से संबन्ध जोड़कर अपनी संतानों के रूप में पहाड़ी शैली को छोड़ती गयी। इस पहाड़ी स्कूल ने १८वीं शताब्दी तक अपना विकास किया, और इस शैली के कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण राजपूत राज्य काँगड़ा घाटी में हुआ। इस महान् कला शैली का अन्त उसके मुख्य संरक्षक महाराज संसारचंद के साथ ठीक उन्हीं कारणों एवं परिस्थितियों के बीच हुआ, जैसा कि शाहंशाह शाहजहाँ के साथ महान् मुग़ल शैली का।"

मुग़ल और काँगड़ा शैली

पहाड़ी शैली के आरंभिक चित्रों की समानता राजपूत शैली के चित्रों से की गयी है। इन चित्रों में अधिकतर रंगों की शोखी और रेखाओं की मोटाई विद्यमान है। धीरे-धीरे उसमें परिष्कार हुआ और अनेक वर्षों बाद उसने अपना एक निश्चित स्थान बनाया। उसकी इस विकासकालीन परिस्थितियों पर मुग़ल शैली का प्रभाव है। उसमें जो विशिष्ट सौन्दर्य, आकर्षण और काव्यात्मकता है वह स्थानीय प्रभावों के कारण है। मुग़ल शैली प्रमुखतया सामन्तवादी विचारों से प्रभावित और व्यक्तिप्रधान है। किन्तु काँगड़ा शैली धार्मिक, पौराणिक विषयों से अनुबद्ध है और उसमें जन-सामान्य की समझ में आने योग्य गुणों की अधिकता है। मुग़ल शैली के चित्रों की परिणति या तो भौतिक आनन्द में हुई है या तो ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्व माना जाता है; किन्तु काँगड़ा शैली के चित्रों में एक ऐसा जादू है, जिसमें सौन्दर्य की चिर नूतनता है और जिसके नित नये रूप दर्शक के मन-मानस को पराभूत कर देते हैं। यद्यपि पहाड़ी शैलियों का

निर्माण, मुग़ल दरबारों से विछिन्न कलाकारों द्वारा ही हुआ, तथापि पहाड़ी राजाओं का आश्रय प्राप्त करके उन्होंने अपनी परम्परा को प्रवर्तित करने की अपेक्षा वहाँ के स्थानीय वातावरण में रंगकर कला के क्षेत्र में सर्वथा नवीन कृतियों की सृष्टि की। यदि हमें काँगड़ा शैली के चित्रों में कहीं मुगल शैली का कुछ प्रभाव दिखायी भी देता है तो वह उन कलाकारों के कारण ही हुआ। किन्तु इस प्रभाव से उन चित्रों की अन्तः प्रवृत्तियाँ सर्वथा अछूती हैं; केवल बाहरी रूपों को कहीं छू पाया हो तो वह दूसरी बात है।

करुणाभरण की सचित्र प्रति

भारत कला भवन, वाराणसी में कृष्णजीवन लछीराम कृत **'करुणाभरण'** की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है, जिसको कि पहाड़ी शैली की बताया जाता है। मध्यकालीन भारत की जितनी भी चित्र-शैलियाँ प्रकाश में आयीं, प्रायः सभी में ग्रंथचित्रों अथवा चित्रावलियों की योजना देखने को मिलती हैं। पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने इस दिशा में विशेष उत्सुकता दर्शित की है। उन्होंने **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'भागवत'**, **'दुर्गासप्तशती'**, पौराणिक कथाओं आदि संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त **'रसिकप्रिया'**, **'ललितललाम'**, **'बिहारी सतसई'** आदि हिन्दी के काव्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की भी चित्रावलियाँ तैयार कीं।

'करुणाभरण' की उक्त नाटक कृति की चित्रावली में तैंतीस चित्र हैं। इस नाटक की संभवतः कुछ चित्रावली दूसरे चित्रकारों ने भी तैयार की होगी, जैसे कि दो रेखा चित्रों का विवरण हमें जे० सी० फ्रैंक की पुस्तक **'हिमालयन आर्ट'** से भी विदित होता है। इन दोनों रेखा चित्रों को सम्प्रति कलकत्ता म्युज़ियम में बताया जाता है। कला भवन की इस चित्रावली का परिचय देने वाले समीक्षक श्री गोपालकृष्ण जी का कथन है कि संभवतः यह चित्रावली बसौली के कलाप्रिय राजा इंद्रपाल के लिए १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तैयार की गयी थी। इस चित्रावली के सम्बन्ध में श्री गोपालकृष्ण की मान्यताएँ (**कलानिधि**, वर्ष १, अंक १, २००५ वि०) हैं कि "इन चित्रों के देखने से यह मालूम होता है कि चित्रकार पहले किसी मामूली कागज पर कथा के जो-जो काल्पनिक दृश्य उसके सामने आये उनके मुख्य 'ठेके' टीपता गया और फिर उस टिपाई का खाका इन पतली वसालियों पर उतार कर, बिना किसी नमूने या आधार के, कुल व्योरों की निधड़क सच्ची टिपाई सिन्दूर से कर गया है।"

इस चित्रावली में एक ओर तो वे चित्र हैं जो नाटक की किसी घटना को अंकित कर कथानक के प्रवाह को आगे बढ़ाते हैं, दूसरी ओर वे चित्र हैं, जिनका उद्देश्य केवल भाव-प्रदर्शन अथवा चरित्र-उद्घाटन है। कुशल कवियों की भाँति पहाड़ी चित्रकारों की भी यह विशेषता रही है कि उन्होंने रस-संचार अथवा भाव-प्रदर्शन करने वाले चित्रों को प्रस्तुत करने में विशेष आनन्द पाया है। **'करुणाभरण'** की चित्रावली में भी इस प्रकार के अनेक सुन्दर चित्र हैं। "इस नाटक के कथानक की चरम सीमा उस स्थल पर है, जहाँ कृष्ण का ब्रजवासियों से मिलाप हुआ है। यही स्थल सम्पूर्ण कथा की अन्तरात्मा है। इसी लिए चित्रकार का हृदय भी इसी के दृश्य अंकित करने में अधिक रमा है।"

'करुणाभरण' की यह चित्रावली पहाड़ी शैली की किस शाखा से संबद्ध है, यहाँ इसका उल्लेख नहीं किया गया है; किन्तु जैसा कि संकेत किया गया है कि इसका निर्माण बसौली के राजा इन्द्रपाल के समय हुआ है। इस दृष्टि से इस चित्रावली का बसौली शैली के अन्तर्गत रखा जाना ही उपयुक्त है।

बसौली और काँगड़ा शैली

अपनी भौगोलिक एवं प्राकृतिक एकता के कारण गुलेर, नूरपुर, काँगड़ा और बसौली में कोई भिन्नता नहीं है। किन्तु उनका सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि उनमें कुछ ऐसी भी विशेषतायें हैं, जो परस्पर नहीं मिलतीं। उदाहरण के लिए यद्यपि काँगड़ा शैली के चित्रों का सम्बन्ध बसौली शैली के चित्रों से है; फिर भी उन्हें एक नाम से कहना उचित नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि गढ़वाल शैली भी काँगड़ा शैली की एक शाखा के रूप में जन्मी; किन्तु आगे चलकर इन दोनों शैलियों में जो अन्तर हुआ वह स्पष्ट ही है। ऐसी ही स्थिति बसौली और काँगड़ा शैली की रही।

बसौली शैली, काँगड़ा शैली से मूलतः एक होने पर भी दोनों के विकास की स्थितियाँ उन्हें दो पृथक्-पृथक् शैलियों के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। बसौली शैली की कुछ समातना राजस्थानी शैली से भी है; किन्तु वे दोनों एक नहीं है। काँगड़ा की प्राचीन सभ्यता और उसकी बढ़ी-चढ़ी समृद्धि को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि उसकी चित्रकला किसी समय अत्यन्त उन्नतावस्था

में रही होगी। जहाँ तक काँगड़ा और बसौली के रंगीन चित्रों का सम्बन्ध है, दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि काँगड़ा शैली की अपेक्षा बसौली शैली में अधिक रंगीन चित्र बने हैं। किन्तु जहाँ तक डिजाइन और ड्राइंग का प्रश्न है, दोनों शैलियों में स्पष्ट अन्तर है।

दोनों शैलियों की उक्त भिन्नता के बावजूद दोनों में कुछ समानतायें भी हैं। उदाहरण के लिए दोनों में कोमल और हृदयस्पर्शी भाव हैं। काँगड़ा शैली में कारीगरी अधिक है; किन्तु बसौली में कुछ कम। काँगड़ा शैली अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। उसमें स्त्रियों के चित्र बड़े ही सुन्दर और आकर्षक उतरे हैं। बसौली के चित्रों में हाशिये सुन्दर ढंग के बने हैं। काँगड़ा कला में जो कोमलता एवं भद्रता है वह बसौली की कला में कम उभर पायी है। बसौली के प्राचीन चित्रों की अपेक्षा काँकड़ा के चित्रों को समझना आसान है, क्योंकि उसमें सुहावने तथा सरल दृश्यों का अंकन है।

दोनों शैलियों की इस तुलना के बावजूद दोनों के इतिहास एवं दोनों के उदय का एक ही केन्द्र-बिन्दु है। दोनों में जहाँ-जहाँ भिन्नता है, वहाँ-वहाँ उन्होंने नये दृष्टिकोणों को दिया है। दोनों की इन्हीं भिन्नताओं ने दोनों को दो स्वतंत्र शाखाओं के रूप में प्रसिद्ध किया।

अतः सिद्ध है कि भारतीय चित्रकला की मध्ययुगीन चित्र-शैलियों में काँगड़ा कलम का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। काँगड़ा कलम के धनी चित्रकारों ने भारत के विभिन्न भागों में बसकर पहाड़ी शैली की अनेक उपशाखाओं का नये सिरे से निर्माण करके भारतीय चित्रकला की उन्नति और अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। काँगड़ा कलम के सुन्दर और लोकप्रिय रचना-कौशल से प्रभावित होकर पर्वतीय जन-जीवन में चित्रकला की विभिन्न उप शाखाओं का सृजन हुआ। काँगड़ा कलम के चित्रकारों ने काँगड़ा शैली का सर्वांगीण विकास किया और इतिहास में उसको विशिष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित किया।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में काँगड़ा कलम का विशेष महत्त्व इसलिए भी स्वीकार किया गया है कि उसके प्रभाव-प्रसार से अनेक शैलियों का जन्म हुआ और इसी कारण इतिहास में पहाड़ी शैली को स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ। बाद में काँगड़ा शैली को राजपूत और मुगल शैलियों के समकक्ष माना गया। वास्तव में देखा जाय तो काँगड़ा शैली, राजपूत और मुगल शैलियों के विकास-विस्तार की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं है। विषय की दृष्टि से काँगड़ा कलम में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, शृंगारिक और सामाजिक आदि अनेक विषयों के सैकड़ों चित्र बने। सौष्ठव, मार्दव, लोकप्रियता और संवैधानिक दृष्टि से भी काँगड़ा शैली के चित्रों का विशिष्ट महत्व माना गया है।

काँगड़ा शैली के चित्रों में जीवन की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। काँगड़ा कलम की इस व्यापक दृष्टि के कारण ही उसको समाज के सभी वर्गों ने बड़े चाव से अपनाया। काँगड़ा कलम की यह सबसे बड़ी देन कही जाती है।

★

काश्मीर शैली
बसौली शैली
चम्बा शैली

उद्भव और विकास

भारतीय इतिहास में काश्मीर देश का उल्लेखनीय स्थान रहा है। उसकी प्राकृतिक सुषमा और बौद्धिक उत्प्रेरणा के लिए वहाँ का सहज, सरल, उत्फुल्लतादायी एवं निसर्ग सुन्दर वातावरण ही उसकी विशेषता का कारण रहा है। वहाँ के साहित्यसृष्टाओं एवं कलाचार्यों के लिए काश्मीर की निसर्ग सुन्दर प्रकृति स्वतः एक कृति के रूप में उन्हें उत्प्रेरित करती रही। काश्मीर में बैठकर हमारे प्राचीन साहित्यकारों एवं कलाकारों ने साहित्य तथा कला को जो कृतियाँ प्रदान की उन सब में काश्मीर की धरती का यह असामान्य वैभव सर्वत्र प्रतिच्छायित है।

काश्मीर में साहित्य और कला की सर्जना के लिए वहाँ की प्राकृतिक देन मुख्य कारण रही है; किन्तु उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए अनुकूल परिस्थिति एवं सुविधा-व्यवस्था का कार्य किया वहाँ के विद्वान् तथा कलाप्रेमी राजाओं ने। भारतीय इतिहास में इसीलिए काश्मीर के राजाओं का नाम बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया गया है। साहित्य निर्माण की ही भाँति कला की सर्जना में भी काश्मीर का अपना अद्वितीय स्थान रहा है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में काश्मीर चित्रशैली का इसलिए विशेष महत्व है कि अपनी स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा करने की अपेक्षा उसके द्वारा समस्त मध्ययुगीन शाखाओं और विशेष रूप से पहाड़ी शैलियों को पनपने तथा आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा मिली। बल्कि विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि अकबर के समय की मुगल शैली को दिशा और दृष्टि प्रदान करने में काश्मीर शैली का बड़ा योग रहा है। अतः आज यद्यपि काश्मीर शैली की समृद्धि को बताने वाले बहुत ही कम उपकरण उपलब्ध हैं; किन्तु उसके इन जीवित उपकरणों को देखकर उसके संबंध में सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण तथा पश्चिम की उन्नत चित्रथाती के अन्तिम चरणों से लेकर मध्ययुगीन शैलियों के जन्मकाल तक की बीच की अवधि को जोड़ने के लिए उसने एक लड़ी का कार्य किया है। यह अवधि थी १६वीं से १८वीं शताब्दी के बीच की।

अपनी असामान्य प्राकृतिक महानताओं के कारण काश्मीर की धरती प्राचीन काल से ही विख्यात रही है। संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों पर उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण कर के काश्मीर के विद्वानों ने इस देश की बहुत बड़ी सेवा की है। आचार्य दण्डी को छोड़कर काव्यशास्त्र की दिशा में जितने भी प्रमुख आचार्य हुए वे सभी काश्मीर के ही थे। यही कारण था कि दुर्लभ पाण्डुलिपियों के महत्वपूर्ण संग्रह विद्वानों ने काश्मीर से ही प्राप्त किये हैं।

साहित्य-निर्माण के अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय में भी काश्मीर का बड़ा योग रहा है। प्राचीन समय में वहाँ भारतीय संस्कृति का महान् केन्द्र था। तिब्बत, चीन, जापान, नेपाल और पश्चिमी सीमाप्रांत में भारतीय संस्कृति तथा भारतीय कला की जो विभिन्न धाराएँ बह चली थीं उनका एक उद्गम स्थान काश्मीर भी था।

काश्मीर की एक स्वतंत्र चित्रशैली थी, जो कि बड़ी समृद्ध थी और जिसने अपने वस्तु-वैशिष्ट्य तथा सुन्दर विधान के कारण पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। मध्ययुगीन भारतीय चित्र-शैलियों को आगे बढ़ाने के लिए उसने प्रेरणा का कार्य किया।

किन्तु अपनी इस महान् देन के बावजूद काश्मीरी चित्रशैली के उद्भव और विकास का क्रमबद्ध इतिहास विदित नहीं हो सका है। इतने बड़े इतिहास-लेखक कल्हण पण्डित ने भी अपनी **'राजतरंगिणी'** में काश्मीर की कलात्मक देन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा।

इस शैली के सम्बन्ध में कई वर्ष पूर्व कुछ विद्वानों ने जो तथ्य खोज निकाले थे, आज भी वही एकमात्र सम्बल हैं, जिनको साथ लेकर हम प्रस्तुत विषय पर कुछ विचार कर सकते हैं। सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि हंसराज (या हसुराज) नामक एक कलाकार ने काश्मीर में मूर्तिकला और चित्रकला के क्षेत्र में सर्वथा नये युग का सूत्रपात किया था। ऐसा कहा गया है कि काश्मीरपति ललितादित्य के समय आठवीं शताब्दी में भारत की पश्चिमी शैली की मध्यदेशीय शाखा के अनुकरण पर काश्मीर में चित्रकला का प्रवेश हुआ।

डॉ० विन्सेंट स्मिथ ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि महाराज ललितादित्य ने ७४० ई० में कन्नौज पर विजय प्राप्त की

थी। उसी समय वह अपने कलाप्रेम के कारण या पुरस्कारस्वरूप मध्यदेश से कुछ चित्रकारों को अपने साथ काश्मीर लेता गया था, जिन्होंने वहाँ रहकर काश्मीरी चित्रशैली का नव-निर्माण किया। श्री राय कृष्णदास जी के मत से स्मिथ साहब की यह कल्पना युक्ति-संगत नहीं है।

उनका कथन है कि समस्त भारत में धर्म, समाज, संस्कृति और राजनीति आदि की सनातन सूत्रात्मक एकता होने के कारण स्वाभाविक रूप से ही मध्यदेशीय चित्रकला का काश्मीर में प्रवेश हुआ होगा। उसके लिए ऐसी कल्पना बैठाने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु स्मिथ महोदय ने कल्पना के आधार पर; जैसा कि ऊपर बताया है, वह असम्भव भी नहीं जान पड़ता है; क्योंकि हमारे समक्ष ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनको देखकर हमें यह असंभव प्रतीत नहीं होता है कि महाराज ललितादित्य के साथ मध्यदेश से कुछ कलाकार पुरस्कार-स्वरूप काश्मीर गये होंगे। पहाड़ी चित्र-शैलियों के सम्बन्ध में बहुधा यह देखा जाता है कि उस प्रान्तर में नवीन कला-शैलियों का जन्म, प्रायः दहेज में गये चित्रकारों के द्वारा ही हुआ।

फिर भी इतना तो स्पष्ट सा है कि १५वीं से १८वीं शती तक, मध्ययुगीन चित्र-शैलियों में काश्मीरी शैली का गण्यमान्य स्थान रहा है। राय बाबू का कथन है कि काश्मीरी शैली ने राजस्थानी, मुगल और पहाड़ी शैलियों के निर्माण में तो अपना योग दिया ही, वरन अकबरकालीन मुगल शैली अनेक अंशों में काश्मीरी शैली का ही रूपान्तर है; और इसी प्रकार पहाड़ी शैली भी उसी का नवीनीकरण बताया जाता है।

काश्मीर शैली का प्रभाव

यद्यपि राजपूत और मुगल शैलियों के संविधान में काश्मीरी कलम का आंशिक प्रभाव पाया जाता है; किन्तु उनका विकास जिस रूप में संभव हुआ उसको देखकर उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका आधार काश्मीर शैली रही है। इसके विपरीत पहाड़ी शैलियों की गरिमा के परिचायक अब इतने तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं, जिनको देखकर निश्चित रूप से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं होती कि उनको प्रेरित करने में काश्मीर शैली का बड़ा हाथ रहा है। उदाहरण के लिए बसौली तथा गढ़वाल शैली के जो **रागमाला, गीतगोविन्द, भागवत, रामायण** और **नायिका भेद** सम्बन्धी चित्र हैं उनके वस्तु-संविधान और मुकुट, दुपट्टे आदि के चित्रण में काश्मीर शैली का प्रभाव है।

यही बात काँगड़ा शैली के चित्रों में भी देखने को मिलती है। उसकी भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं, वस्त्रों की सज्जा और अलंकरणों आदि के चित्रण में काश्मीर शैली का सहयोग है। वस्तुतः इस प्रभाव का आधार यह रहा है कि काश्मीर शैली के जो मुगल चित्रकार आश्रयविहीन होकर इस नयी शैली की ओर प्रवृत्त हुए थे उन्हीं के हाथों पहाड़ी शैली के चित्रों में यह मिश्रण संभव हुआ। पहाड़ी शैली के अनेक चित्रों में काश्मीर शैली का जो अतिशय प्रभाव बताया जाता है वह वस्तुतः वहाँ के प्राकृतिक वातावरण की एकता के कारण है।

किन्तु, जैसा कि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पहाड़ी चित्र, काश्मीर शैली के अन्तर्गत है, यह उचित प्रतीत नहीं होता। पहाड़ी शैली के विभिन्न शाखाओं की आज जो स्थिति है उसको देखते हुए उनको काश्मीर शैली के अन्तर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता।

हम्जा चित्रावली में काश्मीर कलम का अंश

इस दृष्टि से यदि हम मुगल शैली की समीक्षा करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि शाहंशाह अकबर द्वारा तैयार कराये गये चित्रों में **'किस्सा अमीर हम्जा'** के चित्रों का प्रमुख स्थान है, जिनका निर्माण १५६०–१५७५ ई० के अन्तर्गत हुआ। इस चित्रावली में अपभ्रंश, पाल, ईरानी, राजपूत और मुगल शैलियों के अतिरिक्त काश्मीर शैली के चित्र भी हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि हम्जा चित्रावली के जिन चित्रों में काश्मीर शैली का अंश है उनका निर्माण शीराज निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद ने किया था। यह कलाकार अकबरी दरबार के प्रमुख कलाकारों में से था। इसके सम्बन्ध में अबुल्फज्ल ने **'आइ-ने-अकबरी'** में लिखा है कि 'जब से इन पर श्रीमान् की कृपादृष्टि हुई तब से उनकी प्रवृत्ति कला के बाह्य स्वरूप से हटकर उसके भीतरी रूप की ओर उन्मुख हुई।' इस 'भीतर की ओर उन्मुख होने' की प्रवृति उसमें काश्मीर कलम से ही जगी।

हम्जा चित्रावली में कुछ बातें ऐसी देखने को मिलती हैं, जिनका सामंजस्य केवल काश्मीर से ही बैठता है। उदाहरण के लिए उनमें जो वन्य वातावरण चित्रित हैं वह केवल काश्मीर में ही देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त उसमें जो पर्वत चित्रित किये गये

हैं उनकी प्रेरणा काश्मीर से ही प्राप्त हुई होगी। इसलिए हम्जा चित्रावली के ऐसे चित्रों के वस्तु-विन्यास एवं पृष्ठभूमि पर काश्मीर शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इस बात का उल्लेख डा० स्मिथ ने किया है।

इसके अतिरिक्त १६वीं और १७वीं शताब्दी के बने अनेक स्फुट चित्र मिले हैं, जो कि **'रामायण', 'दशावतार'** तथा कृष्णलीलाओं से संबद्ध हैं। इन चित्रों के पृष्ठभाग या शीर्षांक में प्रायः संस्कृत के श्लोक लिखे हुए मिलते हैं। इन चित्रों को भी काश्मीर शैली का बताया जाता है।

काश्मीर शैली के उक्त स्फुट चित्रों के अतिरिक्त अन्य चित्र भी मिले हैं, जिनका निर्माण १६वीं शताब्दी में हुआ। ऐसे चित्रों में केशवदास की **'रसिकप्रिया'** के ४४ चित्रों का उल्लेख राय कृष्णदास जी ने किया है। इस चित्रावली के २२ चित्र तो बोस्टन संग्रहालय, लंदन में और शेष अमेरिका के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अकबर द्वारा निर्मित कराये गये हम्जा चित्रावली में काश्मीर शैली का कितना अंश है, इसकी समीक्षा करने में **'रसिकप्रिया'** के उक्त चित्रों से बड़ी सहायता मिलती है।

आज काश्मीर शैली से संबद्ध जो चित्र सुरक्षित हैं उनमें आक्सफर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी का चित्राधार प्रमुख है। इस चित्राधार (अलबम) में रागमाला के १८ चित्र हैं। ये चित्र १७वीं शताब्दी के हैं। काश्मीर कलम के कुछ भित्तिचित्र ओड़छा नरेश महाराज वीरसिंह जू देव के ओड़छा तथा दतिया के महलों में सुसज्जित हैं। १६२४ ई० में आगरा के शालिवाहन नामक एक उस्ताद द्वारा निर्मित जैन ग्रंथ **'शीलभद्रचरित'** के दृष्टान्त चित्र तथा एक चित्रपट काश्मीर शैली से संबद्ध बताये जाते हैं। ब्रिटिश म्युजियम में भी इस शैली का एक खण्डित चित्रपट सुरक्षित है। ये सूचनायें राय बाबू की पुस्तक **'भारतीय चित्रकला'** में दे दी गयी हैं।

इस प्रकार काश्मीर शैली ने एक ओर तो परम्परागत भारतीय चित्रकला के सुनिश्चित आधारों को लेकर उनमें नये रचना तत्त्वों का समावेश करके प्रगतिशील तत्त्वों का सृजन किया और दूसरी ओर राजपूत, मुगल और पहाड़ी आदि शैलियों के निर्माण के लिए उसने स्वस्थ तथा स्वतंत्र भूमिका को बनाया। काश्मीर शैली के धार्मिक और शृंगारिक चित्रों में इस तथ्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं कि राजपूत, मुगल आदि तत्कालीन सहवर्तिनी शैलियों ने काश्मीर शैली की संवैधानिक श्रेष्ठताओं को बहुतायत से अपनाया। **'रामायण'**, **'रसिकप्रिया'** और **'हम्जा चित्रावली'** के चित्रों का निर्माण इसी दृष्टि से किया गया। ये दृष्टान्त चित्र काश्मीर शैली की उस परिस्थिति को बताते हैं, जब वह अपने अन्तिम दिनों में अपने उत्तराधिकार को उक्त भावी शैलियों को सौंप चुकी थी।

काश्मीर शैली का इस दृष्टि से भी महत्व है कि उसने अपनी समन्वयात्मक आदर्शवादिता के कारण दूसरी शैलियों के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए सदा ही उदारता का पक्ष लिया।

बसौली शैली

बसौली की राजधानी बालौर या वल्लपुर में थी। यह बसौली से १२ मील पश्चिम में है। ऐसा ज्ञात होता है कि बालौर राजधानी की स्थापना आठवीं शताब्दी के आसपास हुई। चम्बा से उपलब्ध एक अभिलेख के अनुसार आरंभ में बालौर एक स्वतंत्र रियासत थी। १०वीं, ११वीं शताब्दी तक वह स्वतंत्र रूप से बनी रही। बालौर के शासक लम्बी अवधि तक जम्मू के राजाओं के कट्टर शत्रु थे। जम्मू शासन के विरोध में उन्होंने कई बार विद्रोह किये।

आजकल बसौली, जम्मू राज्य के कथुवा या कटुवा नामक जिले के अन्तर्गत है। इस समय इसकी स्थिति एक सामान्य गाँव के रूप में है। अब उसका पहला जैसा गौरव नहीं रहा; किन्तु आज भी उसके भग्न खण्डहरों में उसके उज्ज्वल अतीत का गौरव बोल रहा प्रतीत होता है।

बसौली के नाम से जिस चित्रशैली का इतिहास में उल्लेख मिलता है उसके निर्माण में काँगड़ा तथा चम्बा आदि स्थानीय शैलियों का योग रहा है; और इन सब को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया काश्मीर शैली ने। ऐतिहासिक दृष्टि से बसौली शैली की अपेक्षा यद्यपि काश्मीर शैली प्राचीन है; किन्तु बसौली शैली के चित्रों में जो निजस्व वर्तमान है उसका आधार काश्मीर शैली की संवैधानिक दृष्टि रही है। इसलिए परोक्ष रूप से पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों की सभी स्थानीय चित्रशैलियों के मूल में काश्मीर शैली का रिक्थ रहा है। बसौली के चित्रों में प्रयुक्त पीला, लाल या सिन्दूरी रंग और पुरुषोचित ओज भरा स्त्रियों का रूपांकन—काश्मीर शैली के चित्रों से ही लिया गया है। बसौली के चित्रों में जहाँ भी पुरुषों का चित्रण किया गया है उनको धोती तथा चादर पहनाया गया है और उनके सुनहरे शरीर पर विभिन्न अलंकरण चित्रित किये गये हैं। बसौली के चित्रों का यह रूप-विधान काश्मीर शैली के चित्रों से प्रभावित है।

पंजाब में काँगड़ा या पहाड़ी कलम के जो चित्र मिले हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि जम्मू की कोई चित्रशैली नहीं थी; बल्कि वह बसौली की ही शैली थी। इसलिए पंजाब में काश्मीरी तथा राजपूत शैली के जो चित्र उपलब्ध हुए हैं तथा जिन्हें अब तक जम्मू कलम का माना जाता रहा है वे भी अजितघोष तथा श्री नानालाल चमनलाल मेहता के कथनानुसार बसौली शैली के ही हैं।

हिन्दू चित्रकला की सभी प्रधान प्रवृत्तियाँ बसौली के चित्रों में मिलती हैं। बसौली की समकालीन कला शैलियों में काँगड़ा, गढ़वाल, मंडी आदि में रागमाला के चित्रों के प्रति उदासीनता दिखायी देती है; किन्तु बसौली के चित्रकारों ने रागमाला के ढेरों चित्र निर्मित किये। उन्होंने दृष्टान्त चित्रों के लिए **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'भागवत'**, **'देवी माहात्म्य'**, **'रसिकप्रिया'**, और **'गीतगोविन्द'** आदि ग्रन्थों का आश्रय लिया। उन्होंने सहस्त्रों की संख्या में दृष्टान्त चित्र बनाये। चित्रभूषित ग्रंथों पर उन्होंने जिस लिपि का प्रयोग किया वह भी कम आकर्षक एवं कलापूर्ण नहीं है।

बसौली कलाशैली के सम्बन्ध में श्री नानालाल चमनलाल मेहता का कथन है कि बुंदेलखण्ड के चित्रकारों की तरह बसौली के चित्रकारों को भी नीले, पीले, लाल और सादे रंगों से विशेष अनुराग था। इस चित्रशैली में उतनी कोमलता नहीं, जितना तेज है। इनमें वाह्याडम्बर तथा वाह्य लावण्य के लिए चित्रकारों का कम रूझान दिखायी देता है। इस दिशा में इनकी समानता पुराने गुर्जर चित्रकारों से बैठती है। इन चित्रकारों को जो कुछ कहना होता है वह 'सीधी-सादी, फड़कती हुई रेखाओं में सादे फड़कते हुए रंगों में रंगीन आलेखन द्वारा सहज ही में कह देते हैं।' पहाड़ी चित्रों की अन्य शैलियों की अपेक्षा बसौली शैली अधिक ग्रामीण है।

आचार्य कुमारस्वामी की पुस्तक **'हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्ट'** में पहाड़ी चित्रकला को दो भागों में विभक्त किया गया है : (१) उत्तरी जम्मू तथा (२) दक्षिणी काँगड़ा। पंजाब और हिमालय के प्रान्तों से निर्मित पहाड़ी शैली, राजपूत शैली से सर्वथा भिन्न है। पहाड़ी चित्र शैली का उदय १७वीं शताब्दी में हो चुका था। पहाड़ी शैली की जम्मू शाखा पहले **'डोगरा स्कूल'** के नाम से प्रसिद्ध थी। यह शाखा गढ़वाल तक फैली और इसी शाखा के कुछ चित्रों को अमृतसर के व्यापारी लोग तिब्बती या नेपाली कहा करते थे।

बोस्टन म्युजियम में सुरक्षित राजपूत शैली के चित्रों की एक सूची प्रकाशित है। उसमें पहाड़ी चित्रकला की जम्मू और काँगड़ा दोनों शाखाओं को पंजाब और हिमालय के नाम से लिखा गया है। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि बसौली शैली का उद्गम जम्मू शाखा ही रही है। कुछ लोगों ने तो बसौली शैली का कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया।

इस सम्बन्ध में श्री अजित घोष का कथन है कि वे सभी चित्र, जिन्हें आचार्य कुमारस्वामी तथा उनके समर्थक विद्वानों ने जम्मू शाखा का ठहराया, वस्तुतः बसौली शैली के हैं। इसलिए कुमारस्वामी ने जिनको जम्मू की चित्रकला के नाम से विभाजित किया है, वस्तुतः वह बसौली चित्रकला है। वे चित्र जिन्हें कुमारस्वामी ने जम्मू शाखा के प्राचीन अवशेष बताया, घोष बाबू की दृष्टि में वस्तुतः बसौली शैली के ही प्राचीन चित्र हैं।

इस प्रकार बसौली की चित्रशैली का अपना महत्व, अपनी परम्परा और अपनी विशेषतायें हैं। पहाड़ी शैली की दूसरी शाखाओं की भाँति बसौली शैली का अपना रचना-विधान और अपने विकास की परिस्थितियों का स्वतंत्र इतिहास रहा है।

तिब्बती तथा नेपाली शैलियों से बसौली शैली की भिन्नता

बसौली चित्रशैली के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रकाश में आये अभी थोड़ा ही समय हुआ है। इससे पूर्व बसौली शैली के चित्रों को या तो तिब्बती कहा जाता था या मुगल अथवा काँगड़ा का। श्री कुमारस्वामी और अजित घोष प्रभृति कला-विशारदों ने इस प्रकार के अनेक चित्रों का संग्रह कर और उन्हें प्रकाशित कर यह सिद्ध कर दिया है कि बसौली की चित्रशैली की अपनी विधायें और अपनी परम्परायें रही हैं।

बसौली शैली के कुछ चित्र ऐसे मिले हैं, जिनको तिब्बती या नेपाली कहा गया है। उन पर मुगल संविधानों की भी छाप बतायी गयी है। पंजाब, विशेषरूप से अमृतसर के वे व्यापारी, जो पुराने चित्रों का क्रय-विक्रय करते रहे, उन्होंने स्पष्ट रूप से बसौली शैली के कुछ प्राचीन चित्रों को तिब्बती या नेपाली कहा। ये चित्र धार्मिक, तांत्रिक और देवी-देवताओं सम्बन्धी हैं। बाद में इन चित्रों के साथ तिब्बती तथा नेपाली चित्रों की तुलना करके यह निर्णय किया गया कि वे अवश्य ही परस्पर मिलते-जुलते हैं; किन्तु वस्तुतः वे भिन्न-भिन्न शैलियों के हैं। इसके अतिरिक्त इन चित्रों के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया गया कि वे मुगल शैली से भिन्न एवं अजन्ता की शैली से मिलते हैं।

बसौली की चित्र शैली में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इनमें से कुछ चित्र मुगलों से भी मिलते हैं।

वंशीवादन करते हुए श्रीकृष्ण का एक चित्र है, जिसमें कि उनको ग्वालवालों के साथ जंगल में गाय चराते हुए दिखाया गया है। इस चित्र को भी तिब्बती बताया गया है, किन्तु इसके सम्बन्ध में अजित घोष प्रभृति विद्वानों का कथन है कि वह उन काश्मीरी लोगों का बनाया हुआ चित्र है, जो बाद के नूरपुर तथा त्रिलोचननाथ में आकर बस गये थे। इसी प्रकार की भ्रांति रागमाला तथा अभिसारिकाओं के कुछ रंगीन चित्रों के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार बसौली शैली के चित्रों में तिब्बती और नेपाली चित्रों की भाँति रंग-योजना पायी जाती है; किंतु उनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव बसौली शैली के चित्रों को तिब्बती या नेपाली कहना एक भूल थी।

भित्तिचित्र

आज हम जिन्हें कुल्लू के भित्तिचित्र कहते हैं; वस्तुतः वे बसौली शैली के हैं। कुल्लू की कोई स्वतंत्र शैली नहीं थी। जिसको कुछ समीक्षकों ने कुल्लू शैली कहा है, वास्तव में वह बसौली की शैली है। बसौली, जम्मू रियासत का ही अंग था। पहाड़ी शैलियों में, काँगड़ा के अन्तर्गत माने जाने वाली शैलियों में, बसौली शैली की अपनी निराली ख्याति है।

कुल्लू के सुलतानपुर वाले महल में अनेक भित्तिचित्र हैं, जिनमें से कुछ की प्रतिलिपि १९५६ में ललितकला अकादेमी, दिल्ली के लिए श्री जगदीश मित्तल कर चुके हैं। इन चित्रों का समय लगभग १८०६–१० ई० के बीच है। कुल्लू के भित्तिचित्रों का एक बहुत बड़ा भाग १९०५ के भूकम्प में वहाँ की प्राचीन इमारतों के साथ नष्ट हो गया था। इन भित्तचित्रों की शैलीगत विशेषताओं के सम्बन्ध-में श्री जगदीश मित्तल का कथन है : कि 'उनकी लम्बी, सुडौल आकृतियों; चेष्टाओं द्वारा भाव व्यक्त करने का तरीका; जोरदार रेखायें; चटक रंगों का प्रयोग, रंगों का संमिश्रण; पेड़ों का सुन्दर चित्रण; विशेष रूप के वस्त्रालंकार और चूने की सुफ़ेद पलस्तर पर अंकन—ये विशेषतायें उनके महत्व को प्रकट करती हैं।'

राजपूत और बसौली शैली

श्री अजित घोष के संग्रह में कुछ एसे चित्र हैं, जिनकी कला अत्यन्त ही सूक्ष्म है। ये चित्र बसौली शैली के प्राचीन रूप हैं, और इन्हीं से बसौली शैली के विकास का इतिहास आरंभ होता है। इनमें से कुछ चित्र **'गीतगोविन्द'** के हैं। प्रत्येक चित्र की पीठ पर श्लोक लिखे गये हैं। इन्हीं से मिलते-जुलते चित्र गांगोली राजपूत चित्रकला के हैं। इन दोनों शैलियों के चित्रों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला गया कि बसौली शैली के चित्रों की अपेक्षा राजपूत चित्रशैली अधिक प्राचीन है। फिर भी इन चित्रों की उपलब्धि के बाद सभी कला-पंडित इस निष्कर्ष पर एकमत हुए कि बसौली एक स्वतंत्र शाखा है।

बसौली शैली में स्त्रियों का चित्रण बड़ा ही सुन्दर है। उनमें नीचे की ओर झुकी हुई लम्बी नाक, बड़ी-बड़ी आँखें, छोटी मुखाकृति, गोल कपोल और झुकी हुई ठुड्डी का प्रायः चित्रण किया गया है। इस प्रकार के चित्र राजपूत शैली के रागमाला के चित्रों से मिलते हैं। किन्तु काँगड़ा और गढ़वाल की चित्र-शैलियों में यह विशेषता कम है। बसौली और राजपूत शैलियों के रागमाला के चित्रों में पोशाक को अंकित करने का ढंग भी मिलता-जुलता है। **'रसिकप्रिया'** के आधार पर चित्रित **'राधाकृष्ण'** का चित्र और **'गीतगोविन्द'** के आधार पर बनाये गये अनेक चित्र बसौली की कला के अच्छे उदाहरण हैं।

इस प्रकार राजपूत और अन्य पहाड़ी शैलियों के साथ बसौली शैली का क्या सम्बन्ध रहा है, इसका विश्लेषण हो जाने के बाद बसौली शैली का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है।

बसौली शैली के चित्रों का संविधान

बसौली शैली के संविधान की विशेषता उसके चक्षु-चित्रण में है। यद्यपि जैन शैली, राजपूत शैली और मुगल शैली के चित्रों में भी चक्षु-चित्रण बहुत ही आकर्षक हैं; किन्तु बसौली चित्रशैली के चित्रों में इसको प्रमुख स्थान दिया गया है। बसौली शैली में सम्पूर्ण चित्र का केन्द्रबिन्दु उसके पद्माकार, कर्णस्पर्शी और रसभावपूरित नयनों की बनावट में है। श्वेत, श्याम और रतनार इन अमृतनिस्यन्द हलाहल से पूर्ण, मदभरे नयनों को देखते ही कोई भी कलारसिक उन पर रीझ सकता है। इसीलिए बसौली कलम को पहचानने के लिए यह प्रथम माध्यम है।

चक्षु-चित्रण के बाद बसौली कलम की दूसरी मोहनीय विशेषता है, उसकी मुद्राएँ। हस्त-मुद्राओं का यह कौशल भारतीय

चित्रकला में सर्वप्रथम अजन्ता के चित्रों में देखने को मिलता है। बसौली के कलाकारों ने इसी भाव से प्रेरित होकर अपने चित्रों में भावाभिव्यक्ति के लिये हस्त-मुद्राओं का माध्यम अपनाया है। इन मूक रेखाओं में सुगठित एवं सुव्यवस्थित हस्त-मुद्राओं द्वारा भाषा एवं वाणी का जो अभिप्राय मुखरित हुआ है उसको कोई भी कलारसिक सरलता से हृदयंगम कर सकता है। इस प्रकार ये मुद्राएँ, बसौली के चित्रों में उनके भावाभिव्यंजन का सफल माध्यम कही जा सकती हैं।

चक्षु-चित्रण और हस्त-मुद्राओं के अतिरिक्त बसौली शैली के चित्रों में नाक, कान, मुंह, कपोल, ललाट, वस्त्र-सज्जा, शरीर-गठन और वर्ण-संपुंजन आदि अन्य संविधानों की भी उत्कृष्टता वर्तमान है।

बसौली के चित्रकारों का रंग-विधान और सज्जा सर्वथा अपने ढंग की है। झीने वस्त्रों की ओट में पारदर्शक अंगों को दिखाने का यद्यपि सभी पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने प्रयत्न किया है; किन्तु बसौली के कलाकारों का उस ओर विशेष ध्यान रहा है। मुगल, काँगड़ा, गढ़वाल या काश्मीरी आदि चित्र-शैलियों की अपेक्षा गुजराती कलम से बसौली की चित्रशैली की अधिक घनिष्टता बतायी जाती है। मुगल शैली के कलाकारों ने जिन संविधानों के माध्यम से अपनी कला को चमकाया, बसौली के कलाकार उनसे सर्वथा अलग रहे।

श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह ने अपनी पुस्तक **'महाराज संसारचंद'** में बसौली की चित्रशैली की मुख्य विशेषताओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि उनको सरलता से पहचाना जा सके, इसके लिये उनके इन गुणों पर ध्यान देना चाहिए :

(१) बसौली की सहयोगिनी काँगड़ा और गढ़वाल की चित्र-शैलियों के साथ उसको अलग से पहचाना जा सके, इसके लिए बसौली के चित्रों में उक्त दोनों शैलियों के विपरीत नारी-शरीर का अंकन पुरुषोचित ओज भरा होता है

(२) उसमें चक्षु-चित्रण कमलाकृति का होता है और उसको देखते ही सहसा हृदय में महाकवि बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा स्मरण हो जाता है :

अमिय हलाहल मदभरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत एकु बार॥

(३) उनमें ललाट भाग पीछे की ओर धँसा हुआ, नाक लम्बी तथा झुकी हुई, छोटा मुख, धँसी हुई ठोढ़ी और भरे हुए कपोल

(४) हस्त-मुद्राओं द्वारा उपयुक्त भाव-प्रदर्शन

(५) स्त्रियों के पारदर्शक वस्त्र

(६) पुरुषोंके शरीर का ऊपरी भाग वस्त्र-रहित; बदन पर एक चादर, धोती का रंग बहुधा सुनहरा और शरीर पर तरह-तरह के अलंकरण

(७) सज्जा को अधिक आकर्षक बनाने के लिये बहुधा स्वर्णकीट के पंखों की छोटी-छोटी कतरनों का उपयोग, जो कि देखने में पन्ना जैसी प्रतीत हों

(८) पृष्ठभूमि बहुधा समतल और हल्की तूलिका से रंगी हुई; रंग गहरा पीला, हलका हरा, लाल और चाकलेटी; कभी-कभी आकाश का आंशिक चित्रण जिसमें चाँद निकला हुआ रहता है

(९) चित्र का किनारा बहुधा पीले, लाल या सिन्दूरी रंग में रंगा हुआ

(१०) स्त्रियों के दो-चार बाल कपोलों पर लटके हुए

अन्य पहाड़ी चित्र शैलियों की भाँति बसौली शैली के चित्र पर्याप्त रूप में नहीं मिलते। यहाँ तक कि कुछ दिन पूर्व इस शैली की कोई स्वतंत्र सत्ता थी ही नहीं। बसौली शैली की सर्वाधिक प्राचीन चित्रावली जयदेव के **'गीतगोविन्द'** पर आधृत हुई मिली है, जिसका समय विद्वानों ने १७वीं शताब्दी में निर्धारित किया है। इस शैली के चित्रों का निर्माण १९वीं शताब्दी तक होता रहा। विषय की दृष्टि से ये चित्र कुछ तो पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं, कुछ राजाओं के व्यक्ति-चित्र हैं और कुछ सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों से सम्बन्धित हैं। ये चित्र भारतीय भित्तिचित्रों की थाती को लेकर निर्मित किये गये, जिससे कि उनमें हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-परम्पराओं का पूर्ण निर्वाह देखने को मिलता है।

जम्मू के राजा गुलाबसिंह द्वारा १८४९ ई० में बसौली के अंतिम राजा कल्याणपाल को विजित करने और बसौली राज्य को जम्मू राज्य में विलयित करने के साथ ही बसौली कलम का भी अन्त हो गया।

बसौली शैली, काँगड़ा शैली की ही एक शाखा है। चम्बा शैली के जो अवशेष उपलब्ध हैं उनके आधार पर स्पष्ट है कि काँगड़ा शैली के रिक्थ को लेकर बसौली शैली के कलाकारों ने ही उसका निर्माण किया।

बसौली शैली अपने युग की प्रभावशाली एवं लोकप्रिय शैली रही है। संपूर्ण पंजाब प्रदेश और गढ़वाल तथा तिब्बत, नेपाल तक उसकी ख्याति का प्रचार हुआ। उसकी सुलिपि, उसका रंग-विधान और उसमें अभिव्यक्त अन्तस्पर्शी कोमल भाव उसकी प्रसिद्धि के कारण रहे हैं। उसके शास्त्रीय, धार्मिक और शृंगारिक सभी प्रकार के चित्रों में लोकदृष्टि मुख्य रही है। उसके भित्तिचित्रों में भारतीय संस्कृति और धार्मिक मान्यताओं का बड़ी निष्ठा से निर्वाह किया गया है।

चम्बा कलम के अवशेष

पहाड़ी चित्रशैली के संवर्धन में चम्बा-कलम का भी योग रहा है। समुचित सुरक्षा-व्यवस्था के अभाव में और शासक राजाओं के निरन्तर परिवर्त्तन के कारण यद्यपि चम्बा-कलम की स्वतंत्र एवं मूल्यवान् कृतियाँ आज कम ही संख्या में प्राप्त होती हैं; किन्तु एक युग में उसे बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त थी, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

चम्बा की ख्याति सांस्कृतिक दृष्टि से इतिहास में विश्रुत है; किन्तु उसके अल्पकालीन वैभव के साथ ही उसकी सांस्कृतिक देन भी प्रायः कथावशेष हो गयी। अपने वैभवकाल में चम्बा की चित्रशैली का बड़ा नाम था। उसमें जो संवैधानिक दृष्टि है वह उस युग की सम-सामयिक शैलियों में अपनी विचित्रता और अनूठेपन के लिए प्रसिद्ध थी; इसलिए पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न उपशाखाओं में चम्बा कलम का अपना अलग स्थान माना जाता था।

चम्बा कलम के प्राचीन अवशेष आज वहाँ के रंगमहल में सुरक्षित हैं। चम्बा का यह रंगमहल आज स्वयं ही कथावशेष अवस्था में है; किन्तु उसका जो-कुछ भी भाग आज शेष है उसकी बनावट, उसके कोष्ठों, छतों, दीवारों, झरोखों आदि को देखकर यह स्वीकार करने में तनिक भी दिक्कत नहीं होती है कि किसी युग में उसके भीतर वैभव, विलास, कला और साहित्य की समृद्धि थी। उसके अवशिष्ट भित्तिचित्रों को देखकर उन कलाप्रेमी राजाओं की बरबस याद आती है, जिन्होंने बड़े उत्साह, बड़ी लगन और बड़ी रुचि के साथ लाखों रुपया व्यय करके उन चित्रों को बनवाया था।

चम्बा का यह रंगमहल नाना रंग-रूपात्मक प्रकृति की गोद में अवस्थित है। वह स्वयमेव एक कलाकृति की भाँति प्रतीत होता है। इस महल का निर्माण मुगल शिल्प के आधार पर हुआ है किन्तु उसमें जो मसाला प्रयुक्त किया गया है, वह इतना मजबूत है कि पत्थरों के सड़-गल जाने पर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया है।

इस रंग महल के साथ चम्बा के अनेक नरेशों की कथा आवद्ध है। महाराज उम्मेदसिंह (१७४८–१७६४ ई०) ने इसके निर्माण का कार्य आरम्भ कराया था और उसको पूरा किया उसके पुत्र राजा राजसिंह ने। काँगड़ा के राजा संसारचंद के साथ राजा राजसिंह ने लड़ते हुए नेरटी में वीरगति प्राप्त की। उसके बाद के राजाओं में राजा जीतसिंह का (१७९४ ई०) नाम उल्लेखनीय है। उसके युग में चम्बा शैली के अनेक उत्कृष्ट चित्र बने। स्वयं भी वह कलाकार था और इसलिये उसने बाहर के अच्छे-अच्छे कलाकारों को आमंत्रित किया तथा पहले से चले आते चित्रकारों को उचित सम्मान दिया। इस परम्परा का अंतिम राजा चढ़तसिंह (१८०८ ई०) हुआ। उसके बाद इस रंगमहल की समृद्धि निरन्तर धूल में मिलनी आरम्भ हुई और उसको फिर वे दिन देखने को नसीब न हुए।

इस महल के भित्तिचित्रों के प्रति कला-जगत् का ध्यान आकर्षित करने का महान् कार्य श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने किया। भारतीय कला के इतिहास में स्व० मेहता जी का स्थान अपूरणीय है। १९३९ में वे हिमांचल प्रदेश के चीफ़ कमिश्नर नियुक्त होकर गये। उसी समय उन्होंने चम्बा के राजमहल के चित्रित कक्षों की सुरक्षा के लिये व्यवस्था की। उन्होंने इन चित्रों की नकलें भी लीं और वे ही उनको प्रकाश में भी लाये।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि इस रंगमहल का निर्माण-कार्य अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ और आगे के ५० वर्षों तक उसकी समृद्धि बनी रही। इस दृष्टि से जिन राजाओं ने उसको कलाकृतियों से सुसज्जित किया उनमें उम्मेदसिंह, राजसिंह और जीतसिंह का प्रमुख योग है।

ये भित्तिचित्र **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'भागवत'**, **'दुर्गा सप्तशती'**, शिवपार्वती और नायिकाभेद आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध हैं। ये विषय नये नहीं है। राजपूत, मुगल और अन्य पहाड़ी शैलियों में भी इन विषयों पर असंख्य चित्र बनाये गये। इन चित्रों

में शिल्प, सज्जा की भरमार है। इनके बार्डर भी दर्शनीय हैं, जो पत्तियों, फूलों और लताओं से परिवेष्ठित हैं। 'भागवत' के आधार पर सावन मास में सखियों का झूला झूलने का दृश्य बहुत ही सुन्दर है। इसकी पृष्ठभूमि और वृक्ष-चित्रण बहुत मार्मिक है। यह चित्र नेशनल गैलरी में सुरक्षित है।

चम्बा की अल्पकालीन समृद्धि के साथ ही वहाँ की चित्रशैली और उसके चितेरे भी कथावशेष रह गये। फिर भी उसके उपलब्ध अवशेषों को देखकर उसके उज्ज्वल अतीत का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। चम्बा के रंगमहल में सुरक्षित चम्बा शैली के चित्रों में चम्बा के राजाओं की सांस्कृतिक रुचियाँ और सच्ची कलादृष्टि आज भी देदीप्यमान है। चित्रकला के प्रति उनकी उतनी ही निष्ठा थी, जितनी धर्म के प्रति। संभवतः यही कारण है कि चम्बा कलम के एकमात्र धार्मिक विषयों से संबद्ध चित्र ही देखने को मिलते हैं।

० ० ०

इस प्रकार उक्त तीनों चित्र-शैलियों का आमूल अध्ययन करने के पश्चात् विदित होता है कि यद्यपि उनके विकास की परिस्थितियाँ और उनका वर्तमान स्वरूप उनके स्वतंत्र अस्तित्व का साक्ष्य देता है; फिर भी उनके मूल उत्स का आधार लगभग एक ही रहा है। काश्मीर शैली से ही बसौली और चम्बा की उप-शैलियों को जीवनी तत्त्व मिले। इस दृष्टि से यदि हम काँगड़ा शैली के संबंध में विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि जिस काँगड़ा शैली को पहाड़ी शैलियों में मुख्य स्थान प्राप्त है और गुलेर, बसौली, चम्बा तथा गढ़वाल आदि शैलियाँ जिसकी समृद्धि के इतिहास का स्वर्ण युग प्रस्तुत करती हैं—काश्मीर शैली के प्रभाव से अछूती नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि सुदूर पंजाब, उत्तरी भारत तथा तिब्बत, नेपाल आदि की चित्रकला में भी काश्मीर शैली के सुन्दर वर्ण-विधान एवं सरल रेखांकन को व्यापक रूप में अपनाया गया।

काश्मीर शैली का सम्बन्ध, आरंभिक मुगल शैली के चित्रों से रहा है। अकबरकालीन **हम्जा चित्रावली** इसका स्पष्ट प्रमाण है। उसके आस-पास १६वीं तथा १७वीं शताब्दी ई० में राम, कृष्ण और दस अवतारों से संबद्ध चित्रों से काश्मीर शैली का महत्त्व अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रकाश में आया। बसौली और चम्बा शैली की स्थिति, काश्मीर शैली की अपेक्षा कुछ भिन्न रही है। उनका मुख्य आधार काँगड़ा कलम रही है और अपनी पूर्ववर्ती मुगल एवं राजपूत शैलियों से भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से संवर्द्धनीय तत्त्व ग्रहण किये। काँगड़ा शैली और उसकी शाखाओं के उत्थान काल में काश्मीर शैली के कलाकारों ने पूरा योग दिया। इस दृष्टि से काश्मीर शैली के इतिहास का उत्तर भाग काँगड़ा और उसकी विभिन्न शैलिओं के चित्रों में देखा जा सकता है।

★

गढ़वाल शैली

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिमालय की उपत्यकाओं के सन्निकट अवस्थित गढ़वाल की शासन-परम्परा का प्रामाणिक इतिहास कत्यूरी और परमार राजवंशों के समय ९वीं शताब्दी के मध्यभाग से आरंभ होता है। कुछ वर्षों कत्यूरी राजवंश का आधिपत्य रहने के बाद गढ़वाल पर परमारवंश का शासन हुआ, जिसका संस्थापक था कनकपाल (८४८–८९९ ई०)। इस राजवंश के उत्तराधिकारी आज भी टिहरी गढ़वाल में वर्तमान हैं; किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद रियासतों का विलय हो जाने के कारण टिहरी का यह राज-परिवार भारतीय गणराज्य में सम्मिलित हो गया है।

महाराज कनकपाल के बाद लगभग ५०० वर्षों तक गढ़वाल की शासन-परम्परा में पर्याप्त फेर-बदल होते रहे। उसके बाद महाराज बलभद्रशाह (१४७३–१४९८ ई०) के हाथों में सत्ता आयी। इनके समय गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर में थी। इन्होंने श्रीनगर में काशी के कलाकारों को बुलाकर एक भव्य राजमहल का निर्माण करवाया था, जिसको कि अपने युग में शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना माना जाता था। उस राजमहल में इन्होंने एक चित्रशाला का भी निर्माण करवाया था। इसी चित्रशाला में बाद के राजाओं का राज्याभिषेक हुआ करता था।

गढ़वाल के इतिहास में महाराज फतेहशाह का नाम वहाँ के यशस्वी शासकों में गिना जाता है। उनका शासनकाल १६८४–१७१६ ई० था। ये चित्रकला के प्रेमी थे। इनके समय के बने हुए दो चित्र श्री गिरिजाकिशोर जोशी के संग्रह में है। एक चित्र में राजा किसी फटे-पुराने वस्त्रधारी व्यक्ति पर बाण चला रहा है। वह पुरुष दारिद्रय का प्रतीक है, जिससे यह ध्वनित होता है कि राजा अपने राज्य में गरीबी को सहन नहीं कर सकता था। इस चित्र में आकाश की ओर पक्षधारी देवतास्वरूप एक बालक चित्रित है, जिससे सुनहरी किरणें फूट रही हैं; और जो राजा को वरदान-सा देता हुआ प्रतीत हो रहा है। चित्र के दूसरे किनारे पर पूर्व की ओर सूर्योदय का दृश्य अंकित है, जिसके प्रकाश में स्वर्णिम आभा है। इस सम्पूर्ण प्रतीकात्मक शैली के चित्र में राज्य की सम्पन्नता और राजा का ऐश्वर्य बताया गया है। इस चित्र पर जहाँगीरकालीन चित्रशैली का प्रभाव है।

दूसरे चित्र में राजा को सैनिकों एवं सेवकों के साथ जंगल में बैठा हुआ दर्शाया गया है। इस चित्र में दो शेर और एक बकरी को एकही घाट पर पानी पीते हुए दिखाया गया है। यह चित्र भी प्रतीकात्मक है। इसमें राज्य की समानता, प्रजानुराग, अहिंसा, सद्भावना, शांति और निर्भयता का भाव दर्शाया गया है।

ये दोनों चित्र मुगल शैली से प्रभावित हैं और इनके संबंध में यह संभावना की गयी है कि गढ़वाल में इस शैली का प्रवेश औरंगजेब के शासनकाल में, दिल्ली से गढ़वाल में आने वाले, मोलाराम के पूर्वजों द्वारा हुआ था।

इस प्रकार महाराज बलभद्रशाह तथा महाराज फतेहशाह के समय का अध्ययन करने पर ऐसा अवगत होता है कि पहाड़ी शैली की गढ़वाल शाखा का जन्म लगभग १५वीं शताब्दी में हो चुका था। इस युग के चित्रकारों एवं चित्रों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। महाराज फतेहशाह के समय के जो दो चित्र उपलब्ध हैं वे निश्चित ही इस परम्परा की प्रामाणिक उपलब्धियाँ हैं; किन्तु उनके विश्लेषण से भी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे मुगल शैली से प्रभावित थे; और यद्यपि उनके विषय तथा निर्माण में गढ़वाल की परिस्थितियाँ मुखरित हैं, तथापि उनको न तो किसी पूर्व परम्परा का विकसित रूप कहा जा सकता है और न ही उनको गढ़वाल शैली की भावी समृद्धि का आधार माना जा सकता है। उनका महत्व इसी में है कि वे गढ़वाल चित्रशैली के इतिहास के प्रथम विन्दु हैं।

महाराज फतेहशाह के बाद उनका पुत्र उपेन्द्रशाह कुछ महीनों राज्य करके १७५० ई० में दिवंगत हुआ। उसके बाद उसका चचेरा भाई, दिलीपशाह का पुत्र, प्रदीपशाह (१७१७–१७७२ ई०) परमारवंश का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। महाराज प्रदीपशाह के बाद ही गढ़वाल चित्रशैली की उन्नत परम्परा का आरंभ हुआ और वह महाराज सुदर्शनशाह तक बनी रही। महाराज प्रदीपशाह के बाद महाराज ललितशाह (१७७२–१७८० ई०), उसके बाद महाराज जयकृतशाह (१७८५ ई०), तदनन्तर महाराज प्रद्युम्नशाह (१७८०–१८०४ ई०) और उसके बाद महाराज सुदर्शनशाह गढ़वाल के शासक रहे। सुदर्शनशाह का राज्यकाल ४४ वर्षों

(१८१५-१८५९ ई०) तक बना रहा। सुदर्शनशाह ने राजधानी को श्रीनगर से हटाकर टिहरी में स्थापित किया। सुदर्शनशाह एक साहित्यानुरागी तथा कलाप्रेमी नरेश थे। उन्होंने विद्वानों और कलाकारों को आश्रय दिया। मोलाराम के समकालीन एवं शिष्य चित्रकार चैतू और माणकू इन्हीं के दरबार में रहा करते थे। इन दोनों चित्रकारों के अनेक चित्र आज भी टिहरी के राज्य-संग्रह में सुरक्षित हैं।

गढ़वाल शैली का आरम्भ

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक गढ़वाल की राजनीतिक व्यवस्था बड़ी ही चिन्ताजनक स्थिति में रही है। किन्तु इसके विपरीत उसका सांस्कृतिक एवं कलात्मक धरातल बड़ी ही उन्नतावस्था में रहा है। जिसका संपूर्ण श्रेय गढ़वाल के यशस्वी कवि, चित्रकार और इतिहासकार मोलाराम को दिया जा सकता है।

ऊपर गढ़वाल के जिस शासन तंत्र और शासक-मंडल का परिचय दिया गया है, उसका अध्ययन किये बिना, गढ़वाल की तत्कालीन कलात्मक देन के संबन्ध में हमारी जानकारी अधूरी ही रहेगी; और उस दशा में उक्त ऐतिहासिक विवरण को जान लेना हमारे लिए और भी आवश्यक हो जाता है, जब कि ठीक वही समय मोलाराम के चित्र-निर्माण का भी है। मोलाराम ने अपने समकालीन पूर्वोक्त चारों गढ़-राजाओं के संबन्ध में पद्यवद्ध प्रामाणिक इतिवृत्त और अपनी कला-कृतियों द्वारा उनकी उदार नीति का आँखों देखा परिचय प्रस्तुत किया है। मोलाराम के और उसके समसामयिक गढ़वाल शैली के चित्रकारों के संबन्ध में कुछ कहने से पूर्व गढ़वाल के अभ्युदय तथा उसके क्रमिक विकास के सम्बन्ध में कुछ उपलब्ध तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है।

भारत के दुर्गम पर्वतीय प्रदेश में गढ़वाल का प्रमुख स्थान रहा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, जैसा कि आर्चर महोदय का कथन है कि वहाँ अधिक दिनों तक जागीरदारी स्वतंत्रता की स्थिति बनी रही। वस्तुतः, गढ़वाल की जैसी भौगोलिक स्थिति है, उसके अनुसार होना तो यही चाहिए था कि वहां जागीरदारी की निर्बाध शासनसत्ता का अधिक दिनों तक प्रभाव बना रहता; किन्तु जैसा कि उसकी राजनीतिक स्थिति से प्रकट होता है, वहां एकछत्र एकाधिपत्य भोगने का सुयोग बहुत कम शासकों को नसीब हुआ।

इसकी दुर्गम भौगोलिक स्थितियों के कारण इस प्रदेश को एक लाभ अवश्य हुआ। उसके एकान्त वातावरण में उसकी वास्तविक शान्ति, उसकी स्वतंत्रता का कारण और उसकी सूक्ष्म सांस्कृतिक सफलता का रहस्य सुरक्षित रहा।

आर्चर महोदय ने लिखा है कि सन् १६५८ ई० में एक मुगल राजकुमार, जिसका नाम विदित नहीं है, अपने चाचा शाहंशाह औरंगजेब के यहाँ से भागकर गढ़वाल में आया। उसके साथ एक मुगल कलाकार और उस कलाकार का लड़का भी था। गढ़वाल में इस मुगल कलाकार का प्रवेश चित्रकला के लिए एक प्रकाश-स्तंभ की भाँति सिद्ध हुआ। शाहजादा तो कुछ दिनों बाद गढ़वाल छोड़कर वापिस आ गया; किन्तु वह अपनी इस यात्रा के उज्ज्वल चिह्न उन कलाकारों को वहीं छोड़ आया। ये कलाकार अच्छे स्वर्णकार और उसी भाँति अच्छे चित्रकार भी थे। इन कलाकारों को गढ़वाल में उचित वृत्ति मिलती रही। यद्यपि इस प्रदेश के लिए चित्रकला के क्षेत्र में यह पहला उद्योग था; फिर भी उनका कार्य मध्यम श्रेणी का ही रहा।

आर्चर महोदय को जिस मुगल राजकुमार का नाम विदित नहीं था और उसके साथ दिल्ली से गढ़वाल की शरण में आये जिन अज्ञात स्वर्णकारों तथा चित्रकारों का उन्होंने उल्लेख किया है, वस्तुतः उस राजकुमार का नाम था सुलेमान शिकोह और उन चित्रकारों का नाम था शामदास तथा उसका पुत्र हरदास। ये मोलाराम के पूर्वज थे इनके सम्बन्ध में आगे बताया गया है।

गढ़वाल में चित्रकला के निर्माण का दूसरा उद्योग, अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग से, मोलाराम की रचनाओं से, आरंभ होता है। मोलाराम यद्यपि उक्त मुगल चित्रकार के अंतिम दिनों से ही चित्रकारी कर रहा था; फिर भी उनकी उन आरंभिक कृतियों में दीन, हीन और प्रभाव-रहित शैली का ही दर्शन होता है। वस्तुतः उन कृतियों में कला को कविता का माध्यम स्वीकार किया गया था। किन्तु उसकी कृतियों में धीरे-धीरे नयी शिल्पविधि और नये निर्माण के चिन्ह प्रकट हुए। उत्कट प्रेमकथा को लेकर निष्पाप सौन्दर्य का चित्रण और संगीतमय लय को प्रकट करने के लिए रेखाओं का शुद्ध प्रयोग किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सदियों से पिछड़ी और नितान्त अवनत गढ़वाल शैली ने दस वर्षों के ही भीतर भारतीय चित्रकला की समृद्धि के लिए महान् योग-दान दिया।

गढ़वाल चित्रशैली की इस आकस्मिक उन्नति के मूल में एक बहुत बड़ा कारण यह था कि बाहर से अनेक कलाकार यहाँ आ गये थे और तत्कालीन राजधानी श्रीनगर में उनकी व्यवस्था के लिए उचित प्रबन्ध हो गया था। इन बाहरी चित्रकारों के आगमन का प्रमाण मोलाराम का चित्र-संग्रह था, जिसमें १७५०-१८३३ ई० तक के विभिन्न कलाकारों की कृतियाँ सुरक्षित थीं। मोलाराम चित्रकार और कवि तो था ही; इसके अतिरिक्त चित्रों के संग्रह का भी उसे अद्भुत शौक था।

मोलाराम के हाथ का एक चित्र-संग्रह उपलब्ध है, जो कि १९०० ई० के लगभग का है। इस संग्रह में एक ही शैली के अनेक चित्र हैं। इन सभी पर मोलाराम की हस्तलिपि भी अंकित है। ये चित्र अपनी कठोरता और अपरिपक्वता को ही सूचित करते हैं। इनमें से अधिकांश शब्द-चित्र हैं, जिनमें कलात्मकता कम और कविता-कौशल की अधिकता है। यद्यपि संख्या में ये चित्र अधिक हैं और अनेक नमूने भी उनमें विद्यमान हैं; फिर भी उनमें सर्वत्र भावुकता का अभाव है और उनसे यह भी विदित होता है कि अनुकृतियों को उतारने की दिशा में भी मोलाराम सिद्धहस्त कलाकार नहीं था। बहुत संभव है कि कुछ इसी प्रकार की सामान्य कृतियों के चित्रण में ही मोलाराम अपने कलाकार-जीवन की इति-श्री मान लेता, किन्तु सहसा ही बाहर से अनेक चित्रकारों के वहाँ आ जाने के फलस्वरूप मोलाराम के विचारों में भी परिवर्तन हुआ, और जैसा कि उसका महान् कलाकार होने का दावा था, वह भी जाता रहा।

इस तथ्य से भी यह विदित होता है कि मोलाराम के समय में ही अनेक कलाकार बाहर से आकर गढ़वाल में रहे; और गढ़वाल चित्रशैली की दिशा में, हमारी संभावना से पूर्व ही, अनेक कलाकार सजग होकर कार्य करते रहे।

मोलाराम ने कुछ कविताएँ ऐसी लिखी हैं, जिनसे उनका आत्मार्चन प्रकट होता है; किन्तु इन कविताओं के संबन्ध में हम तब तक अपना कोई निर्णय नहीं दे सकते, जब तक कि उनके भीतर की वास्तविक परिस्थितियों का रहस्य हमें विदित नहीं हो जाता; इसलिए हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि इन आत्म-स्तुतियों का सम्बन्ध उनके कलाकार जीवन पर भी चरितार्थ होता है या नहीं।

काँगड़ा शैली का प्रभाव

१७७५ ई० की लिखी हुई उनकी एक कविता है, जिसमें वही आत्म-प्रशंसा की तड़प है; किन्तु इस कविता को चित्रबद्ध करने के लिए उन्होंने जो शीर्षक दिया है, यद्यपि वह अनगढ़ है, फिर भी उसमें जो रेखाएँ दर्शित हैं उनमें गढ़वाल की नवीन शैली के प्रथम दर्शन होते हैं। चित्रों की पहली प्रतिक्रिया हमें बताती है कि निश्चित रूप से १७७५ ई० या इससे लगभग छ-सात वर्ष पूर्व 'नया वर्ग' अस्तित्व में आ चुका था। यदि हम इस नवीन वर्ग की उपस्थिति १७६९–१७७५ ई० के मध्य में स्थिर करते हैं तो हमारी पहली संभावना काँगड़ा-केंद्र के कलाकारों के प्रति होती है, जहाँ से वे सर्व प्रथम गढ़वाल में आये। हमारी यह संभावना इसलिए भी अधिक दृढ़ होती है कि काँगड़ा और गढ़वाल की चित्र-शैलियों में बहुत-कुछ तारतम्य ही दृष्टिगत नहीं होता, वरन्, उनके वर्णनों की व्याख्या और उनमें चित्रित प्रेमाख्यान कथा-वस्तुओं के अति उत्फुल्ल स्वरूप भी इसकी पुष्टि करते हैं। इसके विपरीत जब हम इन दोनों शैलियों के सिद्धान्त पक्ष पर बारीकी से विचार करते हैं तो हमारे समक्ष उनकी वे आड़ी-तिरछी रेखाएँ उभर आती हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार काँगड़ा की महान् शैली ही अपने विकास का आकस्मिक कारण सिद्ध हुई, ठीक वैसे ही, अपने निर्माण और अपनी उन्नति के लिए गढ़वाल की उक्त नवीन शैली ही एकमात्र कारण रही। १७८० ई० तक हमारे समक्ष ऐसा कोई भी प्रमाण विद्यमान नहीं है, जिससे कि यह सिद्ध हो कि काँगड़ा के पास इस प्रकार का कोई चित्र था, जो कि किसी बाहरी कलाकार द्वारा काँगड़ा में लाया गया या वहाँ के प्रसिद्ध कलाप्रेमी राजा संसारचंद के शासन काल (१७७५–१८२३ ई०) में अस्तित्व में आया हो।

इन सभी बातों के बावजूद हमें यह मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिए कि गढ़वाल चित्रकला काँगड़ा की एक शाखा के रूप में ही जन्मी और उसका विकास १७८० ई० के ही बाद हुआ। हमारी यह धारणा भले ही ऊपर प्रकट किये गये विचारों के अनुरूप न बैठती हो; किन्तु तथ्य यही है। राजा संसारचंद के शक्तिशाली संरक्षण के समय से ही काँगड़ा के कलाकार वहाँ से विकेंद्रित होने लग गये थे।

गुलेर शैली का प्रभाव

सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों शैलियों पर विचार करने में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जब कि १९वीं शताब्दी में काँगड़ा शैली का अन्य केंद्रों में प्रसार हुआ, उस समय तक उस पर दूसरी ग्राम्य शाखाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। दूसरी ओर गढ़वाल की प्रामाणिक एवं वैयक्तिक शैली से काँगड़ा की शैली का एक निश्चित लगाव रहा है; किन्तु उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव था। इस दृष्टि से कदाचित्, यह मान लेना अनुचित नहीं है कि ये दोनों शैलियाँ उस कलात्मक स्रोत की दो अलग-अलग धाराएँ थीं, जिनका विकास उनकी असमान परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रूप से हुआ। यदि यह मन्तव्य कलाविद् विद्वानों को स्वीकार्य हो तो, कदाचित्, इसकी आधार-भूमि कुछ उसी ढंग से निर्मित हुई, जैसे १७८० ई० में गुलेर के कलाकारों ने काँगड़ा में प्रवेश करके काँगड़ा-शैली के नव-निर्माण के लिए एक समर्थ भूमिका तैयार की।

हमें विदित है कि गुलेर के राजा गोवर्द्धनसिंह के राज्यकाल (१७३०-१७७३ ई०) में वहाँ की चित्रशैली में तीक्ष्ण प्रयोगों का सिल-सिला व्याप्त था। प्रेमाख्यान-विषयक कविताएँ अतिशय कोमल भावों में चित्रित की जाती थीं। स्त्रियों के चित्रों में तरल सौन्दर्य का समावेश रहता था, जिनमें लुभावनी ऐंद्रिकता का गुण तीव्रता के साथ उभरता दिखायी देता था। यद्यपि कुछ बाद की कला-कृतियों में इस तीव्रता की कमी थी; फिर भी ये सभी बातें मिलकर एक नयी स्वच्छन्द शैली के निर्माण की सूचना दे रही थीं। नवीन कहावतों के साथ नयी रीतियाँ प्रकाश में आ रही थीं। ठीक इसी समय यदि गुलेर शैली के कलाकार गढ़वाल चले गये होते तो निश्चित ही एक मिली-जुली शैली प्रकाश में आ गयी होती। इसी प्रकार यदि तत्काल ही कुछ कलाकार काँगड़ा चले गये होते तो वहाँ से भी समान शैली के बीज अंकुरित हुए होते। इस भाँति काँगड़ा तथा गढ़वाल के मूल आधार, पूर्ववर्ती गुलेर शैली के अभ्यासों से ओतःप्रोत होते। परस्पर वे एक-दूसरी से मिलतीं-जुलतीं और उन सभी के मूल में एक ही नवीन कलात्मक प्रवृति का प्रतिनिधित्व दर्शित हुआ होता।

फिर भी, जैसा कि प्रत्यक्ष है और ऊपर बताया गया है, यही बात सर्वथा सत्य तथा अन्तिम रूप से प्रामाणिक नहीं है; किन्तु जैसी परिस्थितियाँ रही हैं, उनके अनुसार यही कहा जा सकता है कि वास्तविकता इसी में थी।

प्रतीत होता है कि राजा गोवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात गुलेर के कलाकारों के समक्ष एक संकट की स्थिति पैदा हुई होगी; बल्कि कुछ असंभव नहीं कि उनकी मृत्यु के पूर्व ही कलाकारों की संरक्षण-व्यवस्था में शिथिलता आ गयी हो और उस स्थिति में वे आश्रय-रहित कलाकार जीविका की चिन्ता में अन्यत्र आश्रय पाने की इच्छा में निकल पड़े हों। अथवा यह भी संभव हो सकता है कि एक बाहरी शासक ने जब कुछ कलाकारों को अपने यहाँ आने के लिए आमंत्रित किया होगा तो उसके साथ दूसरे कलाकार भी चलते बने होंगे। एक गुलेर कलाकार पंच के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि दरबार की पूर्ण समृद्धि एवं वैभवावस्था में ही उसने वहाँ का संरक्षण त्याग दिया था।

गुलेर से कलाकारों के विकेंद्रित होने का एक दूसरा कारण भी दिखायी देता है। १७८३ ई० के लगभग सिख उपद्रवकारियों ने सारे पंजाब और यहाँ तक कि गढ़वाल तथा देहरादून के पर्वतीय भागों में बड़ा आतंक मचा रखा था। गुलेर से होकर जाने वाला सामान्य मार्ग भी सिखों द्वारा नष्ट कर दिया गया था। ऐसी अरक्षा एवं ऐसे आतंक के समय अनेक कलाकारों को दूसरे दरबार की शरण में जाने के लिए वाध्य किया गया होगा। काँगड़ा रियासत वहाँ से लगभग ४० मील की दूरी पर थी। स्पष्ट था कि कुछ कलाकार वहाँ त्राण पाने के लिए उद्यत हुए होंगे; किन्तु वहाँ का तत्कालीन राजा घमंडचंद शक्तिशाली होता हुआ भी भावनाहीन था। इसलिए बहुत संभव है कि आश्रय के इच्छुक गुलेर के कलाकारों ने समीप की रियासतों को छोड़कर, दूर की रियासतों की ओर प्रस्थान किया होगा। गढ़वाल वहाँ से लगभग २०० मील की दूरी पर था और वहाँ जाने के लिए मार्ग की व्यवस्था भी थी। फिर भी, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

१७७२-१७८० ई० में गढ़वाल की राजगद्दी पर महाराज ललितशाह बैठे। उनकी दो रानियों से चार पुत्र हुए, जिनमें जयकृतशाह को तो उन्होंने गढ़वाल की राजगद्दी पर प्रतिष्ठित किया और दूसरे पुत्र प्रद्युम्नशाह को प्रद्युम्नचंद के नाम से कुमाऊँ की राजगद्दी का स्वामी नियुक्त किया। प्रद्युम्नशाह ने १७८५-१८०४ ई० तक, लगभग १९ वर्ष, कुमाऊँ में शासन किया।

राजा प्रद्युम्नशाह का विवाह गुलेर राजवंशज अजबसिंह की कन्या से हुआ था। विवाह के अवसर पर एक बहुत बड़ी बारात गढ़वाल से गुलेर गयी थी और राजकुमारी को साथ लेकर वापिस आयी। इस अवसर पर निश्चित ही गढ़वाल के राजा ने गुलेर की कला के लिए उत्सुकता प्रकट की होगी; कुछ असंभव नहीं कि गुलेर के राजवंश ने ही तत्कालीन रीति-रिवाज के अनुसार दहेज में कुछ कला-कृतियाँ या कलाकार भेंट किये हों। इस संबन्ध में यह भी अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि परिणीता राजकुमारी को ही चित्रों का शौक रहा हो और उसके आग्रह पर कुछ कलाकृतियाँ तथा कलाकार गढ़वाल आये हों। इस प्रसंग में हमें बसौली की राजकुमारी को चित्रकार माणकू द्वारा प्रदत्त **'गीतगोविन्द'** की सचित्र प्रति का स्मरण हो आता है। यह बात भी सही है कि उस समय राजमहलों में ऐसी नारियों की अधिकता थी, जो चित्रों में ही व्यस्त रहती थीं और अपने वस्त्रों में से चित्रों को निकालकर उनके उलटने-पुलटने में ही घंटों भूली रहती थीं।

ऐसी स्थिति में यह असंभव प्रतीत नहीं होता कि कुछ गुलेर चित्रकार बारात के साथ गढ़वाल आये हों और स्थायी रूप से वहीं बस गये हों।

इन संभावित परिस्थितियों को देखकर और साथ ही गढ़वाल-गुलेर के चित्रों में इतनी घनिष्ट समानता का अंदाजा लगाकर हमारे उक्त अभिमत में किसी प्रकार की असत्यता या द्विविधा नहीं दिखायी देती। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे गुलेर के ही चित्रकार थे, जो गढ़वाल गये थे और वहाँ के स्थानीय चित्रकार मोलाराम की ईर्ष्या के बावजूद जिन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था।

गढ़वाल शैली के चित्रों का वर्गीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से लेकर अन्त तक के जो चित्र गढ़वाल शैली की दिशा में एक अपूर्व विशेषता का द्योतन करते हैं, आर्चर साहब ने उनका बारीकी से अध्ययन कर उन्हें दो भागों में विभक्त किया है।

प्रथम भाग में लगभग बीस उत्कृष्टतम कृतियाँ हैं, जो कि स्पष्टतः एक ही कलाकार द्वारा निर्मित हैं। उस महान् कलाकार का नाम विदित नहीं है; किन्तु उसकी इन कृतियों में निहित कुछ विशिष्ट गुणों को लक्ष्य करके यह कहा जा सकता है कि उनके तीन क्रमबद्ध स्वरूप हैं।

पहले स्वरूप की कृतियों में गढ़वाल की आरंभिक शैली की प्रतिक्रिया व्यंजित है। अपनी गीतात्मक कोमलता के कारण यह शैली स्पष्टतः गुलेर के प्रयोगों पर आधारित है; किन्तु इसमें कुछ दर्शनीय नवीनता के भाव भी विद्यमान हैं। मुख की आकृति गुलेर कलम से बहुत कुछ मिलती-जुलती है; किन्तु उसमें नया मोड़ है। रंगों की योजना बहुत ही प्रभावोत्पादक है : गहरा, नीला, लाल और उसके पश्चात् गहरा काला तथा हरा। सचमुच ही यह ऐसी ही स्थिति है, जैसे देश-परिवर्त्तन की परिस्थितियों ने उसकी भावुकता को झकझोर दिया हो और उसमें आकस्मिक परिवर्त्तन उभर आया हो, जिसमें एक विशिष्ट कलात्मक प्रभाव का अनुसंधान किया जा सकता है। विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र, बहुत दूर क्षितिज के निकट बसा हुआ छोटा-सा नगर, और उसमें गहरी गाढ़ी नीलिमा, ये सभी बातें गुलेर शाखा के समानान्तर हैं। गहरी स्पष्ट सज्जा, परदों पर पड़ा हुआ हलका प्रकाश, कलात्मक सज्जा का तीव्रता से उद्घाटन करता है। फिर भी यह संपूर्ण शैली छाया-चित्र से सर्वथा असमान है, और इसके संबन्ध में हम एक ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किसी समय गुलेर के कलाकारों ने अपने चित्रों के लिए छाया-शैली को अपना लिया था और उनकी इन विधियों से लाभ उठाया था। बाद के कुछ चित्रों में भी इस महत्वपूर्ण प्रभाव के अंश विद्यमान हैं।

दूसरे स्वरूप की कृतियाँ उनकी विभिन्न विशेषताओं के माध्यम से पहचानी जा सकती हैं। उनमें भूमि-चित्रों के प्रति एक नवीन भावात्मक प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार गुलेर के चित्रकार नारी-शरीर की नकल उतारते थे, उसी कोमल वक्रता के साथ पक्षिहीन वृक्ष-शाखाओं के चित्र उतारे जाने लगे थे। उनमें फूल-पत्ते तो बड़े भावुकतापूर्ण सूक्ष्मता से चित्रित किये जाते थे, जब कि वृक्षों की रचना इस ढंग से की जाती थी, जिससे उनके सभी लक्षण प्रत्यक्ष दिखायी दें। इस स्वरूप की कृतियों में नारीचित्रों की रेखाएँ हलके सौन्दर्य में रंजित होती थीं। प्रकृति की कोमलता नारी की कोमलता में प्रतिध्वनित होती थी। प्रकृति की कोमलता का प्रयोग केवल उत्कट दृश्य को अंकित करने के उद्देश्य या उसे उभारने के लिए भी किया जाता था।

तीसरे स्वरूप की कृतियों में एक गीतात्मक चढ़ाव की मनःस्थिति प्रकट हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजधानी के वृक्षों, पर्वतीय क्षेत्रों से प्रभावित होने के अतिरिक्त, कुशल कलाकार बरसात की मौसम में श्रीनगर की घाटी में दौड़ती हुई धारा और उभरे हुए नर-नारायण नामक दो पर्वतों से टकराकर घुमावदार भँवर वाली महती अलकनन्दा नदी के दृश्य से उत्प्रेरित है। बद्रीनाथ शिखर-समूहों में कुन्लिंग नामक पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में नर और नारायण नामक दो सुन्दर पर्वत स्थिति हैं। इनके पूर्व में नीलकंठ शिखर और पूर्वी ढलान में सतोपंथ की हिमानी अलकनन्दा का उद्गम है। अपनी रागिनियों की कतार के साथ जल-क्रीड़ा से वह कलाकार विशेष रूप से संमोहित था; और परिणामस्वरूप सीधी रेखाओं की एक नवीन शैली का विकास कर रहा था। पर्वतीय क्षेत्रों के चित्रण को सावधानी-पूर्वक सरल करता हुआ और अपने वर्ण्य-विषय को एक घुमावदार प्रयोग देता हुआ वह नयी निष्पत्तियों की दिशा में अग्रसर था। पेड़ों और पुष्पों को झुके हुए रूप में चित्रित किया गया था। यहाँ तक कि पहाड़ियों में भी एक सामान्य उतार का पुट दिया हुआ है।

गढ़वाल चित्रशैली के दूसरे भाग में सामान्य कलाकारों की कृतियों को रखा गया है। इस संबन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि गढ़वाल चित्रशैली के निर्माण में कितने कलाकार संलग्न थे; किन्तु इतना निश्चित है कि विभिन्न कालों में लगभग एक दर्जन कलाकारों ने इन कृतियों का निर्माण किया था। इस भाग के चित्रों में बहुत-से चित्र तो बड़े ही उत्कृष्ट हैं। सुकुमार भावुकता को दर्शाने में बहुत से चित्रकार तो आचार्य श्रेणी के सिद्ध होते हैं। नारी-रूप के समानान्तर पत्रहीन डालियों का प्रयोग; छोटे घुमावदार पेड़ों का प्रयोग; उत्तुंग तारों की भाँति चमकते हुए पुष्पों का चित्रण; चक्राकृत जल-धाराएँ—ये थोड़े-से उदाहरण इस सामान्य श्रेणी के लक्षण निर्धारित करते हैं।

गोरखाशासन और कलाकारों का निष्क्रमण

पर्वतीय प्रदेश गढ़वाल में लगभग तीस वर्षों तक इस प्रकार की स्थित में चित्रकला फूलती-फलती रही। इस चित्रकला की

अभ्युन्नति के लिए शांतिमय वातावरण की बड़ी आवश्यकता थी; और लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही उसकी जगह भावी उत्पात के लक्षण स्पष्ट होने लग गये थे। पँवार वंश के प्रतापी राजा प्रदीपशाह से लेकर प्रद्युम्नशाह तक गढ़वाल में जो क्रांतियाँ और ध्वंस हुए उनका इतिहास बताया जा चुका है। साथ ही यह भी संकेत किया जा चुका है कि राजा सुदर्शनशाह ने अंग्रेजों की सहायता से किस प्रकार गढ़वाल से गोरखा-राज्य की जड़ें उखाड़ीं और सुरक्षा की खोज में किस तरह उसने टिहरी में जाकर अपनी राजधानी को स्थापित किया।

गढ़वाल की चित्रकला के लिए यह राजनीतिक पराजय प्रलय के समान थी; क्योंकि नवागन्तुक कलाकार पूर्णतः दरबार पर निर्भर थे और इस आकस्मिक पराजय के कारण उनकी जीविका के सभी साधन लुप्त हो गये थे। विजयी गोरखे भावनारहित थे, उनके संरक्षण में चित्रकला का निर्माण सर्वथा असंभव था। उन्होंने गढ़वाल को इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, जिसकी तुलना विद्वानों ने आयरलैंड के क्रामवेल-उत्पात से की है। गोरखों के उस निर्मम अत्याचार के सम्बन्ध में इतिहासकार फ्रेजर ने लिखा है कि 'बारह वर्षों तक गढ़वाल में शासन कर चुकने पर ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखों ने गढ़वाल को जीतने में और उसके साथ व्यवहार करने में जिस निर्ममता का परिचय दिया उसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि वे बदला ले रहे थे। गढ़वाल के सभी प्राचीन परिवार नष्ट कर दिये गये; जिन प्रभावशाली पदाधिकारियों को गिरफ्तार किया गया था उनकी या तो हत्या कर दी गयी या उनको देश-निकाला दे दिया गया। वहाँ के गाँव के गाँव जला दिये गये, लूट लिये गये तथा उजाड़ दिये गये; वहाँ के अधिकांश निवासियों को दासों की भाँति बेच दिया गया; जो भाग बच सका था उस पर भारी कर लगा कर उसको कुचल दिया गया; आत्मरक्षा के लिए लोग घर एवं देश छोड़ कर भाग निकले।'

ऐसे भयंकर संकट में निश्चित ही वहाँ के कलाकारों ने राजधानी तथा दरबार त्याग दिया होगा; कुछ उस नर-संहार के शिकार हो गये होंगे। उनमें से जो बच सके होंगे वे या तो गुलेर लौट आये होंगे, या समीप की रियासत सिरमौर में चले गये होंगे अथवा प्रद्युम्नशाह के भाई के साथ काँगड़ा चले गये होंगे। राजधानी श्रीनगर में केवल स्थानीय कलाकार मोलाराम ही शेष रह गया था। १७८० ई० में वह प्रद्युम्नशाह के भाई, नाममात्र के उत्तराधिकारी जयकीर्तिशाह से उलझ गया; और फलस्वरूप सदा के लिए उसने शासन का अनुग्रह खो दिया।

ऐसा करके वस्तुतः मोलाराम ने, परिस्थिति के अनुसार, अच्छा ही किया। उसकी इस दूरदर्शिता का परिणाम अच्छा ही सिद्ध हुआ। राजधानी के गोरखे शासकों को वह जानता था। उनके साथ उसने मेल-जोल बढ़ाया। फलस्वरूप गोरखा-शासक हस्तिदल की मोलाराम के साथ मित्रता हो गयी। कुछ वर्षों तक मोलाराम का उसके साथ यह मैत्री-सम्बन्ध बना रहा। इस समय के अन्तर्गत मोलाराम ने जो चित्र बनाये उनमें भी उसके पिछले चित्रों की भाँति अपरिपक्वता विद्यमान है। किन्तु इस बीच उसने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि अन्य संग्रहों से गढ़वाल शैली के कुछ उत्कृष्ट चित्र एकत्र किये।

मोलाराम और उसके कलाप्रेमी वंशज

गढ़वाल चित्रशैली के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी बताया गया है उसके ओर-छोर तक सर्वत्र मोलाराम का व्यक्तित्व छाया हुआ है; किन्तु उससे मोलाराम की क्रमबद्ध जीवनी का परिचय नहीं मिल सकता। वास्तविकता यह है कि मोलाराम का जीवन परिचय ही प्रकारान्तर से, भारतीय चित्रकला के इतिहास में, गढ़वाल शैली के विकास की कहानी है। इस दृष्टि से भी, गढ़वाल चित्रशैली के अध्येता के लिए मोलाराम के संबन्ध में जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गढ़वाल चित्रशैली का अन्य पहाड़ी चित्र-शैलियों के जितना प्राचीन महत्व है; किन्तु गढ़वाल शैली के एकमात्र प्रतिनिधि कलाकार मोलाराम का परिचय उपलब्ध न होने के कारण, बहुत समय बाद तक, इतिहास लेखक गढ़वाल शैली से सर्वथा अपरिचित रहे। कुछ ही वर्ष हुए, जब कि गढ़वाल के कुछ विद्वानों ने, भारतीय चित्रकला के इतिहास लेखकों को, एक सिद्धस्त कवि, इतिहासकार तथा कलाकार मोलाराम का परिचय देकर भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में प्रस्तुत किया। इस प्रकार के विद्वानों में श्रद्धेय मुकुन्दीलाल बार-ऐट-ला का नाम प्रमुख है। तब से मोलाराम पर और भी कार्य हुआ है।

श्री भक्तदर्शन ने अपनी पुस्तक **'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ'** में मोलाराम की जीवनी भी संकलित की है। इस जीवनी को, उन्होंने तत्संबन्धी पूर्व की सभी प्रामाणिक सामग्री को साथ लेकर, लिखा है। इसी पुस्तक के आधार पर यहाँ मोलाराम के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है; किन्तु वे सभी बातें छोड़ दी गयी हैं, जिनका संबन्ध पिछले पृष्ठों से है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गढ़वाल की धरती पर जो राजनीति का कुहरा छाया हुआ था, कला, कविता और इतिहास की त्रिवेणी से उसको बहा देने का एकमात्र कार्य किया था मोलाराम ने।

मोलाराम के जीवन-पृष्ठ बड़े ही सतरंगे हैं। मुगल शाहंशाह शाहजहाँ के दरबार में बनवारीदास उर्फ विशनदास नामक एक ख्यातिलब्ध चित्रकार था। उसका पुत्र शामदास, शाहजादा दारा शिकोह के साथ रहता था। भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए दारा शिकोह की ज्ञान-देन सर्वथा अविस्मरणीय है। इसीलिए उसके साथ ऐसे व्यक्तियों का संयोग उचित ही था। शाहजहाँ की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकार के लिए भयंकर झगड़ा हुआ तो दारा शिकोह के पुत्र सुलेमान शिकोह को गढ़वाल राज्य की शरण लेनी पड़ी। मई १६५८ ई० में वह राजधानी श्रीनगर पहुँचा और महाराज पृथ्वीशाह (१६४६-१६६० ई०) के दरबार में शरणार्थी बनकर रहने लगा। इसी समय चित्रकार शामदास अपने पुत्र हरदास को साथ लेकर शाहजादा के साथ श्रीनगर आया। लगभग एक वर्ष सात मास तक गढ़वाल राज्य की शरण में रहने के उपरान्त शाहजादा, किसी राजनीतिक षड्यंत्र के कारण औरंगजेब के यहाँ दिल्ली पहुँचा दिया गया; लेकिन गढ़वाल-स्वामी के आग्रह पर शामदास अपने पुत्र सहित वहीं रह गया और तभी से वहाँ के राज्याश्रय में रहकर एकान्त भाव से कला की सर्जना में दत्त-चित्त रहने लगा।

मोलाराम की वंश-परंपरा का यह आरंभिक चरण है; और यह जानकर हमें हर्ष होता है कि इस विलुप्त इतिहास को सुरक्षित रखने का महान् कार्य किया है स्वयं मोलाराम की कविता ने।

उक्त चित्रकार शामदास की पाँचवीं पीढ़ी में, लगभग सन् १७४० या १७४३ को श्रीनगर में मोलाराम का जन्म हुआ। उसके पिता का नाम मंगतराम और माता का नाम रामदेवी था।

मोलाराम का पैतृक-व्यवसाय स्वर्णकारी (सुनारी) था; किन्तु साथ ही वे चित्रकार भी थे; और इस प्रकार कलाकार की विरासत उसे जन्मतः ही उपलब्ध थी। इस दूसरी ही विरासत को उसने अपनाया और इस तरह भारतीय कला को महान् थाती दे गया।

प्रदीपशाह, ललितशाह, जयकृतशाह और प्रद्युम्नशाह, गढ़वाल के इन चारों नरेशों के राज्यकाल में वर्तमान रहकर अपनी कला का सृजन किया और राज्य की ओर से यथेष्ट संमान और विपुल अर्थ अर्जित किया। अपने अपूर्व कार्य के माध्यम से इनकी प्रसिद्धि नेपाल तथा काँगड़ा तक पहुँच गयी। बाद में सिरमौर, गुलेर तथा मंडी आदि तत्कालीन पहाड़ी शैली के कला-केंद्रों में भी मोलाराम का यश फैला।

अकस्मात् ही गढ़वाल पर विपत्ति के घने बादल मँडराये और देखते-ही-देखते कई वर्षों के लिए उसने गढ़वाल की धरती को ढँक दिया। गढ़वाल में यह गोरखों की उदय-स्थिति थी, जिसके कारण गढ़वाल को जो क्षति उठानी पड़ी, इतिहासकारों ने अब तक यद्यपि उसको उतनी गहरी दृष्टि से नहीं देखा, उसको यदि समग्र गोरखा जाति के लिए आजन्म कलंक के रूप में देखा जाय तो तभी हम गढ़वाल में गोरखा-राज्य की उक्त उदय-स्थिति के परिणामों का सच्चा रूप देख सकते हैं।

किन्तु अपनी चतुराई से मोलाराम ने अपने लिए इस अंधकार में प्रकाश का मार्ग खोज निकाला। उसने गोरखा-सेना के सरदार तथा गवर्नर हस्तिदल चौतरिया की पूरी कृपा प्राप्त कर ली। इस गोरखा गवर्नर ने कलाकार मोलाराम से गढ़वाल राज्य की उत्पत्ति और विकास का पद्यबद्ध इतिहास सुनाने के लिए कहा था। मोलाराम बड़ा राजनीतिज्ञ भी था। उसने एक बार गोरखा गवर्नर को अँग्रेजी राज्य के आगमन तक की स्थितियाँ तक बता दी थीं और समय आने पर उससे अँग्रेजों से संधि करने का परामर्श भी दिया था।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना और गढ़वाल की सत्ता अंग्रेजों के हाथों में आने के बाद मोलाराम के समक्ष यह विकल्प उपस्थित हुआ कि परंपरागत राज्याश्रय के लिए सुदर्शनशाह के टिहरी-दरबार में चला जाय या जन्मभूमि श्रीनगर में ही रहे। अन्ततः उसने श्रीनगर में रहने का ही निश्चय किया और जीवन-पर्यन्त वहीं रहकर शेष कार्य किया। इस समय तक उसकी अवस्था ७५ वर्ष की हो चली थी। १८३३ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

मोलाराम ने अपने पुत्रों को भी चित्रकला में दीक्षित किया था; किन्तु उन्होंने अपने पैतृक पेशा स्वर्णकारी को ही अपनाया। उनके बड़े लड़के ज्वालाराम (१७८८-१८४८ ई०) ने कुछ स्केच अवश्य उतारे; किन्तु इन स्केचों का कला की दृष्टि से क्या महत्व है, सर्वसाधारण के संमुख प्रकाश में आने से पूर्व उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। मोलाराम के छोटे पुत्र शिवराम (१७९०-१८५५ ई०) ने चित्रकला की ओर अवश्य ध्यान दिया था; किन्तु युवावस्था में ही उनकी मानसिक स्थिति ख़राब हो जाने के कारण, इस क्षेत्र में वे आगे न बढ़ सके। उनका दूसरा नाम आत्माराम भी बताया जाता है। मोलाराम की तीसरी चौथी पीढ़ी के व्यक्ति आज भी वर्तमान हैं।

मोलाराम प्रमुखतया चित्रकार था; किन्तु कविता, इतिहास और राजनीति में भी उसका असाधारण अधिकार था। हिन्दी के अतिरिक्त फारसी और संस्कृत में भी उसने पद्य-बद्ध रचनाएं की। उसकी कविताएँ विषय की दृष्टि से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं; पहले भाग की कविताएँ वे हैं, जो कि चित्रों के व्याख्यास्वरूप लिखी गयी हैं। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं, जो गढ़वाल के तत्कालीन

इतिहास के लिए प्रामाणिक सामग्री उपस्थित करती हैं। इस दिशा में उनका काव्य ग्रंथ **'श्रीनगर राज्य का इतिहास'** है, जिसको कि १८०३ ई० में गोरखा गवर्नर हस्तिदल के आग्रह पर लिखा गया था। तीसरे भाग में वे कविताएँ हैं जिनका विषय अध्यात्म है; और जिसके अनुसार उन्होंने एक नये अध्यात्म-मार्ग 'मन्मथ पंथ' को प्रचलित किया था।

उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'मन्मथ-सागर' है, जो कि अभी अप्रकाशित है; किन्तु जिसके सम्बन्ध में श्री भक्तदर्शन जी ने प्रामाणिक विवरण अपनी पुस्तक में दिये हैं। इनकी अन्य स्फुट रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

किन्तु मोलाराम की ख्याति एक कवि तथा इतिहासकार की अपेक्षा एक कलाकार के रूप में अधिक है। इन्होंने अनेक विषयों पर चित्र बनाये। कविसिद्ध कलाकार होने के नाते इन्होंने बहुत ऊँचे शब्द-चित्र उतारे हैं। इनके चित्रों में नायिकाभेद, षड्ऋतु, दशावतार, अष्टदुर्गा, ग्रह, दाम्पत्य-जीवन और राजपरिवार आदि का उल्लेख्य स्थान है।

मोलाराम रंगों के मिश्रण में बहुत ही सिद्धहस्त था; सुनहरे और हरे रंग के मिश्रण में वह विशेष दक्ष था। इनके चित्रों में नगाधिराज हिमालय की दिव्य शोभा और गढ़वाल की ममतामयी प्रकृति का सुन्दर चित्रण हुआ है। पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं और नदी-उपत्यकाओं के बड़े ही रस-भाव-पेशल चित्र दर्शनीय हैं। नर-नारायण नामक दोनों पर्वतों के बीच से बहती हुई पावनी नदी अलकनन्दा का बड़ा ही मनोहारी भूमि-चित्र है। नारी-चित्रों में दर्शित आंगिक सौन्दर्य भी दर्शनीय है। व्यक्तिचित्रों में इन्होंने मस्तिष्क पर अर्ध चन्द्राकार चंदन-टीका अंकित किया है, जिससे कि उनके चित्रों की पहचान में बड़ी सहायता मिलती है।

मोलाराम, क्योंकि इतिहासबुद्धि का कलाकार था; अतः उसने अपने प्रत्येक चित्र या चित्र-संग्रह पर अपना नाम तथा निर्माण तिथि अंकित की है। यह निर्माण तिथि उसने पद्य द्वारा प्रकट की है, जिसमें चित्र के विषय का भी संकेत रहता है।

इनके प्रसिद्ध चित्रों के शीर्षक हैं : मोरप्रिया, मस्तानी, महादेव-पार्वती, कृष्ण - राधा - मिलन, बासक - शय्या - नायिका, अभिसारिका नायिका, उत्कण्ठिता नायिका आदि। अनेक व्यक्तिगत संग्रहों के अतिरिक्त मोलाराम के चित्र देश-विदेश के विभिन्न संग्रहालयों में आज भी सुरक्षित हैं।

गढ़वाल शैली के अन्तिम चित्रकार

राजधानी श्रीनगर में मोलाराम की प्रसिद्ध चित्रशाला थी, जो कि राजधानी उठ जाने के बाद, मोलाराम के जीवनपर्यन्त बनी रही। फर्दाक-बाकर अली और मणिराम वैरागी नामक दो बाहरी चित्रकारों ने इनसे चित्रकला की शिक्षा ली थी। टिहरी राजवंश के कुँवर प्रीतमशाह ने मोलाराम से बहुत दिनों तक चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की।

इनके दो यशस्वी शिष्य हुए, जिनके नाम थे : चैतू और माणकू। कहा जाता है कि ये मोलाराम के भाइयों में से थे; किन्तु इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रामाणिक इतिहास वृत्त नहीं मिलते। टिहरी राजधानी बन जाने के बाद संभवतया महाराज सुदर्शनशाह की संरक्षता में ये दोनों वहाँ चले गये। इनके कई चित्र आज भी टिहरी-दरबार में सुरक्षित हैं।

चित्रकार माणकू और चैतू या चैतू साह, महाराज सुदर्शनशाह के राज्यकाल (१८१५–१८५९ ई०) में, जब कि टिहरी राजधानी बन गयी थी, वहाँ आये। चैतू साह ऊपरी गढ़वाल में और मोलाराम श्रीनगर (गढ़वाल) में रहता था। टिहरी के राज-संग्रह तथा व्यक्तिग संग्रहों और विदेशी कला-संस्थानों में इन दोनों कलाकारों के बनाये हुए चित्र आज भी सुरक्षित हैं। गढ़वाल शैली के इन उदीयमान चितेरों के संबंध में सबसे पहले श्री आनन्द कुमारस्वामी ने और उनके बाद श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने लिखा। इन दोनों चित्रकारों ने अपने चित्रों के पृष्ठ भाग पर अपना नाम लिख दिया है, जिससे इनके चित्रों को पहचानने में बड़ी सुविधा होती है।

चित्रकार माणकू द्वारा बनाये गये **'कृष्णऔर राधा'** शीर्षक एक चित्र पर १८८७ वि० (१८३० ई०) की तिथि अंकित है। इस दृष्टि से और स्वयं मोलाराम के उल्लेखों से यह जानने को मिलता है कि माणकू का कार्यकाल भी वही था और तत्कालीन चित्रकारों में उसकी अच्छी ख्याति थी। माणकू काँगड़ा और आस-पास की रियासतों में गया था और उसने वहाँ की चित्र-शैलियों तथा वहाँ के चित्रकारों से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया था। उसने भव्य प्रकृतिचित्रों के निर्माण के अतिरिक्त **'बिहारी सतसई'** और **'गीतगोविन्द'** के सुन्दर दृष्टान्त चित्र उतारे हैं। उसकी कलम में सर्वत्र मार्दव और माधुर्य है।

माणकू को चित्रकला सिखाने के लिए कलाकार मोलाराम ने जो 'आँख मिचौनी' का रेखाचित्र अंकित किया था वह आज भी श्रीनगर (गढ़वाल) में सुर्रक्षित है। मोलाराम के हाथ का बना इसी प्रकार का दूसरा रेखाचित्र अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध कलाप्रेमी विद्वान् कस्तूरभाई लालभाई के संग्रह में बताया जाता है। यह रेखाचित्र इससे पहले आचार्य गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के संग्रह में था।

चित्रकार चैतू साह का नाम गढ़वाल चित्रशैली के अग्रणी निर्माताओं में है। उसकी कलम में अच्छे चित्रकार के सभी गुण विद्यमान हैं। उसने भक्ति, प्रेम और शृंगार आदि विषयों से संबद्ध अनेक चित्र बनाये। श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबद्ध उसके चित्रों में कला और कविता का संयुक्त रुझान है। उसकी कलम का कौशल ब्रज-जीवन की लोकप्रिय झाँकियों को रूपायित करने में देखा जा सकता है। उसने शृंगारविषयक चित्र भी बनाये; किन्तु धार्मिक चित्रों की अपेक्षा वे न्यून ही ठहरते हैं।

इस प्रकार यद्यपि बाद में विभिन्न पहाड़ी शैलियों के चित्रकारों ने गढ़वाल शैली के उत्थान में पर्याप्त योग दिया; किन्तु जिनके कारण गढ़वाल शैली का जन्म हुआ और जिनके नाम के साथ आज गढ़वाल शैली रूढ़-सी हो गयी है उनके नाम हैं : मोलाराम, माणकू और चैतू। गढ़वाल शैली के इतिहास में इस त्रिमूर्ति का नाम अमर है। यद्यपि मोलाराम की अपेक्षा माणकू और चैतू ने कम चित्र बनाये; किन्तु उनमें मोलाराम के चित्रों जैसी प्राविधिक सुरुचि है और वे उतने ही लोक-संपूजित भी हैं।

श्रीनगर से राजधानी उठ जाने के बाद टिहरी राज दरबार से गढ़वाल चित्रकला का रचनात्मक पुनर्जागरण हुआ। सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी टिहरी-नरेश सुदर्शनशाह कला को संरक्षण देते रहे। और १८१६–१८२५ ई० का समय था, जब कि इस क्षेत्र में हम चैतूशाह को उगते हुए पाते हैं। चैतूशाह की शैली अपनी हलकी सज्जा और वायवीय श्वेतता के कारण गढ़वाल-कलम में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उसने सुपरिचित स्थानीय शैली को अपनाया; किन्तु प्राचीन गुलेर-कला से प्रभावित होकर उसने अपनी शिल्प-विधियों को विकसित किया। **'यादव महिला हरण'** उसका प्रसिद्ध चित्र उसकी उत्तम कलाकारिता का उदाहरण है, जिसको टिहरी दरबार में सुरक्षित बताया जाता है।

इस सम्बन्ध में यह संभव हो सकता है कि १७९० ई० से लेकर उसके बाद तक गुलेर चित्रकला अपने नाजुक समय (१८०६–१० ई०) में काँगड़ा शैली द्वारा शासित होती रही हो। जब संसारचंद कुछ गुरखों द्वारा लूट लिये गये थे तब संभव है चित्रकार गुलेर दरबार में ही एकत्र हुए हों। चैतू के अतिरिक्त एक या दो अन्य कलाकार भी तराई में रहे हों; यह भी हो सकता है कि पहले के कलाकार या उनके परिवारजन वहाँ रहे हों। यह निश्चित है कि गढ़वाल चित्रशैली के इस नवोन्मेष ने गुलेर और काँगड़ा के शिल्प को अपनाया। १८२९ ई० मे एक दूसरा प्रभाव भी लक्षित होता है। काँगड़ा के शासक राजा अनिरुद्धचंद सुरक्षा के लिए टिहरी दरबार में भाग आया था। उनके साथ उनकी दो बहिनें, उनके पिता का चित्र-संग्रह और संभवतः कुछ कलाकार भी चले आये थे। उसका पिता राजा संसारचंद (१७७५–१८२३ ई०) काँगड़ा की समस्त शासन-परम्परा में सर्वाधिक कलाप्रेमी राजा था। उसके शासन को काँगड़ा शैली का स्वर्णयुग कहा जाता है। उसकी बहुत बड़ी चित्रशाला थी और उसमें अनेक सिद्धहस्त चित्रकार रहा करते थे। राजा अनिरुद्धचंद ने अपनी दोनो बहिनों का विवाह सुदर्शनशाह के साथ कर दिया था और पिता का वह चित्र-संग्रह भी दहेज के रूप में दे दिया था। काँगड़ा से आये उन चित्रकारों को भी टिहरी दरबार में आश्रय मिल गया था। इसके परिणामस्वरूप १८०३ से लेकर १९वीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश के समय में निर्मित गढ़वाल शैली के चित्रों में काँगड़ा-कलम का प्रभाव प्रकाश में आया। यह शैली, पूर्व गढ़वाल शैली की अपेक्षा न्यून ही थी। इसमें कवित्वपूर्ण कोमलता तथा ग्वालों के छोटे-छोटे गीतों जैसी मोहकता विद्यमान है। अपनी वेगवती सुन्दरता के साथ ही इस प्रकार के चित्रों का निर्माण पूरा हो जाता है।

काँगड़ा चित्रकला की भाँति गढ़वाल चित्रकला का भी सर्वव्यापी संमान नहीं रहा। उसकी प्रसिद्धि स्थानीय रूप में ही बनी रही। यदि इसकी कोई शैली या शाखा भी प्रकाश में आयी तो वह भी छोटे पैमाने पर ही। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो गढ़वाल शैली की वैभवावस्था केवल तीस वर्षों तक ही बनी रही और उसके बाद गढ़वाल में चित्रकला का जो नया दौर शुरू हुआ वह काँगड़ा शैली पर आधारित था।

फिर भी, कवित्व-गांभीर्य की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट चित्र किसी भी छोर में कभी नहीं बने। भारतीय जागीरदारी के संरक्षण में निर्मित, ये कला-कृतियाँ, राजपूतों के शासन से पूर्व, पंजाब तथा गढवाल की पहाड़ी संस्कृति को बड़े ही मोहक ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। उनके उच्च कलात्मक परिवेश में न केवल अपने अंचल के एक छोटे-से दरबार की कलात्मक अभिरुचि का पता चलता है, वरन्, उनसे समग्र भारत की एक भव्य कला-थाती की अभिव्यक्ति होती है। आदर्श सौन्दर्य के महान् गुण के साथ-साथ उनमें निहित धर्म तथा प्रेम का स्वरूप, उसकी काव्यमय भावुकता आदि की दृष्टि से, काँगड़ा कला की अपेक्षा, गढ़वाल चित्रकला भारतीय प्रेम-पद्धति की उत्कृष्टता को मूर्तरूप में हमारे समक्ष रखती है।

१९वीं शताब्दी के आरंभिक पच्चीस-तीस वर्ष पहाड़ी चित्रकला का उत्कर्षकाल रहा है। इस समय गुलेर में गुरु सहाय, काँगड़ा में बसिया और गढ़वाल में मोलाराम चित्रकारी कर रहे थे। किन्तु इन तीनों शैलियों के कलाकारों के कारण इस दिशा में जो आशातीत उन्नति हुई, उसको आगे बढ़ाने में उनके उत्तराधिकारी असफल रहे। यद्यपि १८५० ई० के बाद दरबारों में कलाप्रेम का वह उत्साह क्षीण

हो गया था और योरोपीय चित्रों के प्रति लोगों में रुचि होने लगी थी; फिर भी पहाड़ी शैलियों की अवनति के मूल में प्रमुख कारण उत्तराधिकारी कलाकारों की अयोग्यता ही रही है।

कला-सर्जना की दिशा में शिथिलता का वातावरण व्याप्त होने का एक कारण यह भी था कि सिद्धहस्त आचार्य श्रेणी के कलाकार इतने अनुदार हो गये थे कि अपने पुत्र अथवा शिष्यों को वे कला की समुचित शिक्षा, अपने 'फन' की मौलिक बातें और रेखा-वर्ण आदि की प्राविधिक विशेषतायें बताने के लिए तैयार नहीं थे।

यही कारण था कि १८५० ई० के बाद गढ़वाल, गुलेर, चम्बा और काँगड़ा आदि पहाड़ी शैलियों की उन्नत परम्परा क्षीण होती गयी और कलाकारों में वैसी साधना, निष्ठा तथा प्रेरणा न रही। यद्यपि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी पहाड़ी शैली की विभिन्न शाखाओं में कार्य हो रहा था; किन्तु उसमें परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त कुछ नहीं था। उसकी लोकप्रियता समाप्तप्राय थी। उदाहरण के लिए यदि हम मोलाराम की कृतियों के समक्ष उसके पुत्र ज्वालाराम (१७८८–१८४८ ई०) तथा शिवराम (१७९०–१८५५ ई०) की कृतियों की तुलना करते हैं तो हमें उक्त भेद स्पष्ट दिखायी देता है। यही स्थिति काँगड़ा के कलाकार बसिया और उसके पुत्र लछमनदास के चित्रों में दिखायी देती है।

कला की इस भावी उन्नति में जो अवरोध उपस्थित हुआ, वस्तुतः उसका कारण राजनीतिक परिवर्तन था। अँग्रेजी साम्राज्य की स्थापना से भारतीय राजा-महाराजा और नवाबों में जो कलाप्रेम तथा कलाकारों को आदर-संमान देने की स्वाभाविक उत्सुकता एवं अभिरुचि थी वह न रही। अंग्रेजों ने यहाँ की सुन्दर कलाकृतियों को समेटना शुरू कर दिया था और कला के नाम पर इस देश में कुरुचि तथा अश्लीलता का प्रचार किया। 'फिरंगी शैली' और 'बाजार पेंटिंग्स' जैसे नये कला-प्रयास इसी के परिणाम हैं।

इन कला-प्रयासों के कारण नये 'वाद' या 'इज्म' प्रकाश में आये। यद्यपि ये नये 'वाद' या 'इज्म' पश्चिम की देन थे, और वहाँ के कलाकार वर्ग में वे अतिशय चर्चा के विषय बने हुए थे; फिर भी हम देखते हैं कि इस देश की अतीत संस्कृति तथा कला-साधना से उनका कोई तारतम्य नहीं था। कला के क्षेत्र में पहले-पहल इस असंतुलन से कुरुचि एवं विकृति का ही प्रचार हुआ। उसका कारण यह था कि पश्चिम के नितान्त भौतिकवाद को आत्मसात करने के लिए यहाँ वैसे वातावरण का अभाव था। जहाँ तक भारतीय कलारुचि एवं परम्परा का संबन्ध है, उसमें अनुकरण तथा एकांगिता न होकर उस महान् संस्कृति और मर्यादा का समावेश है, जिसके कारण यहाँ का जन-जीवन अभ्यस्त एवं प्रभावित रहा है। अतः कला के क्षेत्र में जो नये प्रयास तथा अनुसंधान हुए उनसे यह बात स्पष्टतर हो रही है।

गढ़वाल चित्रशैली के अन्तिम दिनों में निर्मित चित्रों में उस नयी पृष्ठभूमि का ईषत् उन्मेष है, जिसका संबंध वर्तमान से है और जो वास्तविक अर्थों में इस देश की देन है।

*

मध्य प्रदेश एवं
बिहार की चित्रशैली

भा.वि.–२९

मध्य प्रदेश की चित्रशैली का आरंभ

मध्य प्रदेश का नया गठन होने के वाद उसकी भौगोलिक सीमायें बहुत दूर-दूर तक फैल गयी हैं। कलात्मक सर्वेक्षण की दृष्टि से उसको हम प्रमुख चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। मालवा, बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और दतिया। इन चार स्थानों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। मध्य प्रदेश में यही चार केन्द्र थे, जहाँ कि मध्यदेशीय चित्रकला का निर्माण हुआ।

८वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक मध्य प्रदेश का शासन जिन शक्तिशाली शासकों के हाथ में रहा उनमें राजपूत, पठान, मुगल और मरहठों की प्रमुखता है। मध्य प्रदेश की प्राचीन चित्रकला में हमें अनेक रुचियों का समन्वय दिखायी देता है। उसका एक कारण तो यही रहा कि उसकी राजनीतिक स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होते गये और दूसरे में उसके सीमावर्ती प्रदेशों की चित्रकला का उससे निरन्तर आदान-प्रदान होता गया। पश्चिम से गुजरात की जैन शैली ने, पूरब में अवध, जौनपुर तथा गोलकुण्डा, बीजापुर की शैलियों ने, उत्तर में मेवाड़ की शैली ने और दक्षिण में खानदेश तथा अहमदनगर की शैली ने मध्य प्रदेश की चित्रकला को निरन्तर प्रभावित किया। बल्कि यों कहा जाय कि परितः फैली हुई विभिन्न चित्र-शैलियों के समन्वय के कारण ही मध्य प्रदेश में चित्रकला का उदय हुआ तो अनुचित न होगा।

मध्य प्रदेश की चित्रकला के इतिहास का आरंभ हम बाघ के गुफाचित्रों से मान सकते हैं। बाघ के ये भित्तिचित्र लगभग ५वीं, ६ठीं शताब्दी प्राचीन बताये गये हैं। ये चित्र यद्यपि बौद्ध चित्रकला की थाती हैं; किन्तु उनमें कुछ चित्र ऐसे भी हैं, जो दरबारी जीवन के वैभव और नृत्य, संगीत के परिचायक हैं। इस प्रकार के चित्र संभवतः बाद के हैं।

बीच की कुछ शताब्दियों को छोड़कर लगभग ११वीं शताब्दी में हमें चित्रकला के कुछ अवशेष उदयेश्वर या नीलकण्ठेश्वर के मन्दिर में देखने को मिलते हैं। यह स्थान बीना-भेलसा रेलवे स्टेशन के बीच है। नीलकण्ठेश्वर का यह मन्दिर जिस प्रकार धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से बहुप्रशंसित है उसी प्रकार कला की दृष्टि से भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें सुरक्षित अभिलेखों से विदित होता है कि उसका निर्माण १०५९ ई० (१११६ वि०) से १०८० ई० (११३७ वि०) के बीच हुआ। उसको राजा उदयादित्य की आज्ञा से बनवाया गया था। मन्दिर का बाह्य भाग उत्कीर्णित चित्रों से सज्जित है, जिसमें अनेक देवी-देवताओं के भव्य रूप अंकित हैं। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय, आठों दिक्पाल, शिव और दुर्गा आदि देवताओं के चित्र बने हैं।

जैन शैली का प्रभाव

१२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जैनों के सचित्र ग्रंथों का प्रवेश मध्य प्रदेश में हुआ। व्यावसायिक जैनियों ने राजस्थान, उत्तर भारत और मध्य भारत में अपनी चित्रशैली को फैलाया। इन चित्रों में नीले और लाल रंगों की प्रमुखता तथा कुछ सुनहलापन एवं हरीतिमा भी थी। इन्हीं के प्रभाव से एक सचित्र पुस्तक १४१९ ई० में माण्डू (मध्य प्रदेश) और दूसरी जौनपुर में लिखी गयी। इनमें जौनपुर की प्रति अधिक सुन्दर थी।

फारसी शैली का प्रभाव

जिस प्रकार गुजरात से मध्य प्रदेश में जैन शैली का प्रवेश हुआ उसी प्रकार गुजरात से ही फारसी चित्रकला का भी मध्य प्रदेश में प्रवेश हुआ। १४३३ ई० में, जब कि मुहम्मद खिजली ने मालवा, राजस्थान और दक्षिण के कुछ हिस्सों पर अधिकार कर लिया तो फारसी चित्रकला का अधिक प्रसार हुआ। मुहम्मद की धार्मिक सहिष्णुता के कारण हिन्दू जनता को राहत तो मिली ही, साथ ही मालवा और बोखारा में सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होकर चित्रकला के क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी पुत्र गयासुद्दीन (१४६९–१५०० ई०) के समय भी उसकी वही स्थिति बनी रही।

गयासुद्दीन के बाद उसका लड़का नसीरउद्दीन शासक हुआ। उसके समय की बनी दो सचित्र पुस्तकें उपलब्ध हैं। एक में **४३ चित्र** हैं, जिसको नेशनल आर्ट गैलरी, दिल्ली में होना बताया जाता है। ये चित्र बुखारा की शैली के हैं। दूसरी सचित्र पुस्तक **'न्यामतनामा'** है। इस पाण्डुलिपि के चित्र बड़े ही सुन्दर हैं।

नसीरउद्दीन के बाद मालवा के तख्त पर महमूद द्वितीय बैठा। वह भी बड़ा हिन्दूप्रेमी बादशाह था। अपने मंत्री मेदनीराय के परामर्श से उसने कई मुसलमान सरदारों को मरवा डाला और कुछ को पदच्युत कर उनके स्थान पर राजपूतों को नियुक्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महमूद के पड़ोसी मुसलमान रजवाड़े क्रुद्ध हो उठे और १५३१ ई० में मुसलमानों के संयुक्त प्रयत्न से खिजली वंश का अन्त हो गया।

मुगल शैली का प्रभाव

किन्तु जन्मत: कलाप्रेमी होने के कारण जब १५३५ ई० में मालवा पर पठानों का शासन हुआ तो चित्रकला के क्षेत्र में भी परिवर्तन की स्थितियाँ प्रकट हुई। इस समय के बने चित्र विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये चित्र अधिकतर स्त्रियों के हैं और इनमें प्रमुखता जौनपुर शैली की है। इस समय जो सचित्र पुस्तकें लिखी गयीं उनमें नसीरउद्दीन के समय की शैली है।

महमूद द्वितीय के बाद माँडू की गद्दी पर बाज बहादुर बैठा। बाज बहादुर और रूपमती की प्रेम-कहानी प्रसिद्ध है। १५१६ में जब माँडू को मुगलों ने जीता तो रूपमती ने आत्महत्या कर ली और बाज बहादुर भाग गया। पुनः १५७० ई० में वह अकबर के सामने उपस्थित हुआ। अकबर ने उसको सेनाध्यक्ष नियुक्त कर लिया।

ऐसी दशा में माँडू फिर स्वतंत्र न हो सका। माँडू शैली के चित्रकार भी तितर-बितर हो गये। उनमें से जो चित्रकार बच सके थे वे मेवाड़ पहुँचे और वहाँ उन्होंने **'गीतगोविन्द'** के तथा राग-रागनियों के चित्र बनाये। १६०५ ई० के राग-रागिनी चित्र प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में तथा ब्रिटेन आर्ट कौंसिल में सुरक्षित हैं। इन चित्रों में माँडू की हू-बहू नकल न होकर मेवाड़ चित्रशैली का प्रभाव है।

१७वीं शताब्दी में निर्मित चित्रों में हम अनेक प्रकार की शैली का समन्वय पाते हैं। इस समय नरसिंहपुर में राग-रागिनी से सम्बन्धित अनेक चित्र बनाये गये, जो माँडू शैली से भिन्न है। ये चित्र संस्कृत के पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित हैं। १६५८ में जो चित्र बने वे यद्यपि मालवा की शैली के अत्यन्त परिवर्तित रूप थे: किन्तु उनमें देशज संस्कृति का अभाव था। जब मुसलमानों का प्रभाव मालवा में था तब प्रेम-सम्बन्धी अनेक चित्र निर्मित हुए। नरसिंहगढ़ में रागमाला के भी अनेक चित्र बने। ये सभी चित्र आधुनिक प्रभावों से ओत:प्रोत हैं। इन चित्रों में स्त्रियों की कमनीयता तथा वृक्ष, फल, फूलों की सज्जा सुन्दर है। रंग चटकीले हैं। बाद में इस शैली का कुछ अंश जयपुर भी पहुँचा और वहाँ १८वीं शताब्दी के चित्रों में ठीक यही रूप देखने को मिलता है।

मरहठा शासन

१८वीं शताब्दी में मध्य प्रदेश पर मरहठों के आक्रमण होने लगे थे। मरहठे वीरताप्रेमी थे। कला उनकी दृष्टि में विलास की वस्तु थी। अत: उन्होंने कला के सृजन पर सर्वथा प्रतिबंध लगा दिया। उन्होंने कुछ हिस्से राजस्थान के अपने अधिकार में करने के बाद मध्य प्रदेश को भी हड़प लिया और इन्दौर तथा ग्वालियर में अपनी राजधानी कायम की। उनकी राज्यलिप्सा ने कला के प्रति उन्हें निष्ठुर बना दिया। उनके शासन में मध्य प्रदेश में चित्रकला की स्थिति बहुत मन्द पड़ गयी।

दतिया और ओरछा

मध्य प्रदेश में राजनीतिक अव्यवस्था के बावजूद भी दतिया और ओरछा में चित्रों का निरन्तर सृजन होता रहा। ये चित्र बुन्देल शैली के थे। दतिया के राजा शत्रुजित के समय (१७६२–१८०१ ई०) में मध्य प्रदेश में चित्रकला की उन्नति हुई। इस समय के बने चित्रों में अनेक शैलियों का सम्मिश्रण है। ये चित्र **रागमाला, रसराज** और **सतसई** के आधार पर सैकड़ों की संख्या में बने। इनमें से कुछ तो जयपुर की शैली के मेल के थे, जिनमें मुगल शैली का भी संमिश्रण है और अधिकतर बुंदेली शैली के थे। इन चित्रों के प्रेरणास्रोत भित्तिचित्र थे। उसके शबीह और धार्मिक चित्र राजपूत शैली के थे। उनका रंग-विधान एवं आलेखन आकर्षक नहीं है। उनके पात्र भावहीन हैं। स्त्रियों की मुखाकृति निश्चित ही सुन्दर है।

शत्रुजित के बाद उसके स्थान पर राजा परीक्षित बैठा; किन्तु उस समय तक सारा मध्य प्रदेश अंग्रेजों के हाथों में जा चुका था। दतिया की चित्रकला में भी ब्रिटिश कला एवं रुचियों का समावेश होकर उसका अपनापन विलुप्त हो गया।

१९वीं शताब्दी में इन्द्रजीतसिंह ओरछा का शासक नियुक्त हुआ। वह कला और कविता, दोनों का अनुरागी था। एक ओर तो उसके यहाँ हिन्दी साहित्य के निर्माण में अनेक ख्यातनामा कवियों को आश्रय मिला और दूसरी ओर '**रसिकप्रिया**', '**कविप्रिया**' आदि ग्रन्थों के आधार पर चित्र निर्मित हुए। ये चित्र मुगल शैली के अनुरूप हैं। मुगलों के अन्त के बाद भारत में चित्रकला को जीवित बनाये रखने वाले राज्यों में ओरछा का प्रमुख स्थान है।

ग्वालियर की चित्रशैली

मध्य प्रदेश की चित्रकला के इतिहास में ग्वालियर की चित्रशैली का प्रमुख स्थान है। १८वीं शताब्दी से पहले, जब कि ग्वालियर में मरहठों का शासन स्थापित नहीं हुआ था, ग्वालियर के तँवरवंश के संरक्षण में चित्रकला तथा संगीत, वास्तु आदि कलाओं की बड़ी उन्नति हुई।

मध्यदेशीय चित्रशैलियों में ग्वालियर की शैली का विशेष महत्व है। उसका महत्व इसलिए भी है कि उसके द्वारा भारत में मुगल संस्कृति और मुगल कला को प्रोत्साहन मिला। यह निश्चित था कि यदि ग्वालियरी तँवरों ने साहित्य और कला के क्षेत्र में इतनी प्रगति न की होती और उसके लिए इतने उत्सुक न रहे होते तो मुगलों के दरबारों में उनको उतना संमान प्राप्त न हुआ होता। मुगल कलाकारों की दृष्टि भारतीय परिवेशों की ओर आकर्षित करने की दिशा में मध्यदेशीय और विशेषरूप से ग्वालियर के तँवर राजवंश का महत्वपूर्ण योग रहा है। यद्यपि तँवरों द्वारा इस कलात्मक संरक्षण का तिथिबद्ध इतिहास नहीं मिलता फिर भी भारतीय कला के इतिहास में उसका स्मरणीय स्थान है।

ग्वालियर में तँवरवंश की स्थापना १४वीं शताब्दी के अन्त में हुई थी। उसका प्रतिष्ठाता वीरसिंहदेव था। यह परम्परा विक्रमदेव डूँगरेन्द्रसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणसिंह, मानसिंह, विक्रमादित्य, रामसिंह तक अर्थात् लगभग १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बनी रही। बाद में उस पर मुगलों का अधिकार हुआ।

मुगलों से पूर्व और महाराज हर्षवर्धन के बाद मध्ययुगीन भारत में कला की संपूर्ण थाती को अक्षुण्ण बनाये रखने और कलाकारों को प्रोत्साहन देने वाले राजवंशों में तँवरवंश का महत्वपूर्ण योग रहा है। संगीत और स्थापत्य की इस युग में बड़ी उन्नति हुई। हिन्दी साहित्य के लिए भी इस युग में अच्छा कार्य हुआ। मध्यदेशीय कला के प्रमुख केन्द्र थे चित्तौड़, जौनपुर, माँडू और ग्वालियर। इनमें ग्वालियर की सर्वाधिक ख्याति थी। वहाँ के कुशल कलाकारों ने स्थापत्य की दिशा में मनभावनी प्रतिमाओं का एवं सुन्दर भवनों का ही निर्माण नहीं किया, वरन् चित्रकला के क्षेत्र में भी रागमाला के अपूर्व चित्रों का निर्माण करके भारतीय कला की अभिवृद्धि में अपना उल्लेखनीय योग दिया। मध्ययुगीन रागमाला के चित्रों के जनक ग्वालियर केन्द्र के कलाकार ही माने जाते हैं। इन रागमाला के चित्रों में रूपसज्जा, रंगों का संगुंजन और रेखाओं का मनोहर समन्वय तो है ही, साथ ही तत्कालीन संगीत के प्रति तँवरवंशीय राजाओं के प्रेम का इतिहास भी सुरक्षित है।

महाराज डूँगरेन्द्रसिंह जिस प्रकार अद्भुत कूटनीतिज्ञ और प्रजाप्रेमी राजा थे उसी प्रकार साहित्य और कला के प्रति भी उनका उतना ही अनुराग था। उन्हीं के राज्यकाल (१४२४–१४५४ ई०) में ग्वालियरगढ़ की चट्टानों पर जैनप्रतिमाओं का निर्माण हुआ था। अन्य जैन कलाकारों को भी उन्होंने आश्रय दिया। उस युग के शिलालेखों में उत्कीर्णित देवसेन, यशकीर्ति, जयकीर्ति और दूसरे भट्टारक साहित्यकारों तथा कलाकारों का नाम मात्र ही आज उपलब्ध होता है।

डूँगरेन्द्रसिंह का पुत्र कीर्तिसिंह (१४५५–१४८० ई०) भी अपने पिता के समान बड़ा कलाप्रेमी नरेश था। ग्वालियरगढ़ की जैन-प्रतिमाओं का निर्माण इनके समय में भी पूर्ववत् जारी रहा। इन कलापूर्ण प्रतिमाओं के निर्माण का समय लगभग १४४०–१४७३ ई० के भीतर है। ये तैंतीस वर्ष उक्त दोनों नरेशों के शासनकाल से सम्बन्ध रखते हैं। इन भावमयी प्रतिमाओं में उनके निर्माणकों तथा आश्रयदाता राजाओं का यश सुरक्षित है। इन प्रतिमाओं में एक ओर तो अप्रतिम सौन्दर्य भरपूर है और दूसरी ओर उनमें श्रद्धा और भक्ति के अपूर्व धार्मिक भाव भरे हुए हैं।

कीर्तिसिंह तँवर के बाद कल्याणसिंह के (१४८१–१४८६ ई०) राज्यकाल में स्थापत्य का अच्छा विकास हुआ, जिसका प्रमाण बादल महल है। कल्याणसिंह के बाद ग्वालियर की गद्दी पर तँवरवंश का सर्वाधिक प्रभावशाली राजा मानसिंह बैठा। मानसिंह

का शासनकाल १४८६–१५१७ ई० के लगभग है। इतने समय तक राजगद्दी पर बने रहना मानसिंह की नीतिज्ञता और बुद्धिमता का प्रमाण है। ग्वालियर के इतिहास में, वहाँ के लोक-जीवन में राजा मानसिंह की स्मृति आज भी बड़ी गरिमा से दुहरायी जाती है। मानसिंह प्रजाप्रेमी नरेश होने के अतिरिक्त साहित्य, कला, इतिहास और संगीत का भी बड़ा अनुरागी था। मानमन्दिर, गूजरी महल और मोती झील के ध्वस्त अवशेषों में जीवित कला आज भी मानसिंह के कलाप्रेम को प्रकट करती है। मानसिंह द्वारा निर्मित मानमन्दिर की ऊँचाई ३०० फीट बतायी जाती है। उसके स्वर्णिम गुंबन्दों की आभा आज फीकी पड़ गयी है और उसका सौन्दर्य नष्ट हो चुका है। गूजरी महल वास्तुकला का अद्भुत नमूना है। इसमें खुदाई का बड़ा सुन्दर कौशल दर्शित है। सम्राट् बाबर ने अपनी आत्मकथा **'बाबरनामा'** में मान मन्दिर और विक्रमाजीत के महलों की कला का विस्तार से उल्लेख किया है। बाबर ने उनको स्वयं देखा था। हाथिया पौर पर खुदाई का काम और उस पर उत्कीर्णित हाथी, सिंह तथा कालिन्दी की आकृतियाँ बड़ी ही मनोहर हैं। जालियों की कटाई भी बड़ी सुन्दर है। रंगीन पत्थरों के मिलान से और उनकी कटाई-छंटाई के कौशल से यह बड़ा ही भव्य मालूम पड़ता है। महल के भीतर काल्पनिक जीवों की आकृतियाँ भी बड़ी सुन्दर हैं।

मानमन्दिर के प्रांगणों और प्रकोष्ठों में सर्वत्र कला के भव्य-स्वरूप का दर्शन होता है। विभिन्न भावों को दर्शित करने वाली नर्तकियों की नृत्यमुद्रायें बड़ी ही जीवन्त हैं। गूजरी महल और मानमन्दिर, दोनों महलों में स्थापत्य और वास्तु के अतिरिक्त चित्रकला का भी सुन्दर समन्वय है। इन महलों के भीतरी भागों में चित्रित रंगीन आकृतियों का रंग आज भी शताब्दियों बाद फीका नहीं पड़ा है। इन महलों को सुन्दर भित्तिचित्रों द्वारा अलंकृत किया गया था, किन्तु ये भित्तिचित्र आज मिट-से गये हैं।

बिहार शैली के आरम्भिक चित्र

चित्रकला के क्षेत्र में बिहार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सच बात तो यह है चित्रकला द्वारा मनुष्य का मनोरंजन अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है। स्वभावतः शैशव-काल से ही मनुष्य रेखाओं के सहारे चित्र बनाने में दिलचस्पी लेता रहा है। उस समय भी जब मानव अपने आदि युग में था और गुफाओं में जीवन व्यतीत करता था, वह गुफ़ा की दीवारों पर अपने अनुभवों और जीवन के दृश्यों को चित्रित करने का प्रयास करता था। बौद्ध-ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि वैशाली में अम्बपाली के विशाल शयन-गृह की दीवारों पर राजकुमारों के चित्र अंकित थे और कहा जाता है कि उसे देखकर ही अम्बपाली विम्बिसार के प्रति मोहित हुई थी।

सुरगुजा-स्थित रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा गुफ़ाओं की भीतरी दीवार पर ज्यामितिक रेखाचित्र, मकर, मछली और अन्य विचित्र दानवों के रंगीन चित्रों के अवशेष मिले हैं। विद्वानों के अनुसार ये चित्र पहली सदी पूर्व के हैं। साँची और भरहुत-रेलिंग और तोरण-द्वार पर बने दृश्य के आधार भित्तिचित्र थे। अजन्ता और बाघ-गुफाओं की चित्रकारी के उदाहरणों से भारतीय चित्रकला की उन्नत अवस्था का पता तो चलता है, पर इसके विकास के प्रारंभिक इतिहास के प्रामाणिक अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। नालंदा के मंदिरों के अन्दर चित्रकारी के नमूने मिले हैं। नालंदा में बौद्ध-भिक्षुओं के निवासार्थ जो महल थे, उनमें प्रत्येक महल पर शिल्पियों ने जीव-जन्तुओं के चित्र बना रक्खे थे। प्रत्येक बालकनी पर रंग-विरंगे दृश्य चित्रित थे। चीनी-यात्री यूआन-च्यांग ने बोध-गया मंदिर का अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन किया है। उसने मंदिरों में की गयी चित्रकारी का वर्णन करते हुए लिखा है कि शिखर की चारों समकोण चतुर्भुजाकार दीवारें मोती की लड़ियों के चित्र से अलंकृत थीं।

अतः बिहार में पालकालीन चित्रकला के नमूने उल्लेखनीय हैं। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में पालयुग की दो तालपत्रीय हस्तलिपियाँ सुरक्षित हैं, जिनके किनारों पर सुन्दर और छोटे-छोटे रंगीन चित्र बने हैं। ये सभी चित्र बौद्ध-धर्म सम्बन्धी हैं। तांत्रिक विचारों से प्रभावित इन चित्रों का पालकालीन मूर्तिकला से निकटतम सम्बन्ध है। शास्त्रीय नियमों का पालन और अलंकारों का बाहुल्य यहाँ भी स्पष्ट है। चित्रों में पालकालीन उद्वेगपूर्ण कम्पन और शृंगारिक भावना प्रकट है। कलात्मकता की दृष्टि से ये चित्र विकसित हस्तकला के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं।

भारतीय कला की परम्परा में कुछ के जीवन सम्बन्धी चित्रों का प्रचुर स्थान है। भरहुत में बुद्ध का, अपनी माँ को दीक्षित करने के बाद स्वर्गलोक से धरती पर आने का, चित्र है। इस चित्र में हम स्वर्ग से धरती पर आने के लिये सीढ़ी लगी देखते हैं, जिसके एक उपरले डण्डे और सबसे निचले डंडे पर बुद्ध के पद-चिन्ह भी अंकित हैं। इस चित्र में बुद्ध के नीचे उतरने का दृश्य प्रत्यक्ष दिखाया गया है।

पटना शैली

प्राचीन भारत के इतिहास में आधुनिक पटना नगर की ख्याति पाटलीपुत्र या कुसुमपुर के नाम से विश्रुत है। धर्म, संस्कृति, साहित्य और राजनीति आदि के विभिन्न दृष्टिकोणों से पाटलीपुत्र का अपना ऐतिहासिक महत्व रहा है। मानवता के हितार्थ और बौद्धिक अभ्युन्नति की दृष्टि से प्राचीन भारत में जितने भी महान् प्रयास हुए हैं उनके निर्माण के मूल में पाटलीपुत्र का नाम भी जुड़ा हुआ है। चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे यशस्वी सम्राटों ने पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी के रूप में स्वीकार करके उसके महत्व एवं उसकी महानता को सहज ही प्रमाणित कर दिया। हिन्दू-राज्यों के अस्त हो जाने के अनन्तर भारत में जब महान् मुगलों का अधिपत्य स्थापित हुआ, उस युग में भी पटना की ख्याति रईसों और धनाढ्यों की नगरी के रूप में बनी रही।

ऐसी स्थिति में यह संभव ही था कि प्राचीन पाटलीपुत्र को कलाकारों ने अपनी आश्रित भूमि के रूप में स्वीकार किया होगा, किन्तु वे कलाकार और उनकी कला-कृतियों के सम्बन्ध में आज वही स्थिति है, जो प्राचीन भारत के समस्त कला-इतिहास पर चरितार्थ होती है; अर्थात् पाटलीपुत्र का वह प्राचीन कला-वैभव आज सर्वथा विलुप्त एवं अज्ञात है।

पटना शैली की चित्र-कृतियों की उपलब्धि मध्ययुग से होती है। १८वीं से २०वीं तक की दो शताब्दियों में पटना शैली के अन्तर्गत जितने तरह के चित्र बने उनमें अधिकांश की प्रतिनिधि कृतियाँ आज भी जीवित हैं।

पहले भी अनेक स्थलों पर यह संकेत किया जा चुका है मुगल सल्तनत के अस्त हो जाने के बाद मुगल दरबार दिल्ली में जितने भी कलाकार थे वे भारत के विभिन्न राज्यों में विकेन्द्रित हो गये थे। इसी प्रकार के कुछ चित्रकार नवाब मुर्शिदाबाद के आश्रय में पहुँचे। नवाब मुर्शिदाबाद का सितारा उस समय देदीप्यमान था। दिल्ली दरबार के निराश्रित चित्रकारों का उसके प्रति आकर्षित होना कोई अस्वाभाविक नहीं था। लगभग तीस वर्ष तक नवाब मुर्शिदाबाद का दरबार चित्रकला का प्रमुख केन्द्र बना रहा। उसके बाद अफगानों तथा मराठों के आक्रमणों के कारण और नवाब तथा कम्पनी के झगड़ों के कारण ज्यों ही नवाब मुर्शिदाबाद की स्थिति बिगड़ी त्यों ही उसके दरबारी कलाकार भी वहाँ से चलते बने।

मुर्शिदाबाद दरबार के निराश्रित कलाकारों में से कुछ कलाकार पटना में आकर बस गये थे। संभवतः यह १७५०–१७६० ई० के बीच का समय था। इसी बीच दूसरे चित्रकार भी वहाँ आकर स्थायी रूप से रहने लगे।

क्योंकि पटना, गंगा के तट पर स्थित होने के कारण, सदा ही व्यापार के प्रमुख केंद्रों में से रहा है; इसलिए तत्कालीन शासन के स्वामी अंग्रेजों का वहाँ अधिक संख्या में रहना स्वाभाविक ही था। ये आँग्ल-व्यापारी वहाँ के सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना न रह सके। फलतः कलाप्रेमी कमिश्नर टेलर महोदय की भाँति दूसरे अंग्रेजों ने भी वहाँ सामाजिक एवं प्राकृतिक जीवन, तथा पशु-पक्षी आदि के चित्र अंकित कर और वहाँ के चित्रकारों से अच्छी-अच्छी कृतियों का निर्माण कराकर विलायत भेजे। इस प्रकार के सैकड़ों चित्र आज भी भारतीय संग्रहालयों, विशेषतया पटना म्युजियम और विदेशी आर्ट गेलरियों में सुरक्षित हैं। कुछ चित्र आँग्ल परिवारों से भी संबद्ध हैं।

वाराणसी के महाराज ईश्वरीनारायणसिंह (१८३५–१८८९ ई०) बड़े कलाप्रेमी थे। उनके यहाँ अनेक विद्वान् और कलाकार रहा करते थे। पटना शैली के दो पारंगत चित्रकार भी उनके आश्रय में थे। उनका नाम था लालचन्द और उसका भतीजा गोपालचन्द। ये दोनों काशी के विख्यात कलाचार्य दल्लूलाल के शिष्य थे। इन दोनों चित्रकारों से महाराज ने पटना शैली के सैकड़ों चित्र बनवाये। पटना शैली की शबीह तैयार करने में भी उक्त चित्रकार निपुण थे।

श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह ने पटना चित्रशैली पर एक महत्वपूर्ण लेख लिखा था। उनका कथन है कि अंग्रेजों की प्रेरणा से जो चित्र बनाये गये थे उन पर अंग्रेजी चित्रशैली और मुगल शैली का प्रभाव है। इस प्रकार पटना शैली के जितने भी चित्र हैं उनका निर्माण उक्त दोनों शैलियों के आधार पर हुआ है, जिन्हें पटना शैली के प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा सकता है; और इसीलिए मध्ययुगीन राजपूत एवं पहाड़ी आदि तत्कालीन भारत की उन्नत शैली के चित्रों के समक्ष जिनका कुछ भी महत्व नहीं है।

पटना शैली के वास्तविक चित्र वे हैं, जो वहाँ के राजा, रईसों, जमीदारों आदि के आदेशों पर या उनके आश्रय में रहकर बनाये गये। टिकरी और बेतिया के राजवंश चित्रकला के बड़े प्रेमी थे। अबरख के पन्नों पर इसी समय चित्र-रचना की जानी आरंभ हुई थी।

श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह ने १९वीं शती को पटना शैली का अभ्युदय काल माना है। उस युग के चित्रकारों में सेवकराम,

जी का नाम पहले आता है। इसी प्रकार श्री ईश्वरीप्रसाद जी (कलकत्ता आर्ट स्कूल के भूतपूर्व उपाध्यक्ष) के पितामह श्री शिवलाल जी भी पटना के प्रमुख चित्रकारों में से हुए। इनके अतिरिक्त श्री हुलासलाल जी, श्री जयरामदास जी, श्री झूमकलाल जी और श्री फकीरचंद लाल जी का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी चित्रकार १८३०–१८५० ई० के बीच हुए। इस समय के चित्रों में कजली स्याही का उपयोग किया गया है। फिरका-चित्र और हाथी-दाँत पर अंकित चित्र भी इस समय बने, जिनका विषय धार्मिक त्योहार और सामाजिक आयोजन आदि था।

पटना शैली के चित्रकारों में श्री शिवलाल जी और श्री शिवदयाल लाल जी का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। ये दोनों चित्रकार १८५०–१८८० ई० के बीच हुए। कहा जाता है कि शिवलाल जी आशु चित्रकार थे और उनके प्रत्येक चित्र का मूल्य दो अशर्फियाँ थीं। उनकी एक प्रसिद्ध चित्रशाला भी थी। पटना शैली के लिए उक्त दोनों चित्रकारों की महान् देन यह रही है कि उन्होंने स्वयं तो इस क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया ही, साथ ही उनकी प्रेरणा से अनेक चित्रकार भी प्रकाश में आये। १८८० ई० में श्री शिवदयाल लाल जी की और उनके सात वर्ष बाद १८८७ ई० में श्री शिवलाल जी की मृत्यु हुई।

इसके अतिरिक्त पटना शैली के चित्रकारों ने जहाँ हाथी और घोड़े अंकित किये वहाँ निम्न श्रेणी के जानवर तथा सवारियों को भी नहीं भुलाया। पटना के अतिरिक्त इस शैली के प्रमुख केन्द्र थे लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, मुर्शिदाबाद, पूना, सतारा, टिकरी और बेतिया।

पटना चित्रशैली के सम्बन्ध में श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह का कथन है कि "पटना के चित्रकारों की एक विशेषता थी, जो मुगल, राजस्थानी अथवा पहाड़ी चित्रकारों में नहीं पायी जाती। वह यह कि जहाँ औरों ने राजाओं तथा पौराणिक आख्यानों के चित्रांकन में ही अपनी कलम की सारी खूबियाँ प्रदर्शित कीं, वहाँ पटना के चित्रकारों ने देश की सर्वसाधारण जनता को भी अपनाया तथा उनके जीवन की झाँकियाँ भी प्रस्तुत कीं। यही नहीं, श्रमिकों की जिन्दगी की कीमत समझी; उन्हें आदर की दृष्टि से देखा तथा अपने चित्रों में उन्हें भी स्थान दिया। 'मछली बेचने वाली'; 'टोकरी बनाने वाला'; 'चक्की चलाने वाली'; 'लुहार'; 'नौकरानी'; 'दर्जी'; 'चर्खा चलाने वाली'; जैसे चित्र इसके जीवित दृष्टान्त हैं।"

★

मध्ययुगीन चित्रकला की प्रगतिशील शाखाएँ

भारतीय चित्रकला पर ईरानी प्रभाव

यूनान की क्रिटीय सभ्यता आदिम युग की उन महान् सभ्यताओं में से एक थी, जिसके प्रभावशाली अस्तित्व के प्रमाण आज इतिहास में सुरक्षित हैं। क्नोसस् इस सभ्यता का केन्द्र था, जहाँ से कि मिनोस् राजाओं के बड़े-बड़े प्रासाद धरती के गर्भ से खोदकर निकाले गये हैं। इन प्रासादों की दीवारों पर अंकित जो चित्र मिले हैं उनका समय लगभग २००० ई० पूर्व में निर्धारित किया गया है। इसी सभ्यता का नवोन्मेष त्राय नगर में हुआ, जहाँ से हाल ही में खुदाई करके कला की विभिन्न सामग्री उपलब्ध हुई है।

खत्ती जाति की छत्रछाया में तुर्की और ईरान की भूमि पर बाबुली-खल्दी सभ्यताओं का जन्म हुआ। बाद में वहाँ शक्तिशाली असुरों का साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसकी राजधानी निनेवे (ईराक) थी। यह असुर जाति अपने युग की विख्यात जाति थी और कला के क्षेत्र में उसकी महत्वपूर्ण देन रही है। **'महाभारत'** पुराणों तथा शिल्पशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थों में जिस मय नामक महान् स्थपति का उल्लेख हुआ है वह इसी असुर जाति का था।

ईसवी पूर्व छठी शताब्दी का मध्य भाग प्राचीन ईरानी संस्कृति का आदिकाल माना गया है। इस युग में आर्यों के दुर्दान्त कबीलों ने निनेवे के असुर साम्राज्य तथा बाबुली-खल्दी साम्राज्यों को ध्वस्त कर के सारे ईरान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। एक समय था, जब कि शक्तिशाली असुरों का साम्राज्य मिस्र और पश्चिमी एशिया से लेकर ईरान तथा बलख तक फैला हुआ था; किन्तु उसके बाद ईरानी आर्यों ने आमू दरिया के काँठे से लेकर दजला फरात की घाटियों, फिलस्तीन तथा नील नद के काँठे तक अपने प्रभुत्व का विस्तार कर लिया था। इस प्रकार ईरानी सभ्यता का प्रभाव एशिया माइनर, ईराक, सीरिया, फिलस्तीन, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान और भारत तक व्याप्त हो गया था। भारत में पंजाब, सिन्ध, काश्मीर और उत्तरी भारत के कुछ हिस्सों में ईरानी संस्कृति की छाप उभर रही थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि मिस्र से लेकर सिन्ध तक के विस्तृत भू-भाग के निवासियों में सांस्कृतिक एवं कलात्मक सम्बन्ध जुड़ गये।

उक्त सभी देशों की भाँति भारत पर भी ईरानी शिल्प का गहरा प्रभाव लक्षित हुआ। फराऊनी, बाबुली तथा असुर सम्राटों और ईरानी दाराओं के भव्य स्तम्भों का शिल्प अशोक के स्तम्भों में उभरा। इसी प्रकार ईरान के वृषभ-मण्डित प्रस्तर स्तम्भ एवं सूसा तथा एकबताना के दाराओं के महलों का भव्य शिल्प मौर्यों द्वारा निर्मित पाटलिपुत्र के महलों में मुखरित हुआ। ईरानी शिल्प की यह विरासत भरहुत तथा साँची के स्तूपों, रेलियों, अमरावती के संगमरमर के रूपविधान, मथुरा के जैन-बौद्धों के स्तूपों की वेदियों और सारनाथ के मूर्ति-निर्माण में रुपायित हुई। ठीक इसी समय तक्षशिला की भूमि पर यूनानी कलाकारों ने गांधार शैली को जन्म दिया, जिसके द्वारा भारतीय कला में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। गुप्तकाल में पहुँचकर यह गांधार शैली विशुद्ध भारतीय रूप में परिवर्तित हुई। तक्षशिला का पार्थ मन्दिर, भारत में, ईरानी शिल्प का अद्वितीय नमूना है। इसी प्रकार आगरा के ताजमहल की सुन्दर गुम्बजों पर ईरानी शिल्प की ही छाप है।

ईरानी शिल्प की यह विशेषता है कि उसमें शृंगार, सज्जा, कारीगरी, रचनात्मक कौशल और कल्पना के भाव बड़े ही सुन्दर ढंग से दर्शित हैं। भारत की कलात्मक अभिरुचियों को समृद्ध करने में ईरानी कला का महत्वपूर्ण योग रहा है। ईरान के सुन्दर वर्ण-विधान ने भारत की चित्रकारी और लेखन को बड़ा प्रभावित किया। ईरान के सुन्दर वर्ण-विधान और सुलेखन के आधार पर मुगलकाल में लिखी गयी सचित्र पोथियों ने भारत के अनेक कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। चित्रकला और लेखनकला के अतिरिक्त मिट्टी के पात्रों और वस्त्र-निर्माण की कला को भी ईरानी कला ने प्रभावित किया। भारत में तराशे हुए अक्षरों की दिशा में, चित्रों के अंकन और बार्डरों तथा दफ्तियों की सज्जा के लिए भी ईरानी कलम का रिक्थ उल्लेखनीय है। लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य तक भी भारत में ऐसे अनेक कलाकार वर्तमान थे, जो ईरान की कला के आधार पर अपनी कलाकृतियों का निर्माण करते रहे।

भारतीय चित्रकला की परम्परागत शैलियों में नयी निष्पत्तियाँ और नये भाव-विधानों का समावेश करने और उसके भावी विकास की ठोस भूमिका तैयार करने में ईरानी कला का महत्वपूर्ण योग रहा है।

हिन्दू चित्रकला की पूर्व पीठिका

यद्यपि मुगल वैभव के साथ-साथ भारत में ईरानी उस्तादों का भी आगमन हो चुका था और शासन के स्वामी होने के कारण मुगलों के दरबारों में उन्हीं का अधिक बोल-बाला एवं रोब-दाब था; फिर भी हम देखते हैं कि मुगलकाल के मुसव्विरों में तीन-चौथाई कलाकार हिन्दू ही थे। और, संभवतः यही कारण था कि ईरानी उस्तादों के अधिपत्य में भी भारतीय कलाकारों की निजी विशेषताएँ, सर्वथा विलुप्त या ईरानी संस्कारों में सर्वथा विलयित नहीं हो पायी थीं।

ईरानी उस्ताद, अधिक यत्नशील होने पर भी, रागमाला के अधिक रसभावपेशल, मार्दवपूर्ण, स्वाभाविक एवं निर्दोष चित्र नहीं उतार सके। भारतीय चित्रकारों को तो यह निपुणता विरासत में ही मिली थी। फिर भी इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि ईरानी शैली के मुगल चित्रकार भारतीय चित्रकारों से किसी कदर न्यून एवं अनभिज्ञ थे; बल्कि उन्होंने प्रतिबिंब-चित्र तैयार करने और ईरान के सुंदर वर्ण-वैचित्र्य को दर्शित करने में हिन्दू चित्रकारों की अपेक्षा अधिक यश कमाया। भारतीय सभ्यता-संस्कृति-विचारों में पूरी तरह घुल-मिल जाने पर भी मुगल चित्रकारों की रागमाला-संबंधी कृतियों में जो दृष्टिकोण अंत तक बना रहा, उसका कारण यह था कि हिन्दू कलाकारों या हिन्दू चित्रकारों की चित्र-विधियों के आधार भारतीय शिल्पशास्त्र के निर्देशों पर अवलम्बित थे। **'चित्रसूत्र'** और **'शिल्पसूत्र'** में शबीह के लिए जो (१) **ऋज्वागत** (२) **अनुजु** (३) **साचीकृत शरीर** (४) **अर्द्धविलोचन** (५) **पार्श्वागत** (६) **परावृत** (७) **पृष्ठागत** (८) **परिवृत** और (९) **समानत** आदि नौ स्थानों का निर्देश है, हिन्दू कलाकारों की अन्तर्दृष्टि उनमें पूरी तरह अभ्यस्त थी, जिनसे कि मुगल कलाकार अनभिज्ञ थे।

ईरानी शैली के मुगल उस्तादों और भारतीय शैली के हिन्दू चित्रकारों की तत्कालीन कलाप्रवृतियों का अध्ययन करने पर स्पष्टतः यह जानने को मिलता है कि उनके विचारों एवं अभिव्यक्तियों में पर्याप्त सामंजस्य तथा उनमें आदान-प्रदान की भावना का उदय हो चुका था। इस प्रकार के हिन्दू-ईरानी चित्रकारों में साँवला, भगवती, कासिम, बिशनदास, अबुलहसन और मंसूर का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दू चित्रकारों और मुगल चित्रकारों की मौलिक भिन्नता का कारण उनके आश्रयदाताओं की परस्पर विरोधी रुचियाँ थीं। हिन्दू राजाओं की आसक्ति जहाँ आध्यात्मिक विचारों पर आधारित थी, मुगल बादशाह वहाँ आमोद-प्रमोद एवं विषय-वासनाओं को पसंद करने वाले थे। तड़कीला-भड़कीलापन उन्हें अधिक रुचिकर था, जब कि इसके विपरीत हिन्दू राजाओं की अभिरुचियाँ सादगी-सात्त्विकता से भरपूर थीं। इसलिए हिन्दू राजाओं के आश्रय में जो चित्र बने या हिन्दू चित्रकारों का जो अपना अभ्यस्त विषय था, मुगल चित्रकार उसको आत्मसात करने में सफल न हो सके; या यों कहना चाहिए अपनी परंपरा तथा अपने आश्रयदाताओं को रुचियों के अनुसार उन्हें हिन्दू शैली में पूर्णतया घुल-मिल जाने की आवयकता महसूस ही नहीं हुई।

हिन्दू चित्रकला पर प्राचीन भारतीय सभ्यता-संस्कृति का प्रभाव है। पुराने भित्तिचित्रों की भावना की प्रबल छाप उनमें सर्वत्र व्याप्त है। उनकी सात्त्विकता, सच्चाई, भाववाहिकता, कोमलता, सुकुमारता, गहरी भाव-व्यंजना और व्यंग्यात्मक आलेखन सभी में भारतीय जीवन का निजस्व वर्तमान है। श्रीकृष्ण की नाना भाव-विभूषित लीलाएँ, पौराणिक प्रतिमानों की योजनाएँ और भारतीय जन-जीवन की भावनाओं, प्रेरणाओं का प्रतिबिंब भी उनमें सर्वत्र दर्शित है।

हिन्दू चित्रकला की उत्तर पीठिका

भारत भूमि में महान् मुगलों का अस्तित्व विलुप्त हो जाने पर हिन्दू कला ने कुछ वर्षों तक निरंतर अपनी सभ्यता के भूले वैभव को फिर से दुहराया। ये चित्र **'रामायण'**, **'महाभारत'** से लेकर हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों के ग्रंथों पर आधारित हैं। ऐसे चित्र यद्यपि मध्ययुग में भी निर्मित हो चुके थे, किन्तु इन बाद के निर्मित चित्रों में और उनमें मौलिक भेद हैं।

राज्याश्रय समाप्त हो जाने पर मध्ययुगीन चित्रकारों ने जिन कृतियों का निर्माण किया उनमें कला की वास्तविक आराधना, कलाकार की आंतरिक अनुभूति, उसका आत्मचिंतन एवं उसकी तन्मयता तथा एकनिष्ठ भावना व्याप्त है। उनमें लोक-जीवन की सच्ची अनुभूति चित्रित है, जिनके मुकाबले में मुगल दरबारों के प्रचुर सुख साधनों एवं ऐश्वर्य के भरपूर वैभव के बीच रचे गये चित्रों की आभा भी फीकी दिखायी देती है। एक ही हाथ की यह मौलिक भिन्नता इस बात की साक्षी है कि कला का चिंतन एवं उसकी अभिव्यक्ति कलाकार की स्वतंत्र स्थिति ही में संभव है।

इस प्रकार की स्थिति ने भारतीय कला के क्षेत्र में एक नये युग का निर्माण किया; या वस्तुतः यों कहना चाहिए कि विदेशी

राजसत्ता के कारण हिन्दू चित्रकला की परंपरा में जो गतिरोध आ गया था, उसकी जो कड़ी टूट गयी थी, उसको फिर से योजित किया गया। ऐसे चित्रों में मनोभावों को प्रकट करने में, रेखाओं का भड़कीलापन प्रायः नहीं के बराबर है; और इसी प्रकार, विषय की अभिव्यक्ति के लिए कम-से-कम रंग उपयोग में लाये गये हैं। कलाकार का ध्येय अब पहिले की अपेक्षा परिवर्तित होकर केवल कला के मूल तत्त्वों पर विचार करने में ही केंद्रित हो गया था। इसलिए ऐसे चित्रों में वाह्याडंबर को सर्वथा त्याग दिया गया, वरन् उनके लिए न अधिक श्रम, न अधिक प्रदर्शन और न अधिक अलंकरण को ही आवश्यक समझा गया।

कलाकार अब सच्ची आत्मप्रेरणा से अपने उद्गारों को रंग, रूप एवं वाणी देने में व्यस्त था। उसे न दोषों के विवेचन का ध्यान था न तो गुणों को अर्जित करने की कामना ही। वह तो बस एक साधक जैसी सच्चाइयों को हृदय में सँजोये हुए अपने विराट् आराध्य के संमुख अपने हृदय के कलुष तथा पवित्रता खोल-खोल कर रख देने के लिए आतुर था। अब न उसे यश की भूख थी और न अर्थ की ही अभिलाषा। यही कारण है कि इस दृष्टि से निर्मित चित्र भारतीय कला की अमर धरोहर के रूप में सिद्ध हुए और इसीलिए जन-सामान्य के द्वारा समाहृत होकर उनकी महत्ता, उनकी ताजगी आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है।

मुगल दरबार के निराश्रित हिन्दू चित्रकारों ने प्रान्तीय रजवाड़ों का आश्रय लेकर जिस नयी कला-शैली को जन्म दिया उससे परम्परागत हिन्दू चित्रकला की विच्छिन्न परिधियाँ एक सूत्र में परिवेष्ठित हुई। इन चित्रकारों ने संस्कृत-हिन्दी के ग्रन्थों के सैकड़ों दृष्टान्त चित्रों का निर्माण करके हिन्दू चित्रकला की समृद्धि को आगे बढ़ाया।

यद्यपि प्रान्तीय रजवाड़ों के आश्रित या स्वतंत्र रूप से दत्तचित्त इन कलाकारों को मुगल-सल्तनत जैसी सुविधाएँ एवं वैसी प्रचुर संपन्नता उपलब्ध नहीं थीं; फिर भी उनके द्वारा आत्मविश्वास के साथ कला की सेवा-साधना करने का परिणाम यह हुआ कि उनकी कला-कृतियों में लोक-जीवन की वाणी मुखरित हो उठी, जिसकी तुलना में शाही-आश्रय में निर्मित वैभवपूर्ण चित्रों का भड़कीलापन स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दू चित्रकला की निर्माण-परम्परा बहुत पुरानी है; किन्तु उसका यह नवीनीकरण लगभग १६वीं शताब्दी से होना आरंभ हुआ था और उसकी यह स्थिति अटूट रूप से १९वीं शताब्दी के प्रथमार्ध तक बनी रही। इस हिन्दू-शैली के विकास चिह्न काश्मीरी, राजपूत और पहाड़ी आदि शाखाओं में प्रतिफलित हुए। भारतीय चित्रकला की इन प्रगतिशील शाखाओं ने भारत के संपूर्ण कला-धरातल को प्रकाशित कर दिया।

मुगल कला भी यद्यपि हिन्दू कला का ही एक अंग है; फिर भी दोनों की प्रकृतियों में कुछ मौलिक अन्तर है। मुगल कला में जहाँ बादशाहों के रुझानों, विलासों और आमोदों की प्रबलता है, हिन्दू कला में वहाँ संयति, शिष्टाचार और आदर्शों की अधिकता है। यदि पहली में अनोखा रेखांकन है तो दूसरी का अनोखापन भावों को दर्शित करने में दिखायी देता है।

एक वृहद् साम्राज्य के स्वामी होने के कारण मुगल बादशाहों से तत्कालीन प्रान्तीय रजवाड़ों का सम्बन्ध निरन्तर ही बना रहा। भारतीय स्थापत्य, भास्कर्य और चित्र, कला के इस त्रिरूप के नवोत्थान में मुगल सल्तनत का महत्वपूर्ण योग रहा है। विधर्मी हिन्दू जनता के हृदयों को जीतने के लिए मुगल बादशाहों ने जिस चतुराई से काम लिया वह प्रशंसनीय है। इन क्षमतावान् मुगल शासकों की इस समझौतावादी नीति का प्रभाव यहाँ की चित्र-रचना पर भी पड़ा, और इसके फलस्वरूप हम देखते हैं कि १८वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९वीं शताब्दी के मध्य तक बने हुए चित्रों में हिन्दू-मुगल कला मिश्रित रूप में आगे बढ़ी। क्योंकि हिन्दू चित्रकार ही मुगल कला के पिता थे, इस नाते हिन्दू कला के साथ मुगल कला का मैत्री सम्बन्ध जुड़ जाना कोई अनहोनी बात नहीं थी। राजस्थान और गुजरात के भित्तिचित्रों एवं चित्रों में इस मिश्रित भाव की मात्रा अधिकता से देखने को मिलती है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आदि में हिन्दू चित्रकला की अनेक उपशाखाएँ प्रकाश में आयीं। इस युग की प्रमुख चित्र-शैलियों के उद्गम स्थान हैं: जयपुर, काँगड़ा, गढ़वाल, नाहन, मण्डी, बसौली, ओड़छा, दतिया, जोधपुर, उदयपुर, गुजरात, महाराष्ट्र और हैदराबाद।

मध्ययुगीन कलाशैलियों का सर्वेक्षण

एक ईरानी यात्री अब्दुर रज्जाक ने (१४४२–१४४४ ई० तक) दो वर्ष भारत भर की यात्रा करने के बाद तत्कालीन भारतीय कला की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने मैसूर के बैलूर नामक स्थल के मंदिरों की छतों पर बनी भव्य तस्वीरों की बड़ी प्रशंसा की थी। इसके अतिरिक्त काँची के वृहद् मंदिरों के भग्नावशेषों से भित्तिचित्रों का पता चला है। इसी प्रकार अनहिलवाड, पाटन आदि के

मध्यकालीन गुर्जर मंदिरों की काष्ठ-मूर्तियाँ तथा आकर्षक रंगों से युक्त धातु-प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। मध्यकाल में चित्रकला का इतना प्रचार हुआ कि जिस प्रकार मौर्य या गुप्त राजाओं के साहित्य के अभ्युदय के समय विभिन्न विद्या-निकेतनों की प्रतिष्ठा हुई और बौद्ध-विहारों द्वारा भारतीय साहित्य का प्रचार-प्रसार दुनियाँ में फैला, उसी प्रकार मध्य युग में चित्रकला के लिए बड़े-बड़े कला-निकेतनों की प्रतिष्ठा हुई और एक ओर तो तत्कालीन चित्रकारों ने अपनी परंपरा सुरक्षित बनाये रखी और दूसरी ओर कला-निकेतनों द्वारा चित्रकला की विरासत शागिर्द-परंपरा से आगे बढ़ी। मुगलों ने इसमें अपना भरपूर योग दिया।

देवकुलों की प्रतिष्ठा की भी प्राचीन काल में व्यवस्था थी। मथुरा में माट नामक स्थान पर कुषाण सम्राटों का एक देवकुल था। वहाँ से प्राप्त मूर्तियाँ मथुरा के अजायबघर में है। इसी प्रकार का एक देवकुल-प्रतिमागार जोधपुर के अन्तर्गत राजनगर मंदिर में प्रतिष्ठित है। देवकुल-प्रतिमाओं के निर्माण की यह परंपरा भारत से जावा, चंपा और सुमात्रा आदि में पहुँची और वहाँ के मंदिरों में आज भारतीय शैली से पूरी तरह प्रभावित प्रतिमागार देखने को मिलते हैं। जिस प्रकार प्राचीन समय में एक देवकुल की प्रतिमाओं को स्थापित करने का प्रचलन था, उसी प्रकार मुगल युग में अनेक चित्रशालाएँ निर्मित करने का शौक था।

१९वीं शताब्दी में भारतीय चित्रकला की प्रमुख दो शाखाएँ थीं : मुगल और राजपूत। पहली शाखा का जन्म मुगलों के दरबार में हुआ था; वहीं उसने समृद्धि पायी और मुगल सल्तनत के साथ ही उसका अस्तित्व एवं प्रभाव भी जाता रहा। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक चतुर्थांश में चित्रकारों का ध्येय केवल प्रतिच्छवियाँ अंकित करना भर रह गया था; और इस परंपरा के चित्रकारों ने प्रायः सारी उन्नीसवीं सदी प्रतिच्छवियाँ अंकित करने में ही बितायी।

इसी समय दिल्ली में एक विशिष्ट शैली का निर्माण हुआ, जिसको 'दिल्ली शैली' के नाम से याद किया जाता है। इस शैली की निपुणता हाथी दाँत पर बारीक दस्तकारी करने में है। इस शैली के चित्रकारों का रंग-विधान और रूप-अंकन प्रायः पुरानी ही परिपाटी पर अवलंबित था।

चित्रकला का क्षेत्र अब एक व्यवसाय का रूप धारण कर चुका था और बहुत सारे व्यवसायी देश के चारों ओर फैल गये थे। चित्रकारों का एक और भी व्यसन हो गया था। वे पुराने कागद पर चित्रों को बनाकर उन्हें पुराना कह रहे थे और उन्हें व्यापारियों के हाथ बेच कर खूब लाभ अर्जन कर रहे थे। एक अद्भुत् पटुता इस काल के चित्रकारों में यह दिखायी देती है कि अपनी प्रतिकृतियों के अंकन में सचमुच ही उन्होंने पुरानापन भर दिया था।

दिल्ली की सल्तनत से निराश्रित कुछ कलाकारों ने लखनऊ के नवाबों के यहाँ जाकर प्रश्रय पाया। कुछ दिन तो इन चित्रकारों ने अपनी कलाकृतियों में मुगलशैली की क्षीण परंपराओं को पुनरुज्जीवित किया; किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नही रही। फलस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रभुत्व में लखनऊ के इन मुगल परंपरा के कलाकारों ने पश्चिम की शैली को अपनाना शुरू किया। अंग्रेजों ने भी इन चित्रकारों को आमंत्रित कर उनसे सुंदर शबीहें तैयार करायीं और लंदन भेजना आरंभ कर दिया। इस प्रकार की दोगली कृतियों के कारण भारतीय चित्रकला में ह्रास ही हुआ। महान् मुगल कला की उन महान् विशेषताओं को इस वर्ण-संकरी परंपरा ने सर्वथा निगल दिया।

दिल्ली और लखनऊ के मुगल शैली के कलाकारों का अस्तित्व इस प्रकार जाता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में मुगल शैली के कुछ चित्रकार बिहार में बसकर कला के निर्माण में लगे हुए थे। मध्य भारत और उत्तर भारत में जब मुगल शैली अपने अंतिम दिनों में पहुँच चुकी थी, उस समय भी बिहार के चित्रकार पूरी साधना एवं निष्ठा से मुगल कला के पुरातन अस्तित्व को बनाये रखने में यत्नशील थे। बिहार के इन कलाकारों ने नये भाव-विधान और नयी साज-सज्जा देकर मुगल शैली को ही एक नयी दिशा प्रदान की, जिसे 'पटना कलम' के नाम से याद किया जाता है। किन्तु लखनऊ की ही भाँति पाश्चात्य कला के प्रभाव से ये 'पटना कलम' के धनी चित्रकार भी अछूते न रह सके और फलस्वरूप सस्तेपन, व्यापारीपन की जो स्थिति लखनऊ के कलाकारों में घर कर गयी थी वही हालत 'पटना कलम' के चित्रकारों की भी हुई।

मुगल दरबार के कुछ निराश्रित चित्रकार दक्षिण में भी जा बसे थे। दक्षिण में भी पहिले ही से कुछ चित्रकार वर्तमान थे, जिनकी कला का संबंध ईरानी शैली से था। दक्षिण में बसे हुए इन ईरानी शैली के चित्रकारों पर मुगल काल से ही मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था; फिर भी उन्नीसवीं सदी तक उनकी कला का ईरानी स्वभाव अधिकांश रूप में विकृत नहीं हो पाया था। इन नवागत मुगल शैली के चित्रकारों के प्रभाव से 'दक्षिण की कलम' में कुछ मिश्रण हुआ और हैदराबाद, औरंगाबाद, दौलताबाद आदि स्थानों में जो चित्र उपलब्ध हुए हैं, उन्हें हम मुगल शैली के अविकल चित्र तो नहीं कह सकते, फिर भी इतना तय है कि वह मुगल शैली की ही एक प्रशाखा थी।

भारत के विभिन्न स्थानों में मुगल शैली के कलाकार के वंशधर फैले और उनके द्वारा सर्वत्र न्यूनाधिक्य रूप से चित्रों का निर्माण हुआ; किन्तु शनैः शनैः दूसरे प्रभावों से ग्रसित होकर उनका अस्तित्व समाप्त भी होता गया।

भारत की दूसरी प्रमुख कला-शाखा राजपूत है, जिसका एक रूप 'पहाड़ी' शैली के नाम से विश्रुत है। इन दोनों कला-शैलियों की परंपरा अति समृद्ध और दीर्घ है। राजपूत शैली यद्यपि राजस्थान के विभिन्न प्रांतरों में अपना विकास करती गयी; तथापि उसका मूल उद्गम जयपुर समझा जाता है। इसी प्रकार पहाड़ी शैली की परंपरा हिमालय के विस्तृत आँचल में बनी रही, तथापि काँगड़ा उसकी जन्म-भूमि मानी जाती है।

राजपूत और पहाड़ी दोनों कला-शैलियों ने यद्यपि अपना निर्माण स्वतंत्र रूप से किया फिर भी पहाड़ी शैली की अपेक्षा उसमें कम प्रभावोत्पादकता, एवं लोकप्रियता लक्षित होती है। राजपूत शैली की जो परंपरा आरंभ में बँध गयी थी; उसी की लीक पर कलाकार अंत तक चलते रहे। उन्होंने नयी दिशाएँ, नयी संभावनाएँ उसको नहीं दी; उसके लिए ऐसी वैज्ञानिक विधियों का निर्माण, ऐसे नये परीक्षण नहीं किये, जिसके कारण उसमें नित नवीनता के भाव लक्षित हो सकें। इतने पर भी, राजपूत शैली के चित्रकारों की हस्तकौशल, शबीहों का अनुष्ठापन और राग-रागनियों एवं पशु-पक्षियों के चित्रण में सुरुचिपूर्ण रेखाएँ एवं रंग-विधान उच्चकोटि के हैं। चरबों का आधार लेकर बनाये गये चित्रों ने राजपूत शैली की उच्चताओं को लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुत घटियापन में बदल दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में निर्मित राजपूत कलाकारों के भित्तिचित्र अपना अतुलनीय स्थान रखते हैं। ये भित्तिचित्र पौराणिक आख्यान-आख्यायिकाओं के आधार पर निर्मित किये गये हैं। इनकी परंपरा जयपुर, उदयपुर और बीकानेर में अधिकतर बनी रही।

राजपूत चित्रशैली की अपेक्षा पहाड़ी चित्रशैली का अपना व्यवस्थित इतिहास एवं उन्नत परंपरा है। पहाड़ी चित्रशैली का आरंभ यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी में हो गया था; किन्तु उसके प्रौढ़ रूप तथा पूर्ण वयस का दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी में चलकर हुआ।

पहाड़ी शैली का विस्तार भी अनेक शाखाओं में हुआ, जिनमें काँगड़ा शैली प्रमुख है। काँगड़ा शैली का आरंभ भित्तिचित्रों द्वारा हुआ। और उनके आधार पर अन्य चित्रों का निर्माण हुआ। अपनी लोकप्रियता के कारण अट्ठारहवीं शताब्दी में ही काँगड़ा शैली का विस्तार उत्तर में जम्मू-गढ़वाल तक और पश्चिम में लाहौर तक हो चुका था। ये चित्र कुछ तो लोक-जीवन संबंधी, कुछ रामायण, महाभारत या पौराणिक आख्यानों पर आधारित, कुछ शबीहों, कुछ राज-दरबारों से संबंधित थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में, जब कि काँगड़ा शैली के चित्रकारों ने लाहौर-अमृतसर जैसे नगरों में धनिकों का आश्रय लेना शुरू किया, तभी उसमें शिथिलता के लक्षण दिखायी देने लगे थे। बाद में तो अँग्रेजों का पूर्णाधिपत्य हो जाने के कारण और विशेषतः १९०५ ई० के भूकंप की वजह से काँगड़ा शैली को गहरा आघात लगा, इस प्रकार उसके उज्ज्वल अस्तित्व की साक्षी बहुत सारी कृतियाँ भी कुछ तो विदेशों को प्रवासित हुईं; और कुछ दबकर विनष्ट हो गयीं।

लाहौर और अमृतसर में बसे हुए काँगड़ा शैली के चित्रकारों के सम्मुख पाश्चात्य कला का आकर्षण विद्यमान था, जिसकी चकाचौंध में आकर स्वभावतः उनकी अपनी मौलिकता नष्ट होती गयी और यूरोपियन शैली के दबदबे से वे अपने को नहीं बचा सके। इसी कोटि के चित्रकारों ने लाहौर में महाराज रणजीतसिंह के आश्रय में रहकर काँगड़ा से कुछ भिन्नता लिए हुए एक नयी शैली के चित्रों का कुछ दिन निर्माण किया। इन चित्रकारों ने विदेशी शासन पर भी कुछ व्यंग्य चित्र बनाये हैं। महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु के साथ इस कला-शैली का भी अस्तित्व समाप्त हो गया।

मुगल और राजपूत चित्र-शैलियों के अतिरिक्त तत्कालीन भारत के चित्रकला के इतिहास में दक्षिण की दो चित्र-शैलियों को भुलाया नहीं जाना चाहिए। एक शैली का जन्म तंजोर में लगभग अठारहवीं शताब्दी के अंत में हुआ। इतिहासकारों का कथन है कि मुगल राजवंश के अस्त समय में हिन्दू-जाति के कुछ चित्रकार तंजोर में आकर बस गये थे, जो कि राजपूत चित्रकारों के ही वंशज थे। कला-समीक्षकों का विश्वास है कि तंजोर में बस जाने वाले राजपूत चित्रकारों के वंशजों की कलाकृतियों और राजपूतशैली की कलाकृतियों में कोई समानता नहीं है। तंजोर की चित्रशैली अपने अनुसार बढ़ी, और विकसित हुई। इस शैली के चित्रों में हाथीदाँत पर शबीहों का अंकन दर्शनीय है। तंजोर और पुदुकोटा के पुराने राजमहलों में इस शैली के चित्र सुरक्षित हैं। तंजोर के राजा शिवाजी (१८३३–५५ ई०) के समय तक इस चित्रशैली का प्रचलन बना रहा।

दूसरी दाक्षिणात्य शैली का जन्म मैसूर में अठारहवीं शताब्दी में हुआ और उसकी परंपरा वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी तक बनी रही। कलाप्रेमी, कलाकार कृष्ण राजा वाडयार के आश्रय में मैसूर शैली के चित्रकारों को बड़ा प्रोत्साहित मिला, जिनका

समय १८६८ ई० तक है। मैसूर के राजमहल में इस प्रकार के चित्र सुरक्षित हैं, जो कि हाथीदाँत पर अंकित हैं और जिनका महत्व तंजोर चित्रशैली से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

पहाड़ी शैलियों की विशेषताएँ

पहाड़ी चित्रशैली के पहिले चिह्न यद्यपि पंजाब में प्रकट हुए; किन्तु हिमालय के विस्तृत अंचल में बसे हुए विभिन्न पहाड़ी प्रांतरों में उसका विकास एक साथ ही हुआ और यहाँ तक कि उसका ह्रास भी लगभग एक ही साथ हुआ।

पहाड़ी चित्रशैली के निर्माण में १७वीं शताब्दी में निर्मित मुगल शैली के यथार्थवादी चित्रों का अतिशय प्रभाव है। पहाड़ी कलम में रेखाओं का नुकीलापन और रंगों की सज-धज पर भी मुगल कला का आंशिक प्रभाव है। वास्तविकता तो यह है कि मुगल दरबारों से निराश्रित कलाकारों के पहाड़ी राज्याश्रयों में बस जाने के कारण, उन्हीं के द्वारा पहाड़ी चित्र कला का निर्माण हुआ। इसीलिए पहाड़ी कलम में मुगल प्रभाव की छाप है।

पहाड़ी शैली के चित्र यद्यपि पुराणों, महाकाव्यों एवं काव्यों पर भी आधारित हैं; किन्तु उनकी अधिकता हमें व्रजभाषा के कवियों के काव्यों एवं कविताओं के आधार पर दृष्टांत रूप में मिलती है। कुछ चित्र लोक-कला, लोक-साहित्य और लोक-आचारों पर, कुछ नायिकाभेद पर बने और बहुत सारे स्वयं कवित्त रच कर कलाकारों ने उसी का दृष्टांत चित्रों में उतारा। अजंता की चित्रावली में जीवन मुक्त साधु, संतों, महात्माओं, सन्यासियों और भिक्षुओं के जो एकांत भाव-दर्शित हैं; उसमें जो साधना और स्वतंत्र कर्मवृति अभिव्यक्त है, उसी भाँति पहाड़ी कला में भी कलाकार की स्वान्तः सुखाय एवं स्वाधीनता की आंतरिक दृष्टि देखने को मिलती है। पहाड़ी शैली के चित्रों में भावों को सफलतापूर्वक चित्रण करने की क्षमता, प्रत्येक पात्र के गतिज्ञान की दृष्टि है और प्राकृतिक घटनाओं का बड़ा ही मार्मिकता से चित्रण किया गया है।

पहाड़ी चित्रकारों ने कुछ देवसंकुल आकृतियों का भी निर्माण किया; किन्तु पहाड़ी कलम की पूर्णता उसमें नहीं दिखायी देती। कृष्ण की लीलाओं से संबंधित चित्रों में तो पहाड़ी कला अपनी चरमोन्नति को पहुँची है। कृष्ण लीलाओं के ग्राम्य-जीवन संबंधी चित्रों को निर्मित करने में पहाड़ी कलाकारों ने बड़ी निपुणता प्रदर्शित की है। देवत्व प्रतिमानों से युक्त कृष्ण के कुछ चित्रों को पहाड़ी कलाकारों ने बड़ी ही मार्मिकता से निर्मित किया है।

पहाड़ी चित्रकारों की एक विशेषता चित्रों की पृष्ठ-भूमि में प्रसंगानुसार वातावरण की सृष्टि करने में दिखायी देती है। चित्रों की उपयुक्त पृष्ठभूमि अभीष्ट विषय को अधिक से अधिक प्रकाशित करने में बहुत सहायक होती है। विरह के भावों को दर्शित करने के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता है, संयोग में वह विपरीतावस्था का द्योतक है। इसी प्रकार शांत, श्रृंगार, वीर आदि नव रसों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण एक जैसी विधियों से नहीं किया जा सकता।

नायिका भेदों की विभिन्न आकृतियों को सँजोने-सँवारने में भी पहाड़ी कलम का अपना विशिष्ट स्थान है। रीतिकाल की कविताओं एवं काव्यों के दृष्टांत चित्र उतारने में अत्यंत पटु पहाड़ी शैली के कलाकारों ने बारहमासे के चित्रों में भी अपना रोबीला प्रभाव छोड़ा है।

भारत में अंग्रेजी राज्य की प्रतिष्ठा के साथ-साथ ही पहाड़ी शैली का ह्रास हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अन्य कलाशैलियों की भाँति पहाड़ी शैली का पुनर्मूल्यांकन हो रहा है।

जहाँ तक पहाड़ी शैली की विशेषताओं का संबंध है, अनेक दृष्टि से वे अनुपम हैं। पहाड़ी शैली के चित्रकार रस और भाव के अभिव्यंजन में बड़े ही कुशल थे। इसी प्रकार के चित्रों को पहाड़ी शैली का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है।

पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने कथानक के अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति, अनेक व्यक्तियों के चित्रों में कलात्मक एकता का समावेश और विषय के अनुसार वातावरण का संपुंजन (कम्पोजिशन) बड़ी ही विदग्धता से दर्शित किया है। उनके चित्रों में नर-नारी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि का संतुलन भी दर्शनीय है। इस प्रकार के उपयुक्त संपुंजन और संतुलन ने ही पहाड़ी शैली के चित्रों में जीवन फूंक दिया है, और इसी हेतु उनमें अपरिमित सौन्दर्य समाविष्ट हुआ दिखायी देता है।

राजपूत चित्रों की भाँति पहाड़ी शैली के चित्रों में लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार नहीं हैं। राजपूत शैली के चित्रों में यह लाक्षणिकता अपने हद दर्जे को पहुँच गयी थी। जब प्रत्येक चित्रकार ने अपने अभिप्रायों को लाक्षणिक रूप से ही अभिव्यक्त करने का

उद्देश्य बना लिया था तो राजपूत चित्रों की श्रेष्ठता में ह्रास की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं। पहाड़ी शैली में हमें इस लाक्षणिक अतिवादिता का सर्वत्र अभाव देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने व्यंजना को अधिक अपनाया है और उसका निर्वाह भी बड़ी कुशलता से किया है। व्यंजना का सफल निर्वाह ही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी माना गया है। उसी प्रकार पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने भी व्यंजना का आश्रय लेकर अपनी कृतियों की श्रेष्ठता को प्रकट किया है। करुणा, उत्साह, भय, प्रीति और आनन्द आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए चित्र की पृष्ठिका में वर्ण-योजना, प्राकृतिक दृश्यों का आकलन और पशु-पक्षी आदि के विषयानुकूल दृश्य अंकित करके अभिव्यंजना का सुन्दर प्रयोग किया है।

पहाड़ी शैली के कलाकार काव्यशास्त्र के भी ज्ञाता थे। उनके चित्रों में प्रसंगानुसार ओज, प्रसाद और माधुर्य, इन तीनों गुणों का सुन्दर अभिव्यंजन हुआ है। उनकी प्रवाहमयी, प्राणवन्त रेखाएँ, उनका सन्तुलित रंग-विधान और उनकी उदात्त कल्पना ने मिलकर उनकी कला को उन्नतावस्था में पहुँचा दिया इसीलिए लोकप्रियता की दृष्टि से अजन्ता के बाद पहाड़ी शैली के चित्रों को ही, न केवल भारत में, अपितु, संसार भर में सराहा गया है।

वे चितेरे कलासिद्ध थे। जैसा कि भवभूति ने काव्यसिद्ध कवीश्वर महामुनियों के सम्बन्ध में कहा है कि वे अर्थ के पीछे नहीं भागते, बल्कि कविता उनकी वाणी का अनुगमन करती है; ठीक इसी प्रकार पहाड़ी शैली के व्युत्पन्न कलाकारों की कूची के पीछे कला के भाव-विधान स्वयं ही दौड़ पड़ते थे। यही कारण था कि उन्होंने **'रामायण'**, **'महाभारत'** जैसे वृहद् ग्रन्थों के सहस्त्रों चित्र बिना व्यतिक्रम के उतार कर रख दिये और विशेषता यह कि उनके पहले चित्र में जो मार्दव, माधुर्य, पटुता तथा प्राँजलता दर्शित है, उनके अन्तिम चित्र में वे सभी विशेषताएँ समन्वित हैं।

भारतीय चित्रकला की समृद्धि के इस मध्ययुग में जिन नाना नाम-सूत्र चित्र शैलियों का उदय और उत्कर्ष हुआ उनके फलस्वरूप कला के क्षेत्र में सर्वथा नयी मान्यताएँ प्रकाश में आयीं। वस्तुतः देखा जाय तो इसी युग में भारतीय चित्रकला की सर्वांगीण उन्नति हुई। २०वीं शताब्दी के मध्य से लेकर विदेशी कलाकारों और कला-समीक्षकों के आकर्षण का केन्द्र भी इसी युग की चित्र-शैलियाँ रही हैं। भारतीय चित्रकला के प्रति विदेशों में मध्य युग से जो दृष्टिकोण बना हुआ था उसमें परिवर्तन हुआ और उसकी जगह नयी मान्यताएँ स्थापित हुईं।

मध्ययुग का यदि ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण किया जाय तो एक ओर जहाँ देश के ओर-छोर तक राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, निरन्तर छोटे-बड़े युद्ध और पुराने रजवाड़ों की जगह नयी शासन-सत्ताएँ स्थापित हो रही थीं, वहाँ दूसरी ओर, उसी प्रगति एवं उत्साह से साहित्य तथा कला का भी पुनर्जागरण हो रहा था। देश की केन्द्रीय सत्ता मुसलमानों के हाथ में थी। देश के चारों दिशाओं में हिन्दू रजवाड़ों की अधिकता थी। केन्द्रीय सत्ता के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के कारण यद्यपि सभी हिन्दू रजवाड़े आतंकित और भयभीत थे; फिर भी कला के प्रति उनकी उत्सुकता में किसी प्रकार की शिथिलता न आने पायी। वस्तुतः वह ऐसा युग था, जब कला-व्यसन और कलाकारों के समागम को स्वाभिमान एवं गौरव का विषय समझा जाता था। कला उस युग की राष्ट्रीय चेतना थी। उसको राष्ट्रीय संमान प्राप्त था। कला की उन्नति को अपनी उन्नति समझा जाता था।

तत्कालीन शासकीय संमान के साथ-साथ लोक-दृष्टि से भी कला का अपना महत्व था। कलाकारों का एक विशिष्ट वर्ग स्वतंत्र रूप से कला की साधना में दत्तचित्त था। कला के प्रति उदात्त लोकरुचि के कारण प्रायः प्रत्येक घर में कला-कृतियों का संग्रह और संरक्षण होता था। लोक की इस कलारुचि और सुरक्षा-व्यवस्था के कारण ही मध्ययुगीन कला-कृतियों के वृहत् संग्रह अब तक जीवित रह पाये।

यद्यपि चित्रकला की साधना-सर्जना मध्ययुग से पहले भी निरन्तर अपनी उन्नत परम्परा में थी; फिर भी मुगलों के कारण इस दिशा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। चित्रकला से मुगलों को विशेष प्रेम था। उन्होंने बड़े यत्न से देश के कलाकारों को एकत्र किया, उन्हें पूर्ण सुविधाएँ तथा स्वतंत्रता दी और उनके लिए राज्य की ओर से भव्य चित्रशालाओं का निर्माण करवाया।

मुगलों की इस कलाप्रियता का प्रभाव देश के समस्त राजा, महाराजाओं, नवाबों, रईसों और जागीरदारों पर लक्षित हुआ। राजपूतों के संरक्षण में चित्रकला की विशेष उन्नति हुई। सारे राजस्थान में अलग-अलग नगरों के नाम से राजपूत शैली की नयी शाखायें प्रकाश में आयीं। उनका प्रभाव पंजाब और मध्य देश की रियासतों पर भी परिलक्षित हुआ। फलतः देश के वृहद् भू-भाग में राजपूत शैली ने अपना एकाधिकार प्रतिष्ठित किया।

पंजाब की पहाड़ी रियासतों में राजपूत शैली नये परिवेश में प्रकट हुई। उसका नया अभिधान 'पहाड़ी कलम' के नाम से हुआ।

काँगड़ा, गुलेर, चम्बा और बसौली के नाम से पहाड़ी शैली की उपशाखायें नये भाव-विधान और नयी दृष्टि के रूप में प्रकाश में आयीं। गढ़वाल और जम्मू में भी उसका प्रभाव प्रसारित हुआ।

इस युग में चित्रकला को राजनीतिक संमान के साथ-साथ धार्मिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। जैन शैली और वैष्णव धर्म के आचार्यों के संरक्षण में निर्मित चित्रों का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। यद्यपि जैन चित्रकला का आरंभ मध्ययुग से पहले हो चुका था; किन्तु उसको लोकसंमान तथा लोक दृष्टि मध्ययुग में ही प्राप्त हुई।

मध्ययुगीन चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी धर्मप्रियता। उसमें यद्यपि आलंकारिक और शृंगारिक चित्र भी बने; किन्तु उसकी विशेषता धार्मिक चित्रों के निर्माण में है। धार्मिक अवतारों में श्रीकृष्ण को ही उन्होंने अपनाया। श्रीकृष्ण कलावतार भी थे; कलाकार की आराधना के चरम लक्ष्य। श्रीकृष्ण ने पुरुषरूप में अवतरित होकर इस धरती पर अपनी लीलाओं को रचा। इसलिए उनसे संबंधित चित्रों को धरती का मानव सहज ही में समझ सकता है। '**महाभारत**', '**भागवत**' और '**गीतगोविन्द**' आदि श्रीकृष्ण विषयक जितने भी मुख्य ग्रंथ हैं उन सबके सर्वाधिक दृष्टान्त चित्र मध्ययुग में ही निर्मित हुए। इस प्रकार के चित्रों के निर्माण में पहाड़ी शैली के चित्रकारों का प्रथम स्थान है। मुगल बादशाहों की आज्ञा से इस प्रकार के बहुसंख्यक चित्र मुगल शैली के चित्रकारों ने भी बनाये।

इस प्रकार मध्ययुगीन चित्रकला की प्रगतिशील शाखाओं ने तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक चेतना को ही उजागर नहीं किया, बल्कि उसमें सामाजिक और राजनीतिक सामंजस्य भी स्थापित करने का प्रशंसनीय यत्न किया। भारतीय चित्रकला के इस स्वर्णयुग में कला की जो चरमोन्नति हुई, इतिहास में वह अपना बेजोड़ स्थान रखती है।

★

लोककला

उद्भव और विकास

कला के उद्भव और विकास की कहानी अनन्त है। मानव-जीवन के अभ्युदय के साथ उसका जन्म हुआ और मानवता के विकास के साथ ही वह आगे बढ़ी। अतीत के सभी युगों पर उसके अस्तित्व की छाप विभिन्न रूपों में बनी रही। उसके जो प्रतिमान, परिभाषायें, उद्देश्य, आदर्श और प्रयोग वैदिक युग में थे, बाद के युगों और आज के जीवन से उनका तारतम्य नहीं बैठता; फिर भी इसका यह आशय नहीं कि उसमें कोई क्रमबद्धता है ही नहीं। साहित्य में, समाज में तथा राजनीति में जिस प्रकार विगत की अपेक्षा वर्तमान भिन्न होता है और उस भिन्नता के ही आधार पर उनकी अपनी वास्तविकतायें पहचानी जाती हैं उसी प्रकार कला, जो कि मानव की सौन्दर्यानुभूति का मापदण्ड है, अपने विगत की अपेक्षा अपने वर्तमान में सर्वथा भिन्न होती है।

वैदिक युग में मानव की सौन्दर्यानुभूति के जो आदर्श थे, आगे के युगों में उनका स्वरूप बदलता गया। किन्तु प्रत्येक युग की कला में उस युग की छाप अंकित होती गयी। उदाहरण के लिए मौर्य युग के कलावशेषों को देखकर सहज ही यह जानने को मिलता है कि उस समय का लोक-जीवन, परम्परा से कुछ हट कर, कल्पित देवलोक की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानवलोक पर अधिक विश्वास करने लग गया था। इसी हेतु उस युग के कलाकारों ने अपनी कृतियों में देवताओं की भीड़ का चित्रण न करके सामान्य जन-जीवन के दैनिक क्रिया-कलापों को ही अंकित किया। इसी प्रकार अजन्ता, एलोरा और बाघ आदि के भित्तिचित्रों में भारत की परम्परागत कलासाधना के विभिन्न स्वरूपों की छाप अंकित है।

लोककला के अभ्युदय की तुलना यदि हम साहित्य के अभ्युदय के साथ करके देखें तो अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार हमारे वाङमय की समृद्धि के दो पक्ष रहे हैं उसी प्रकार हमारी कला की समृद्धि भी दो रूपों में आगे बढ़ी। हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृत ने साहित्य की अभिवृद्धि के लिए एक साथ ही जिन दो भाषाओं को जन्म दिया उनमें से एक थी संस्कृत और दूसरी थी लोकभाषा। भारतीय वाङमय के विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से जो कार्य संस्कृत ने किया वही कार्य परोक्ष रूप से प्राकृत, अपभ्रंश और उनकी अनेक विभाषाओं ने किया। संस्कृत की भांति लोक-बोलियाँ भी बड़े वेग से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में पल्लवित होकर निरन्तर आगे बढ़ती गयीं और साहित्य की भाषा संस्कृत ने हमारे वाङमय को जितना दिया, इन लोक-बोलियों की देन उससे किसी भी अंश में कम नहीं रही। हमारे लोक-मानस के बीच मौखिक रूप में सुरक्षित यह लोक-साहित्य कितना व्यापक एवं वृहद् है, इसके प्रमाण हमें आज मिल रहे हैं जब कि हम उसके अनसंधान-अन्वेषण में अग्रसर हैं।

यही स्थिति लोककला की भी रही। उसने अपना विकास विभिन्न रूपों में किया। उसका एक रूप परम्परागत विश्वासों, रहस्यात्मक संकेतों और अतीत के संस्कारों पर आधारित था। उसका दूसरा रूप वह था, जिसमें सामाजिक रीति-रिवाजों की प्रमुखता थी। इसके अतिरिक्त अपनी अनुभूतियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की ओर भी कलाकार का ध्यान था। इस दृष्टि से प्रतीकात्मक शैली के अमूर्त 'आलेपन' चित्र; सामाजिक रीति-रिवाजों को अभिव्यक्त करने वाले बाँस, बेत तथा सूत की वस्तुओं का आलेखन; और राजस्थान के पटुओं (चित्रकारों) द्वारा किये गये रेखांकनों का इस प्रसंग में उल्लेखनीय योग रहा है।

मोटे रूप में कला की यह थाती दो तरह से आगे बढ़ी। उसका एक रूप तो शास्त्रीय था, जिसके निर्माणक या तो राज्याश्रित पेशेवर कलाकार थे या वे कलाकार थे, जो स्वतंत्र साधना में अभिरत थे। इस शास्त्रीय कला के विकास का इतिहास, अजन्ता, एलोरा, बाघ तथा उसके बाद राजपूत, मुगल एवं पहाड़ी आदि विभिन्न शैलियों में अभिव्यंजित हुआ। किन्तु उसका दूसरा रूप अपने इतिहास और अपनी ख्याति की अपेक्षा किये बिना हमारे पारिवारिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन की परम्पराओं के साथ संबंद्ध होकर, हमारे बौद्धिक धरातल को स्पर्श किये बिना हमारे आँगनों में पलता हुआ आगे बढ़ा। भारत की कोटि-कोटि जनता के जीवन में एकप्राण होकर यह लोककला न जाने अतीत की किस स्वर्णिम वेला से हमारे उल्लासमय संबंधों में जुड़कर हमारे साथ चली आ रही है। बिना किसी अवलम्ब, आश्रय, प्रोत्साहन और प्रलोभन के स्वतंत्र, स्वच्छन्द एवं सौम्य गति से वह निरन्तर आगे बढ़ती रही। क्योंकि वह हमारे आँगनों की वस्तु रही है, अतः ममतामय तथा मधुर घरेलू संबंधों की भाँति उसकी अटूट एकता हमारे साथ बनी रही।

हमारी इस लोककला को परम्परा से आगे बढ़ाने का कार्य ग्रामीण जनता ने किया। उसने अपनी प्राचीन संस्कृति और कला की विरासत को जीवन-दान देकर एक ओर तो प्रभुत्वशाली वर्ग की दासता से उसकी रक्षा की और दूसरी ओर उसमें इतनी जीवनीशक्ति भरी कि वह विश्वकला की प्रगतिशील भाव-धारा के साथ आगे बढ़ सके।

यद्यपि भारतीय लोककला की प्रगति का सही इतिहास जानने और प्रस्तुत करने की दिशा में अभी तक संतोषजनक यत्न नहीं हुए हैं, तब भी यह निश्चित-सा है कि समय की गति के अनुसार उसने अन्तर्देशीय स्थितियों को अन्तर्राष्ट्रीय परिवेशों में पिरोकर समन्वय की एक ऐसी भूमिका तैयार की, जो रचनात्मक थी। समय के द्वारा स्वभावतः नये तत्त्वों को पुराने ढाँचों में ढालकर हमारी जो सांस्कृतिक एवं कलात्मक विरासत आगे बढ़ी उसमें परिष्कार के साथ-साथ व्यापकता भी थी। यह मिश्रण तथा परिष्करण, जूठन या अनुकृति नहीं थी; बल्कि विचारों के नवोत्थान की भाँति कलात्मक जागृति तथा सांस्कृतिक उत्थान का शिष्ट स्वरूप था।

हमारी बौद्ध और जैन संस्कृतियों का उदय परम्परा के प्रति एक चुनौती थी। यह चुनौती यद्यपि समाज के उस वर्गविशेष के प्रति थी, जिसने विचार, संस्कृति, रीति-रिवाज और धर्म पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। महावीर स्वामी और बुद्ध ने व्यक्तिहित तथा धर्महित का बहिष्कार कर के मानवता के व्यापक हितों के लिए आवाज लगायी। इसलिए उनको समाज का समर्थन प्राप्त हुआ। उस समय का लोक-संपूजित धर्म लोकमानस का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रहा था। उसने साहित्य और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किया। साहित्य की ही भाँति कला में भी लोकधर्मीय तत्त्वों को अपनाया जाने लगा और समस्त एशिया के देशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए उसके द्वारा अच्छी भूमिका तैयार हुई।

इस अच्छी भूमिका की आधार-भित्ति जानने के लिए हमें लोककला के मूल स्रोत का शोध करना पड़ेगा। भारतीय लोक-जीवन में प्राचीन काल से ही धरती के प्रति अथाह पूजाभाव रहा है। धरती के प्रति लोक-जीवन की इस उत्कट आस्था को श्रुतियों ने अनेक तरह से बताया है। इसके अतिरिक्त हमारे दार्शनिकों ने भूमि-तत्त्व की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है; इस प्रकार विज्ञान की दुनियाँ आज उसके गर्भ में विचरण करके नित नये आश्चर्यों को प्रकाशित कर रही है।

परम्परागत हमारी लोकरुचियों को जीवित रखने के लिए भारत के विभिन्न प्रदेशों में लोककला ने जो कार्य किया विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। हमारे अज्ञातनामा लोक-कलाकारों ने, जिनमें नारियों की मुख्यता रही है, धरती के प्रति अपनी पवित्र निष्ठा को अपने हृदय की अजस्र रस-धारा द्वारा अभिसिंचित करके कुछ ऐसी सहज, सुन्दर कलाकृतियाँ हमें दीं, जो हमारे राष्ट्र की संपूर्ण चेतना को आह्लादित करती हैं।

यद्यपि विभिन्न प्रदेशों में लोककला के इन भूमि-चित्रों को अनेक नामों से कहा गया; किन्तु उनके मूल में जो आह्लाद तथा आत्मीयता है वह सर्वत्र एक जैसे रूप में विद्यमान है। महाराष्ट्र में जिसको '**रांगोली**', गुजरात में '**साथिया**', राजस्थान में '**मांडणाँ**', उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में '**सोन रखना**' या '**चौक पूरना**', अल्मोड़ा तथा गढ़वाल में '**आपना**', बिहार में '**अहपन**' और बंगाल में '**अल्पना**' कहा जाता है, नामभिन्नता के बावजूद भी उसके भीतर सारे देश की आत्मा बोल रही है। देश के प्रत्येक अंचल के इन लोक-चित्रों की सैंकड़ों तरह की आकृतियाँ यद्यपि कला-खोजियों ने प्रकाशित कर दी हैं; किन्तु संख्या में वे इससे भी अधिक हैं।

लोककला के इन प्रचलित नामों में कल्पवल्लियों का भी एक स्थान है। भारत में ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व ही घरों की स्वच्छ दीवालों पर सूक्ष्मरेखा-विशारद कलाकार नाना भाव-रसों से युक्त इन कल्पवल्लियों का अंकन किया करते थे। यद्यपि उनके इस स्वरूप में शास्त्रीय दृष्टि की अधिकता है; किन्तु वस्तुतः वे लोककला की ही अनुभूतियाँ हैं और उनका विकास हमें भित्तिचित्रों के निर्माण में दिखायी देता है। लोककला के उक्त विभिन्न रूप धूलि-चित्रों पर आधारित अपने विकास का इतिहास स्वयं ही बताते हैं। ये धूलिचित्र पिसे हुए चावलों अथवा रंग-विरंगी मिट्टी से बनाये जाते थे, जिनका प्रचलन मौर्य युग में ही हो चुका था। लोककला की प्राचीन परम्परा की उपलब्धि शुंगकालीन साँची के तोरणों में अंकित जातक कथाओं के लोक-चित्रों में होती है। साँची की कला को इतनी लोकप्रियता प्राप्त होने का यही कारण था कि उसमें लोक-रुचियों का समावेश था।

इस लोककला का प्रभाव अजन्ता के भित्तिचित्रों में भी देखने को मिलता है। इन भित्तिचित्रों में ग्रामीण अल्पना के नमूनों को लेकर सुन्दर अलंकरण तैयार किये गये हैं। इसी हेतु अजन्ता की चित्रावली को इतनी मान्यता प्राप्त है; और इसी दृष्टि से राजपूत, मुगल, जैन और पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने उसका रिक्थ अपनी कृतियों में समाविष्ट किया।

जैन-शैली और काश्मीर तथा दक्षिण में उपलब्ध अपभ्रंश शैली के चित्रों में भी लोककला की थाती व्याप्त है। इन अपभ्रंश शैली के चित्रों में लोक-जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति तभी संभव हो सकी, जब कि वह धार्मिक सीमाओं में बँधी रही और राज्याश्रयों के विलासमय वातावरण से अछूती रही। साहित्य के क्षेत्र में जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा ने लोक-जीवन के उदात्त पक्ष को व्यक्त किया

चित्रकला के क्षेत्र में उसी प्रकार जैन कला ने लोक-जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। अपने उदयकाल में ही उसने लोक-परम्पराओं एवं लोक-विश्वासों को ग्रहण कर लिया था। उसका आरंभ लोकप्रेरणा से हुआ और अपनी संपन्नावस्था से लेकर अपनी सांध्यवेला तक उसमें लोक संपर्क की भावना बनी रही।

पर्व, त्योहारों तथा विवाह-शादी के समय मंगलमय चिह्नों को दीवालों तथा आँगनों पर अंकित करने का रिवाज बहुत पुराना है। आँगन तथा धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को **चौका** या **रांगोली** (**रंगवल्ली**) और दीवारों तथा द्वारों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को **थापा** या **ठापा** कहते हैं। प्रत्येक त्योहारों तथा उत्सवों के लिए भिन्न-भिन्न **थापा** अंकित किये जाने का प्रचलन है। इन **थापों** और **चौकों** के द्वारा हमें भारत की विभिन्न जातियों तथा जनपदों की संस्कृति एवं लोकाचारों के दर्शन होते हैं।

महाराष्ट्र में श्वेत-चमकदार पत्थर को अग्नि में तपाकर बारीक पीसा जाता है और तद्नन्तर उसमें अन्य कृत्रिम रंग मिलाकर **रांगोली** तैयार की जाती है। किन्तु गुजरात के रांगोली के स्थान पर '**कलोटी**' का प्रयोग होता है। आज भी महाराष्ट्र तथा गुजरात में रांगोली तथा कलोटी से आँगनों को सज्जित किया जाता है। चित्र-विचित्र फूल-पत्तियों तथा वेल-बूटे अंकित करके उनके द्वारा सुख-समृद्धि का आवाहन किया जाता है। यह प्रथा वहाँ के लोक-जीवन में प्राचीन काल से चली आ रही है, जिसके प्रमाण हमें वहाँ के पुराने राजप्रासादों, घरों तथा मन्दिरों आदि में देखने को मिलते हैं। राजस्थान में '**मांडणां**' के लिए लाल (राती) भूरा या हरा रंग प्रयोग में लाया जाता है। दीपावली के '**मांडणां**' को छोड़कर सभी में खड़िया से मांडणा माड़ा जाता है। दीपावली के मांडणों में मूल आकृति को हींगुल से चपकाया जाता है। मांडणा का मूल रंग सफेद या हींगुल होता है। राजस्थान के प्रायः प्रत्येक घर में भित्तियां, तोरणद्वारों तथा सिंहद्वारों पर चित्र रचना और चौक में '**मांडणा**', का कार्य देखने को मिलता है। वहाँ के भवनों में वातायनों, शिखर तथा द्वार आदि में घोड़ा, तलवार, रत्न, कदली पत्र, गणेश, चक, सारस आदि के चित्रण में वहाँ की लोककला मुखरित है। इसके अतिरिक्त पोली, शहतीर, चौखट और खाट के पावों पर रमणीय चित्रकारी अवलोकनीय होती है। रक्षाबंधन तथा अन्य उत्सवों एवं त्योहारों पर गेरू या हिरमच द्वारा चूने की सफेद दीवालों पर यह चित्रकारी की जाती है।

संझ्या, राजस्थान में कुमारी कन्याओं का एक त्योहार है, जो पितृपक्ष से लेकर नवरात्र तक चलता है। इन पंद्रह दिनों में प्रतिदिन एक आकृति तैयार की जाती है और अन्त में संझ्या, लोककला का एक भव्य रूप बन कर तैयार होता है। वास्तव में देखा जाय तो संझ्या मांडने का यह उत्सव राजस्थान की नारियों में वाल्यकाल से ही लोककला के प्रति दृढ़ आस्था जागृत करने का सूचक है।

इसी प्रकार राजस्थान में **मेंहदी मांडने** की प्रथा है। प्रत्येक त्योहार, उत्सव तथा ऋतु में वहाँ मेंहदी मांडने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रचलित है।

बंगाल के अल्पना चित्रों में, कुछ अवसरों पर तो फूलों तथा पत्तियों के निचोड़ से गीले रंग तैयार किये जाते हैं; किन्तु कभी-कभी कोयला, ईंट, हरी पत्ती तथा हल्दी के सूखे रंग प्रयोग में लाये जाते हैं। अल्पना-चित्रों के लिए बंगाल में घरों पर ही रंग तैयार किये जाते हैं। प्रायः सेलखरी को पीस कर श्वेत चूर्ण से स्त्रियाँ घरों के आँगनों, दीवालों तथा द्वारों पर चित्रकारी करती हैं। कभी-कभी खड़िया चूर्ण की जगह आटा या कलई से भी काम लिया जाता है। पहले सफेद चूर्ण से अल्पना का खाका तैयार किया जाता है और बाद में उसको त्रिभुज, चतुर्भुज, षट्कोण, अष्टकोण, वर्ग, वृत्त, विन्दु, सरल और आड़ी-तिरछी रेखाओं में विभाजित कर उसमें तरह-तरह के रंग भरे जाते हैं। इन रंगों को अधिक टिकाऊ बनाने के लिए उनमें गोंद घोल दिया जाता है। अल्पना में प्रायः ज्यामितिक ढंग की रेखायें होती हैं।

भारतीय संस्कृति तथा लोकाचारों के साथ अपनी अभिन्न एकता बनाये हुए '**अल्पना**' एक घरेलू कला के रूप में वर्षों से हमारे साथ चली आ रही है। उसको मांगल्य का सूचक माना जाता है, और उत्सवों तथा त्योहारों के समय वह हमारी संस्कृति के पवित्र तथा सुरुचिपूर्ण पक्ष को प्रकट करती है।

बंगाल की लोककला का प्रचार आज राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर है। बंगाल की लोककला का प्रचार साधन पटचित्र रहे हैं। ये पटचित्र यद्यपि व्यापारिक दृष्टि से बनाये जाते थे; तथापि इन्हीं पटचित्रों के द्वारा बंगाल की लोककला उड़ीसा, आसाम, और उत्तर भारत तक पहुँची। पटचित्रों के निर्माता (पटवे) ये कलाकार रंगों के प्रयोग और डिजायनों (आकल्पनों) के बनाने में बड़े पटु होते हैं। उनके द्वारा लोकशैली में अंकित बीच-बीच में देवी-देवताओं के चित्र और उनके बार्डरों पर चारों ओर पशु-पक्षियों का चित्रण बड़ा ही भव्य होता है।

पटचित्रों के अतिरिक्त बंगाल की लोककला का दूसरा रूप मिट्टी के घड़ों तथा उनके ढक्कनों की चित्रकारी में देखने को मिलता

है। इस चित्रकारी में पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी, फूल, पत्ते, बेल, बूटे आदि अनेक तरह की आकृतियों का चित्रण होता है, और उनके लिए जिन रंगों का प्रयोग किया जाता है उनमें पीठिया (सफेद) हल्दिया (पीला) तथा लाल रंगों की प्रमुखता होती है।

इसी प्रकार बिहार के **'अहपन'** और अल्मोड़ा-गढ़वाल के **'आपना'** लोकचित्रों में भी लगभग अल्पना के रंगविधान को ही अपनाया जाता है। **'चौक पूरना'** में लाल, पीले और हरे रंगों का प्रयोग होता है। उत्तर प्रदेश में **'साँझी'** का त्योहार बड़े उल्लास से कई दिनों तक मनाया जाता है। इस उत्सव पर गोबर की एक बड़ी प्रतिमा बनायी जाती है, उसको वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके उस पर सुनहली, रुपहली पन्नियाँ चिपकायी जाती हैं।

इन लोकचित्रों में रंगों और रेखाओं की अपनी मौलिकता होती है। उनमें पृष्ठभूमि के अनुसार ही रंगों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें सफेद, हरे, पीले और नीले रंग की अधिकता होती है। मांडणों में प्रायः लाल, भूरा या हरा, रांगोली में काला या चाकलेटी; और सथियों में चाकलेटी, मोरपंखी तथा जामुनी आदि गहरे रंगों का प्रयोग किया जाता है। यदि पृष्ठभूमि गहरे रंग में हो तो उस पर आकृति हल्के रंग की और यदि पृष्ठभूमि हल्के रंग में हो तो आकृति गहरे रंग की होती है। यह रंग-योजना बड़ी सावधानी से की जाती है, जिससे आकृति के उभार में स्वाभाविकता झलके। ये रंग प्रायः आटा, हल्दी, चावल तथा फूल-पत्तियों के बनाये जाते हैं।

इन चित्रों की रेखाओं में सुघराई और बारीकी की अपेक्षा भावना की प्रधानता होती है। उनमें सादापन और धार्मिक पवित्रता का भाव होता है।

गुजराती साथिया के अतिरिक्त रांगोली, अल्पना, मांडणा, मेंहदी, अहपन, आपना, सोन रखना तथा चौक पूरना आदि जितनी भी आकृतियाँ हैं उनको चित्रित करने के लिए सभी सामग्री घर की स्त्रियाँ तैयार करती हैं।

विषय की दृष्टि से इन लोकचित्रों का अपना महत्व है। अल्पना चित्रों का विषय प्रायः प्राकृतिक सुषमा को व्यंजित करना होता है। उनमें फूल, पत्ते, वृक्ष, वल्लरी, पशु-पक्षी आदि का अधिकता से चित्रण होता है, जिससे उनमें कोमलता, सुन्दरता और हरा-भरा-पन दिखायी देता है। अन्य लोक-चित्रों में स्थानीय रुचियों के अनुसार विषयों का समावेश होता है। यदि मोटे तौर पर देखा जाय तो इन चित्रों का विषय देवी-देवताओं, किवदन्तियों, आख्यानों, नीतिकथाओं, जातकों, नाटकीय दृश्यों और पौराणिक कथाओं से संबद्ध होता है। प्रत्येक त्योहार पर उसके अधिष्ठाता देवता और उस देवता के सहचर देवताओं को अंकित किया जाता है। इन देवताओं में बहुधा लक्ष्मी और गणेश होते हैं, जिनको कि आरोग्य, समृद्धि और मंगल का सूचक समझा जाता है। कुछ चित्र प्राकृतिक दृश्यों और कुछ सामाजिक विश्वासों से भी संबंधित होते हैं।

पशु-पक्षियों के चित्र अंकित करना मनुष्य की आदिम प्रवृति रही है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर मध्ययुग तक की जितनी भी चित्रशैलियाँ हैं उनमें सर्वत्र ही पशु-पक्षियों का मनोरम चित्रण देखने को मिलता है। मध्ययुगीन कलाकृतियों में इस प्रकार का पशु-पक्षी-चित्रण प्रणय, विरह, मिलन आदि के प्रतीकों के रूप में किया गया है। साहित्य में पक्षियों का वर्णन और उनके द्वारा संदेश लाने ले जाने का कौशल बहुधा देखने को मिलता है। हमारे साहित्यकारों और चित्रकारों ने पशु-पक्षियों को मनुष्य के सहचर के रूप में स्वीकार किया है। लोककला में पशु-पक्षियों का चित्रण मंगलकामना से भी किया गया है। हमारे कृषिजीवी समाज में पशुओं का महत्व आदि से ही स्वीकार किया गया है। पक्षियों को प्रेम, उल्लास और कोमलता का प्रतीक माना गया है। शुक, सारिका, कुक्कुट, कलहंस, कोकिल, मयूर, सारस, चकोर, हरिण, घोड़ा और हाथी आदि पशु-पक्षियों को प्रायः लोककला में चित्रित किया जाता है। इनको मंगल, स्वस्तिक और सिद्धि का सूचक माना गया है। इनके अतिरिक्त फूल-पत्तियाँ और रंग-विरंगी भावात्मक आकृतियाँ भी चित्रित की जाती हैं।

शंख, स्वस्तिक, आभूषण, ग्रह-कुंडलियाँ, चक्र, कलश आदि मंगलमय एवं सुख-समृद्धि के सूचकस्वरूप हमारी लोककला आज मांडणा, अल्पना, चौक पूरना, रांगोली, एपन, थापे, कोलन, साँझी, आदि के विभिन्न रूपों में समस्त लोकमानस में संपूजित है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे नारीवर्ग की अभिरुचियों पर हमारे इन लोकचित्रों का निर्माण निर्भर है। इसीलिए उनमें कोई विशेष पाबन्दी या प्रतिबन्ध नहीं है। उनमें धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन के किसी भी अंश को लिया जा सकता है।

जिस प्रकार भारतीय वाङमय का इतिहास भारतीय बोलियों के साहित्य के बिना अधूरा है उसी प्रकार भारतीय चित्रकला का इतिहास उसकी लोककला के बिना अपूर्ण है। इस लोककला को जीवित रखने और उसमें नित नये जीवनी तत्त्वों का समावेश करने का श्रेय हमारी नारियों को रहा है। विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों या घर के सभी उपयुक्त स्थानों पर भाँति-भाँति की आकृतियाँ

अंकित करके मंगलमय आध्यात्मिक भावनाओं के रूप में इस लोककला की उल्लासमयी परम्परायें हमारे लोक-जीवन में नारियों के द्वारा कालान्तर से चली आ रही हैं।

ये कलावस्तुएँ, जो लोकमानस में सुरक्षित रहकर लोक के हाथों अभिव्यक्त एवं पोषित होती हुई अब तक पहुँची हैं, किसी विशेष उद्देश्य से बनती रही हैं। यद्यपि विभिन्न कलावस्तुओं के साथ जो मुख्य विधान जुड़े होते हैं उनको पकड़ पाना सहज नहीं है; फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके निर्माण के मूल में कुछ तो धार्मिक भावना है और कुछ मनोरंजन की। यही कारण है कि लोककला की यह थाती भारत के विभिन्न जनपदों एवं जातियों में अनेक तरह से संपूजित एवं संमानित होकर आज भी हमारे लोक-जीवन के साथ अभिन्न रूप से बनी हुई है।

लोककला से हमारा स्वाभाविक अपनत्व है। भारतीय कला और विशेषतः चित्रकला के संवर्द्धन-समुन्नयन की दृष्टि से उसका विशिष्ट महत्त्व रहा है। अनादि लोककला से प्रेरणा प्राप्तकर हमारे सभी युगों के चित्रकारों ने अपनी कला-कृतियों में लोकप्रियता का तत्त्व भरा। आज का चित्रकार प्राचीन चित्रशैलियों की मान्यता के संबंध में भले ही मतभेद रखता हो; किन्तु लोककला के लिए उसकी भी स्वाभाविक अभिरुचि है। लोकशैली की प्रेरणा से आज के प्रतिष्ठा-प्राप्त कुछ चित्रकार अच्छे प्रयोग प्रस्तुत कर रहे हैं। लोकशैली से प्रेरित इस प्रकार के आधुनिक चित्र सामाजिक जीवन में उसी निष्ठा से अपनाये जा रहे हैं।

यदि उपयोगिता की दृष्टि से लोककला का मूल्यांकन किया जाय तो उसके लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अपने दैनिक व्यवहार की वस्त्र तथा बर्त्तन आदि सामग्री में हमें लोककला की मनभावनी डिजाइनें देखने को मिलती हैं। आज के बड़े-बड़े डिजाइनर लोककला की धरती से उपकरण समेटकर उसको इस दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं कि वह लोकरुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। इस दृष्टि से लोककला आधुनिक जन-जीवन में अपनी उपयोगिता को सिद्ध कर रही है।

लोककला से हमारी इतनी निकटता एवं आत्मीयता है कि उसकी उपस्थिति को हम सभी जगह अनायास ही चीन्ह लेते हैं। एक कलाकार से लेकर एक साधारण ग्रामवासी में तक लोककला के लिए समान अभिरुचि है। उसकी सरसता को दोनों समान रूप से अनुभव करते हैं। क्या घर में, क्या बाजार में और क्या कला-निकेतनों में—सर्वत्र ही, सभी रूपों में, उसको हम पहचान लेते हैं। हमारे मन-मानस पर उसकी लोकप्रियता की छाप अमिट रूप में बनी हुई है।

लोककला किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक मर्यादा है। इस मर्यादा में अनुस्यूत भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ अपने मूल रूप में एक ही दृष्टिगत होती हैं। लोककला के द्वारा हमें इसी सांस्कृतिक एकता का आभास मिलता है। इस दृष्टि से लोककला का राष्ट्रीय महत्व है। हमारी सांस्कृतिक भावभूमि को अभिसिंचित करके लोककला की धारा समान गति से निरन्तर आगे बढ़ती रही है। उसमें उत्ताल तरंगें नहीं, गर्जन-तर्जन नहीं। वह तो सागर के समान गंभीर और अनन्त है।

परम्परा से लोककला नैसर्गिक रूप में आगे बढ़ती रही। उसको पुरातन और आधुनिक दृष्टि से विभाजित नहीं किया जा सकता। इस एकरूपता के कारण ही उसमें सदा ताजगी और उत्फुल्लता बनी रहती है। क्योंकि उसका संबंध हमारे सार्वजनिक जीवन के उत्सवों से है, अतः उसके अंग-प्रत्यंग में हमारी उत्फुल्लता, हमारे विनोद और हमारे हृदयों की सुखद स्मृतियाँ परिव्याप्त हैं। वह हमारे आनन्द की अभिव्यक्ति है। उससे हमारा अन्तःसंबंध है।

सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। प्रत्येक पर्व, त्योहार और उत्सव के अनुष्ठान के लिए लोककला के भिन्न-भिन्न प्रतीक निश्चित हैं। किसी में गणेश-लक्ष्मी, सरस्वती और स्वस्तिक को बनाने का विधान है, तो किसी में केवल प्रकृति के खाके बनाकर उनको पूजा जाता है। ऋतु-परिवर्त्तन के परिचायक त्योहारों पर जो लोकचित्र बनाये जाते हैं उनमें प्रकृति का आवाहन और राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए मंगल-कामना का भाव होता है। दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के चित्र बनाकर उनकी अनुकूलता के लिए प्रार्थना की जाती है।

हमारे सामाजिक जीवन के किसी भी शुभ अवसर पर मंगलमयी लोककला का आवाहन किया जाता है। प्रत्येक उत्सव पर मंगलघट की स्थापना का विधान लोककला के ही अस्तित्व को सूचित करता है। विवाह के समय वधू के सौभाग्य की मंगलकामना के लिए उसके ललाट, कपोल और भवों आदि पर श्वेत तथा लाल रंगों के अंकित विन्दु लोककला के ही रूप हैं। धर्म से परिरक्षित और समाज द्वारा समादृत यह लोककला कलाप्रेमी मानव के लिए आनन्दानुभूति का अनुपम साधन रही है। उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। इस आध्यात्मिक पक्ष के कारण ही वह लोकसंपूजित होती रही है।

भारतीय चित्रकारों और चित्रशैलियों की दृष्टि से जहाँ तक लोककला के परिपोषण तथा संवर्द्धन का संबंध है, सुविदित है कि

उसको व्यापक रूप से अपनाया गया और उसके सौन्दर्य-मण्डित आलंकारिक आधारों पर नये-नये रूपों को प्रस्तुत किया गया। अजन्ता के गुफाचित्रों से लेकर बंगाल के व्यावसायिक पटचित्रों और राजस्थान के नगरों में बिकने वाले श्रीनाथजी आदि के धार्मिक चित्रों तक, सर्वत्र, लोककला की प्रेरणा देखने को मिलती है।

अजन्ता के चित्रों की प्रसिद्धि और चिर नवीनता का बहुत-कुछ कारण उनका लोक-विधान है। उनमें शास्त्रीय दृष्टि और लोकदृष्टि का ऐसा सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है, जिससे सहज ही एक नयी रूप-राशि का उद्‌गमन संभव हो सका। बौद्धधर्म, क्योंकि लोकधर्म था, इसलिए बौद्धकला की सारी थाती लोककला से प्रभावित एवं परिरक्षित है। जैनकला के संबंध में भी ठीक यही बात है। इसी प्रकार दक्षिण-उत्तर की समस्त चित्रशैलियों का आधार लोककला की भूमि है।

इसलिए लोककला के संवर्द्धन और संरक्षण का श्रेय परम्परा से भले ही हमारे नारी समाज को प्राप्त है; किन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से उसके जीवनी तत्त्वों को हमारे सभी पुरातन एवं नवीन चित्रकारों ने ग्रहण किया है। वस्तुतः यह स्वाभाविक ही था। जिसका हमारे जीवन से घनिष्ट घरेलू संबंध है उस लोककला के प्रभाव तथा उसकी आत्मीयता को हम भुला भी कैसे सकते हैं?

इस प्रकार यद्यपि हमारी लोककला प्राचीन काल से अनवरत रूप में अपने पूरे वैभव के साथ अपनी प्रतिष्ठा को कायम किये चली आ रही है; फिर भी यह निश्चित है कि विगत कई सौ वर्षों के विधर्मी शासन एवं विदेशी सत्ता के प्रभाव से हमारी संस्कृति की अन्तः चेतना--हमारी यह लोककला प्रायः उपेक्षित रही। उसकी वर्षों पूर्व की चली आती अजस्रधारा में एक रोक लग गयी थी। आगे की ओर प्रशस्त होने तथा अपने स्वर्णिम अतीत की ओर निहारने की अपेक्षा वह अपने में ही संकुचित रही।

लोककला की इस अधोगति पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ध्यान पुनः केन्द्रित हुआ। यद्यपि आज भी देश के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोककला की संपूर्ण थाती को सर्वांगीण रूप से प्रकाश में लाने की आवश्यकता बनी हुई है; फिर भी इन कुछ वर्षों में लोक-साहित्य के खोजी हमारे विद्वानों ने उसके महत्व को जानने तथा उसका प्रचार-प्रसार करने के लिए प्रशंसनीय उद्योग किये। यद्यपि इस ढंग का कार्य बंगला, गुजराती, मराठी तथा तमिल आदि भाषाओं में स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भी हुआ; किन्तु आज उस पर अधिक व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य किया जा रहा है। हिन्दी की दृष्टि से तो इसका महत्व और भी बढ़कर है।

★

आधुनिक एवं समसामयिक चित्रशैली

आधुनिक चित्रशैली की उपपत्ति

भारतीय चित्रकला की वर्त्तमान परिस्थितियों पर विश्व की कलाशैलियों का प्रभाव स्पष्ट है। इसलिए अपने देश की आधुनिक एवं समसामयिक चित्रशैलियों का अध्ययन करने के लिए उन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना भी अपेक्षित है, जिनसे विश्व का कला-धरातल प्रभावित रहा।

पश्चिम के आधुनिक दीक्षाशास्त्रियों ने कला के उद्भव और विकास पर जो मन्तव्य प्रकट किये हैं वे एक जैसे नहीं हैं। उनमें जो अधिक वैज्ञानिक, व्यावहारिक और मान्य मत हैं उनके अनुसार आधुनिक कला के मूल में औद्योगिक क्रांति और संचार के विकसित साधनों को कारण माना गया है। विश्व के समस्त विकसित देशों पर इस क्रांति का इतना प्रभाव पड़ा कि वहाँ का संपूर्ण जन-जीवन, साहित्य, संस्कृति और कला आदि के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ आमूल परिवर्त्तन हुआ। दूसरे महायुद्ध के बाद अधिकतर जनता पर आर्थिक प्रभुत्व का जो भारी बोझा लद गया था उसी की प्रतिक्रिया में इस क्रांति का जन्म हुआ, जिसका स्वागत एवं प्रकाशन किया वहाँ के लेखकों, पत्रकारों और कलाकारों ने।

भारत के बुद्धिजीवी एवं कलाकार वर्ग ने भी इस क्रांति का स्वागत किया; किन्तु पराधीनता के कारण, उसकी प्रतिक्रियायें जितनी स्पष्टता और तीव्रता से प्रकाश में आनी चाहिए थीं, वैसी नहीं आ सकीं। भारत में इस आर्थिक प्रभुत्व का विरोध हुआ राजनीति के माध्यम से, जिसके उन्नायक एवं अग्रदूत थे महात्मा गाँधी।

भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का सूत्रपात लगभग वर्तमान शताब्दी के आरंभ के साथ हुआ। इतने कम समय में उसने जो प्रगति की है उसका श्रेय वर्तमान पीढ़ी के उन सभी कलाकारों को प्राप्त है, जिन्होंने परिस्थितियों की चिन्ता किये बिना अपनी साधना को अविरत रूप में बनाये रखा। ये कलाकार, जैसा कि उनकी विधाओं से स्पष्ट है, विभिन्न वर्गों से संबंधित हैं। यद्यपि आधुनिक चित्रकला के तीन प्रमुख स्कूल माने जाते हैं : कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली; किन्तु उनके आधार पर चित्रकारों का वर्ग-विभाजन करना समुचित नहीं जान पड़ता।

सामान्यतः पहले वर्ग के अन्तर्गत उन प्रवृत्तियों को रखा जा सकता है, जिन्हें टैगोर बन्धुओं ने स्रष्ट किया और कुछ समय बाद जो 'बंगाल स्कूल' के नाम से देश भर में विख्यात हुईं। यद्यपि 'बंगाल स्कूल' की परम्परा से निकले हुए कुछ कलाकारों ने अपना विकास दूसरी ही दिशा में किया, फिर भी 'बंगाल स्कूल' की परम्परा का अपना विशिष्ट स्थान है। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस, शैलोज मुकर्जी, धनराज भगत और देवी प्रसाद राय चौधरी इस परम्परा के पोषक एवं समर्थक आचार्य कहे जा सकते हैं।

दूसरे वर्ग में उन चित्रकारों को रखा जा सकता है, जिन्होंने 'बंगाल स्कूल' की परम्परा को अपनाने की अपेक्षा अपनी नयी अनुभूतियों के आधार पर यह सिद्ध किया कि 'बंगाल स्कूल' की परम्परा पाश्चात्य मान-मूल्यों पर आधारित है और उसकी अपेक्षा अपने देश की संस्कृति एवं अपने शास्त्रीय संविधानों में रसानुभूति के ऐसे तत्त्व समन्वित हैं, जिनको ग्रहण कर अपनी ही रुचियों के अनुसार अपनी कला का आधुनिकतम विकास संभव हो सकता है। इस प्रकार के चित्रकारों में यामिनी राय और अमृत शेरगिल का नाम मुख्य है। शैलोज मुखर्जी और कुमारिल स्वामी को आंशिक रूप में इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यहाँ तक कि 'बंगाल स्कूल' के जन्मदाता आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के कुछ चित्रों में इस वास्तविकता को स्वीकार किया गया है। कनु देसाई के राष्ट्रीय स्वर में और रविशंकर रावल की संवैधानिक दृष्टि में यही भावना अभिव्यंजित है।

तीसरे वर्ग में उन प्रवृत्तियों को रखा जा सकता है, जिनका प्रादुर्भाव स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हुआ। भारत के स्वाधीन होने के पूर्व ही यद्यपि चित्रकला के क्षेत्र में स्वतंत्र चिन्तन का नवोन्मेष और राष्ट्रीय चेतना का उदय हो चुका था; फिर भी उसका पूर्ण प्रभावशाली रूप, स्वाधीनता के बाद रची गयी कला-कृतियों में ही स्पष्ट हुआ। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व अवनीन्द्र बाबू इस राष्ट्रप्रेम के

कारण चीनी, जापानी, फारसी, राजपूत और मुगल शैलियों की ओर आकर्षित हुए थे। नन्दलाल बसु की कला में महात्मा गाँधी के प्रभाव से राष्ट्रीय जागृति का आवाहन था। कनु देसाई ने आदि से अन्त तक इसी राष्ट्रप्रेम को अपनी कला-साधना का इष्ट बनाये रखा। कलकत्ता के सरकारी आर्ट स्कूल से निकले हुए विद्यार्थी जब देश के चारों ओर फैले तो उनकी तूलिका में एक ही स्वर मुखरित था। वह स्वर था राष्ट्रप्रेम का। उसमें दुःख, उत्पीड़न, घृणा, विषाद और बहिष्कार की भावनायें अभिव्यक्त थीं। आरंभ में कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बम्बई और गुजरात आदि देश के विभिन्न अंचलों में बिखरे हुए अनेक कलाकारों ने इसी दृष्टिकोण का स्वागत-समर्थन किया।

किन्तु कला में यह राष्ट्रप्रेम की भावना स्थायी नहीं थी, क्योंकि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रप्रेम के समर्थक कलाकार दूसरी ही दिशाओं की ओर अग्रसर हुए। उनमें सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग वह है, जो कला को देश-काल की सीमाओं से निकालकर सार्वदेशिक और सार्वकालीन समझता है।

समसामयिक चित्रकारों का यह चौथा वर्ग आज अन्तर्राष्ट्रीय कलामंच पर अधिष्ठित होकर देश का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इस वर्ग का प्रेरणा-केन्द्र पेरिस है, जिसको आज विश्व का सर्वश्रेष्ठ कलातीर्थ माना जाता है।

भारत में इस शैली के सर्वप्रथम चित्रकार विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। यद्यपि उनके चित्रों में काव्यात्मक स्वर की मुख्यता थी; फिर भी उनके चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता रूपनिरपेक्षता थी। इसी रूपनिरपेक्षता के कारण कलकत्ता में आयोजित प्रदर्शनी में, उनके चित्रों की कड़ी आलोचना हुई। वस्तुतः उसका एकमात्र कारण यही था कि उन पर पेरिस के शैली-संविधानों का प्रभाव था।

इस वर्ग के चित्रकारों की नामावली लम्बी है। यद्यपि इस वर्ग के चित्रकारों का प्रेरणा-केन्द्र पेरिस रहा है; किन्तु उनमें से अधिकतर आज निजी संवैधानिक दृष्टि से नये स्वरूपों की सृष्टि कर रहे हैं। इन चित्रकारों में कँवलकृष्ण, वीरेन दे, श्रीकृष्ण खन्ना, मोहन सामन्त, जार्ज कीट, कुलकर्णी, हुसैन, रामकुमार, रजा, सतीश गुजराल, शांति दवे, न्यूटन सूजा, तैयब मेहता, किरण सिन्हा, आरा, पदमसी, सुब्रह्मण्यम्, हरकिशनलाल और बेन्द्रे का नाम प्रमुख है। रामकिंकर, हेब्बर, विनोदविहारी मुकर्जी, मागो, चावड़ा, दिनकर कौशिक, ज्योतिष भट्टाचार्य, गादे, गायतोंडे, जगदीश मित्तल, अजित चक्रवर्ती तथा द्विजेन सेन आदि चित्रकारों को समन्वयवादी विचारधारा का कलाकार माना जा सकता है।

कलाकारों का एक नया वर्ग विभिन्न कला-स्कूलों से निकलकर अपनी नयी दृष्टि एवं अनुभूति के साथ कला के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। इस वर्ग में उत्सुकता, जिज्ञासा और सजगता है। विश्व की अद्यतन कला-प्रवृत्तियों के अनुसंधान-अन्वेषण के प्रति उसका स्वाभाविक झुकाव है। किन्तु इसके साथ ही नित मौलिकता की चिन्ता में इस वर्ग के कुछ कलाकार स्वयं को अति अधुना रूप में रखने के लिए कुछ ऐसा प्रयास कर रहे हैं, जिनसे कलाकार और कला, दोनों का एक निश्चित उद्देश्य खोजने में कठिनाई हो रही है!

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कलाकारों के आश्रयस्थान क्षीण हो गये थे और भारतीय चित्रकला की मुगल, राजपूत तथा पहाड़ी आदि प्रमुख शाखायें तथा उनकी उपशाखायें विलुप्त हो चुकी थीं। अंग्रेजों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व भी कुछ भारतीय चित्रकार योरोपीय शैली को अपना चुके थे। सारे देश पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद उनकी संस्कृति ने यहाँ के कला-धरातल को धीरे-धीरे अपने प्रभाव से आच्छन्न-सा कर दिया।

अलाग्री नायडू और रवि वर्मा

योरोपीय शैली को अपनाने वाले भारतीय चित्रकारों में मदुरा के चित्रकार श्री अलाग्री नायडू और त्रावनकोर के राजा रवि वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। अलाग्री नायडू, तिरवांकुर के महाराजा के आश्रय में रहने वाले योरोपीय शैली के एक ख्यातिप्राप्त कलाकार थे। रवि वर्मा उन्हें गुरु मानते थे। अलाग्री नायडू और भारत में भ्रमणार्थ आये हुए थियोडोर जेन्सन से राजा रवि वर्मा ने चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की। रवि वर्मा के चित्रों को भारत में विशेष संमान प्राप्त हुआ और योरप में भी उनके चित्रों को मुक्तकंठ से सराहा गया।

योरोपीय कला के संमिश्रण से भारतीय कला के क्षेत्र में नये जागरण का सूत्रपात करने में राजा रवि वर्मा का नाम अग्रणी है। उनका जन्म त्रावणकोर में १८४८ ई० में और देहान्त १९०५ ई० में हुआ। उन्होंने अपनी आयु के लगभग तीस वर्ष भारतीय चित्रकला की सेवा-साधना में बिताये। प्रकाशन के समुचित साधनों के अभाव में राजा रवि वर्मा ने बम्बई में लीथोग्राफ का प्रेस खोला और वहाँ से अपने चित्रों को प्रकाशितकर उनका प्रचार-प्रसार किया। इस प्रेस से उन्होंने अपने अनेकों चित्र प्रकाशित करके अपनी कृतियों से कला-जगत् को परिचित किया।

राजा रवि वर्मा ने यद्यपि अनेक विषयों के चित्र बनाये; फिर भी उनमें पौराणिक विषयों और राजा-महाराजाओं के पोर्ट्रेट चित्रों की अधिकता थी। उनके चित्रों में पाश्चात्य शैली का स्वागत था, इसलिए, और अपने समय के विख्यात कलाकार होने के कारण ब्रिटिश सरकार ने उनको विशेष प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप उनके चित्रों को विश्व की अनेक प्रदर्शनियों में प्रदर्शित होने का सुयोग मिला। अपनी कलाकृतियों पर उन्हें संमान, ख्याति और पदक-पुरस्कार सभी मिले।

यद्यपि डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने आलोचना करते हुए लिखा है कि रवि वर्मा के चित्रों में नाटकीयता अधिक है; फिर भी इतना निश्चित है कि उन्होंने भारत के अनेक कलातीर्थों और धार्मिक स्थलों की यात्रा करके यह जानने की सबसे पहले चेष्टा की कि भारत की पौराणिक वेष-भूषाओं का कला की दृष्टि से क्या स्वरूप था। आंशिक रूप से अपने पौराणिक विषय के चित्रों के लिए उन्होंने तत्कालीन नाटक-मंडलियों से प्रेरणा प्राप्तकर अपनी आलोचना के लिए स्वयं भूमिका तैयार की।

इस प्रकार यद्यपि भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में राजा रवि वर्मा की देन अमर है; फिर भी भारतीय चित्रकला का जो अद्यतन रूप में विकास हुआ है उसके लिए राजा रवि वर्मा के चित्रों से कोई प्रेरणा तथा प्रोत्साहन चित्रकारों को प्राप्त न हो सका। राजा रवि वर्मा के बाद आधुनिक चित्रकला के जिस नये आन्दोलन का जन्म हुआ उसके प्रवर्तक श्री रामानन्द चटर्जी, डॉ० आनन्दकुमार स्वामी, श्री अर्धेन्दुकुमार गांगुली, श्री ई० बी० हैवेल और श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे। आधुनिक चित्रकला के जन्म का इतिहास 'बंगाल स्कूल' की स्थापना से आरंभ होता है।

बंगाल स्कूल

आधुनिक भारतीय चित्रकला के लिए 'बंगाल स्कूल' का बड़ा महत्व है। आधुनिक चित्रकला की वह आधारभूमि है। जिसको हम 'बंगाल स्कूल' कहते हैं, वह वस्तुतः परम्परागत भारतीय चित्रकला का पुनर्जागरण था; एक नवीनीकरण था। उसके जीवनकाल में इस प्रकार के परिवर्तन समय-समय पर होते रहे, जैसा कि उसके इतिहास से स्पष्ट है। हैवेल साहब के इस मन्तव्य से इस सत्य की यथार्थता का और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने लिखा है "इस फैलती हुई मानसिक और शासन-सम्बन्धी अव्यवस्था के पीछे भारत में अब भी प्राचीन भारतीय संस्कृति पर आधारित कला की एक जीवित और मौलिक परम्परा है, जो योरोप की आधुनिक अकादमियों और कला-संस्थानों के संचित ज्ञान की अपेक्षा अधिक संपन्न और शक्तिमती है। यह परम्परा केवल उस आध्यात्मिक प्रबोध की प्रतीक्षा कर रही है, जिससे कि उसकी पुरानी सृजनशील प्रवृत्तियाँ जागृत हो उठें।" इन पुरानी सृजनशील प्रवृत्तियों का पुनर्जागरण हैवेल साहब और अवनीन्द्र बाबू के सहयोग से हुआ, यद्यपि उसका आरंभिक स्वरूप ठीक इसी प्रकार नहीं था।

ई० बी० हैवेल

भारत में, 'बंगाल स्कूल' की स्थापना के बाद, जिस योरोपीय कला का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ उसके जनक थे श्री ई० बी० हैवेल। हैवेल साहब उस समय कलकत्ता के सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल थे। उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों को नये सिरे से योरोपीय कला की शिक्षा दी। यद्यपि वे भारतीय कला की आदर्श परम्परा को विश्व की प्राचीन कला-थाती में श्रेष्ठतम समझते थे; फिर भी समय और परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यह आवश्यक था कि परम्परा को किसी निश्चित हद तक ही अपनाया जाय। इसलिए श्री हैवेल साहब ने भारत की आधुनिक चित्रकला के लिए योरोपीय उपादानों को ग्रहण किया।

अवनीन्द्र बाबू की नियुक्ति उस आर्ट स्कूल में सह-प्रिंसिपल के रूप में हुई थी। श्री हैवेल की ही दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अवनीन्द्र बाबू जैसे सूझ-समझ के ऐसे कलाकार को राजी किया, जो कलकत्ता के स्थायी निवासी थे और तत्कालीन भारतीय कलाकारों में जिनकी ख्याति थी। इन दोनों कलाचार्यों ने भारत में चित्रकला की जिस नवीन शैली को जन्म दिया आरंभ में उसका बड़ा विरोध हुआ; किन्तु बाद में उसका व्यापक रूप से स्वागत ही नहीं हुआ, अपितु, अनेक कलाकारों ने उसको बड़ी चाह से अपनाया और उसका प्रचार-प्रसार भी किया।

इस संमिश्रित शैली का आरंभ में इसलिए खुलकर विरोध हुआ, क्योंकि उसमें विदेशीपन अधिक था। वस्तुतः उसका मूल कारण यह था कि जिस बंगाल स्कूल की शैली को इन्होंने रूपायित किया था वह जापानी रुचियों एवं क्यूबिज्म के प्रभाव से अविभूत थी। यही कारण था कि प्रकृति चित्रों के अंकन में अंत तक उसका दृष्टिकोण पूरी तरह से न निखर पाया। क्यूबिज्म मान्यताओं पर आधारित शैली और विषय की विषमताओं के कारण इन कला गुरुओं की कलाकृतियाँ उतना समुचित एवं स्थायी संमान प्राप्त न कर सकीं, वस्तुतः

जितना संमान कि वे एक कलाचार्य के रूप में प्राप्त कर चुके थे। उनके कार्टून अवश्य ही प्रभावोत्पादक रहे, जिनके माध्यम से उन्होंने समाज की कुरीतियों, अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों की कुण्ठाओं पर प्रभावशाली आघात किया।

बंगाल में इस नये आन्दोलन के जन्मदाता थे आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर। इस आन्दोलन का प्रभाव प्रायः समस्त भारत के तत्कालीन चित्रकारों पर पड़ा और विरोधों के बावजूद भारत के सभी हिस्सों में यूरोपीय चित्रकला की शैली में भारतीय विषयों को दर्शित करने की प्रवृति निरन्तर बढ़ती गयी। इस आन्दोलन का सही इतिहास जानने के लिए अवनीन्द्र बाबू की जीवनी के पृष्ठों को उलटना आवश्यक है।

ग्राधुनिक चित्रकला को ग्रवनीन्द्र बाबू की देन

अवनीन्द्र बाबू का जन्म १८७१ ई० को जोरासाँकू के विख्यात ठाकुर परिवार में हुआ। बाल्यकाल से ही उन्हें अच्छे-अच्छे साहित्यकारों तथा कलाकारों को देखने-सुनने का सुयोग मिलता रहा। इटेलियन कलाकार श्री गिलहार्डी से उन्होंने कला की विधिवत् शिक्षा पायी तथा अपने दोनों चाचाओं रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं रवि वर्मा से उन्हें प्रेरणा मिलती रही; और इसलिए एक अच्छे कलाकार होने के साथ-साथ वे एक अच्छे साहित्यकार भी बन सके। यदि वे एक कुशल कलाचार्य के रूप में प्रसिद्ध न भी हुए होते तब भी अपनी साहित्यिक कृतियों के आधार पर बंगला साहित्य के इतिहास में वे सहज ही स्थान पा जाते, जैसा कि हुआ भी।

अवनीन्द्र बाबू ने जब चित्रकला के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उनके सामने दो मार्ग थे। एक तो था राजा रवि वर्मा का; अर्थात् परम्परा के निर्वाह का; और दूसरा था उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का, जिसके मूल में उनके सहयोगी हैवेल साहब तथा इटेलियन गुरु श्री गिलहार्डी के विचारों का प्रभाव था। यद्यपि हैवेल साहब ने भी भारत के इस नये कला-उत्थान को कला की जीवित एवं मौलिक परम्परा के रूप में स्वीकार किया; किन्तु उन्होंने कार्यरूप में जो कुछ किया वह इस देश की परम्परा पर आधारित नहीं था। इसलिए अवनीन्द्र बाबू ने अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व से ही सामने आना उचित समझा और तभी उन्हें आधुनिक चित्रकला का प्रवर्तक होने का यश प्राप्त हुआ।

चित्रकला के क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व उनको एक बात यह अखरी कि भारतीय चित्रकारों के भीतर एक विचित्र आत्महीनता की भावना व्याप्त है और अपने को अधिक आधुनिक सिद्ध करने के लिए वे पश्चिम का अन्धानुकरण कर रहे हैं। इस बुराई को दूर करने के लिए उन्होंने पहला यत्न तो यह किया कि रवि बाबू की प्रेरणा से विद्यापति और चण्डीदास के गीतों के दृष्टान्त चित्र उतारने आरंभ किये। इन चित्रों से भी उन्हें सन्तोष प्राप्त न हुआ। इसी बीच वे कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल श्री ई० बी० हैवेल के सम्पर्क में आये और उनके सहयोग से राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों का गंभीर अध्ययन कर उन्होंने 'भारत माता', 'बुद्ध जन्म', 'गणेशजननी', 'बुद्ध और सुजाता', 'तिष्यरक्षिता', 'महापुराण', 'ताज महल' और 'शाहजहाँ की मृत्यु' शीर्षकों से ऐसे चित्र बनाये जो विषय और शैली की दृष्टि से भारतीय थे। उन्होंने अजन्ता की शैली से प्रेरणा प्राप्त की और मुगल, राजपूत तथा पहाड़ी चित्र-प्रवृतियों से संजीवनी तत्त्वों को ग्रहण कर **'रामायण', 'महाभारत',** तथा पुराण आदि के प्रसंगों को अपने चित्रों का विषय बनाया।

कला के विदेशी तत्त्वों के पक्षपाती होने के साथ ही उनमें राष्ट्रप्रेम था। देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए जिस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र तथा देश के अन्य लेखकों ने साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया, ठीक वैसा ही कार्य कला के क्षेत्र में अवनीन्द्र बाबू ने किया। इसी प्रेरणा से उन्होंने अपने अग्रज श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के सहयोग से 'इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' नाम से एक संस्था को जन्म दिया।

अवनीन्द्र बाबू के कुछ चित्रों की बड़ी आलोचना भी हुई; किन्तु कृतसंकल्प होकर वे नित नये कलाप्रयोगों का निर्माण करने में लगे रहे। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि भारतीय कलाकारों की पश्चिमाभिमुख प्रवृति में कुछ शिथिलता आयी। यद्यपि अवनीन्द्र बाबू ने योरोपीय कलाशैलियों को प्रधानता देकर अपनी कलाकृतियों में चीनी, जापानी और फारसी आदि एशियाई कलाशैलियों की टेकनीकों का समावेश किया; किन्तु उनकी कला में भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट स्वर सर्वत्र मुखरित होता रहा। इसी का कारण था कि उनकी कृतियों में सहजता, प्रभावोत्पादकता तथा मौलिकता आती गयी और उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी।

इस दृष्टि से यदि हम अवनीन्द्र बाबू की कलाकृतियों का अध्ययन करते हैं तो उनमें एक ओर लोककला का स्वाद और दूसरी ओर धार्मिक विश्वासों की स्पष्ट स्वीकृति देखने को मिलती है। उन पर यह प्रभाव बंगाल के नारी वर्ग का था; और यही उनकी कृतियों का सर्व श्रेष्ठ गुण है। इसके अतिरिक्त उनकी कला में मुगल, राजपूत तथा पहाड़ी आदि प्राचीन चित्रशैलियों का समन्वय है। इसका कारण

संभवतः परम्परा से प्राप्त उनके संस्कार हो सकते हैं, जैसा कि श्री विष्णु दे ने अपने एक लेख (प्रतीक--३) में लिखा है–"हमें स्मरण रखना चाहिए कि ठाकुरों के राजकुल में जन्म लेकर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रिटिशपूर्व दरबारी संस्कृति के संस्कार उत्तराधिकार में पाये थे। अतः मुगल चित्रकला की बारीकी, राजपूत शैली का लालित्य, जापानी छात्रों की सफ़ाई और शालीनता और धोवन (वाश टेकनीक) की ओर आकृष्ट होना उनके लिए स्वाभाविक था।"

अवनीन्द्र बाबू के बाद उनके शिष्यों ने चित्रकला के क्षेत्र में नयी आस्था, नये विश्वास और नयी निष्ठा को उजागर किया। उनके सुयोग्य शिष्यों में नन्दलाल बसु, समरेन्द्रनाथ गुप्त, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असितकुमार हाल्दार, के० वेंकटप्पा, हकीम मुहम्मद, समी-उज-ज़मां, शैलेन्द्रनाथ दे, शिलीन्द्रनाथ मजूमदार, शारदाचरण उकील, मुकुलचंद दे, प्रमोदकुमार चटर्जी, वीरेश्वर सेन, देवी प्रसाद राय चौधरी और पुलिन विहारी दत्त का नाम उल्लेखनीय है। इनमें से समरेन्द्रनाथ गुप्त ने पंजाब में, के० वेंकटप्पा ने मैसूर में, देवी प्रसाद राय चौधरी ने मद्रास में, शारदाचरण उकील ने दिल्ली में, शैलेन्द्रनाथ दे ने राजस्थान में, असित कुमार हाल्दार ने लखनऊ में और पुलिन विहारी दत्त ने बम्बई में स्वतंत्र केन्द्र स्थापित करके अनेक शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा आधुनिक भारतीय कला प्रवृत्तियों में नये युग का सूत्रपात किया।

'भारतीय शिल्प के षडंग' नाम से अवनीन्द्र बाबू ने एक बहुत ही अच्छी लघु कृति का निर्माण किया है, जो कि इतनी लोकप्रिय हुई कि योरोप की सभी भाषाओं में और भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। हिन्दी में उसका अनुवाद विख्यात इतिहासज्ञ विद्वान् डा० महादेव साहा ने १९५९ ई० (नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद) में किया। जिस प्रकार कालिदास की कवित्व-प्रतिभा को जानने के लिए उनकी लघुकृति **'मेघदूत'** का स्थान माना गया है उसी प्रकार अवनीन्द्र बाबू के कलाकार जीवन की गंभीरता को जानने के लिए उनकी यह कृति यथेष्ट है।

अवनीन्द्र बाबू द्वारा प्रतिष्ठित और उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा प्रवर्तित चित्रकला की आधुनिक प्रवृत्तियों पर राजनीति और दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं का प्रबल प्रभाव रहा है। इस देशव्यापी राष्ट्रीय जागृति ने सारे देश के कलाकारों में नयी चेतना का उन्मेष भरा। आधुनिक कला-शैलियों के इतिहास में इस राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्वपूर्ण योग रहा है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव

भारत में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास के अभ्युत्थान में कला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समय-समय पर राजनीतिक कारणों से सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुये और विधर्मी सत्ता के कारण इस देश की संस्कृति में जिन नये तत्त्वों का समावेश हुआ उनका क्रमबद्ध इतिहास उस समय की कलाकृतियों में देखने को मिलता है।

१९वीं शताब्दी ई० के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्ण आधिपत्य हो जाने पर भारत के विभिन्न अंचलों में विदेशी सत्ता के विरोध में जो राष्ट्रव्यापी आन्दोलन हुए, देश का कला-धरातल भी उनसे अछूता न रह सका। इस राष्ट्रीय चेतना ने यहाँ के कवियों, कलाकारों, पत्रकारों और राजनीतिक नेताओं को एक सर्वथा नयी दिशा में मोड़ने के लिए विवश किया। इन आरंभिक कलाकृतियों में जो दुःख, उत्पीड़न, घृणा, निराशा और विरोधी भावनाओं का समावेश दिखायी देता है, उसका एकमात्र कारण यही राष्ट्रीय जागृति थी। योरोपीय कला के क्षेत्र में वहाँ की राष्ट्रीय जागृति का प्रतिनिधित्व सीजेनी, वान गाग, गाऊगिन, मटीसी, पिकासो और नेवीन्सन के चित्रों ने किया।

भारत में इस राष्ट्रीय आन्दोलन के समय नयी अभिजात संस्कृति को पनपने के लिए बंगाल उपयुक्त क्षेत्र था; इसीलिए बंगाल पर इस राष्ट्रीय जागरण का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। १९४३ ई० में बंगाल के देशव्यापी दुर्भिक्ष ने वहाँ के सारे धरातल को हिला दिया। साहित्य, राजनीति और कला आदि की दिशाएँ भी उससे अछूती न रह सकीं। उधर दूसरे विश्वव्यापी महायुद्ध की काली घटाओं ने देश की सारी परिस्थिति को नये शिरे से परिवर्तित करने के लिए विवश किया।

चित्रकला के क्षेत्र में इस परिवर्तन के प्रभाव तत्काल स्पष्ट हुये। १९४४ ई० को श्रीमती कैसी के प्रभाव से कलकत्ता में जो प्रदर्शनी आयोजित हुयी थी उसमें दिखायी गयी कलाकृतियों को अधिकतर लोगों ने पतन या पलायन का कारण कहा। इसके विपरीत जो लोग परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित थे उन्होंने उन कृतियों को प्रगतिशील भविष्य का द्योतक बताया। १९४८ ई० में जाकर, जब कि भारत स्वतंत्र हो चुका था, इन कृतियों को मान्यता मिली। उन्हें वर्तमान शताब्दी का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐतिहासिक कृतियाँ बताया गया। भारत ही नहीं, बल्कि अमेरिका के प्रो० डेविडसन और जर्मन विद्वान् फिशर ने भी भारत के इस नये कला-जागरण का स्वागत

किया। उसके बाद १९५० ई० में कलकत्ता तथा बम्बई ग्रुप के कलाकारों ने मिलकर कलकत्ता में जिस प्रदर्शनी का आयोजन किया था उससे इन नये कलाकारों की ख्याति और भी बढ़ गयी। इस अभ्युत्थान में जिन कलाकारों का नित्य सहयोग रहा उनमें प्रदोष दासगुप्ता, रथिन मित्रा, प्राणकृष्ण पाल, सुनील माधवसेन, विनोद मजूमदार, परितोष सेन, कमला दासगुप्ता, गोवर्द्धन सेन और हेमन्त मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यद्यपि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्र बाबू के पूर्ववर्ती थे; किन्तु इस प्रसंग में उनका उल्लेख इसलिए अवनीन्द्र बाबू के बाद किया गया, क्योंकि चित्रकला को उन्होंने बाद में अपनाया था; और दूसरे में आधुनिक कला-प्रवृतियों के मूल में जो महत्व अवनीन्द्र बाबू का है, वह रवीन्द्र बाबू का नहीं। आज तक चित्रकला का जो विकास हुआ है उसके भीतर अवनीन्द्र बाबू का आचार्यत्व मुखरित है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म कलकत्ता (जोरासाँको) में २ मई, १८६१ ई० को हुआ। एक चित्रकार के रूप में उनकी ख्याति बहुत समय बाद प्रकाश में आयी। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वाणी का अथाह भंडार होते हुए भी उन्होंने तूलिका का आश्रय इसलिए लिया कि "मेरी विदेश-यात्रा ने मुझे एक नयी प्रेरणा दी, एक नया रूप बताया। गीतों की भाषा शब्दों और अक्षरों में बँधी रहती है। इसलिए विश्व का जन साधारण उस भाषा को नहीं समझ सकता। मुझे उसके साथ एक नये माध्यम से मिलना है; एक नये रूप में अपने हृदय की भावनाओं और कल्पनाओं को उसके सामने रखना है—ऐसे माध्यम से, जिसे वे सरलता से समझ सकें।"

इसी उत्कण्ठा को पूरी करने के लिए, उम्र का वह महत्वपूर्ण भाग, जिसमें कि कुछ श्रम किया जा सकता है, बीत जाने पर भी, गुरुदेव कला के क्षेत्र में आये। वे जिस उद्देश्य को लेकर इस क्षेत्र में आये थे वह बहुत ऊँचा था, परार्थ था, इसलिए अपनी कलाकृतियों के द्वारा वे जिस जन साधारण से मिलना चाहते थे उनका वह उद्देश्य अव्यर्थ रहा।

गुरुदेव विश्वकवि थे, इसलिए अपनी कविता की अनुभूतियों को कला के माध्यम से अभिव्यक्त करने में उनको कोई कठिनाई न हुई। अपने गीतों को ही उन्होंने कला की भाषा में उतारा। बल्कि कविता के द्वारा जिन गूढ़ भावों को वे सुगमता से तथा स्वेच्छा से अभिव्यक्त न कर सके थे, तूलिका के द्वारा उसको संभव बना दिया।

गुरुदेव को भारत की आधुनिक चित्रकला का प्रथम कलाकार माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने जिस शैली को अपनाया, भारत के लिए वह सर्वथा नयी थी और उस पर अवनीन्द्र बाबू द्वारा प्रवर्तित शैली एवं स्थापित सिद्धान्तों का कोई प्रभाव नहीं था। उन्होंने स्वयं ही कहा है "इस बीच आधुनिक कला-आन्दोलन, जो पूर्वी परम्परा की लीक पर था, मेरे भतीजे अवनीन्द्र नाथ द्वारा आरंभ किया गया। मैं उसका कार्यक्रम आत्मग्लानि के ईर्ष्यामिश्रित भाव से देखता था।" चित्रकला का उनका अपना स्वतंत्र मानदण्ड था, जिसके अनुसार वे प्राणी जगत् में ही नहीं, जड़ जगत् में भी एक विराट् पुरुष की भावमयी लीला का दर्शन करते थे। आज, जब कि हम आधुनिक भारतीय चित्रकला के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें रवि बाबू के चित्रों में दर्शित उनके स्वतंत्र चिन्तन और उनकी मौलिक सूझ का महत्व विदित होता है।

गुरुदेव की कलाकृतियों में पूर्वाग्रह तथा परम्परा का कोई प्रभाव नहीं है। परम्परा के बन्धनों में बँधकर स्वच्छन्दता को दबा लेना उन्होंने उचित नहीं समझा। उन्होंने अपने इस स्वतंत्र रचना-विधान के बारे में कहा भी है—"मुझे कला के किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं करनी है। मुझे तो केवल यह कहकर संतोष कर लेना है कि जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मेरे चित्रों के मूल में कोई सीखी हुई दक्षता नहीं है। वे किसी परम्परा या जान-बूझकर किये गये प्रयत्नों का प्रतिफल नहीं हैं। उनका जन्म तो हुआ है अनुपात की सहजात प्रवृति से, रेखाओं और रंगों के सामंजस्यपूर्ण संघात में मेरी रुचि और प्रसन्नता के कारण।"

गुरुदेव की असाधारण कार्य-कुशलता और उनके स्वतंत्र चिन्तन के बारे में श्री कुमारिल स्वामी का कहना है कि "उनके समस्त चित्रों को निकट से देखने का मुझे सौभाग्य मिला है। उन्होंने अपनी शैली का स्वयं निर्माण किया। उनके चित्रों में रेखाओं का अभिनव प्रयोग और रंगों का कुशल संमिश्रण जिस ढंग से हुआ है वह नितान्त मौलिक है।" उनके चित्रों की पहली विशेषता यह है कि उनका कोई शीर्षक नहीं है और दूसरी यह कि उनके चित्रों में बच्चों की मुक्त प्रकृति बोलती है। उनमें निहित किसी भाव या गंभीर उद्देश्य को खोजना व्यर्थ है। अपने चित्रों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात उन्होंने यह कही है—"मेरी चित्ररेखाओं में मेरा पद्यनिर्माण है। यदि कभी अकस्मात् वे किसी मान्यता के अधिकारी हों तो उसका मुख्य कारण यही होगा कि उनमें रूपों का कुछ लयात्मक महत्व है और वही अन्तिम है। किसी विचार की व्याख्या के लिए, किसी तथ्य के चित्रण के लिए वे अभिप्रेत नहीं हैं।"

जहाँ तक उनकी कलाकृतियों की समीक्षा का सम्बन्ध है, उनमें चरित्रों का पूर्ण विकास दर्शित है। प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी उनके चित्र और भी आकर्षक हैं, यद्यपि उनकी आधारभूमि यूरोपीय है। इस दिशा में वे इतनी आश्चर्यजनक गति से आगे बढ़े कि लगभग बारह वर्षों में उन्होंने दो हजार चित्र बनाये। **साक्षात्कार, व्यथित, युगल, खिन्नावस्था, वेदना** और **सांध्यवेला** आदि उनके नयी शैली के चित्र हैं। उनके चित्रों की पहली प्रदर्शनी १९३० ई० को बर्लिन, लन्दन तथा न्यूयार्क में; १९३२ ई० को कलकत्ता में; १९३३ ई० को बम्बई में और १९५८ ई० को देहरादून में आयोजित हुई। ललितकला अकादेमी ने गुरुदेव के ४० चित्रों का एक अलबम प्रकाशित किया है, जिसमें १६ रंगीन और बाकी सादे चित्र हैं।

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक चित्रकला के प्रवर्तक अवनीन्द्र बाबू के सही उद्देश्यों का सफल निर्वाह यद्यपि नन्दलाल बसु तथा उनकी शिष्य-परम्परा ने किया; फिर भी इस प्रसंग में गगनेन्द्रनाथ ठाकुर का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि अवनीन्द्र बाबू की भाँति उनके अग्रज गगनेन्द्र बाबू का भी बंगाल के लोक-जीवन और वहाँ की संस्कृति से पूर्ण परिचय था, और '**चैतन्य चरित**' से सम्बन्धित उनके चित्रों में इस दृष्टिकोण की झलक दिखायी देती है, तथापि उनकी कलाख्याति सीमित परिधि में ही सिमिट कर रह गयी। रवीन्द्र बाबू की आत्मकथा में दिये गये उनके चित्र निश्चित ही प्रभावोत्पादक हैं और निश्चित ही उन्हीं के कारण उनको कला के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ व्यंग्य चित्र भी बनाये और नये प्रयोगों की दिशा में भी उनकी उत्सुकता रही। फिर भी उनके मौलिक चिन्तन की कोई उल्लेखनीय कलाकृति कलाजगत् को न मिल सकी।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, अवनीन्द्र बाबू और गगनेन्द्र बाबू ने मिलकर कलकत्ता में 'इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' नाम से एक कलासंस्था का निर्माण किया था। उसके द्वारा आधुनिक चित्रकला तथा चित्रकारों का बड़ा लाभ हुआ। कलाकारों के बीच विचारों के आदान-प्रदान के लिए उसने माध्यम का कार्य किया। बार-बार उसमें प्रदर्शनियाँ आयोजित करके उसके द्वारा तत्कालीन कलाकारों का समाज के साथ संपर्क स्थापित होता रहा।

नन्दलाल बसु

आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्रकला के जिस नवोत्थान का उद्घोष किया था उनके बाद उसका सफल नेतृत्व किया उनके शिष्य आचार्य नन्दलाल बसु ने। बसु बाबू का जन्म ३ सितम्बर, १८८३ ई० को बिहार प्रदेश के मुँगेर जिले (हवेली खड्गपुर) में हुआ। कला के प्रति उनमें बाल्यकाल से ही रुचि थी। अतः कालेज की शिक्षा का स्वेच्छया परित्याग कर वे कलकत्ता के गवर्नमेंट आर्ट स्कूल में भर्ती हो गये। इस प्रकार उन्हें आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का शिष्यत्व प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ। वहाँ की शिक्षा पूरी करने के बाद कलकत्ता में गुरुदेव द्वारा १९१७ ई० में स्थापित 'विचित्रा' नामक कलाशिल्प केन्द्र तथा ओरिएण्टल स्कूल ऑफ आर्ट्स का उन्हें प्रिंसिपल नियुक्त किया गया। १९२२ ई० में गुरुदेव उन्हें कला-विभाग का अध्यक्ष बनाकर शांतिनिकेतन ले गये।

बसु बाबू ने, अन्य अनेक कलाविषयक महत्वपूर्ण कार्य करने के उपरान्त, अजन्ता तथा बाघ आदि की गुफाओं के भित्तिचित्रों की सफल प्रतिलिपियाँ उतारीं। उससे उनकी ख्याति में चार-चाँद लग गये। इसी कारण राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के बुलाने पर उन्होंने लखनऊ, फैजपुर तथा हरिपुर में हुए अखिल भारतीय काँग्रेस के अधिवेशनों में पण्डाल सजाने का कार्य किया।

गुरुदेव के साथ १९२४ ई० में वे चीन भी गये। वहाँ उन्होंने भारतीय और चीनी कला-शैलियों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये और उनकी जिन विशेषताओं का विश्लेषण किया उसको सुनकर वहाँ के बड़े-बड़े कलाकार मुग्ध हो गये थे। गुरुदेव और अवनीन्द्र बाबू के सहयोग के कारण उन्हें भगिनी निवेदिता, सुरेन ठाकुर, ओकाकुरा, कुमारस्वामी, वुडरॉफ, म्यूराल और ब्लंट आदि प्रख्यात कलामर्मज्ञों से मिलने का सुयोग प्राप्त होता रहा।

यद्यपि उनकी कलाकारिता की सर्वत्र मुक्तकण्ठ से प्रशंसा ही हुई; किन्तु उनके कुछ आलोचकों ने यह भी कहा कि "उनकी कृतियाँ कला के इतिहास में केवल एक क्षण हैं; सदा प्रवहमान निरन्तर गतिशील धारा नहीं।" और "आधुनिक अभिव्यक्ति का मुक़ाबला करने योग्य ओजस्विता उनमें नहीं।"

इस आलोचना के बावजूद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बसु बाबू की विशुद्ध कलादृष्टि और अन्तर्दर्शिता की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने

एक स्थान पर कहा है "मैंने नन्दलाल के कलाकार और व्यक्ति को पास से देखा है। बुद्धि, हृदय, उदारता, अनुभव और सूझ के वे अद्भुत समन्वय हैं।"

बसु महोदय में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि उन्होंने निरन्तर विभिन्न शैलियों के नये प्रयोग किये। इसके अतिरिक्त उनके कल्पनाशील व्यक्तित्व ने उनके चित्रों के रंग और रेखाओं में सर्वत्र प्राण-संचार का कार्य किया। इसीलिए गुरुदेव ने उनके व्यक्तित्व की प्रशंसा की है।

उनके विख्यात चित्रों में **सती, शिव का विषपान, शिव-सती, बुद्ध और मेष, जगन्नाथ मन्दिर के गरुड़ स्तंभ के पास श्री चैतन्य, दुर्गा, अर्जुन, युधिष्ठिर की स्वर्गयात्रा, स्वर्णकुंभ, वीणा-वादिनी, स्वप्न, संथाल-संथालिन, उमा की तपस्या, विरहिणी उमा, मेव,** और **गाँधी जी की डाँडीयात्रा** आदि का नाम उल्लेखनीय है। **मंजीरावाली, ढोलकवाला, सद्यस्नाता** आदि उनके उत्कृष्ट चित्र लोककला से प्रभावित हैं।

'**रूपावली**' और '**शिल्पकथा**' उनकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मण्डनशिल्प (आर्नामेंट आर्ट) का आचार्य बसु को प्रामाणिक शिल्पी माना जाता है।

बसु बाबू की कला-कृतियों में उनके कार्डचित्रों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके कार्डचित्रों की संख्या हजारों है। कार्डों पर चित्र बनाने का आरंभ अवनीन्द्र बाबू और गगनेन्द्र बाबू ने किया। अपने विद्यार्थियों तथा कलाकार मित्रों के लिए बसु बाबू कार्डों पर चित्र बना कर पत्र भेजा करते थे। इस प्रकार के अनेक कार्ड आज भी अनेक व्यक्तियों के पास सुरक्षित हैं। विषय और टेकनीक की दृष्टि से इन कार्डचित्रों का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। उनमें कुछ तो मिनटों में, और कुछ कई दिनों के प्रयास के बाद बनाये गये हैं। एक बैठक में वे दस-बीस कार्डचित्र तैयार कर लेते थे और कभी-कभी एक-दो ही।

ये कार्डचित्र, एक प्रकार से, उनके नोट्स हुआ करते थे, जिनको वे राह चलते तैयार कर लेते थे या किसी दृश्यविशेष को रेखांकित कर लिया करते थे। इन कार्डचित्रों में स्याही या रंग या दोनों का प्रयोग किया गया है। तूलिका, निब या पेंसिल के द्वारा निर्मित इस प्रकार के कार्ड चित्रों के विषय भी भिन्न-भिन्न हैं।

यामिनी राय

बंगाल स्कूल के तत्कालीन बहुव्यापी प्रभाव से अछूत रहकर जिन कलाकारों ने अपनी स्वतंत्र मेधा के बल पर चित्रकला की परम्परा को आगे बढ़ाया उनमें यामिनी राय और अमृत शेरगिल का नाम उल्लेखनीय है।

यामिनी बाबू का जन्म १८८७ ई० को पश्चिमी बंगाल में हुआ था। उन्होंने पश्चिम की कलाशैली के अन्धानुकरण को हेय और हीन दृष्टि से देखा। आधुनिक चित्रकला में यामिनी बाबू का इसलिए भी ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि वे अन्त तक अपने उद्देश्यों पर अडिग बने रहे। यही कारण है कि विदेशों में आज जब वास्तविक भारतीय कलाकारों का मूल्यांकन होता है तो यामिनी बाबू की कला-कृतियाँ एकमत से अपनायी जाती हैं। यूनेस्को की एक कला-प्रदर्शनी में अड़तालीस देशों से प्राप्त चित्रों की समीक्षा करते हुए '**न्यूयार्क टाइम्स**' और '**लंदन टाइम्स**' ने अपनी टिप्पणियों में यामिनी बाबू के चित्रों को पेरिस के प्रभाव से अछूता बताया। उनके चित्र आज संसार की प्रसिद्ध आर्ट गैलरियों की शोभा बढ़ा रहे हैं।

राय बाबू की दृष्टि हमेशा ही नये-नये अनुसंधानों को रूपायित करने की ओर रही है। उनके ग्राम्य जीवन सम्बन्धी चित्र उनकी कला के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। उन्होंने लोककला की अनुभूतियों को विशेषरूप से ग्रहण किया, जब कि उनके समकालीन चित्रकार बंगाल स्कूल के प्रभाव से अपने को मुक्त न कर सके। उन्होंने कलकत्ता में रहते हुए भी अपने लिए नये मार्ग का निर्माण किया। आरंभ में उन्होंने भी बंगाल स्कूल की परम्परा में चित्र बनाये; किन्तु बाद में जब उन्हें अपने देश की संस्कृति के प्रति अधकचरी विदेशी प्रवृतियों से निरन्तर बाढ़ का खतरा दिखायी दिया तब उन्होंने उस ओर से विमुख होकर दूसरी दिशा अपनायी।

उनकी लोकप्रियता का एकमात्र कारण उनकी व्यापक दृष्टि रही है। उनके चित्रों की अपनी कुछ विशेष विधाएँ हैं। उन्होंने अपने चित्रों में उभार प्रकट करने वाले और परम्परा से चले आते लघुचित्रों की हू-बहू शैली को नहीं अपनाया। उनके कुछ चित्रों की पृष्ठभूमि काजली है। इस प्रणाली में उनका स्वतंत्र चिन्तन मुखरित है। पौराणिक कथाओं तथा धार्मिक विषय के चित्रों को उन्होंने इस सहज ढंग से उतारा कि उनमें न तो अतिरेक है और न शिथिलता ही। इस सहज दृष्टि के कारण उनकी कृतियों को समाज में बहुत पसन्द किया गया।

यामिनी बाबू के कृतित्व से न केवल बंगाल का नाम उजागर हुआ; बल्कि उससे आधुनिक चित्रकला को भी नया आलोक मिला। उनको न तो किसी नयी शैली का जन्मदाता कहा जा सकता है और न उन्होंने बंगाल स्कूल की परम्परा का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने उस भावमयी लोककला को अपनाया, जो इस देश की अपनी थी और जिसके उज्ज्वल भाल पर धूल की परतें जम चुकी थीं। इस ओर प्रवृत होने की प्रेरणा उन्हें ग्रामीण शिल्पकारों से प्राप्त हुई थी। यद्यपि कालीघाट के पटुओं से भी वे प्रभावित थे; किन्तु जिस सुनियोजित कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति राय बाबू के राम तथा कृष्ण संबंधी वृहत् चित्रों में दर्शित है उसकी तुलना, परम्परा की लीक पर चलने वाले, पेशेवर शिल्पियों (पटुओं) की कला से किसी भी दृष्टि से नहीं की जा सकती।

आधुनिक चित्रकला के क्षेत्र में उनका यह नया आन्दोलन इतिहास की अविस्मरणीय घटना के रूप में याद किया जाता है; और वास्तव में यही इस देश की संस्कृति का वास्तविक स्वरूप है।

यामिनी बाबू की इस मौलिक दृष्टि को देखकर आरंभ में उनके द्वारा स्थापित भारतीय चित्रकला के जिस स्वरूप की आशा की जाने लगी थी उसका विकास ठीक उसी गति से न हो पाया। फलतः आगे की पीढ़ी के लिए वे ऐसा कुछ भी विशेष न दे सके, जिसके द्वारा कला के क्षेत्र में एक स्वस्थ चेतना का विकास हो पाता। यद्यपि यामिनी बाबू की सरल प्रवृति, धार्मिक भावना, लोकरुचि और रंगों के प्रति विशुद्ध दृष्टिकोण आधुनिक कला-प्रवृतियों की स्वस्थ भूमिका के लिए वरदान सिद्ध हुए; फिर भी उनको जिस व्यापकता से अपनाया जाना चाहिए था वैसा नहीं हुआ। इस अभाव की पूर्ति अमृत शेरगिल की कलाकृतियों ने किया।

अमृत शेरग़िल

राय चौधरी की ही भाँति अमृत शेरगिल ने भी भारतीय विषयवस्तु को योरोपीय शैली एवं सिद्धान्तों पर निर्मित किया। फिर भी उनका दूसरा ही महत्व है। उनके चित्रों में दलित वर्ग की भूख, प्यास और पीड़ा बोलती है। उनके चित्रों में नारी स्वभाव की सहज कोमलताएँ, ममता और दया आदि के भाव सजीव रूप में उतरे हैं। भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में अमृत शेरगिल का आगमन एक संयोग की बात थी। अपनी अल्पायु में ही उसने जो कुछ भी दिया उसका एक इतिहास है, जिसको जान लेने के बाद उसकी कला-साधना का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक चित्रकला के इतिहास में यामिनी राय के बाद अमृत शेरगिल का ही दूसरा नाम आता है, जिन्होंने भारतीय चित्रकला को कुछ मौलिक एवं संवर्धनशील तत्त्व दिये। किन्तु राय बाबू जहाँ अपनी सीमाओं में बँधकर रह गये, वहाँ अमृत शेरगिल ने अपने कला-विधान को स्वतंत्र ढंग से आगे बढ़ाया। वस्तुतः उनके द्वारा कला के क्षेत्र में जो अनुकरणीय तथा आकर्षक भूमिका का निर्माण हुआ था उसका पूर्ण विकास होने से पहले ही वह हमसे अलग हो गयीं। वस्तुतः परम्परागत भारतीय चित्रशैलियों तथा भित्तिचित्रों और पश्चिम की आधुनिक कला-प्रवृत्तियों के समन्वय से अमृता ने जिस नये पीठ की रचना की थी, उनकी असामयिक मृत्यु के कारण वह अधूरा ही रह गया।

कुमारी अमृत शेरगिल का जन्म १९१३ ई० में हंगरी की राजधानी बूदापेस्त में हुआ था। उसके पिता भारतीय थे और माता हंगेरियन। पेरिस की चित्रशालाओं और उच्च कला-निकेतनों से चित्रकला का ज्ञान प्राप्त करके वह १९३४ ई० में भारत आयीं और शिमला में रहने लगीं। जब वह १३ वर्ष की थीं तभी इटली और फ्लोरेंस की चित्रशालाओं का अभ्यास कर चुकी थीं। सुप्रसिद्ध कलाकार लूसियाँ सीमों और गोग्याँ उनके गुरु थे। उन्होंने भारत के प्रमुख स्थानों का भ्रमण करके अपने कलाकार जीवन के लिए अनेक अनुभव समेटे।

१९३८ में अमृता बूदापेस्त गयीं और विवाह करने के उपरान्त अपने पति के साथ १९३९ में भारत लौट आयीं। किन्तु दुर्भाग्यवश अपने वैवाहिक जीवन का आंशिक सुख प्राप्त किये बिना ही दिसम्बर १९४१ ई० में उसका निधन हो गया।

यधपि उसकी समस्त शिक्षा-दीक्षा विदेशी ढंग पर संपन्न हुई थी; फिर भी वह भारतीय संस्कृति में इतनी घुल-मिल गयी थीं कि उसको विदेशी कहना ही कठिन था। उसका कारण यह था कि भारत के प्रति उसके मन में स्वाभाविक प्रेम था। भारत के प्रति उसने जो भाव प्रकट किये हैं वे इसके प्रमाण हैं। उसने अपनी पेरिस यात्रा के समय लिखा है "जाड़े के दिनों में भारत में जो मौसम रहता है, वैसा ही यहाँ भी है; धूप वैसी ही खिली है; पर यहाँ के पीले, भूरे मैदान, लोगों के उतावले चेहरे, गुमसुम चाल और उदास वातावरण, सभी भारत से अलग हैं। वहाँ के हरे-भरे मैदान, खिले चेहरे, रंगीन वातावरण . . . ओह, वह रूमानियत से भरा भारत, मेरे सपनों का साकार रूप !"

अजन्ता की चित्रकारी को देखकर (१९३७ ई०) अमृत शेरगिल अत्यधिक प्रभावित हुईं और तभी से उनके चित्रों में भित्तिचित्रों के-से गुण व्यक्त हुए; मुख-मुद्राओं में जीवन की मुखरता झलकी। उन्होंने सामाजिक ढंग के यथार्थवादी चित्र भी दिये। कुषाण कालीन यक्ष-मूर्तियों से प्रभावित होकर उन्होंने लोककला के पक्ष में तीन आयामों वाले शिल्प का प्रयोग किया। आधुनिक भारतीय चित्रकला में अमृता की कृतियों ने युग-परिवर्तन का कार्य किया। उनके चित्रों में विषय की नवीनता, टेकनीक की ताज़गी, रंगों की स्वच्छता और रेखाओं का प्रवाह है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जो काम प्रेमचंद जी ने किया, चित्रकला के क्षेत्र में वही देन अमृत शेरगिल की है। प्रेमचंद जी की ही भाँति अमृता ने भी अपने युग की विपरीत परिस्थितियों का सामना कर भारतीय चित्रकला को ऐसे नये तत्त्व दिये, जिनसे आधुनिक चित्रकला के क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान बन गया। उनकी आरंभिक कृतियों में भारत का दुःख-दैत्य, दरिद्रता और पीड़ा की आवाज है। उन्होंने सामाजिक यथार्थ के ऐसे चित्र दिये, जिनमें भारत की आत्मा बोल रही है। उन्होंने उत्सव, पर्व, त्योहार और जीवन की विविधताओं को प्रकट करने वाले लोक जीवन की परम्पराओं को भी अपनी कृतियों में सफलता से उतारा। उनके चित्रों में **युवतियाँ, कुछ भारतीय लड़कियाँ, वर-वधू का शृंगार, गणेशपूजा, ब्रह्मचारी, नीलवसना, ग्रामीण, पहाड़ी-स्त्रियाँ, भिखमंगे** और **पिता का चित्र** आदि बड़े ही लोकप्रिय हुए। अमृत शेरगिल की कला-कृतियों पर कार्ल खांडेलवाल ने एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक लिखी है। आधुनिक भारतीय चित्रकला के लिए अपने सतत प्रेरणादायी अमर कृतित्व को छोड़कर २८ वर्ष की अल्पायु में ही अमृत शेरगिल स्वर्गवासी हुईं।

देवीप्रसाद राय चौधरी

राय चौधरी, आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के योग्य शिष्यों में गिने जाते हैं। चित्रकला और मूर्तिकला, दोनों विषयों पर उनका समान अधिकार है। वे मद्रास स्कूल के प्रमुख कलाकारों में है। आजकल वे मद्रास के गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्स के प्रिंसिपल हैं। उनकी कला पाश्चात्य शैली से प्रभावित है; फिर भी उनके **कमल, तालाब,** शीर्षक चित्रों में प्राचीन भारतीय शिल्प-शैली की प्रधानता है। उनके कुछ चित्रों में पूरब और पश्चिम की मिश्रित विधियाँ भी दर्शित हैं—जैसे विषय भारतीय और रंग-विधान पाश्चात्य। उनके ये नये प्रयोग हैं। बम्बई स्कूल के कुछ चित्रकारों पर भी इस मिश्रित शैली का प्रभाव है।

अनेक सुन्दर प्रकृतिचित्रों के अतिरिक्त उन्होंने बनजारों, मछुओं तथा पहाड़ी जीवन से संबद्ध बड़े ही हृदयग्राही चित्र बनाये हैं। श्रमिक और सच्चे जीवन की झाँकियाँ उन्होंने अपनी कला के लिए बहुधा अपनायी हैं।

आरंभ में उन्होंने अपने चित्रों के लिए जलीय माध्यम स्वीकार किया; किन्तु इधर उन्होंने सुन्दर तैलचित्र भी बनाये हैं। उन्होंने अपने कलागुरु के अनुकरण पर भारतीय तथा यूरोपीय शैलियों के संमिश्रण से एक नयी शैली को जन्म दिया, देश के कलाकारों ने जिसका बड़े पैमाने पर स्वागत किया। कला-जगत् में उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं के फलस्वरूप सरकार ने १९५८ ई० में उनको 'पद्मभूषण' की राष्ट्रीय उपाधि से संमानित किया।

असित कुमार हाल्दार

श्री असित कुमार हाल्दार का नाम बंगाल स्कूल के उन यशस्वी आचार्यों एवं कलाकारों में है, जिन्होंने निरन्तर कई वर्षों तक भारतीय कला की सेवा की और जिनके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक कलाकारों द्वारा कला का सृजन हो रहा है।

श्री हाल्दार, आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के मुख्य शिष्यों में से हैं। कला की शिक्षा समाप्त करने के बाद पहले तो वे शांतिनिकेतन के कला-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुये और बाद में उन्होंने जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट्स तथा गवर्नमेंट कालेज ऑफ आर्ट्स ऐंड क्रेफ्ट्स (लखनऊ) में प्रधानाचार्य के पदों पर कार्य किया। इस प्रकार यद्यपि आरंभ से ही उनको दायित्वपूर्ण पदों को संभालना पड़ा तब भी अपनी वैयक्तिक साधना में उन्होंने कोई शिथिलता न आने दी। उनकी कलाकृतियों में पुनरुत्थान, संघर्ष और परम्परा का समन्वय है। आरंभ से ही वे बड़े-बड़े कला-समीक्षकों के प्रशंसापात्र रहे हैं। आचार्य ई० बी० हैवेल और डॉ० आनन्दकुमार स्वामी प्रभृति विद्वानों ने उनके कृतित्व की सराहना की है।

अनेक उच्च कोटि के चित्रों का निर्माण करने के अतिरिक्त उन्होंने अजन्ता, बाघ तथा जोगीमारा (१९१०–१४ ई० के बीच) आदि के गुफाचित्रों की प्रतिकृतियाँ उतारीं। उन्होंने लकड़ी, रेशम तथा अन्य माध्यमों पर भी सफल प्रयोग किये हैं। उनके प्रकृति चित्र

बड़े ही आकर्षक हैं। उनका रंग-विधान प्राचीन भारतीय शैली का, विशेषतः राजपूत और मुगल शैली का है। अन्य सहयोगियों की भाँति उनके अनेक चित्रों में राष्ट्रप्रेम की भावना निहित है।

उनके चित्रों का विषय प्रायः पौराणिक हुआ करता है। किन्तु **लोहे का व्यापारी** जैसे चित्रों का निर्माण कर उन्होंने पौराणिक परिवेश में आधुनिक जीवन की यथार्थता को भी उतने ही कौशल से व्यक्त किया है। ग्रामीण वातावरण, प्रकृति और प्रणय आदि विषयों के चित्रण में भी उनकी समान रुचि रही है। उनके चित्रों में **प्रकाश और लय, राम और गुह, वपु, विकासोन्मुख यौवन, वेद का अध्ययन**, और ऐतिहासिक महत्व के व्यक्तिचित्रों में **कुणाल, निर्माता अकबर**, उल्लेखनीय हैं।

हाल्दार बाबू कलाकार होने के साथ ही अच्छे अध्येता और लेखक भी हैं। उन्होंने कालिदास के '**मेघदूत**' का सुन्दर बंगला अनुवाद किया है और तत्संबंधी दृष्टान्तचित्र भी बनाये हैं। उनके बनाये हुए उमर खैयाम से संबंधित चित्र भी आकर्षक हैं। उनके चित्र आज स्वदेश-विदेश के अनेक कला-निकेतनों एवं व्यक्तिगत संग्रहों में सुसज्जित हैं।

क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार

आधुनिक चित्रशैली की पुरानी पीढ़ी के कलाकारों में श्री मज़ूमदार का नाम उल्लेखनीय है। उनकी कला में धार्मिक विचारों की प्रमुखता है; विशेषतः बंगाल के वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु की भावमयी लीलाओं का प्रदर्शन। उनके चित्रों की आकृतियों और भंगिमाओं में व्यंजनावृत्ति की नवीन प्रभावोत्पादकता है। उनके चित्रों में रंगों की सूक्ष्मता और रागात्मकता है। **चैतन्य का गृहत्याग** शीर्षक चित्र रचनात्मक दृष्टि से अपनी परम्परा का श्रेष्ठ चित्र है। उसकी रंग-योजना और मुखमुद्रा द्वारा उदास, मोहक और वैराग्य के गंभीर वातावरण का समुचित भाव दर्शाया गया है।

उन्होंने कुछ आलंकारिक ढंग के चित्र भी बनाये हैं। **यमुना** और **शकुन्तला** शीर्षक चित्र इसी कोटि के हैं। इस प्रकार के चित्रों में आलंकारिक सरसता के साथ-साथ गीतात्मक रुझान भी है। पौराणिक प्रतिमानों को लेकर बनाये गये, श्री मजूमदार के चित्रों में **भावोपपन्नता** और मर्यादा का समन्वय दर्शनीय होता है।

कलाचार्य मजूमदार की शैली के सुनिश्चित आधार हैं, जिसमें परम्परा का पालन और शास्त्रीय दृष्टि का निर्वाह देखने को मिलता है। उनकी कला के उन्मेष और उसकी प्रौढ़ावस्था में निरन्तर गतिशीलता है। उनकी कला-साधना की यह एक विशेषता ही कही जायगी।

आचार्य मजूमदार एक युगविशेष के कलाकार रहे हैं। बंगाल में कला के पुनर्जागरण में जिन कलाकारों या कलाचार्यों का विशेष योग रहा है उनमें मजूमदार जी का नाम मुख्य है। वे धीमी गति से, किन्तु गंभीर विश्लेषण के बाद आगे बढ़े। रचना-प्रक्रिया एवं टेकनीक की दृष्टि से उनके चित्रों में विविधता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार २०वीं शताब्दी के आरंभ से लेकर अब तक चित्रकला की जिस परम्परा का विकास हुआ उसको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। श्री अलाग्री नायडू से श्री मजूमदार तक जिन कलाकारों का उल्लेख किया गया उनके द्वारा चित्रकला के आधुनिक युग का प्रवर्तन हुआ। इस दृष्टि से उनको कलाचार्य के रूप में स्मरण किया जाता है। उनके सामने जो परिस्थितियाँ और दायित्व थे उनका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया। तत्कालीन चित्रकला में जो शांकर्य व्याप्त होता जा रहा था और 'भारतीयता' के नाम पर जिन कला-कृतियों का निर्माण हो रहा था उन्होंने उचित समाधान किया; किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण कार्य किया उन्होंने सैकड़ों नये कलाकारों को तैयार करके। ये नवोदित कलाकार ही समसामयिक चित्रशैली के सृजक एवं प्रवर्तक हैं।

इन नये कलाकारों द्वारा भारतीय चित्रकला का जिस रूप में विकास हो रहा है उसका अपना भिन्न एवं मौलिक महत्व है। इस दूसरी शाखा के समसामयिक कलाकारों में पुरातन के प्रति आस्था और भविष्य के लिए उत्कण्ठा है। उनकी कृतियों में आज की परिवर्तित एवं व्यापक परिस्थितियों का समन्वय एव सामंजस्य दर्शित है। वे न तो व्यक्ति-सापेक्ष्य हैं और न एकदेशीय ही। कला के क्षेत्र में जो नये अनुसंधान और नयी गवेषणाएँ हो रही हैं, आज का भारतीय कलाकार उनकी ओर उन्मुख है।

समसामयिक चित्रकारों की संक्षिप्त परिचयी

समसामयिक साहित्य की विभिन्न विचार वीथियों के संबंध में कोई अकाट्य मत प्रस्तुत करना जैसे कठिन और असंभव है, वही स्थिति आधुनिक चित्रकला की भी है। बल्कि साहित्य की अपेक्षा हमारे देश में चित्रकला के अध्येताओं की न्यूनता होने के कारण, साहित्य से चित्रकला की स्थिति कठिनतर एवं कुछ भिन्न है। विदेशों में साहित्य और कला के अध्ययन तथा संवर्द्धन के लिए एक जैसी स्थिति है। हमारे देश के समसामयिक कलाकार यद्यपि कला-जगत् की सद्य: सृजनशील परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं हैं, तथापि पूरे वातावरण को वैसा बनाने में अभी समय की अपेक्षा है।

आधुनिक शैली के जिन चित्रकारों का परिचय प्रस्तुत किया जा चुका है, वे एक विशिष्ट पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह पीढ़ी परम्परा का पोषण करती हुई भविष्य के लिए नयी राह दिखाती है। ऐसे कलाकारों में जिनके नाम छूट गये हैं वे हैं : श्री अब्दुर्रहमान चगतई (पाकिस्तान में), श्री अमीना अहमद, श्री एंजिला त्रिनिनाद, श्री कुमारिल स्वामी, श्री नित्यानन्द महापात्र; श्री पुलिन बिहारी दत्त, श्री शारदाचरण उकील, श्री सुकुमार देउस्कर समरेन्द्रनाथ गुप्त, अनागरिक गोविन्द और हकीम मुहम्मद आदि।

समसामयिक चित्रकारों की आसन्न पीढ़ी के मुख्य चित्रकारों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्हीं पर भारतीय चित्रकला की वर्तमान और भावी संभावनाएँ निर्भर हैं। इस पीढ़ी के कलाकारों में निष्ठा और दायित्व है। उनमें कुछ तो प्रगतिशील ग्रुप के हैं। सामान्यत: जिन चित्रकारों का नाम लिया जाना चाहिए उनमें श्री गादे, श्री गायतोंडे, श्री चावदा, श्री भावेश सान्याल, श्री द्विजेन सेन, श्री सूजा, श्री भाऊ समर्थ, श्री पनिक्कर, श्री रथीन मित्र, श्री बीरेन दे, श्री हरकिशन लाल, श्री अनादि अधिकारी, श्री कृष्णचन्द्र आर्य, श्री एस० कृष्ण, श्री श्रीकृष्ण खन्ना, श्री प्रफुल्ल जोशी, श्री उग्र मंत्री, श्री दिनेश शाह, श्री रणवीर सक्सेना, श्री किरन सिन्हा और श्री पी० टी० रेड्डी का नाम उल्लेखनीय है।

समसामयिक पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीय चित्रकारों का नाम गिना देना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता यह भी है कि उनकी दृष्टि और सृष्टि का परिचय प्राप्त किया जा सके। अधोलिखित चित्रकारों की नामानुक्रमेण संक्षिप्त परिचयी से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक कला-जगत् में भारतीय चित्रकारों का क्या स्थान है। ये चित्रकार विभिन्न वर्गों से संबंधित हैं, जैसा कि संकेत भी किया जा चुका है। अत: उनके रचना-विधान और शैलीगत रुचियों में अलगाव होना स्वाभाविक है। किन्तु एक अर्थ में वे एकीभूत भी हैं। उन सब में जिस एक ही अन्त:प्रेरणा के दर्शन होते हैं, वह है अपने देश की संस्कृति, सभ्यता और मर्यादा का संरक्षण-पोषण। किसी साहित्यकार और कलाकार की यही अन्त:प्रेरणा, अपनी और अपने राष्ट्रीय मान-मूल्यों की कुंजी है। उससे ही निर्माता और उसके जन-मानस की वास्तविकता एवं मौलिकता का परिचय मिलता है।

अधिकारी अनादि

श्री अनादि अधिकारी बम्बई क्षेत्र के यशस्वी कलाकार हैं। वे जीवन की तरह कला में भी सच्चाई के पक्षपाती हैं। यद्यपि उन्होंने कम चित्र बनाये हैं, फिर भी उनके चित्रों में कला की ऊँची परख है। वे कला को दैवी विधान और कलाकार को परमेश्वर के तुल्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि कोई भी कृति, किसी भी विषय की, ऐसी होनी चाहिए, जो अपने आदर्शों एवं उद्देश्यों को स्वयं ही व्यक्त कर सके। ऐसा तभी संभव है, जब उसमें जीवन होगा। कलाकृति में जीवन भरने के लिए साधना की आवश्यकता है।

अलमेलकर अब्दुलरहीम अप्पाभाई

श्री अल्मेलकर बम्बई क्षेत्र के प्रतिष्ठित कलाकार हैं। बंगाल स्कूल की पद्धति का अंधानुकरण न करने वाले तथा परम्परा की महानताओं पर विश्वास करने वाले यामिनी राय तथा अमृत शेरगिल जैसे कलाकारों में अलमेलकर का स्थान है। मुगल, राजपूत, काँगड़ा तथा दक्षिण की शैलियों से रस, भाव तथा ओज ग्रहणकर उन्होंने लोककला के रुझान को अपनी कृतियों में उतारा है। उनकी निजी शैली नये प्रयोगों से पूरित है। कला के अरुचिकर पक्ष को वे कोमलता से ढाँप लेते हैं। उनमें परम्परा की प्रेरणा और वर्तमान का समर्थन है। उनके पात्रों का व्यक्तित्व बड़ा ही सजीव तथा स्वाभाविक होता है। उनकी कृतियों में लोककला तथा मंडन शैली का रुचिर समन्वय है।

उत्कृष्ट कही जाने वाली उनकी अद्यतन कृतियाँ सर्वथा भारतीय भाव-परिवेषों तथा रंग-रेखाओं से युक्त हैं। उनके इकरंगे और बहुरंगे चित्रों में समान रुझान हैं। मानवाकृतियों के चित्रण में वे दक्ष हैं। वे जीवन में और कला में सहनशील, संतोष, उदारता और प्रफुल्लता के पक्षपाती हैं।

उनके चित्र अनेक दर्शनियों में मुक्तकण्ठ से सराहे गये हैं। १९५४ ई० में बम्बई आर्ट सोसाइटी ने उनके चित्र **पूर्णिमा** पर सर्वोच्च पुरस्कार प्रदान किया। उनका एक चित्र **राख से पुनर्जन्म** शीर्षक से है। इसको उन्होंने तब बनाया था, जब एक बार उनके घर में आग लग जाने से उनकी समस्त कृतियाँ जल गयीं थीं। उनके चित्रों में पशु-पक्षी-चित्रण और प्राकृतिक सौरभ दर्शनीय होता है। उनका रेखा-विधान सधा हुआ है।

आरा के० एच०

आरा के चित्रों में भिन्न-भिन्न रंगों की सुयोजना दर्शनीय होती है। गहरे और गंभीर रंगों के प्रति उनकी विशेष रुचि है। प्राकृतिक विषयों से संबद्ध उनके चित्र विशेष आकर्षक हैं; उनमें भी विशेषतः फूल-पत्तियों का चित्रण श्लाघ्य है। मानव-आकृति के चित्रण में भी उनका उद्योग प्रशंसनीय है। उन्होंने जलीय, तैल और टेम्परा, सभी प्रकार के चित्र बनाये हैं।

आरा के चित्रों की कई प्रदर्शनियाँ आयोजित हो चुकी हैं और उन पर कला-समीक्षकों के विचार भी देखने को मिले हैं। '**आरा के चित्र**' इस शीर्षक से '**कल्पना**' (जन० ५५) में श्री एस्पर महोदय की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। इसमें लेखक का दृष्टिकोण यद्यपि पर्याप्त तीखापन लिए है; फिर भी उसके विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेखक का कथन है कि कलाकार आरा के चित्रों में रंगों और फूलों की सजावट तो है; किन्तु एक आलोचक की दृष्टि से वे कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रतीत यह होता है कि वे फूल केवल फूल हैं, तथा रहेंगे; उनमें गंध की अनुभूति नहीं। उनसे पर्शियन शैली के एक नौसिखिये का बोध अवश्य होता है। आरा के द्वारा निर्मित १४४ चित्रों (१९५४ ई० तक) में कुछ थोड़े-से चित्र ऐसे हैं, जिनमें गहरे और गंभीर रंगों का रुचिर प्रयोग हुआ है; किन्तु यह नयी बात नहीं है। प्राकृतिक दृश्यों के काले और मूल रंग दिखाने का प्रयत्न भी उनका चामत्कारिक ही कहा जायगा। यदि आलोचक के शब्दों में कहा जाय तो 'आरा एक समर्थ कार्यकर्ता तथा कुशल और मेहनती कलाकार हैं, जो पुरानी लीक से अलग जाना चाहते हैं। किन्तु जब तक वे अपनी सीमा से बाहर नहीं आते, तब तक आगे नहीं बढ़ सकते। हमें आरा के अपने 'स्वयं' से ऊपर उठने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।'

एस्पर साहब के इस मंतव्य के साथ आरा के संबंध में यदि दूसरे विदेशी कला-समीक्षक के इन विचारों की तुलना की जाय तो निष्कर्ष कुछ दूसरा ही निकलता है। समीक्षाकार का कहना है कि 'आरा अपनी जन्मभूमि की विशेषताओं को समझता है। गाढ़ी छाया के प्रति वह बहुत संवेदनशील है; किन्तु रेखाओं की गंभीरता के आसपास सदा ही प्रकाश की झलक नाचती रहती है, जिससे रेखाओं की गुरुता हल्की हो जाती है। उनका **दो कवि** टेकनीक की दृष्टि से पिकासो से पर्याप्त प्रभावित होने के बावजूद विदेशी नहीं कहा जा सकता। उनके रंगों के छंद में एक प्रकार का कंपन है, जो अनुभूति की गहराइयों से उद्भूत है।'

इस प्रकार आरा के संबंध में दो आलोचकों के दो भिन्न मन्तव्य हैं। जहाँ तक आज का संबंध है, आरा परम्परा से हटकर स्वतंत्र चिन्तन की कुछ मौलिक कृतियाँ देने की ओर उत्साह से अग्रसर हैं।

आरा के चित्रों की अब तक जितनी प्रदर्शनियाँ आयोजित हो चुकी हैं उनमें जहाँगीर आर्ट गैलरी, बम्बई की प्रदर्शनी उल्लेखनीय है। यह प्रदर्शनी १८ से २५ जनवरी (१९६१) तक रही। इसमें आरा ने ५० नग्नचित्र प्रदर्शित किये थे। गैलरी में प्रदर्शित इन चित्रों को देखने के बाद बम्बई के नागरिकों में विचित्र प्रतिक्रिया हुई। विरोधी पक्ष के लोगों ने यहाँ तक चेष्टा की कि प्रदर्शनी को ही बंद कर दिया जाय। किन्तु आरा ने अपने चित्रों के बारे में जो अभिमत प्रदर्शित किया उससे उनके चित्रों की वास्तविकता स्पष्ट हो गयी। उन्होंने अपने इन चित्रों को सात्विकता का परिचायक और अपनी आन्तरिक निष्ठा का द्योतक बताया। इस कारण यह प्रदर्शनी इतनी सफल रही कि लोगों का कहना है कि वर्षों बाद आर्ट गैलरी में इतनी भीड़ दिखायी दी। इसी गैलरी में लगभग १० वर्ष पूर्व न्यूटन के नग्नचित्रों की एक प्रदर्शनी हुई थी, जिसको बम्बई के शासन ने बंद कर दिया। किन्तु आरा के संबंध में यह बात न हुई। उनके चित्रों को बड़े पैमाने पर सराहा गया।

कृष्णचन्द्र आर्यन

श्री कृष्णचन्द्र आर्यन को कला की विरासत अपने पूर्वजों से उपलब्ध हुई। उनके पिता भारत के विख्यात स्वर्णकार माने जाते हैं।

अमृतसर के प्रसिद्ध स्वर्ण मन्दिर के कपाटों की सज्जा को उन्होंने ही अंकित किया था। इसलिए कला की शिक्षा के लिए आर्यन ने किसी कला विद्यालय की शरण लेने की अपेक्षा अपने ही ढंग से अपनी कलात्मक अभिरुचियों का विकास किया।

उनका जन्म १९१९ ई० को अमृतसर में हुआ। देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद राजधानी को उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। आरंभ में उन्होंने व्यावसायिक ढंग की कृतियों का निर्माण किया; किन्तु बाद में उन्होंने अपनी कृतियों के लिए लोकशैली के शिल्प को ग्रहण कर उसमें नाम कमाया। इसके बाद उन्होंने भारत के विभिन्न अंचलों की चित्रशैलियों से प्रेरणा प्राप्त की और उनका समन्वय अपने चित्रों में किया।

वे विदेशों का भी भ्रमण कर चुके हैं और अनेक कलाकारों तथा कलाकृतियों का दर्शन कर चुके हैं। योरप और एशिया के विभिन्न देशों की कला-प्रवृतियों से प्रेरणा प्राप्तकर उन्होंने इधर जो कृतियाँ दी हैं उनसे जान पड़ता है कि वे सूक्ष्मता की ओर उन्मुख हैं। आरंभ में उनका झुकाव यथार्थवाद की ओर था, उसके बाद वे लोककला की ओर उन्मुख हुए और आज वे लोहे के पत्तरों तथा छड़ों से विभिन्न आकृतियाँ बनाने में लगे हैं। यह शैली प्रतीकात्मक और प्रयोगवादी है।

कँवलकृष्ण

श्री कँवलकृष्ण का जन्म पंजाब में हुआ और कलकत्ता आर्ट्स स्कूल में उन्होंने शिक्षा पायी। संप्रति वे माडर्न स्कूल के कला-विभाग में अध्यक्ष के पद पर कार्य कर रहे हैं। योरोप और स्कैंडिनेविया के अनेक देशों का वे भ्रमण कर चुके हैं।

उनके आरंभिक चित्रों में आध्यात्मिक विचारधारा की प्रधानता है। उनकी वाटर कलर कृतियाँ उनके इन्हीं कलाध्येयों को अभिव्यक्त करती हैं। आज वे तैल-चित्रों के निर्माण की ओर उन्मुख हैं। **श्रीमती लीला दयाल** उनका ऐसा ही चित्र है। उनका झुकाव अमूर्त शैली की ओर है। इस दिशा में संभवतः वे अच्छी कृतियाँ दे सकेंगे। दृश्यचित्रण की सुन्दरता और रेखाओं द्वारा मार्मिक अर्थबोध की अभिव्यक्ति भी उनके चित्रों में देखने को मिलती है। ग्रामीणचित्रों, प्राकृतिक दृश्यों और विशेषतया नगाधिराज हिमालय की दिव्य छटा का चित्रण करने में उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली है। ग्रेफिक कला की ओर उनकी विशेष प्रवृति दिखायी देती है। **देवताओं का घर, गुफास्थित मठ, रचना** और **एक तिब्बती मठ** उनके अवलोकनीय चित्र हैं।

कुलकर्णी के० एस०

श्री के० एस० कुलकर्णी का जन्म पूना के समीप बेलगाँव में १९१८ ई० को हुआ और १९४० ई० में वे बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्रविष्ट हुए। वहाँ का स्नातक हो जाने के बाद बम्बई सरकार ने उन्हें स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त करने के लिए दो वर्ष की छात्रवृत्ति दी। योरप, अमेरिका और एशिया के अनेक देशों का भ्रमण करके वे वहाँ के प्रमुख कलातीर्थों और कलाकारों का साक्षात्कार कर चुके हैं। १९५०–५१ को अमेरिका में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय कला-सम्मेलन में उन्होंने भारत का प्रतिनिधित्व किया। १९४७ को लंदन में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनी में वे कास्य पदक और १९५५ को ललित कला आकादमी की ओर से दिल्ली में आयोजित प्रदर्शनी में भी पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त मेरठ (१९४७) और दिल्ली (१९५१) के काँग्रेस अधिवेशनों का पंडाल सुसज्जित करने और १९५३ की प्रसिद्ध रेलवे प्रदर्शनी को परिमण्डित करने में वे पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं।

कुलकर्णी की दृष्टि में कलाकृति वह सार्वभौमिक अभिव्यक्ति है, जिसके द्वारा कलाकार समस्त समाज और समाज के सभी वर्गों के साथ संबंध स्थापित कर सकने में समर्थ होता है। कुलकर्णी का अभिमत है कि यद्यपि कलात्मक अभिव्यक्ति के विकासार्थ शिल्प, रूप, रंग आदि सभी कुछ के सुष्ठु प्रयोग की आवश्यकता है; फिर भी महज रूप, रंग और केवल शिल्प ही कला नहीं है। उसमें यद्यपि बुद्धि का सहयोग अपेक्ष्य है; किन्तु किसी कलाकृति के द्वारा दर्शक की अन्तःप्रेरणा को उद्बुद्ध करने के लिए उसमें भावनाओं का निहित होना भी आवश्यक है।

प्रत्येक प्रबुद्ध कलाकार के समक्ष आज दो प्रश्न है : एक ओर तो परम्परा के निर्वाह की समस्या और दूसरी ओर तेजी से बदलते हुए समाज की माँगों का दृष्टिकोण। कुलकर्णी भी इसको महसूस करते हैं और उनका **किसान अपनी गाय के साथ** एक ऐसा ही चित्र है, जिसमें इन दोनों प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

कुलकर्णी के चित्रों का समीक्षण करने पर विदित होता है कि उनकी विषयवस्तु ग्रामीण अंचल रहा है। उनके द्वारा चुना गया

यह क्षेत्र यद्यपि नया नहीं है; फिर भी हमें ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने इस वस्तुक्षेत्र का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया है और इसीलिए उनको ग्रामीण जीवन का अन्तर्दृष्टा कहा जा सकता है। उन्होंने ग्राम्य जीवन के बड़े ही मनोहर चित्र दिये हैं। **शृंगार, साथी** (टैम्पेरा), **इन्कार हल चलाते हुए** और **कथावाचक** (तैल) आदि चित्रों में उनके नये-नये ध्येयों को देखा जा सकता है। संप्रति वे अभिव्यक्तिवादी शैली की ओर उन्मुख हैं।

कौशिक दिनकर

श्री दिनकर कौशिक का जन्म २५ जून, १९१८ को धारवार (मैसूर राज्य) में हुआ। उनका यह कौशिक परिवार विद्वान् सारस्वतवंश से संबद्ध है। पहले उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय और उसके बाद शांतिनिकेतन में शिक्षा पायी। १९४६ में ज्यों ही वे कलास्नातक होकर निकले, उन्हें कला-भवन का फेलो चुना गया। ललितकला अकादेमी द्वारा १९५७ को उनका सम्मानित कलाकारों में उल्लेख किया गया।

अनेक देशों का परिभ्रमण करके श्री कौशिक ने कला-जगत् की समसामयिक परिस्थितियों के बारे में मौलिक अध्ययन किया है। वे १९५५ में इटली सरकार की छात्रवृत्ति पर रोम गये। इसके अतिरिक्त वे वेनिस, मिलॉन, ज्यूरिच, जागरेब, फैंकफर्ट, पेरिस, मैड्रिड, लन्दन और टोवडो तथा पश्चिमी योरप के अन्य अनेक देशों का परिभ्रमण कर चुके हैं।

देश और विदेश में उनके चित्रों की कई प्रदर्शनियाँ आयोजित हो चुकी हैं और प्रसिद्ध कला-समीक्षकों द्वारा उनके चित्रों के प्रगतिशील पक्ष को सराहा गया है। उनके चित्रों की प्रसिद्ध प्रदर्शनी सर्वप्रथम दिल्ली शिल्पी चक्र की ओर से १९५२ में आयोजित हुई। इसी प्रकार १९५७ में उन्होंने अपने चित्रों को ज्यूरिच, जागरेब, फ्रैंकफर्ट, मिलॉन तथा रोम आदि देशों में प्रदर्शित किया। बियनवे तथा वेनिस में १९५४ और १९५६ में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी तथा १९५७ एवं १९५९ में आयोजित टोकियो की प्रदर्शनियों में भी वे भाग ले चुके हैं।

कला के प्रति उनके दृष्टिकोण सर्वथा निजी हैं। उनकी दृष्टि में कला का उद्देश्य, कलाकार के दुर्भेद्य एकाकीपन को मिटा देना है। स्वयं कलाकार का भी प्रयत्न होता है इस नश्वर नियति को कोमल तन्तुओं से बाँध देना। कला, जीवन की वह साधना है, जो कलाकार को अन्तर्मुखीन दृष्टि प्रदान करती है और जिसके फलस्वरूप वह सही सौन्दर्य तथा वास्तविक आनन्द के दर्शन कर पाता है। सहज सौन्दर्य और आनन्द से 'अनुपमता' को जोड़ना अतिरेक के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

उनके कला-सम्बन्धी मौलिक विचारों और उनकी कला-कृतियों में निहित उनकी सहज दृष्टि की चर्चा **'मार्डन इंडियन पेंटिंग'** (पी० आर० रामचन्द्र राव द्वारा लिखित), **'इलस्ट्रेटेड वीकली'**, **'इंडिया'** (रोम स्थित भारतीय दूतावास द्वारा प्रकाशित पत्रिका) और **'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड'** (रविवारीय) आदि पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में होती रहती है।

श्री दिनकर कौशिक एक दिशाविशेष के कलाकार हैं। एक कला-समीक्षक के नाते आधुनिक कला-जगत् में उनको अच्छी ख्याति प्राप्त है। **'कल्पना'**, **'मार्च ऑफ इंडिया'** और **'इलस्ट्रेटेड वीकली'** आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के कला-स्तंभ के वे नियमित लेखक हैं। उनकी समीक्षाएँ संतुलित और स्थायी महत्व की होती हैं।

१८५२ से, श्री दिनकर कौशिक दिल्ली के बहुधंधी विद्यालय में ललित तथा तत्संबंधी कला के प्राध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

कृष्ण एस०

श्री एस० कृष्ण प्रबुद्ध एवं उदीयमान कलाकार हैं। महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट से उन्होंने चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की और श्री अमृत शेरगिल, श्री शैलोज मुखर्जी तथा श्री रामगोपाल विजयवर्गीय के उद्देश्यों पर चलकर वे अपनी कला का विकास कर रहे हैं।

उनके चित्रों में भावात्मकता की प्रधानता है। उन्होंने बंगाल, बिहार और राजस्थान का भ्रमण कर के अपने देश की ग्रामज संस्कृति का अध्ययन किया और उसको अपने चित्रों में रूपायित किया। आजकल उन्होंने दिल्ली को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया है।

श्री एस० कृष्ण ने अनेक प्रकार के प्रयोग किये। उन्होंने मिट्टी के रंगों से चित्र बनाये, जो अधिक टिकाऊ हैं। उनका **गुब्बारेवाला**

चित्र इसी प्रकार का है। लाख को पिघलाकर उसकी छीटों से भी उन्होंने **होली** जैसे चित्र बनाये, दूध के वाश से बनाया गया उनके **अभिसारिका** शीर्षक चित्र की बड़ी प्रशंसा हुई। उन्होंने **'मेघदूत'** की पृष्ठभूमि पर आधारित कुछ आदमकद चित्र भी तैयार किये हैं। उनके अन्य चित्रों के नाम हैं **सद्यःस्नाता, विछोह, केश-सज्जा, शुकप्रिया, शृंगार** और **जीवन चक्र**।

उनकी शैली पर राजपूत शैली का रिक्थ है और उन्होंने अपने चित्रों के लिए जिन विषयों को चुना है वे एक क्षेत्रविशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

खास्तगीर सुधीर रंजन

श्री सुधीर रंजन खास्तगीर का जन्म १९०७ ई० को कलकत्ता में हुआ। शांतिनिकेतन में उन्होंने शिक्षा पायी। संप्रति वे राजकीय कला-विद्यालय, लखनऊ में प्रिंसिपल हैं।

श्री खास्तगीर अपने को एक श्रमिक कलाकार मानते हैं और अपनी कलाकृतियों (चित्रों तथा मूर्तियों) में वे अपने इसी दृष्टिकोण को रूपायित करने का प्रयत्न करते हैं। उनका अभिमत है कि 'एक कलाकार मूर्ति, चित्र, संगीत और कविता के द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का यत्न करता है। जब कोई कलाकार सत्य के साथ पूर्णरूप से एकत्व स्थापित कर लेता है तभी वह दुर्लभ एवं मौलिक कृतियों का सृजन कर सकता है।' सत्य के अतिरिक्त प्रेम को अपनी कला-साधना के लिए सर्वोच्च गुण समझ करके खास्तगीर ने एक स्थान पर लिखा है—"प्रेम, मनुष्य पर सृष्टिकर्ता का सबसे बड़ा आशीष है। यह निविड़ प्रेम मनुष्य की हृदयवीणा को बार-बार छेड़कर नित्य नव रूप में दिखाता है। इसी कल्पना को बार-बार रूप मिलता है। हर एक मनुष्य की उस अपार प्रेम को अनुभव करने की क्षमता में अन्तर है। तभी तो उसके प्रकाश में भी विभिन्नता है। इस अपूर्व प्रेमधारा से ही प्रेरित होकर, हम अपनी कृतज्ञता में डूबकर नवीन रूप में विकसित हो उठते हैं, बार-बार। यह केवल अन्तस् की अभिव्यक्ति नहीं है, यह तो कल्पना देवी की उपासना में मनुष्यहृदय का आत्मसमर्पण है। तभी तो हम देखेंगे प्रकृति में नवीन रूप की कल्पना को। विश्वसृष्टा की असीम, अपूर्व रचना को देखकर, उस अनन्त आनन्द की अनुभूति से मनुष्य उठता है, असीम को अपनी समझ के अनुसार मानसिक रूप देना चाहता है। यही है महान् के साथ चिरपरिवर्तनीय को जोड़ने की चिर पुरातन चेष्ठा।"

खास्तगीर के आरंभिक चित्रों में कुछ अनमनापन है; किन्तु इधर उनकी कृतियाँ नये रूप में सामने आ रही हैं। उनके व्यक्ति-चित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं। मुख-मुद्राओं में शांतिमय वातावरण की सृष्टि करने में भी वे कुशल हैं। वे भारतीयता के पक्षपाती हैं। उनकी जिन कला-कृतियों का पश्चिम से सम्बन्ध है वहाँ भी उन्होंने ऐसे तत्त्वों को छोड़ दिया है, जो भारतीय परम्परा के अनुरूप नहीं हैं। वे पुरातन परम्परा और आधुनिक नये वाद, दोनों के विरुद्ध हैं। किन्तु इन दोनों में जो उपादेय है, जीवनदायी है और प्रगतिशील है उनको उन्होंने ग्रहण किया है। खास्तगीर ने अपनी एक निजी शैली की प्रतिष्ठा की है, जिसके दृष्टिकोण तो भारतीय हैं और संविधान पाश्चात्य।

उन्होंने अनेक प्रकार के चित्र बनाये हैं। उनके स्केच बड़े सुन्दर होते हैं। **बाउलो** इसका उदाहरण है। केनवस पर भी उनका अच्छा अभ्यास है। **नौकाएँ** उनका इसी प्रकार का तैलचित्र है। १९४४ में निर्मित **विश्राम** शीर्षक चित्र उनकी उत्कृष्ट कृतियों में से है। **वन्दना** में कूची का कौशल, सुन्दर मुखमुद्रा और कलात्मकता दर्शित है। **भगवान बुद्ध** भी अच्छा चित्र है। **प्रकृतिमिलन** शीर्षक चित्र में वायु की तरंगों से आलिंगन-वद्ध प्रकृति का सुन्दर चित्रण हुआ है। उनके **ईंट तोड़ने वाले, मंजर नृत्य** और **'छि'** आदि चित्रों में रेखाओं तथा रंगों का सौष्टव और आंचलिक जीवन की प्यारी अभिव्यक्ति है।

खास्तगीर नाट्यशास्त्र में भी रुचि रखते हैं और इसका प्रभाव उनके चित्रों में स्पष्ट है। अपने चित्रों में उन्होंने नृत्य की सुन्दर भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित की है। उनकी कला में लोकजीवन की अनुभूति भी देखने को मिलती है। समाज के सामान्य जीवन की झाँकी भी उनके चित्रों में दर्शित है। उन्होंने कुछ प्रकृतिचित्र भी बनाये हैं। उनके इन चित्रों में केवल प्राकृतिक सुषमा को दर्शित करने का ही उद्देश्य नहीं है, अपितु उनके अन्तराल में गूढ़ अभिप्राय भी सन्निहित है। खास्तगीर एक सफल मूर्तिकार भी हैं।

गुजराल सतीश

श्री सतीश गुजराल का जन्म १९२५ ई० में हुआ। जी० डी० आर्ट्स कालेज, लाहौर और जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स, बम्बई में

उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। इसके अतिरिक्त ऐडवान्स पेंटिंग और म्युरल टेकनिक्स में उन्होंने मेक्सिको से डिप्लोमा भी प्राप्त किया है। मेक्सिको, न्यूयार्क, लंदन, बम्बई और दिल्ली आदि विभिन्न स्थानों में उनके चित्रों की प्रदर्शनी हो चुकी है; और सभी जगह उनकी कृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

कला की अभिव्यक्ति के लिए श्री सतीश गुजराल संघर्ष को अनिवार्य रूप में स्वीकार करते हैं, चाहे वह अपने से ही क्यों न हो। उनकी दृष्टि से संघर्षरहित कला स्वतंत्र अभिव्यक्ति न होकर एक अलंकृति मात्र है। किन्तु यह संघर्ष आन्तरिक होना चाहिए, वाह्य नहीं। आन्तरिक संघर्ष आत्मप्रेरणा से आता है, जो कलाकार की शक्ति और उसका साहस है।

कला को मनोरंजन का साधन मानने वाले कलाकारों में गुजराल नहीं हैं। वे कला में चाटुकारिता को भी पसन्द नहीं करते। कला, क्योंकि कलाकार की शक्ति है, अतः उसकी अभिव्यक्ति का कार्य प्रेरित करना, प्रभावित करना, उत्तेजित करना और उत्साहित करना है। अपने प्रति आलोचकों द्वारा लगाये गये 'एकांगिता और निराशावादिता' के आरोपों के समाधान में उनका कहना है कि "मुझ पर कुछ चीजें हावी भी हो सकती हैं; लेकिन मेरे पास कोई रूढ़ सिद्धान्त नहीं है। मेरा विषय मनुष्य है। मैं उसकी महानता, उसके दुःख, प्रगति के लिए उसके अनवरत संघर्ष और उसकी कमजोरियों की कहानी कहता हूँ। मैं नहीं जानता अजब-अजब परिस्थितियों से संघर्ष करने के अतिरिक्त मनुष्य और किस रूप में और अधिक महान् नजर आ सकता है? यह कहना, मेरी रचना में आशा के दर्शन नहीं होते, मानव मनोविज्ञान के प्रति अपनी अज्ञानता प्रदर्शित करना है। संघर्ष का अस्तित्व, आशा के बिना हो ही नहीं सकता है।"

गुजराल आज जो कृतियाँ दे रहे हैं उन पर अभिव्यक्तिवादी और प्रतीकवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। यूरोप के प्रभाव से उनकी कुछ कृतियों में यथार्थ और अभिव्यंजना की आतिवादिता है। इसी प्रकार उनकी कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें जैसे भारत का कथकली नृत्य मुखरित हो गया है। ऐसी कृतियाँ बड़ी ही हृदयग्राही हैं। इसके विपरीत उनकी कुछ कृतियों में ऐसे विकराल भाव दर्शित हैं, जिनकी आकृति बड़ी भयावनी है। उनके इस कोटि के चित्र प्रतीकात्मक हैं।

गुजराल की कुछ कृतियाँ सामाजिक जीवन को, वस्तुतः आर्थिक वैषम्य को, दृष्टि में रखकर बनायी गयी हैं। ऐसी कृतियों में शोषकों और शोषितों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। गंभीरता और दैन्य का चित्रण इनकी विशेषता है। उनका **मेक्सिकन महिला** शीर्षक चित्र दुःख, दैन्य, निराशा और विषाद का जीवित स्वरूप है। अपने चित्रों के लिए उन्हें गहरे काले रंग में हल्के स्वेत और पीत रंग पसंद हैं। उनके अराहवल चित्र की इसीलिए इतनी अधिक सराहना की गयी है।

अपने शैलीगत स्वरूप के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'मुझे मेक्सिकन प्रभाव के लिए दोषी ठहराया जाता है। मैं मेक्सिकनों से अपना नैकट्य स्वीकार करता हूँ। मैं उनकी ही भाँति उत्पीड़ितों के प्रति अपना प्रेम स्वीकार करता हूँ।...अगर इस एप्रोच से नैकट्य एक अपराध है तो निश्चय ही मैं अपराधी हूँ।'

सतीश गुजराल के चित्रों की एक प्रदर्शनी हाल ही में न्यूयार्क में (१९६१) हुई। इससे पूर्व १९५४ ई० को इंडिया हाउस में भी एक प्रदर्शनी हो चुकी है। न्यूयार्क जैसी विशाल एवं विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारों की नगरी में गुजराल के चित्रों का प्रदर्शन निश्चित ही बड़े साहस का कार्य था। उसके संबंध में पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा जो अभिमत प्रकाशित हुए उनसे स्पष्ट था कि गुजराल के चित्रों को व्यापक रूप में सराहा एवं पसंद किया गया। उनके चित्रों में भारतीय वेश-विन्यास और रंगों की योजना को विशेष रूप से सराहा गया। उनके चित्रों के गहरी नीली, काली, भूरी और लाल जमीन पर आसमानी, श्वेत और पीत वर्णों की योजना ने दर्शकों को मुग्ध कर दिया। उनके चित्रों में स्वतंत्र चिंतन की नयी अनुभूतियाँ थीं।

चक्रवर्ती अजित

अपने देश के वर्तमान कलाकारों में श्री अजित चक्रवर्ती का संमानित स्थान है। मूर्तिकला और चित्रकला, दोनों में उनकी समान गति है। चित्रकला के क्षेत्र में उनके रेखा-चित्रों, काष्ठ-चित्रों और तैल-चित्रों में एक जैसी निपुणता एवं भावात्मकता है। वे कलकत्ता के कलाविद्यालय में आजकल मूर्तिकला के अध्यापक हैं।

मूर्तिकला तथा चित्रकला के विशेष अध्ययन के लिए हाल ही में वे प्राग के प्रसिद्ध कलाकार एवं कलाचार्य जान कावां के संसर्ग में रह चुके हैं। कुछ दिन प्राग में उनकी कलाकृतियों की प्रदर्शनी आयोजित हुई, जिनकी वहाँ के पत्रों ने बड़ी प्रशंसा की, और लिखा कि श्री चक्रवर्ती की कृतियाँ कला के पुनरुत्थान की श्रेष्ठ परम्परा को अभिव्यक्त करती हैं। उनके द्वारा भारत की महान् संस्कृति की एक झलक मिलती है। ममता, कोमलता और माधुर्य की रसवाहिनी उनकी प्रदर्शित मूर्तियाँ **वंशीवाला** और **वात्सल्य** की बड़ी प्रशंसा की गयी।

उनकी कृतियों को इसलिए अधिक सराहा गया कि उनमें भारतीय परम्पराओं और विश्व की समुन्नत आधुनिक प्रवृतियों का रुचिर समन्वय दर्शित है।

जायसवाल सीताराम माधव

श्री सीताराम माधव जायसवाल बम्बई शाखा के उदीयमान कलाकार हैं। आदि से ही वे बंगाल स्कूल की शैली से प्रभावित रहे हैं। बाद में उन्होंने अपनी कला के लिए पहाड़ी कलम और विशेषरूप से काँगड़ा कलम का मुग्धिकारी रूप ग्रहण किया है। इन दोनों शैलियों के सामंजस्य से उन्होंने कुछ अच्छे चित्र बनाये हैं। **स्क्रेपर बोर्ड** की दिशा में उनकी अधिक ख्याति है। **'एलस्ट्रेटेड वीकली'** में उनके इस प्रकार के चित्र प्रायः देखने को मिलते हैं। धार्मिक विषयों पर भी उनकी आस्था है। आज पश्चिम के प्रभाव से कला के क्षेत्र में जो नये रूप प्रकट हो रहे हैं उनको ग्रहण करने की दिशा में भी वे अग्रसर हैं।

जार्ज कीट

श्री जार्ज कीट के माता-पिता यूरेशियन हैं; किन्तु उसका कार्यक्षेत्र अधिकतर श्रीलंका में रहा और समसामयिक भारतीय चित्रकारों में उन्हें संमानित स्थान प्राप्त है। श्रीलंका के साथ भारत के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संबंध आज की अपेक्षा, अतीत में अधिक व्यापक रहे हैं। इन्हीं पुरातन संबंधों का ही प्रभाव है कि कीट भारतीय संस्कृति की ओर आकर्षित हुए। उनकी कला-साधना स्वतंत्र चिन्तन एवं स्वाध्याय पर आधारित है। वे एक सफल मूर्तिकार भी हैं और उनका यह मूर्ति-विधान अजन्ता, भुवनेश्वर तथा मथुरा के मूर्ति-शिल्प से प्रभावित है। हाल ही में फर्टाडो द्वारा जिन तीन सर्वश्रेष्ठ भारतीय कलाकारों के चित्रों का संकलन प्रकाशित हुआ है उनमें दो नाम तो अमृत शेरगिल तथा हुसैन के हैं और तीसरा नाम जार्ज कीट का। इससे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है।

१९५२ ई० में उनकी कलाकृतियों की सराहना और उनके नये प्रयोगों का स्वागत करते हुए श्री दिनकर कौशिक ने अपनी एक टिप्पणी (**कल्पना** अक्टूबर ५२) में कहा था 'जार्ज कीट के, रंग और रेखा से उत्पन्न, भावप्रवण कुछ उत्कृष्ट चित्रों के द्वारा चित्रकार-जीवन के इतिहास में एक अभिनव तथा महत्वपूर्ण अध्याय जुड़ा है।' जार्ज कीट की कला का उत्तरोत्तर इसी रूप में विकास होता गया।

जार्ज कीट भारतीय साहित्य के भी गहरे अध्येता एवं प्रेमी हैं। उन्होंने संस्कृत-साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन किया है। इसीलिए उनकी कुछ कला-कृतियों पर परम्पराओं तथा पौराणिक संस्कारों का प्रभाव है। श्रीलंका और भारत जैसे देशों से संबंध होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रति उनमें स्वाभाविक निष्ठा है। जातकों से संबंधित उनके चित्र उनकी इस रुचि के परिचायक हैं। संस्कृत के मध्ययुगीन कवि-समाज की शृंगार तथा प्रेम की भावना से अभिषिक्त जयदेव के **'गीतगोविन्द'** का भी कीट के चित्रों पर प्रभाव है। **'गीतगोविन्द'** के आधार पर कृष्णलीलाओं से संबंधित उनके शृंगार प्रधान चित्रों में भी मर्यादा है। यह मर्यादा ही भारतीय जीवन का सर्वस्व है। और इस दृष्टि से कीट को भारतीय संस्कृति एवं आचारों में पूर्णतः अभिज्ञ कहा जा सकता है।

उनकी आरंभिक कृतियों का विषय पौराणिक है; किन्तु उसको दर्शाने का ढंग उनका अपना है। इधर उन्होंने जो नयी कृतियाँ दी हैं उन पर उनकी स्वतंत्र चिन्तन की छाप अंकित है और साथ ही विश्व की समसामयिक समृद्ध शैलियों का प्रभाव भी।

जहाँ तक पिकासो और कीट की शैलियों के तुलनात्मक संबंध का प्रश्न है, बहुधा यह कहा जाता है कि कीट के रेखांकन और रूप-विधान पर पिकासो का प्रभाव है। इसलिए उनके अधिकतर चित्रों पर मौलिकता का अभाव आरोपित किया जाता है। किन्तु प्रभाव और अनुकरण की इस लचीली दलील का कोई अन्त नहीं है। कीट के चित्रों में जो विशेषतायें देखने को मिलती हैं और जिनसे अधिकतर कला-समीक्षक एकमत हैं, उनमें मुख्य बात यह है कि वे भारतीय प्रतीकों और पौराणिक आख्यानों को पाश्चात्य शैलियों के सम्मिश्रण से नयी सज्जाओं में प्रस्तुत किये गये हैं।

कीट के चित्रों में समन्वय और समष्टिगत चेतना का समावेश है। पिकासो ही क्यों, वे तो पूर्व से लेकर पश्चिम तक जितना भी उपयोगी एवं ग्राह्य है, उस सबको निःसंकोच अपनाने पर विश्वास रखते हैं। उनकी जो आस्था सिजेन, गोगाँ में है वही अजन्ता, यामिनी राय और अमृता शेरगिल में भी।

आकृतियों को ज्यामितिक ढंग से प्रस्तुत करने में भी वे पटु हैं। समय के साथ बढ़ते रहने की उनकी चाह ने ही उनके चित्रों में उस सहज सौन्दर्य का चित्रण किया है, जो किसी भी कलाप्रेमी को अपनी ओर खींच लेने की क्षमता रखता है। उनकी कृतियों का यह

विशेष गुण है कि वे अपनी प्रभावशाली रंग-योजना द्वारा भावात्मक विशेषताओं को उभारते हैं। रंगयोजना के संबंध में उनकी विशेष टेकनीक है। इसलिए इस रुचि के कलाप्रेमियों को कीट के चित्र बड़े ही भले लगते हैं।

उनमें जीवन की विभिन्नताएँ हैं। विषयों की दृष्टि से वे पुरातन के प्रति अधिक आस्थावान् हैं। यह इसलिए कि उनमें धार्मिक निष्ठा और परम्परा के प्रति विश्वास है। **कृष्णजन्म, कर्णजन्म, यम-मार्कण्डेय** और **निराभरण गोपिकायें** आदि शीर्षक चित्र इसके दृष्टान्त हैं। उनके चित्रों में दर्शन और कविता का समन्वय है। इसलिए उनकी सीमायें हैं।

मुखमुद्राओं के चित्रण, रंगों की सुयोजना और रेखाओं के गठन में कीट के चित्र विशेष रूप से दर्शनीय होते हैं। उनकी चित्रों का भावात्मक आरोह उनको एक विशेष दिशा की ओर ले जा रहा है। उनमें वातावरण की मौलिकता है, विषयों की नवीनता है, और रंगों की गंभीर गति।

जोशी प्रफुल्ल चन्द्र

आधुनिक महिला चित्रकारों में श्रीमती प्रफुल्लचन्द्र जोशी का नाम उल्लेखनीय है। वे बम्बई क्षेत्र की कलाकार हैं। यद्यपि उन्होंने अपने लिए रीतिकालीन राग-रागनियों का विषय चुना है; फिर भी उनके चित्रों में नया परिमार्जित दृष्टिकोण दर्शित है। रामकली, ललित, बिलावल, जयजयवंती, वसन्त, दरबारी कानड़ा, मेघ मल्लार, भीमपलासी, सारंग, बहार, पूर्वी टोड़ी और इन्द्रकौस आदि रागों को उन्होंने बड़ी ही कुशलता से आधुनिक ढंग से चित्रित किया है।

उनके चित्रों में भारतीय और पाश्चात्य संविधानों का समन्वय है। अपने चित्रों के लिए उन्होंने राजपूत शैली से प्रेरणा प्राप्त की और उनको पेरिस के संविधानों से मंडित किया। इस नवीनता के कारण उनके चित्रों में मौलिकता के दर्शन होते हैं। उन्होंने जलीय रंगों (वटर कलर) के भी कुछ चित्र वनाये हैं और इधर वे हैंडलूम तथा टैक्सटाइल डिजाइनिग का भी अभ्यास कर रही हैं।

उनको अब तक संमान भी प्राप्त हो चुके हैं। उनके चित्र **दरबारी कानड़ा** पर बम्बई के जे० जे० स्कूल ने स्वर्णपदक प्रदान किया है। इसी प्रकार उनके चित्र **रागिनी टोड़ी** पर बम्बई आर्ट सोसाइटी ने १९५४ ई० में उनको कांगा पुरस्कार देकर संमानित किया है।

दबे शान्ति

श्री शान्ति दबे का जन्म १९३१ ई० में हुआ और बड़ौदा विश्व-विद्यालय से उन्होंने ललितकला की शिक्षा पायी। देश-विदेश की अनेक प्रदर्शनियों में उनके चित्र प्रदर्शित हो चुके हैं और वे अपनी कृतियों पर कई बार पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके हैं। वे बड़ौदा क्षेत्र के आधुनिक कलाकारों के प्रवर्तक माने जाते हैं।

कला के क्षेत्र में वे, अध्ययन समाप्त करके १९५५ ई० के बाद प्रविष्ट हुये। आरंभ से ही उनकी रुचि भारतीय चित्रकला के रेखा-सौष्ठव का बारीकी से परिचय प्राप्त करने की ओर रहा है। उन्होंने इस परम्परागत थाती को समकालीन चित्रशैली में उतारकर उसकी रक्षा की। रेखांकन के लिए अपनी गहरी अभिरुचि के कारण उन्होंने चमकदार रंगों का प्रयोग और बाद में क़सीदागिरी शैली को अपनाया। इस दृष्टि से अपनी कृतियों पर उन्होंने राजपूत और पहाड़ी शैलियों के रिक्थ को स्वीकार किया।

१९५९ ई० से वे अरूपता की ओर उन्मुख हैं। इस संबंध में उनका कहना है कि 'जब मुझे यह अनुभव हुआ कि तीव्र रंग-विभाजन के स्थूल पैटर्न, ब्रश की स्वतंत्र गति में बाधा डालते हैं और विषयवस्तु, कलाकृति की रेखा, रंग और बिनवट की व्यवस्था का आनन्द उठाने में बाधा होती है, तो मैं अरूपता (एब्स्ट्रेक्शन) की ओर बढ़ा।'

उनकी आरंभिक कृतियों में उनकी आस-पास की परिस्थितियों का प्रभाव है; किन्तु बाद में उनकी कलाप्रक्रिया का दृष्टिकोण बदल गया। उनकी अद्यतन कृतियों में नये अनुभव, नयी समस्यायें और नये तत्त्व हैं। एक सच्ची कलाकृति के लिए वे बिम्ब की आवश्यकता नहीं समझते। दिल्ली में आयोजित उनके चित्रों की प्रदर्शनी (१९६१ ई०) से ये सभी बातें स्पष्ट हो गयी हैं। उनकी रंग-योजना को अब विशेष रूप से सराहा गया।

दे बीरेन

श्री बीरेन दे ने आरंभ में जो चित्र बनाये उनमें युवा पुरुषों, कृशकाय स्त्रियों, तांत्रिकों और उत्सव-त्योहारों के दृश्यों की अधिकता

रही है। इस प्रकार के चित्रों में शिल्प की भरमार है। इनके विपरीत आज वे जो चित्र दे रहे हैं उनमें सज्जा, अलंकरण, आडम्बर का अभाव है और प्रौढ़ता तथा वास्तविकता का समावेश। पहले की अपेक्षा आज उनकी तूलिका में स्थिरता और रेखाओं में स्पष्टता है। संप्रति वे अमूर्त शैली की ओर उन्मुख हैं।

देसाई कनु

श्री कनु देसाई का जन्म १२ मार्च, १९०७ ई० को गुजरात में हुआ था। कला की विरासत उन्हें अपनी माँ से प्राप्ति हुई। उनकी माता का चित्रकला के प्रति बड़ा अनुराग था। इसी कारण कनु देसाई भी बाल्यकाल से रंगों और रेखाओं के प्रति आकर्षित हुये। गुजरात विद्यापीठ में अध्ययन करने के बाद वे शांतिनिकेतन गये और वहाँ से विधिवत् कला का अध्ययन करके पुनः गुजरात विद्यापीठ में कला-विभाग के प्राध्यापक और बाद में अध्यक्ष नियुक्त हुए।

एक अच्छे कलाकार होने के साथ-साथ उनके हृदय में राष्ट्र के प्रति अपरिमित प्रेम था। स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व ही वे महात्मा गाँधी और नेहरू जी के सम्पर्क में आ चुके थे, और इस कारण उन्होंने अपनी कलाकृतियों में राष्ट्रीय जागरण का नया स्वर भरने के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी सक्रिय भाग लिया।

अपनी कला के माध्यम से वे जन-सामान्य तक पहुँचे और उस पर जन-सामान्य की सुरुचि-अरुचि जानने की दिशा में भी जागरूक रहे। इसी उद्देश्य से उन्होंने फिल्मों का भी आश्रय लिया। पूर्णिमा, रामराज्य, राधिका, विक्रमादित्य, गीतगोविन्द, मीराबाई और बैंजू बाबरा जैसी धार्मिक, ऐतिहासिक और काव्यात्मक विषयों पर आधारित प्रसिद्ध फिल्मों में कनु देसाई ने कला-निर्देशन का कार्य किया। वी० शान्ताराम द्वारा निर्देशित फिल्म 'झनक-झनक पायल बाजे' में कलात्मक सज्जा, छवि-अंकन और रंगयोजना के लिए कनु देसाई को फिल्म फेयर पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कनु देसाई वस्तुतः जन-साधारण के कलाकार हैं। पराधीनता के दिनों में उन्होंने ऐसी कृतियों का निर्माण किया, जिनसे समाज में राष्ट्रीय चेतना को बल मिला और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उनकी कृतियों में राष्ट्रप्रेम का स्वर मुखरित है।

उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और भावात्मक आदि अनेक विषयों के चित्रों को बनाया। सभी में उनके कौशल की छाप अंकित है। उनके **राधाकृष्ण, मछुआ लड़की, रंगोत्सव, सुमंगलम्, जड़वें** और **प्रतिध्वनि** आदि इसी प्रकार के चित्र हैं। उनके **प्रतिध्वनि** शीर्षक चित्र में एक नर्तकी की विराट् भावना को चित्रित किया गया है। **मेरे तो गिरिधर गोपाल** तानपुरा लिये मीरा का यह पीतवर्ण चित्र अपनी सुरुचि, रेखाओं और सात्विक अनुभूति के कारण सुन्दर है। **भारतमाता** जैसे उनके राष्ट्रीय चित्रों की व्यापक पैमाने पर प्रशंसा हुई।

कनु देसाई की कृतियों में कला के कोमल पक्ष को लिया गया है। उनकी कृतियों से आधुनिक कलाकारों को नयी प्रेरणा प्राप्त हुई।

पदमसी अकबर

श्री अकबर पदमसी का जन्म १९२९ ई० में हुआ। बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट्स से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। १९५० ई० में वे रजा के साथ पेरिस गये और वहाँ रहकर उन्होंने बड़ी तन्मयता से विश्व की कला-शैलियों का, स्वतंत्र रहकर, तुलनात्मक अध्ययन किया। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार हैं और देश-विदेश में कई बार उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हो चुकी है।

चित्र-प्रक्रिया के संबंध में पदमसी का अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण है। किसी चित्र को समझने के लिए वे उसका उद्देश्य और उसमें निहित विचारों को जान लेना आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि उनका कहना है 'चित्र देखने के लिए है। उसका देखा जाना ही उसकी सार्थकता है।' अर्थ और अभिव्यक्ति, दोनों ही चित्र से बाहर की वस्तु हैं। यदि चित्र के प्रति दर्शक का दृष्टिकोण शिक्षित एवं अभिज्ञ नहीं है तो उसको अभ्यास की आवश्यकता और सौन्दर्यबोध की अपनी रुचि को परिष्कृत करना पड़ेगा। तभी वह रूप और रंग की भाषा को समझ सकता है। उनकी दृष्टि से 'एक चित्रकृति को उसकी शिल्पभाषा के साथ, उसके चित्रात्मक संदर्भ में समझा जाना चाहिए। यदि वह कलाकृति है तो उसकी तर्क-पद्धति होगी, चाहे वह प्रातिनिधिक हो, चाहे अवस्तुपरक या अरूप; रूप, रंग, स्वर, रेखाएँ चित्र-शून्य में वैसी ही संपूर्णता के साथ घूमेंगी, जैसे विराट् शून्य में ग्रह-उपग्रह।'

पदमसी के कलाकार जीवन का धीरे-धीरे विकास होता गया। विदेश से लौटने पर लगभग १९५४ ई० के बाद पदमसी की

कलाकृतियों की ओर कला-जगत् का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित हुआ। लगभग १९५४ या ५५ को जहाँगीर आर्ट गैलरी, बम्बई में पदमसी के चित्रों की एक प्रदर्शनी आयोजित हुई थी। इस प्रदर्शनी का ऐतिहासिक महत्व है। ऐतिहासिक इसलिए कि उस प्रदर्शनी में प्रदर्शित चित्रों पर, बम्बई के तत्कालीन सत्ताधारियों ने कुछ लोगों के फुसलाने पर अश्लीलता एवं अनैतिकता का दोषारोपण करके, प्रदर्शनी के साथ ही पदमसी को भी बंद कर दिया था।

इसका परिणाम पदमसी के पक्ष में और सरकार के विपक्ष में हुआ। कोर्ट में अपील-पर-अपील करने के बाद भी सरकार पदमसी को मनचाहा दण्ड न दिला सकी। विश्व के चित्रकारों ने सरकार के इस कार्य की बड़ी आलोचना की। पदमसी का कुछ न हुआ। इस काण्ड से पदमसी की ख्याति ही हुई।

क्योंकि पदमसी में सच्चे कलाकार की आस्था थी, इसलिए अवसर से लाभ न उठाकर अपनी कला के गहनतम परिणतियों को खोजने के उद्देश्य से पदमसी ने विदेशों की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उन्होंने कला की नयी ध्वनियों को पहचाना। वह जब स्वदेश आये तो उनकी कला में नयी अनुभूतियाँ मुखरित थीं। वह निरन्तर ही अपने अनुभवों तथा अपनी साधना को कलाकृतियों में उतारते गये। इस बीच वह मौन रूप से साधना करते रहे। यहाँ तक कि किसी भी प्रदर्शनी में उन्होंने चित्र नहीं भेजे। उनके इस मौन से यह संभावना की जाने लगी कि उन्होंने इस क्षेत्र से विरति ले ली है।

किन्तु एकाएक दो वर्ष पहिले, अप्रैल १९६० को श्री बाल चावदा गैलरी नं० ५९ में १२ तैलचित्रों की प्रदर्शनी की घोषणा की गयी। वे सभी चित्र पदमसी के थे और लोगों ने उन्हें बड़ी उत्सुकता से देखा। उनके संबंध में उल्लेखनीय यह था कि वे ऐसे रंगों से निर्मित थे, जिनको पहले-पहल उन्हीं में देखा गया। उनमें कुछ चित्रों का आकार १२×४" और कुछ का १८×६" था। उन सब की पृष्ठ-भूमि और वाशिंग आकर्षक थी। उनकी समतल भूमिका दर्शनीय थी। उनमें काले, भूरे और सुफ़ेद रंगों का समन्वय प्रशंसनीय था। उनके केनवस भी सुन्दर थे।

आज के कलाकारों को पदमसी निरन्तर प्रेरणाप्रद कलाकृतियाँ दे रहे हैं।

पाल पूर्णेन्दु

श्री पूर्णेन्दु पाल शांतिनिकेतन के स्नातक हैं। वे आचार्य बोस के शिष्यों में से हैं और आजकल अहमदाबाद के 'श्रेयस' नामक कला विद्यालय में अध्यापक हैं। उनका जन्म पंजाब में हुआ, बंगाल में उन्होंने शिक्षा पायी और गुजरात उनका कार्यक्षेत्र रहा है। इसलिए उनके समीक्षाकारों के कथनानुसार उनकी कृतियों में पंजाब का शौर्य, बंगाल का भावाभिनिवेश और गुजरात का सौकुमार्य एक साथ निखर उठा।

वे राष्ट्रीय कलाकार हैं। उनकी कृतियों में लोकजीवन की अनुभूतियाँ निहित हैं। उन्होंने विशेष रूप से अपने देश की लोककला का अध्ययन किया। उनमें अनुभूति और सूझ है।

स्वदेश में उनकी कृतियाँ लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी हैं। इसी प्रकार वे यूनेस्को द्वारा विदेशों के अनेक हिस्सों में प्रदर्शित की गयी हैं। **सुरीली घड़ियाँ, ताल और गति, बस दो में-से एक**—उनके अच्छे चित्र हैं।

बिष्ट रणवीरसिंह

श्री रणवीरसिंह बिष्ट उन नवोदित कलाकारों में अग्रणी हैं, जो नयी आस्था और नये प्रयोगों का निरन्तर अभ्यास और अनुसंधान करने में व्यस्त हैं। वे उत्तर प्रदेश के निवासी हैं और आजकल लखनऊ कला महाविद्यालय में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। वे परम्परा की रूढ़ियों से मुक्त कला में सौन्दर्यबोध की नयी दृष्टि को नये मनोवैज्ञानिक संदर्भों में देखने को उत्सुक हैं। कला के क्षेत्र में जो नये आन्दोलन हुये और जिनके कारण कलाकार की अन्तःचेतना में रचनाविधान तथा रंग-विन्यास के लिए नयी स्फूर्ति का उन्मेष हुआ, बिष्ट की शैली पर उसका गहरा प्रभाव है। वे फॉविज्म की ओर अग्रसर हैं।

बिष्ट के चित्रों में नयी टेकनीक और नयी भावांकन पद्धति के साथ-साथ विषयों के चुनाव में भी नवीनीकरण है। रंगों की ताज़गी और आकृति की स्वप्निल तरगें उनके चित्रों में गति तथा जीवन भर देती हैं। एक ओर उन्होंने झुर्रियों से भरे हुए वृद्धावस्था के ऐसे प्रिय चित्र दिये हैं, जिनसे जीवन की गहन अनुभूतियों के स्वर मुखरित हैं और दूसरी ओर उद्दाम यौवन के उल्लास से भरी हुई दीपशिखा

सी सुन्दर मुखाकृतियाँ हैं, जिनमें तीव्र भावावेश की अभिव्यक्ति है। श्रम, अभाव, उत्पीड़न और विषाद के समन्वय से उन्होंने ऐसे चित्रों का भी निर्माण किया है, जिनमें जीवन की यथार्थताओं के दर्शन होते हैं।

इधर उन्होंने ऐसी कृतियों का निर्माण किया है, जो नये प्रयोगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनमें रंगों की तीव्रता और भावाबोध की दुरूहता के साथ-साथ शिल्प का भी नवीनीकरण है। नैनीताल, दिल्ली और इलाहाबाद आदि नगरों में आयोजित प्रदर्शनियों में विष्ट के नये रूपशिल्प तथा प्रयोगों की बड़ी सराहना की गयी है।

भट्टाचार्य ज्योतिष

नयी थीम के गवेषी श्री ज्योतिष भट्टाचार्य आज के उदीयमान कलाकारों में हैं। कलकत्ता गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्स में शिक्षा प्राप्त करने के कुछ दिन बाद वे इटली सरकार की छात्रवृत्ति पर विशेष अध्ययन के लिए रोम गये। वहाँ के विख्यात कलाचार्य प्रो० माली के शिष्यत्व में रहकर उन्होंने वहाँ के प्रसिद्ध कलातीर्थों, कलाकारों और कलासंग्रहों से साक्षात् परिचय किया। वहाँ की लोकप्रिय शैलियों का उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया।

इटली के यशस्वी कलाकार रेनेसाँ के प्रभाव से भट्टाचार्य ऐसी नित नवीनता के पक्षपाती हैं, जो स्वस्थ एवं सुन्दर होने के साथ सर्वभायी भी हो। इस भ्रम में कुछ लोगों ने उनको 'नवीनता का चमत्कारवादी' भी कहा है। वे खुले तौर पर ऐब्सट्रेक्टवादी हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सर्वोत्कृष्ट शैली उन्हीं के शब्दों में यों कही गयी है—'स्वयं मेरी कृतियों में विभिन्न शैलियाँ दिखायी देंगी। आरंभिक कृतियों में आपको यथार्थ चित्रण अथवा आभिजात्य शैली मिलेगी और उसके बाद प्रभाववादी शैली दीखेगी। फिर आप ऐब्सट्रेक्ट शैली की ओर मेरा अधिकाधिक झुकाव पायेंगे। वास्तव में यह एक स्वाभाविक विकास है; कलाकार की सत्य की खोज का चरमोत्कर्ष है।'

अपनी विशुद्ध कलासाधना के फलस्वरूप उन्हें अब तक अनेक उच्च संमान प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त १९५९ में रजत पदक और १९६१ स्वर्णपदक का नाम लिया जा सकता है। उनमें साधना और निष्ठा है। वे सुलेखक और समीक्षक भी हैं।

मंत्री उषा

श्री उषा मंत्री बम्बई क्षेत्र की कलाकार हैं। लोकशैली की पद्धति पर चित्ररचना करने वाले आधुनिक कलाकारों में उनका नाम आता है। इस परम्परा की प्रथम कलाकार अमृत शेरगिल थीं। उसी परम्परा में उषा मंत्री को रखा जा सकता है। अमृता की ही भाँति उषा की कला में भी विषाद के स्वर मुखरित हैं; किन्तु अमृता में वे स्वर सामाजिक अभिचेतना को लेकर उदित हुए थे, जब कि उषा ने उनकी सृष्टि कल्पना के आधार पर की है। उनके चित्रों में नारी की विभिन्न विषादमयी स्थितियाँ बड़ी ही तीव्रता से उभरी हैं। **दर्द की अँगड़ाइयाँ** और **अंधकार** इसी प्रकार के चित्र हैं।

मंसाराम

श्री मंसाराम बम्बई क्षेत्र के लोकप्रिय कलाकार हैं। उनके चित्रों का विषय सर्व सामान्य से संवद्ध होता है; किन्तु उसको प्रस्तुत करने का कौशल उनका अपना होता है। उनकी कलाकृतियाँ पश्चिम की अतिभाववादिता से अछूती, मण्डनप्रधान चीनी-जापानी शैलियों से संपृक्त हैं। नेपाल के जन-जीवन से संबद्ध उनकी एक कृति **जैसे रोज वैसे आज** पर बम्बई सरकार की चौथी प्रदर्शनी में २,५०० रु० का सर्वोच्च पुरस्कार दिया गया। उनके चित्रों की रंगयोजना और पृष्ठभूमि बड़ी ही आकर्षक होती है।

मागो प्राणनाथ

श्री प्राणनाथ मागो पंजाब के निवासी हैं। बम्बई के जे० जे० स्कूल में उन्होंने कला की शिक्षा पायी। १९४८–५६ तक वे दिल्ली पॉलिटेकनिक और शिमला स्कूल ऑफ आर्ट्स में अध्ययन का कार्य करते रहे। आजकल वे ऑल इंडिया हैंडीक्रेफ्ट बोर्ड, (दिल्ली में) डिजाइनर केन्द्र के निदेशक हैं।

मागो के चित्रों में पंजाब के सामान्य जीवन को बड़े प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। उनके इस ढंग के तैलचित्र बड़े ही उत्कृष्ट हैं। उनकी सुष्ठु रंगयोजना दर्शनीय होती है। उनका रंगीन चित्र **चरवाहे** इसी ढंग का है, जिसमें दो बैल, एक गाय और चार बच्चे दिखाये गये हैं। स्थान नदी तट का कोई वनप्रांत है। चित्र की पृष्ठिका में दर्शित पेड़ों, पौधों से मण्डित धरती की सुन्दरता श्लाध्य है।

सामान्य जन-जीवन की अवस्था को व्यक्त करने वाले उनके बेकार शीर्षक चित्र में दो बेकार व्यक्तियों की दशा को दिखाया गया है; जिसकी पृष्ठभूमि में दर्शाये गये हाथचालित रिक्शे वातावरण की वास्तविकता को बड़ी तीव्रता से व्यंजित कर रहे हैं। इसी प्रकार के **शिकारे, नहर का पुल** श्रीनगर की सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले चित्र हैं।

मित्तल जगदीश

आधुनिक कला-जगत् के लिए श्री जगदीश मित्तल का नाम नया नहीं है। उनका जन्म १९२५ में हुआ और १९४९ में उन्होंने शांतिनिकेतन से फाइन आर्ट का डिप्लोमा प्राप्त किया। कला में उनकी रुचि आरंभ से ही रही है। अपने बाल्यकाल में ही वे एक होनहार कलाकार के रूप में प्रसिद्धि अर्जित कर चुके थे। जब वे कलास्नातक होकर निकले, तब तक उनकी प्रतिभा के बहुत-कुछ प्रमाण प्रकाश में आ चुके थे।

आरंभ में उन्होंने टेम्पेरा टेकनीक को अपनाया; किन्तु बाद में तैल-चित्रों के सर्जन में अपने विशेष अनुभव का परिचय दिया। पेंटर और ग्रेफिक आर्टिस्ट के रूप में वे अधिक सफल रहे हैं। फ्रेस्को और म्युरल टेकनीक का उन्हें विशेषज्ञ कहा जा सकता है। उडकट और लीनोकट उनके प्रिय विषय रहे हैं। ट्रेडिशनल आर्ट में उन्होंने पुनर्जागरण स्थापित किया और इस दिशा में वे सफल भी रहे।

राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित प्रायः सभी प्रदर्शनियों में मित्तल की कला-कृतियों को प्रदर्शित किया जा चुका है और टेकनीक तथा रंगों के समन्वय की दृष्टि से उनके चित्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। अपने रेखाचित्रों द्वारा उन्होंने कलाकार की कोमल एवं प्रेरक भावनाओं का सफल चित्रण किया है। उनकी कृतियाँ देश के विभिन्न कला-संस्थानों की शोभा बढ़ा रही हैं। इस प्रकार के कला-संस्थानों में राष्ट्रीय कला वीथी (नई दिल्ली), भारत कला भवन (वाराणसी), राज्य संग्रहालय (लखनऊ), बड़ौदा संग्रहालय, राजकीय संग्रहालय (मद्रास), राजकीय संग्रहालय (हैदराबाद), चित्रालय (त्रिवेन्द्रम्), पंजाब संग्रहालय (पटियाला), ललित कला अकाडेमी (नई दिल्ली), और कला भवन (शांतिनिकेतन) का नाम उल्लेखनीय है।

श्री मित्तल आल इंडिया हैंडी क्राफ्ट बोर्ड, डिजाइन सेंटर हैदराबाद के भूतपूर्व रीजिनल डाइरेक्टर रह चुके हैं। कलाकार होने के साथ ही वे सफल एवं संमानित कला-शिक्षक के रूप में भी प्रसिद्धि पा चुके हैं। गवर्नमेंट कालेज आफ फाइन आर्ट हैदराबाद में कला-विषयक प्राचीन इतिहास के सन् १९५३ से वे लेक्चरार हैं। हैदराबाद आर्ट सोसाइटी की ओर से १९५८ में जो चित्र तथा पुस्तक-प्रदर्शनी हुई थी उसके वे संयोजक थे।

कलाकार और कला-शिक्षक के साथ-साथ वे कला-समीक्षक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके हैं। भारतीय चित्रकला और हस्त-शिल्प के अध्ययन-अनुसंधान की दिशा में उनकी विशेष रुचि है। हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका **'कल्पना'** के वे १९५१ से कला-संपादक हैं। **'भारतीय कसीदा'** नाम से उनकी पुस्तक प्रकाशित है। हिन्दी में और संपूर्ण भारतीय भाषाओं में यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक है। इसके अतिरिक्त **'धर्मयुग'**, **'कल्पना'**, **'आजकल'**, **'इलस्ट्रेटेड वीकली'**, **'जर्नल ऑफ इंडियन सोसाइटी आफ ओरिएण्टल आर्ट'**, **'कलानिधि'**, **'मार्ग'**, **'रूपलेखा'** आदि प्रसिद्ध कला-पत्रिकाओं में समय-समय पर उनके अध्ययनशील लेख प्रकाशित होते रहते हैं। वे प्राचीन और आधुनिक कलाकृतियों के संग्राहक और गंभीर अध्येता हैं। **'उडकट'** का एक संग्रह उनका १९५४ में प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त **हिन्दी विश्वकोश, तेलगू विश्वकोश, सोवियत एन्साइक्लोपीडिया** आदि के लिए उनसे कला-विषयक विशिष्ट लेख प्रकाशार्थ तैयार कराये गये हैं। संप्रति वे भारतीय चित्रकला, कलमकारी और दक्षिणी चित्रकला पर पुस्तकें लिख रहे हैं।

संयोग से उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमला मित्तल भी शांतिनिकेतन की कला-स्नातिका (१९५०) हैं। अनेक प्रदर्शनियों के द्वारा उनके चित्रों की टेकनीक भी दर्शकों तक पहुँच चुकी है। उनका रंग-संयोजन बड़ा सधा हुआ और प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण प्रभावशाली है। कसीदाकारी की ओर उनकी विशेष रुचि है।

मुकर्जी विनोद बिहारी

श्री विनोद बिहारी मुकर्जी का व्यक्तित्व समीक्षक, लेखक, कलाकार और कलाचार्य के रूप में विदित है। वे बंगाल स्कूल के उन पुराने कलाकारों में प्रमुख हैं, जिन्होंने पक्षपातरहित होकर शास्त्रीय परम्पराओं को ग्रहणकर ऐसी कलाकृतियाँ कलाजगत् को दीं, जो स्वस्थ और सजीव थीं। उन्होंने अजन्ता के रूप वैभव को अपनी वैयक्तिक दृष्टि से संजोया। परम्परा का सम्मान और वैयक्तिक प्रयोगों की कुशलता, उनकी कृतियों में इस दोहरी सूझ का समावेश है। वे किसी वाद या वर्ग एवं देश एवं काल की परिधि को किसी भी सच्चे कलाकार की अनुभूति का क्षेत्र स्वीकार नहीं करते।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और आचार्य नन्दलाल बसु की शास्त्रीय, मानवीय और राष्ट्रीय दृष्टि की समदर्शिता को श्री विनोद बिहारी मुकर्जी ने अपने कलाजीवन का संबल स्वीकार किया। उनके भीतर स्वभावतः व्यापक दृष्टि थी, अतः जब वे चीन तथा जापान का भ्रमण करके लौटे तो उनके कलामूल्य एक वैभवशाली सभ्यता से प्रभावित थे। वे कोरे प्रभावात्मक न होकर बुद्धि द्वारा विश्लेषित थे, जो कि उनकी कृतियों के संविधान में मुखरित हुए।

अपनी व्यापक दृष्टि से उन्होंने कला-जगत् की समसामयिक परिस्थितियों को परखा और तदनन्तर अपने आस-पास के वातावरण में उसको केन्द्रित किया। उन्होंने अपनी कला के लिए व्यावहारिक जीवन की सर्वसामान्य छोटी-छोटी वस्तुओं को अपनाया और अपनी कृतियों में उनको इस प्रकार बैठाया, जिनका समाज के सभी वर्गों ने स्वागत किया।

चित्रों में उनको अलंकृति पसंद है; किन्तु उसमें भी उनकी विशेष सूझ है। उनके संबंध में कहा गया है कि 'अलंकारयुक्त अभिव्यक्ति की खोज में उन्हें कालीघाट की लोककला के पटचित्रों और ग्रामीण खिलौनों ने अधिक सहायता पहुँचायी है।'

शांतिनिकेतन में उन्होंने कुछ ऐसे भित्तिचित्र भी तैयार किये, जिनको उनकी कला का सर्वोत्कृष्ट रूप कहा गया है। उनके इन भित्तिचित्रों में उनके दीर्घकालीन अध्ययन, मनन और अनुभव की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। 'उनकी शैली कलात्मक लिपिलेखन की भाँति है। वे अपने चित्रों को लिखते हैं, जैसे कवि अपने शब्दों को पिरोता है।' श्री दिनकर कौशिक के ये शब्द मुकर्जी बाबू के संबंध में सर्वथा उचित हैं।

श्री विनोद बिहारी मुकर्जी १९४९–५० ई० में नेपाल संग्रहालय के अध्यक्ष रह चुके हैं। अपने इस कार्यकाल में उन्होंने नेपाल में उपलब्ध भारतीय कलाकृतियों एवं कलाग्रंथों के संबंध में महत्वपूर्ण कार्य किया।

मुकर्जी, शैलोज

शैलोज मुकर्जी बम्बई स्कूल के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कलाकार हुए हैं। उनका जन्म १९१०ई० में हुआ और पिछले दिनों ५ अक्टूबर ६० को इस यशस्वी कलाकार का देहावसान हुआ। इस दुःखद घटना से कला-जगत् की बड़ी क्षति हुई।

कला के प्रति शैलोज मुकर्जी का बचपन से ही अनुराग रहा। जब कभी एकान्त में वे प्रकृति का रूप निहारते तो उनके शिशुमन में 'उस अदृश्य महान् चितेरे की तस्वीर उभर आती, जो अपनी दक्ष तूलिका से क्षण-क्षण परिवर्तित, महिमा-मण्डित दृश्यचित्र विश्वाकार कैनवस पर अंकित कर रहा है।' उनके मन की इसी उत्कण्ठा एवं जिज्ञासा ने उन्हें चित्रकार बनाने के लिए प्रेरित किया; और यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं रहे; फिर भी अपनी कृतियों में उन्होंने जो अनुभूतियाँ व्यक्त कीं उससे वे अमर हो चुके हैं। उनकी कृतियों में सामान्य जन-जीवन की झाँकियाँ बड़ी ही सजीव उतरी हैं। उनकी कला-कृतियों में इसलिए भी इतनी सजीवता है कि उनसे हमें कविता का भी रसास्वादन मिलता है।

अपने सम्बन्ध में उन्होंने कहा है 'अपने चित्र **ग्रीष्म का धुआँ** तथा अपनी अन्य रचनाओं में मैं बहुत कुछ मुगल और राजपूत चित्रों से प्रभावित हुआ हूँ; किन्तु तैलचित्र के माध्यम से मैं पूर्वी और पश्चिमी कलाओं का समन्वय करता हूँ; हालाँ कि मेरा विश्वास है कि कला में जाति का मौलिक राष्ट्रीय चरित्र प्रतिबिम्बित होना चाहिए।'

कला में वे राष्ट्रीयता और सार्वभौमिकता के पक्षपाती थे और आधुनिक कला के इसी पक्ष को वे मनुष्य की शांति, एकता तथा शक्ति का सूचक स्वीकार करते थे। उनका दृष्टिकोण था कि कला में तथ्य तथा सामाजिक तत्त्व होने चाहिएँ और लोगों में कला के प्रति रुचि जगानी चाहिए। **पनघट** उनका ऐसा ही सामाजिक चित्र है, जिसमें पानी भरती हुई तीन स्त्रियाँ, एक वस्त्रहीन बालक और

उसके पीछे दो टाँगों से विश्राम करता हुआ कुत्ता—सभी कुछ मिलकर उसमें गाँव के एक मोहक वातावरण का दृश्य अंकित हुआ है। यह चित्र ऑल इंडिया फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी, नई दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित है।

पिकासो तथा रूसो आदि विश्वविख्यात चित्रकारों की कृतियों के साथ शैलोज मुकर्जी के चित्रों की पेरिस में १९४७ तथा १९५२ ई० में प्रदर्शनी हो चुकी है।

कलाकार होने के साथ-साथ वे सफल कला-शिक्षक भी थे। उन्होंने शारदा उकील स्कूल ऑफ आर्ट्स और दिल्ली के पोलीटेकनीक में कई वर्षों तक अध्यापन का कार्य भी किया। दिल्ली के पोलीटेकनीक की ओर से हाल ही में उनके चित्रों की एक प्रदर्शनी भी आयोजित हुई।

रजा के० एस०

आधुनिक शैली के भारतीय चित्रकारों में श्री के० एस० रजा का नाम उल्लेखनीय है। रजा ने चित्रकला का ज्ञान पेरिस में रहकर अर्जित किया। इधर लगभग आधी शती से पेरिस को वर्तमान चित्रकारों का प्रेरणा-केन्द्र माना जाता है। रजा की चित्रकला पर पेरिस के नयी पीढ़ी के उदयोन्मुख कलाकार द-स्ताल की शैली का प्रभाव है। अपनी प्रभावशाली शैली के कारण पेरिस के आधुनिक कला-जगत् पर द-स्ताल की कला की अत्यन्त गहरी छाप है। रजा ने निरन्तर १० वर्षों तक पेरिस में रहकर अपने कला-ज्ञान को समृद्ध किया।

इतने वर्षों तक पेरिस में रहने के कारण स्वभावतः रजा के चित्र आधुनिक भारतीय चित्रकारों की कृतियों की अपेक्षा भिन्न हैं। सिद्धान्ततः वे कला में एव्स्ट्रेक्टवाद (आंशिक अभिव्यक्ति) के पक्ष में नहीं हैं; फिर भी अपने चित्रों में उन्होंने उसको यथोचित रूप में स्थान दिया है। रजा का रंग-संयोजन बहुत ही उच्च-कोटि का है और इसीलिए उनके चित्रों में ताजगी, गहराई, प्रवाह और भावाभिव्यंजन का अनोखापन दिखायी देता है। 'वे एक चित्र को कई महीनों में जाकर पूरा कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि चित्र तैयार हो जाने के बाद भी लम्बे समय तक सामने रखकर वे उसकी समीक्षा करते रहते हैं; अथवा कभी-कभी बीच ही में छोड़कर आगे के सम्बन्ध में विचार करते रहते हैं।' वे व्यवस्थित ढंग से निश्चित कार्य-क्रम के साथ कार्य करने वाले कलाकारों में हैं।

आधुनिक चित्रकला में रूप की समस्या को बड़ा महत्व दिया गया है और इसीलिए उसको सुलझाने के लिए अनेक मार्ग अपनाये गये हैं। रजा के सम्बन्ध में एक बड़ी विशेषता यह भी है कि रूप की समस्या को वे अलग से न समझकर अपने अनुभवों एवं अपनी अनुभूतियों में मिलाकर देखते हैं। इसीलिए उनकी कलाकृतियों में जीवन है।

पेरिस में कई बार उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हो चुकी है। रजा ही एक विदेशी कलाकार हैं, जिन्हें १९५६ ई० में कला के क्षेत्र का प्रसिद्ध पुरस्कार **'प्री द क्रितिक'** (क्रिटिक एवार्ड) प्राप्त हो चुका है। इधर १९६० के मई मास में दिल्ली में उनके चित्रों की भव्य प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था।

रजा के चित्रों में यद्यपि संयत भावुकता है; फिर भी उनमें कहीं-कहीं पुनरावृत्ति है। उन्होंने प्रायः प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण किया है। लम्बे अर्से तक पेरिस में निवास के कारण समस्त विश्वजनीय शैलियों से उनका संपर्क बना हुआ है। इसलिए उनमें गत्यवरोध नहीं है।

रामकुमार

रामकुमार का जन्म १९२४ ई० में हुआ। उन्होंने स्वतंत्र रूप से अतेलियर आन्द्रे लाँत और फर्नेण्ड लेजर पेरिस आदि अनेक देशों की चित्रकला का बारीकी से अध्ययन किया और योरप, अमेरिका तथा भारत में आयोजित अनेक चित्र-प्रदर्शनियों में संमानित होकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कलाकारों की कोटि में अपने को बैठा दिया है।

भारत में आकार अमृत शेरगिल ने इस देश की आधुनिक चित्रकला को जो नये मोड़ दिये थे उनकी विषयवस्तु तो भारतीय थी और उपादान पेरिस के। अमृता द्वारा प्रवर्तित इस नयी शैली को अपनाने वाले आधुनिक कलाकारों में रामकुमार और रजा का नाम प्रमुख है। रामकुमार वर्तमान पीढ़ी के कलाकार होने के साथ-साथ समीक्षक और कथाकार भी हैं। चित्रकला पर उनके गंभीर अध्ययन और विदेश भ्रमण के कारण ही उनकी कृतियों में सृजन तथा विकास के ऐसे तत्त्व प्रसुप्त हैं, जिनसे नयी प्रेरणा प्राप्त होने की आशा की जा सकती है।

परम्परा की लीक से हटकर नयी दृष्टि और नयी विषयवस्तु के साथ-साथ नये संविधानों की योजना द्वारा रुचिकर प्रयोग प्रस्तुत

करने वाले कुछ इने-गिने चित्रकारों में रामकुमार का नाम लिया जा सकता है। रामकुमार के चित्रों में परम्परा के प्रति तिरस्कार की भावना का सम्बन्ध न होकर नये प्रयोगों की गवेषणा के लिए उत्सुकता है। वस्तु की यथार्थता को उल्था कर देने की अपेक्षा उन्होंने अपनी प्रतिभा से उसको मौलिक रूप देने की चेष्टा की है। यह मौलिकता उनकी अपनी है, कल्पित है; किन्तु इसीलिए वह उपेक्षणीय नहीं है।

उनका अपना दृष्टिकोण है कि किसी भी कलाकार की कृति में उसके अन्तस् की छाप होती है। उसके इस अन्तस् में जो भी महत्वपूर्ण है उसकी उपलब्धि उसके आस-पास के वातावरण तथा परिस्थितियों से हुई है। वे परिस्थितियाँ जीवन की हो सकती हैं, राजनीति की हो सकती हैं, अथवा कला की हो सकती हैं। इन्हीं को अनुभव कहा जाता है। किसी भी कलाकार अथवा लेखक के साथ ये अनुभव बने रहते हैं। रामकुमार ने इसीलिए कहा है, 'मैं अपने चित्रों में, अपने बिम्बों के जरिये अपने अनुभवों को स्वीकृत (क्रिस्टलाइज) करने की कोशिश करता हूँ।'

रामकुमार ने अनेक प्रकार के चित्र बनाये हैं। उनके कुछ ऐसे चित्र हैं, जो अतीन्द्रिय हैं और जिनका सम्बन्ध भावलोक से है। उनके इन चित्रों में रेखाओं द्वारा अपने देश की कथाओं और अनुश्रुतियों को साकार कर दिया गया है। इस प्रकार के चित्रों को समझने के लिए भारतीय साहित्य की कथाओं और अनुश्रुतियों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। **परित्यक्ता दमयन्ती, सावित्री सत्यवान,** आदि पौराणिक प्रतिमानों के चित्रों में रंगयोजना और भाव-व्यंजना का समन्वय है। उसके चित्रों में रंगयोजना और रूप-सज्जा का विशेष महत्व है। रंगों के माध्यम से विषयवस्तु को समुचित भावभूमि पर खड़ा करने में उसकी तूलिका की अपनी खूबी है। उसके इन प्रतीकात्मक रंगों का प्रयोग भावपूर्ण होने के साथ-साथ शास्त्रीय भी है। **होली आई रे, विराम** और **समर्पण** आदि चित्रों में हल्के रंगों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

उनमें भावाभिव्यक्ति की भी पूरी योग्यता है। भयानक भावों को दर्शित करने वाले तथा शिल्प की अतिशयता की दृष्टि से **महाकाली** जैसे चित्र भी उन्होंने बनाये हैं। **मधुरस्मृति** एक श्रृंगारप्रधान और **याचना** एक प्रणयप्रधान चित्र है। उनके प्रथम चित्र में संगीत-नृत्य की प्रेमिका किसी सुसज्जित युवती को नृत्य की मुद्रा में अंकित किया गया है। वह अपने किन्ही मधुर क्षणों को याद करती हुई बड़ी भली लग रही है।

हाल ही में उन्होंने वाराणसी के जीवन से संबंधित चित्र बनाये हैं, जिनमें अवसादग्रस्त एवं उजाड़ खंडहरों की निर्जीव परम्परा का अच्छा चित्रण किया गया है।

इनके अतिरिक्त ग्रीसयात्रा के दौरान में बनाये गये उनके स्केच उनकी नयी रचना-प्रकिया के सूचक हैं।

रावल रविशंकर

श्री रविशंकर रावल यशस्वी कलाकार एवं कलाचार्य हैं। उन्होंने गुजरात में, चित्रकला के क्षेत्र में वही कार्य किया, जो बंगाल स्कूल में स्व० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्य नन्दलाल बसु और समरेन्द्रनाथ गुप्त आदि ने किया। उन्होंने बंगाल स्कूल के मूल विचारों को ग्रहण कर गुजरात में कलाकारों की एक प्रगतिशील शाखा को जन्म दिया।

श्री रावल आधुनिक शैली के प्रयोगवादी चित्रकारों के रूप में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना चुके हैं। उनकी कलासाधना का माध्यम प्रकृत है। प्रकृत, अर्थात् आदिम जन-जीवन तथा संस्कृति को लेकर रचे गये सौन्दर्यमण्डित चित्र। उन्होंने मनुष्य, पशु, पक्षी, प्रकृति आदि सभी के चित्र आँके हैं। उन सब में एक अदृष्ट युग की संस्कृति और कला की लोच मुखरित है। उनके चित्रों के **घोड़ा, टोकरीवाली स्त्री, पत्नी और प्यार का बोझ, हाट की ओर** आदि जैसे नाम हैं वैसे ही उनमें कार्यपरता भी है। उनकी दृष्टि से 'कलाकृति का प्रधान अंग उसकी संपूर्णता है। अर्थात् एक अखण्ड पात्र के रूप में उसे हमारे मन पर अंकित करने के लिए संपूर्णता एक आवश्यक तत्त्व है। यह यदि न हो तो भावना भी अखण्ड रूप में प्रकट नहीं हो सकती।'

उनके द्वारा निर्मित **बुद्ध का गृहाभिगमन** चित्र बड़ा ही मार्मिक है। चित्र में बुद्धदेव भिक्षा के लिए पात्र आगे बढ़ाये हुये हैं और यशोधरा राहुल को भिक्षा के रूप में आगे किये है। बालक राहुल इस मुद्रा में बुद्ध की ओर देख रहा है कि वे उसको शरण में ले लें। बुद्ध की दृष्टि पृथिवी पर है और वे सुध भूल गये हैं। यशोधरा के ओठों पर नारी का गंभीर भाव और आँखों में ममता है। इन आँखों से वह बुद्ध की ओर निहार रही है। चित्र बड़ा ही कारुणिक है।

उनके नवीन शैली के चित्रों में **प्यार की प्यास** शीर्षक चित्र, सादी, सुन्दर और उपयुक्त भावाभिव्यक्ति से आपूरित है। इस

शैली के चित्रों में **राह की पहचान** का प्रमुख स्थान है। अमृत शेरगिल ने भी ऐसे चित्र बनाये हैं। रावल के चित्रों में पृष्ठभूमिका का निर्माण किये बिना भी भावाभिव्यंजन का पूर्ण कौशल दर्शित है। **धरती की बेटी** इसी प्रकार का चित्र है। उनके चित्र स्पष्ट, सुगम, सुन्दर और प्राविधिक दृष्टि से उत्तम हैं।

रेड्डी पी० टी०

श्री रेड्डी जे० जे० स्कूल (बम्बई) के स्नातक हैं। वे श्रमजीवी कलाकार हैं और विगत २५ वर्षों से वे कलासाधना कर रहे हैं। देश की प्रमुख प्रदर्शनियों में उनके चित्र मुक्तकंठ से सराहे गये हैं और कई बार उन्हें उच्च पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं।

कलाकारों के बीच सहयोग और एकता स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होंने एक संस्था का आयोजन किया था, जो कि कई वर्षों तक अपने उद्देश्यों का सफल निर्वाह करती रही और जिसको देश के सभी मूर्धन्य कलाकारों का सहयोग प्राप्त था। उनका यह कार्य नितान्त प्रशंसनीय है।

उनके चित्रों को देखकर उनकी बहुमुखी प्रतिभा का सहज ही अनुमान हो जाता है। उन्होंने जलरंग और तैलरंग, दोनों का उपयोग किया है। उनके रेखाचित्र और लकड़ी पर किये गये कलात्मक चित्रांकन भी सराहनीय हैं। इसी प्रकार पोरट्रेट चित्रों में भी वे सिद्धहस्त हैं।

उनके चित्रों में **पृष्ठ भाग, तीन सखी, संगीत, विचारमग्न, नृत्य करती हुई युवती, दुग्ध दोहन, विश्राम, दो युवती** आदि का नाम उल्लेखनीय है।

रेड्डी श्रीमती जेनब

श्रीमती रेड्डी का जन्म पूना में हुआ और कला की शिक्षा उन्होंने बम्बई के जे० जे० स्कूल से प्राप्त की। १९५५ ई० में वह अपने पति श्री ए० बी० रेड्डी के साथ (जो दक्षिण अफ्रीका के निवासी हैं) दक्षिण अफ्रीका गयीं। वहाँ पहले तो वे डरबन नगर के टेम्पुल्स गर्ल्स स्कूल में कला की अध्यापिका नियुक्त हुईं और बाद में (१९५७ ई०) एम० एस० एल० सुलतान टेक्निकल कालेज (डरबन) में उन्हें कला की प्रथम शिक्षिका के रूप में आमंत्रित किया गया।

१९५८ ई० में वे भारत आयीं और यहाँ पर उन्होंने उक्त स्कूल की हस्तकलाओं का विशेष अध्ययन किया। १९५८ ई० को डरबन में उनके संपूर्ण चित्रों की प्रदर्शनी हो चुकी है, जिसकी बड़ी प्रशंसा की गयी। **झरोखे पर खड़ी महिला, चिकने पत्थरों पर निर्मित चेहरे** (टाइल्स) **अफ्रीकावासी, माँ और बच्चे** आदि उनके प्रमुख चित्र हैं। उनकी कृतियों पर पाश्चात्य प्रभाव है।

रोरिक स्वेतोस्लाव

श्री स्वेतोस्लाव रोरिक का नाम आज विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारों में गिना जाता है। विगत २५ वर्षों से वे इस क्षेत्र में कार्य करते आ रहे हैं। यद्यपि आरंभ में ही उनके कलाकार जीवन की महानता का आभास कला-जगत् को मिल चुका था; फिर भी इस प्रकार की विश्वकीर्ति उनको बाद में प्राप्त हुई।

रोरिक का जन्म १९०४ ई० को रूस के सेंट पीटर्सबर्ग नामक नगर में हुआ था। ब्रिटेन और स्वीडन में आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे शिल्पकला और चित्रकला का विशेष अध्ययन करने के लिए अमेरिका गये। इस अवस्था में उनके पिता श्री निकोलस रोरिक की प्रेरणा थी। श्री निकोलस रोरिक को अन्तर्राष्ट्रीय चित्रकारों में गिना जाता था।

चित्रकला के प्रति रोरिक का स्वाभाविक आकर्षण था। जब वे १९ वर्ष के थे, तभी उन्होंने अपने चित्रों की एक भव्य प्रदर्शनी का आयोजन कर लिया था। उसके दो वर्ष बाद एक चित्र पर उन्हें **'स्वबी सेंटीनेल मेडल'** प्राप्त हुआ, जो उच्च संमान था। १९१० को वेनिस में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय चित्र-प्रदर्शनी में उन्होंने अपने पिता का एक पोरट्रेट चित्र शामिल किया, जिसको देखकर लोग दंग रह गये। तब वे २५ वर्ष के युवक थे। १९३७ में पेरिस की विख्यात लक्सेमबर्ग आर्ट गैलरी में रखने के लिए रोरिक का एक चित्र चुना गया। इस गैलरी में उन चित्रकारों के चित्र लगाये जाने की परम्परा है, जिनका स्थान विश्व के श्रेष्ठतम चित्रकारों में निश्चित हो चुका है। इस सर्वोच्च संमान ने रोरिक की ख्याति में चार चाँद लगा दिये।

रोरिक का जन्म यद्यपि रूस में हुआ और उन्हें आज विश्व के कलामंच पर स्थान प्राप्त है, तथापि हमें आज यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे हमारे बीच हमारे ही देशवासी होकर रह रहे हैं। रोरिक जब १९२३ में पहले-पहल अपने माता, पिता तथा भाई के साथ भारत आये थे, तो यहाँ के प्राकृतिक, भौतिक एवं धार्मिक जीवन की सहजताओं से वे गंभीर रूप से प्रभावित हुए। हिमालय के सौम्य आकर्षण ने उनके मन को विशेष रूप से मोह लिया। फलतः वे बार-बार भारत आते गये और अन्त में स्थायी रूप से यहाँ बस गये। यहाँ की सात्विक प्रकृति, उच्च आध्यात्मिक ध्येय और पवित्र धार्मिक निष्ठाओं ने रोरिक को इस देश का स्थायी नागरिक बनने के लिए बाध्य किया। इस देश के साथ स्थायी आत्मीयता बनाये रखने के लिए उन्होंने १९४५ में देविका रानी के साथ विवाह कर लिया। आज वे पूर्णरूप से भारत को अपना देश और यहाँ की संस्कृति को अपनी संस्कृति कहकर गौरव का अनुभव करते हैं। अपने पिता की स्मृति में वे कुलू घाटी में एक कलासंग्रहालय स्थापित करने का निश्चय कर चुके हैं।

अधिकतर भारतवासियों को रोरिक के कला-जीवन का परिचय बाद में मिला। १९४० में जब बड़ोदा की चित्र-प्रदर्शनी में रोरिक के चित्रों को भी प्रदर्शित किया गया था तब तक यहाँ के लोग उनको एक सामान्य चित्रकार के रूप में जानते थे। जनवरी १९६० को दिल्ली में रोरिक के चित्रों की विशाल प्रदर्शनी आयोजित हुई। इस प्रदर्शनी के लिए दिल्ली की फाइन आर्ट सोसाइटी की चारों गैलरियों को सुरक्षित कर दिया गया था। यह प्रदर्शनी एक मास तक चली। उसका उद्घाटन २० जनवरी को प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने किया।

उनकी कला में परम्परा का आग्रह एवं आधुनिकता का अनुकरण न होकर स्वतंत्र चिन्तन की मौलिकता है। कला के संबंध में उनके विचार परिपक्व और प्रगतिशील हैं। वे यह नहीं मानते कि आज की कला में आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है और उसमें चरित्र को कोई स्थान नहीं दिया गया है। उसमें भले ही प्राचीन कथ्य न हो; किन्तु प्राचीनता का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं है। वह आज की देन है, जो बदलती हुई दुनिया का प्रतिनिधित्व कर रही है।

वे कला में व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि-दर्शन के पक्षपाती हैं। उनका विचार है कि इसी दृष्टि से कला को जन-सामान्य तक पहुँचाया जा सकता है। कला का संबंध कलाकार के जीवन से जुड़ा होता है। इसी में कलाकार आत्मानंद का अनुभव करता है। कला में वे प्रदर्शन और गोपन के समर्थक न होकर स्वस्थ, सुन्दर और सत्य के आराधक हैं। वे व्यक्तिगत प्रशंसा को कला की वास्तविक उन्नति नहीं मानते। उनकी दृष्टि से कलाकार की सफलता इसी में है कि वह सृजन के ऐसे साधनों को अपनाये, जिनको अधिक लोग समझ सकें।

रंगयोजना, सफाई और नाटकीय दृश्यों को दर्शाने में रोरिक की अपनी मौलिक दृष्टि है।

विजयवर्गीय रामगोपाल

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय फक्कड़ स्वभाव के अध्ययनशील कलाकारों में हैं। अपनी कलासाधना में एक साधक की समस्त कठिनाइयों को उन्होंने देखा है; और क्योंकि आज भी उनका जीवन एक सच्चे कलाकार की अनेक विसंगतियों में बीत रहा है, अतः बाधाओं से सदा वे घिरे रहते हैं। फिर भी उनका कला-जीवन प्रशस्त है।

कलाकारों का प्रसव करने वाली राजस्थान की धरती में विजयवर्गीय जी जैसे कलाकारों का पैदा होना स्वाभाविक ही है; और इसीलिए उन्होंने परम्परा से प्राप्त विरासत को बड़ी सच्चाई से निभाया है। अपने अंचलविशेष के वे अग्रणी कलाकार और कलाचार्य भी हैं। वे अच्छे संग्रहकर्ता भी हैं। उनको पुरानी पोथियों और कलाकृतियों का संग्रह करने का चस्का है। उनके पास कुछ दुर्लभ वस्तुएँ भी हैं।

श्री विजयवर्गीय ने भिन्न-भिन्न शैलियों के चित्र बनाये हैं। उनके कुछ चित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक हैं; और इसलिए यह कहने में संकोच नहीं होता कि ऐसे स्थलों पर उनको कोई छू नहीं सकता। उनके चित्र आज देश के प्रायः समस्त मुख्य-मुख्य चित्र-वीथियों तथा प्रदर्शनियों में सज्जित तथा प्रदर्शित हैं। हमें वे वहाँ देखने को मिल सकते हैं।

उनके कुछ चित्रों पर उनके आलोचकों ने घोर शृंगारी होने का आरोप लगाया है। विजयवर्गीय जी की दृष्टि से यह आरोप उनकी कृतियों पर कहाँ तक चारितार्थ होता है, इसका समाधान करने में सक्षम हैं, क्योंकि उनकी लेखनी में भी बल है।

वेन्द्रे नारायण श्रीधर

श्री नारायण श्रीधर वेन्द्रे का जन्म २१ अगस्त, १९१० ई० को मध्य प्रदेश के इन्दौर नगर में हुआ और स्टेट स्कूल ऑफ आर्ट्स से उन्होंने कला की शिक्षा प्राप्त की।

उनके आरंभिक चित्र प्राकृतिक दृश्यों पर आधारित हैं, जिनको उन्होंने काश्मीर में रहकर बनाया। चार वर्ष तक वे इसी प्रकार लैंडस्केप बनाते रहे। उनके ये चित्र उस समय बड़े लोकप्रिय हुए। इसी लोकप्रियता के कारण बम्बई आर्ट सोसाइटी, पटेल ट्राफी ऑफ दि आर्ट, सोसाइटी ऑफ इंडिया (बम्बई) आदि प्रतिष्ठित कला-संस्थानों से उन्हें लगभग तीस उच्च पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। देश-विदेश के कई भागों में उनके चित्र अनेक बार प्रदर्शित हो चुके हैं।

क्रियात्मक कलाज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी कलायात्रा अपने देश के अनेक भागों का भ्रमणकर और अपने अनेक चित्रकार साथियों के बीच बैठकर आरंभ की। इस बीच वे नयी-नयी शैलियों की विधाओं को सीख गये थे। मिट्टी के रंग बनाने की विधियाँ, जिन्हें वे भित्तिचित्रों के अंकन के लिए उत्कृष्ट बताते हैं, उन्होंने शांतिनिकेतन के कलाकारों के बीच बैठकर सीखीं। विदेशों का भी वे अनेक बार भ्रमण कर चुके हैं। अमेरिका, हालैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम आदि कलासेवी देशों में जाकर उन्होंने कला की आधुनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन किया; और अपने अनुसार उनको भारतीय रंग-रूपों में ढाला। उन्होंने न्यूयार्क में रहकर ग्रेफिक कला का विशेष अध्ययन किया, जिसका आधुनिक कला-जगत् पर एकाधिकार है। १९५२ ई० में वे भारत सरकार की ओर से भारतीय सांस्कृतिक मण्डल के सदस्य की हैसियत से चीन गये।

आवश्यकता से मुक्ति, पटना आवास, दार्जिलिंग के चायबगान में युवती, ग्राम्यजीवन आदि के अतिरिक्त **काश्मीर की घाटी, नैनीताल की झील, ऊटकमंड, अमरनाथ, हिमालय** आदि चित्र उनकी सर्वांगीण अनुभूति के परिचायक हैं। **प्रार्थना सभा में गाँधी जी, बुद्धपूजा, स्टेशन पर दो यात्री, वसन्त, उमर खय्याम की रुबाइयाँ** आदि चित्र उनके उत्कृष्टतम चित्रों में से हैं। लघुचित्रों को तथा तैलचित्रों को उन्होंने अधिक संख्या में बनाया है। भारतीय और पाश्चात्य शैलियों के समन्वय से वे इधर सुन्दर कृतियों का निर्माण कर रहे हैं। उनका रंग-संयोजन और रेखा-विधान उच्चकोटि का है।

शाह दिनेश

श्री दिनेश शाह बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट्स के स्नातक हैं। इससे पूर्व वे राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग ले चुके थे। इसलिए जब उन्होंने अपने कलाकार जीवन में प्रवेश किया तो महात्मा गाँधी के विचारों से प्रभावित उनकी कृतियों में अहिंसा, राष्ट्रप्रेम और धार्मिकता की सुन्दर अभिव्यक्ति देखने को मिली। इधर विनोबा जी के विचारों से उनकी कला में गरीबी, प्रेम और समानता के भाव उभरे। इसी रुचि के कारण उन्होंने ग्राम्य दृश्यों के अनेक मनोरम चित्र उतारे, जिनमें राजस्थान के जीवन से संबद्ध चित्र बड़े आकर्षक हैं। भित्तिचित्रों से उन्होंने कलात्मक भाव लिये। उनके जैन धर्म-विषयक चित्रों में रेखाओं की सुघराई, काव्यात्मक आकृति, भावप्रवणता और गाढ़े रंगों का प्रयोग उनकी कला के स्वस्थ स्वरूप को प्रकट करते हैं।

अपने चित्रों के संबंध में उनका कथन है कि—'मेरे चित्रों में रेखाओं की प्रधानता है, जिनमें ग्रेस और बोल्डनेस दोनों ही अच्छी तरह गुँथे हुये हैं। मुझे वास्तविकता से अधिक आत्मा की पकड़ अच्छी लगती है और जिसमें आनन्द मिलता है उसी रीति से काम करता हूँ। मेरा विचार है कि कला किसी शैली की दासी नहीं है। वह किसी भी शैली में कभी भी प्रकट हो सकती है। इसीलिए चेतनाशील कलाकार को प्रगतिमय होना चाहिए और किसी भी प्रकार के बंधन अथवा भय से मुक्त रहना चाहिए; समय-समय पर उसे प्रयोग भी करते रहना चाहिए। भय से सृजित हुई वस्तु स्वयं तथा समाज के लिए भी भयरूप ही होगी, क्योंकि उसका केन्द्रस्थान भय है।'

शुक्ल यज्ञेश्वर कल्याणजी

श्री यज्ञेश्वर कल्याणजी शुक्ल का जन्म १९०७ ई० में हुआ। जे० जे० स्कूल से उन्होंने १९३४ में प्रथम स्थान प्राप्त किया, जिसके फलस्वरूप इन्हें मेयो पदक प्राप्त हुआ। उसी वर्ष उनके चित्रों पर आर्ट्स सोसाइटी पूना से स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। १९३४ तथा १९३६ में एक सदस्य की हैसियत से उन्होंने आधुनिक भारतीय चित्रकार के रूप में ब्रिटिश कला-प्रदर्शनी (लंदन) में भाग लिया। १९३८ में चित्रकला की उच्च शिक्षा के लिए वे रायल अकादेमी ऑफ फाइन आर्ट्स, रोम गये। १९४७ ई० को पेरिस तथा यूनेस्को में

आयोजित कला-प्रदर्शनी में उन्हें भारत की ओर से भाग लेने को भेजा गया। उसी वर्ष वे सरकार की ओर से विशेष अध्ययन के लिए चीन गये। वहाँ नानकिंग में उनके चित्रों की भव्य प्रदर्शनी हुई।

बड़ोदा म्युजियम में (१९४९) और भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित बम्बई में (१९५०) उनके चित्रों की प्रदर्शनी हो चुकी है। १९५७ ई० को टोकियो की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में ग्रेफिक कला से संबंधित उनकी पाँच कृतियाँ आमंत्रित हुईं और उनको प्रदर्शित किया गया। १९५८ ई० में फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी, दिल्ली की ओर से आयोजित राष्ट्रीय प्रदर्शनी में उनको प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।

आजकल शुक्ल जी बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स विभाग के अध्यक्ष हैं। देश-विदेश के अनेक व्यक्तिगत संग्रहों के अतिरिक्त नेशनल गैलरी दिल्ली, प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम बम्बई और म्युजियम ऑफ बड़ोदा आदि प्रसिद्ध कला केन्द्रों में उनके चित्र सुसज्जित हैं। इचिंग की कला का आपने विशेष अध्ययन किया है और इस दिशा में भारतीय चित्रकारों में उन्हें पहला स्थान प्राप्त है।

इस प्रकार श्री यज्ञेश्वर कल्याणजी शुक्ल आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकारों में है।

सक्सेना रणवीर

इटावा के निवासी श्री रणवीर सक्सेना को कला-प्रेरणा अपने कलाप्रेमी पितामह से प्राप्त हुई। लखनऊ आर्ट स्कूल से डिप्लोमा प्राप्त करने के बाद पाँच वर्ष तक वे जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स (बम्बई) में अध्ययन करते रहे। तदनन्तर शांतिनिकेतन में रहकर उन्होंने अपनी अध्ययननिष्ठा को पूरा किया। संप्रति वे डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में कला-विभाग के अध्यक्ष हैं।

कला के क्षेत्र में वे समन्वय के पक्षपाती हैं। किसी वर्ग या वाद में उनकी निष्ठा नहीं; बल्कि कला के क्षेत्र में वे उन सभी अभिव्यक्तियों का स्वागत करते हैं, जो जीवनोपयोगी हैं और जिनका समाज से संबंध है।

टेम्पेरा, वाटरकलर, पेस्टलकलर, आयलकलर और पेंसिल-पेन आदि सभी तरह के चित्र उन्होंने बनाये हैं। अपने चित्रों के लिए उन्हें, प्रकृति, गाँवों का स्वच्छ वातावरण, नगरों की भीड़ भरी गलियाँ, निर्जन वन-प्रान्तर आदि सभी समान रूप से प्रेरणा देते रहे हैं। उनके प्रिय चित्रों में **प्रतीक्षा, बुद्ध का गृहत्याग, झूला** आदि उल्लेखनीय हैं। कई प्रदर्शनियों में उनके चित्र दर्शित हो चुके हैं।

उनके चित्रों में श्रम और ग्राम्य जीवन की यथार्थता है। **धरती के बेटे** नामक उनका चित्र हमें यह बताता है कि उन्होंने उसमें अपनी अनुभूति के स्वर दिये हैं। कर्मठ जीवन की अभिव्यक्ति करने वाले उनके चित्रों में स्फूर्ति, उत्साह और नवजागरण की भावना है। उनके चित्रों का रसास्वादन करने के लिए कला की विशिष्ट आँखों की आवश्यकता नहीं है।

सामन्त मोहन

श्री मोहन सामन्त को कुलकर्णी, रजा तथा हुसैन, जैसे अग्रणी कलाकारों की श्रेणी में स्थान प्राप्त है; किन्तु उनका विकास कुछ नये ढंग से हुआ है। उनमें परम्परा के प्रति निष्ठा और वर्तमान के प्रति उत्सुकता है। उन्होंने जैन शैली के लघुचित्रों से प्रेरणा प्राप्त की। उन्हें योरोप की वर्तमान उन्नत पद्धतियों की भलीभाँति परख है। उनकी कला के क्रमिक विकास को, श्री रामकुमार के शब्दों (**आजकल**, जून १९५९) में, इस प्रकार देखा जा सकता है। 'पिछले सात-आठ वर्षों के भीतर उनकी कला में जो नये मोड़ आये, उन्हें उनमें सफलता मिली है और लोकप्रियता का मोह त्यागकर वे सदा परिवर्तन की ओर उन्मुख रहे, जिससे उनकी उन्नति और उनका विकास तीव्र गति से हुआ। पौराणिक संकेतों और आधुनिक योरोपीय टेकनीक की खोज से फायदा उठाकर जब वे उसके माध्यम से अपनी भारतीयता का प्रदर्शन करते हैं तो उनकी कला में एक अद्‌भुत शक्ति और आकर्षण आ जाता है। हाल ही में लंदन और अमेरिका में उनके चित्रों को विशेष प्रशंसा मिली है।'

आरंभ में उन्होंने अपनी कलाकृतियों के लिए रहस्यात्मकता को अपनाया है, जो कि उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई थी। इधर उनकी शैली और उनके वर्णविधान में अवश्य ही कुछ परिवर्तन हुआ है। पहले उनके चित्रों में नीले तथा चमकदार रंगों का प्रयोग होता था; किन्तु अब वे योरोप के प्रभाव से अमूर्त शैली को अपनाने लगे हैं।

उनकी शैली में इधर पर्याप्त प्रौढ़ता, निश्चित संकेत और अपेक्षित व्यक्तिस्वातंत्र्य के दर्शन होते हैं। इस प्रकार सामन्त आधुनिक कलाकारों में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना चुके हैं।

सिन्हा किरण

श्री किरण सिन्हा का जन्म पूर्वी बंगाल में हुआ। १९३७ में, जब कि उनकी आयु २१ वर्ष की थी, शांतिनिकेतन में अपना कला-शिक्षण पूरा करके वे छात्रवृति पर चीन गये। चीन से लौट आने पर वे आडयार (मद्रास) के बेसेंट थियासाफीकल स्कूल में कला के शिक्षक नियुक्त हुए। वहीं उनकी शादी वियना की एक ऐसी महिला से हुई, जो कला की उच्च उपाधियाँ प्राप्त कर चुकी थीं। इस प्रकार अनुकूल वातावरण पाकर दोनों पति-पत्नी ने अपनी कलानिष्ठा को विकसित किया।

सिन्हा जी की कलाकृतियों में भारत की प्राकृतिक और भौतिक जीवन की विभिन्न प्रेरणायें अंकित हैं। संघर्षों ने उनके कलाकार को आस-पास के जीवन की वास्तविकताओं पर केन्द्रित किया है। उनका श्रम पर विश्वास रहा है, इसलिए श्रमिक जीवन के प्रति उनकी कृतियों में निष्ठा है। उनकी कृतियों में एक ओर तो सामाजिक स्वीकृति है और दूसरी ओर शास्त्रीय मान्यताएँ। उनमें बहुधा कोमल, कान्त और करुण भाव अंकित हैं। **तीसरे दर्जे में यात्रा, वर्षा ऋतु में संथालिनें, नहर खोदने वालों का परिवार, दो फलवती स्त्रियाँ, बूढ़ा माली** आदि उनकी श्रेष्ठ कृतियों में हैं।

उनके द्वारा पेंसिल से अंकित रेखाचित्र, ब्रश से बनाये गये चित्रों के समान सुन्दर हैं। उनकी कृतियों में मूर्तिकला, काष्ठकला और लोककला का संविधान समन्वित है। देश-विदेश में उनके चित्रों की सफल प्रदर्शनियाँ आयोजित हो चुकी हैं।

सूरज सदन

नवोदित कलाकारों में श्री सूरज सदन का भी नाम लिया जाना चाहिए। श्री सूरज सदन यद्यपि अभी दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र हैं; फिर भी उनमें जिस प्रतिभा का उन्मेष दिखायी देता है, निश्चित ही उससे उनके अच्छे भविष्य का अनुमान होता है। उनके चित्र कई प्रदर्शनियों में दर्शित हो चुके हैं। **'शंकर्स वीकली'** द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनी, चित्रकला संगम की ओर से दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अन्तर्विद्यालय कला-प्रदर्शनी और दिल्ली पोलीटेकनिक द्वारा आयोजित प्रदर्शनी में उनको श्रेष्ठ पुरस्कार मिल चुके हैं। इसी प्रकार पंजाब में आयोजित उत्तर भारत कला-प्रदर्शनी में उन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

श्री सूरज सदन आरंभ में व्यक्तिचित्रों की ओर उत्सुक रहे। इस दिशा में उनके महात्मा गाँधी, प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरदार पटेल, राधाकृष्णन् और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के चित्र उल्लेखनीय हैं। संप्रति उनका झुकाव भूमिचित्रों की ओर है। जलीय रंगों में निर्मित उनके प्रकृतिचित्र भी उनकी नवीन प्रवृत्ति के सूचक हैं।

सेन द्विजेन

श्री द्विजेन सेन शांतिनिकेतन के स्नातक हैं। वे आचार्य नन्दलाल वसु की शिष्य-परम्परा में हुये। जैसे कि आचार्य वसु ने भारतीय संस्कृति और परम्पराओं को नयी मौलिक दृष्टि से अपनाया, उसी प्रकार उनके बाद उनके सुयोग्य शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने स्वतंत्र चिन्तन से कला के क्षेत्र में नयी उपलब्धियों को रूपायित किया। द्विजेन सेन उन्हीं प्रशिष्यों में से हैं। वे चित्रकार होने के साथ-साथ मूर्तिकार और लेखक भी हैं।

उनके चित्रों का वस्तुविन्यास और रंग-विधान बड़ा रोचक होता है। उनकी एक-एक रेखा के अन्तराल में वृहद् भाव छिपे होते हैं। वे कला के लिए बौद्धिकता और यथार्थता का होना अनिवार्य नहीं समझते। वे पश्चिमी कला-धरातल से भी अलग नहीं हैं। फिर भी उनका ध्यान कला की उच्चाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति और जनसामान्य की जीवन-घटनाओं को व्यक्त करने की ओर अधिक है। उन्होंने वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा आदि के सुन्दर चित्र दिये हैं।

स्वामी कुमारिल

श्री कुमारिल स्वामी का जन्म तैलंगना के एक कृषक परिवार में हुआ। वे बंगाल स्कूल के पुराने एवं प्रमुख कलाकारों एवं आचार्यों में हैं। एक अच्छे कलासमीक्षक के रूप में उनकी ख्याति उनकी लेखनी द्वारा प्रकट है।

उनके जीवन का आरंभ कुछ विचित्र ढंग से हुआ। उन्होंने आरंभ में हरिजन उत्थान जैसे सामाजिक कार्यों को अपनाया और बाद में स्नेही ठक्कर बापा ने उनको शारदा उकील स्कूल में भर्ती कर दिया। वहाँ से उनका व्यक्तित्व बड़ी तीव्र गति से प्रकाश में आया। उन्होंने शांतिनिकेतन जाकर आचार्य नन्दलाल बसु के संरक्षण में शिक्षा प्राप्त की। इसी अवधि में उन्होंने आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का भी आशीश प्राप्त किया। कला के जिस शास्त्रीय शिक्षण को श्री कुमारिल स्वामी ने इन दोनों कलाचार्यों के पादमूल में बैठकर प्राप्त किया था, उससे वे भी उनकी तत्वग्राही प्रतिभा पर मुग्ध थे। शांतिनिकेतन के अपने इन मधुर संस्मरणों को श्री कुमारिल स्वामी ने चित्रों में दर्शाया है।

शांतिनिकेतन के सहवास के कारण पूज्य बापू के संपर्क में आने का उन्हें बार-बार सौभाग्य मिलता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों उनकी कला में प्रौढ़ता आती गयी त्यों-त्यों वे समाजसेवा के क्षेत्र को अपनी कला के लिए अधिकाधिक अपनाते गये।

उनके श्रेष्ठचित्रों को इस प्रकार गिनाया गया है : **नेपालयात्रा, हिमालययात्रा, राजगृह, शांतिनिकेतन, जातककथायें, बुद्ध की विभिन्न मुद्रायें, चरवाहे, मसूरी के कुछ दृश्य** और अजन्ता की गुफाओं की आकृतियाँ तथा स्केच आदि। **उत्तरापथ की यात्रा, सुन्दर समृद्ध नेपाल, वसन्ताभरण, राणा प्रताप** उनके सर्वोत्तम चित्र हैं।

उनके चित्रों में कला की भंगीर आराधना और भारतीय संस्कृति का विशुद्ध स्वर मुखरित है। उन्होंने एक ओर तो विराट् पर्वत शिखरों, देवदारु तथा चीड़ आदि के सघन वनों, नदियों, गुफाओं, पुष्प परिमण्डित उपवनों और आश्रमों के जैसे प्राकृतिक सुषमापूर्ण चित्रों को उतारा है, वहाँ दूसरी ओर भारत के विभिन्न अंचलों से दूर-दूर तक फैले गाँवों, खेतों, झोपड़ियों, चरवाहों जैसे ग्राम्य वातावरण की झाँकियों और **गोधूलि**, तथा **प्रतिक्षा** आदि भावात्मक चित्रों को भी प्रस्तुत किया है। उनके चित्रों में विराट् प्रकृति के सानिध्य का दर्शन होता है। इसी लालसा से अब वे उत्तराखण्ड के सुरम्य शैलखण्डों के बीच रहकर निरन्तर साधना करते रहने के लिए उत्कट रूप से उत्सुक हैं।

आचार्य कुमारिल स्वामी की कृतियों में रेखाओं का सौष्ठव बड़ा आकर्षक है। उनके अधिकांश चित्र टेम्पेरा में हैं। उन्होंने भगवान् बुद्ध से संबंधित कुछ चित्र वाश के भी उतारे हैं, जो रंगों की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। उन्हें कपोताभ, धूमच्छाय, नील, पीत, अरुण और मटमैले रंग अधिक पसंद हैं; किन्तु सरल और सादे।

अपने युग के यशस्वी कलाकारों में उनका नाम है।

हुसैन मकबूल फिदा

श्री मकबूल फ़िदा हुसैन का जन्म १९१६ ई० में हुआ। समसामयिक कलाकारों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वे कई बार विदेशों का भ्रमणकर कला के क्षेत्र में हुए अद्यतन परिवर्तनों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन कर चुके हैं। यूरोप, अमेरिका, सिंगापुर, चीन और जापान आदि देशों में उनके चित्रों की प्रदर्शनी हो चुकी है। भारत में उनके चित्रों की सफल एवं भव्य प्रदर्शनी **'कल्पना समाज'** की ओर से पहले तो हैदराबाद (फर० ५३) में और उसके बाद जहाँगीर आर्ट गैलरी बम्बई (मई ५३) में हुई।

जापान में उन्हें कला का अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। इतालियन फिल्म निर्देशक श्री राबर्टो रोसेलिनी, हुसैन के चित्रों की एक संपूर्ण फिल्म बना चुके हैं। इस प्रकार हुसैन का नाम आज अन्तर्राष्ट्रीय कलाकारों में गिना जाने लगा है।

हुसैन की रेखाओं में लोककला की परम्परा का मोहक स्वाद है। उन्होंने ऐन्द्रिकता को उभारने वाले नारी के कुछ सुन्दर मांसल चित्र भी दिये हैं। उनके कुछ चित्रों में प्राकृतिक सुषमा एवं ग्राम्यजीवन की अच्छी झांकियाँ दर्शित हैं। इधर वे प्रतीकात्मक शैली की ओर मुड़े हैं। उनकी यह शैली इतनी वैयक्तिक है कि ऐसे चित्रों को न तो केवल भारतीय ही कहा जा सकता है और न यूरोपीय ही; बल्कि उन्हें भारतीय संस्कृति को यूरोपीय ढंग में प्रस्तुत करने का सराहनीय यत्न कहा जा सकता है।

उनके आरंभिक चित्रों से ही यद्यपि उनकी वैयक्तिक रचना-प्रक्रिया का सुन्दर परिचय मिल जाता है; फिर भी आकृति और रंगों की दृष्टि से उनमें पुनरावृत्ति केदर्शन होते हैं। इस अवधि में उन्होंने मनुष्य के दुख-दर्दों एवं उसकी समस्याओं का काले और भूरे रंगों में जो चित्रण किया है वह सर्वथा उपयुक्त एवं प्रभावकारी है। जब वे चीन से लौटे तो उनके चित्रों की विषयवस्तु और रचना-प्रक्रिया में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। पहले उनके चित्रों में मनुष्याकृति की प्रधानता थी; किन्तु अब चीन की कला के प्रभाव से उन्होंने पशु-पक्षियों का भी चित्रण किया। उनके ये चित्र रेखाप्रधान थे और उनमें स्पेसिंग भी पर्याप्त था। इसके साथ ही इन चित्रों में पुनरावृत्ति नहीं थी। उनके तैलचित्रों का स्थान अब जलीय चित्रों ने ले लिया था।

हुसैन ने रागमाला से संबंधित चित्रों को बनाना भी आरंभ किया है। भारतीय चित्रकला में राग-रागनियों के चित्रण का विषय नया नहीं है; किन्तु हुसैन ने इन चित्रों में जो नये संकेत दिये हैं उनमें आज की अनुभूति है। उनमें संगीत की अमूर्त ध्वनियों के सहज बिम्ब प्रतिध्वनित हैं।

इधर उनमें फाउन्टेन पेन द्वारा रेखाचित्र या स्केच बनाने की ओर अधिक रुचि दिखायी दे रही है। उनके इस प्रकार के अनेक चित्र देखने को मिले हैं। **बैलगाड़ी** शीर्षक उनके वाटरकलर चित्र में उनकी अभिरुचि लकड़ी के खिलौनों की शैली की ओर उन्मुख है। उसमें रूप-रंग की सादगी, पर्याप्त स्पेसिंग और पृष्ठभूमि में गैरिक तथा काले रंगों के प्रयोग से ग्रामीण वातावरण का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। हुसैन की **ढोलकिया** उनके जलीय चित्रों का अच्छा नमूना है। उनकी इन कृतियों में मानवाकृतियों का सुन्दर रुझान है। **'कल्पना'** द्वारा हुसैन के चित्रों की नयी अनुभूतियाँ प्रकाश में आती रहती हैं।

श्री फर्टाडो ने हाल ही में सर्वश्रेष्ठ सामायिक भारतीय चित्रकारों की कलाकृतियों का जो संकलन प्रकाशित किया है उसमें अमृत शेरगिल, जार्ज कीट और हुसैन को लिया गया है। इस संकलन में हुसैन की कृतियों को अधिक सराहा गया है।

हुसैन की कृतियों में स्वतंत्र चिंतन और गंभीर अनुभूति है। उनमें बौद्धिक पशोपेश की अपेक्षा भावुकता का प्राधान्य है। वे किसी वाद या वर्गविशेष के समर्थक-पोषक न होकर कला की उन संपूर्ण मान्यताओं को स्वीकार करते हैं, जो आज विश्व का प्रतिनिधित्व कर रही है।

हेब्बर के० के०

श्री के० के० हेब्बर का स्थान मूर्धन्य चित्रकारों में है। उनके कलाकार जीवन की सार्थकता यह है कि वे अपनी कलाकृतियों के बल पर आत्म-निर्भर रहने वाले कलाकारों में हैं। उनकी कृतियों को पर्याप्त लोकप्रियता और ख्याति प्राप्त हो चुकी है। उनकी इस लोकप्रियता का कारण उनकी शैलीगत नवीनताएँ और उनके विभिन्न कलाप्रयोग हैं।

आरंभ में उन्होंने शेरगिल की कलादृष्टि को अपनाया; किन्तु बाद में वे जार्ज कीट से प्रभावित हुए और आज के पेरिस तथा फ्रांस के कलाधरातलों से उगने वाली नवीनतम शैलियों का प्रयोग करने में व्यस्त हैं। फ्रांसयात्रा के प्रभाव से उनकी बहुमुखी दृष्टि का विकास हुआ है। उनकी अद्यतन कृतियों में भारतीय आचार-विचारों का भी समावेश है।

जहाँ तक रेखाओं, रंगों और विषय के अनुरूप भावाभिव्यंजन का प्रश्न है, हेब्बर की कृतियों में संबद्धता है। वे अलंकृति को पसंद करते हैं और उसके लिए गहरे तथा गंभीर रंगों का प्रयोग। जिस प्रकार वे विचारपूर्वक आगे बढ़ने वाले कलाकार हैं, वैसे ही उनकी कृतियों में स्थायित्व, गांभीर्य और साहसिकता है।

हेब्बर को सुन्दर रंगयोजना का बड़ा शौक है। अपने चित्रों के लिए उन्होंने गुजराती लघुचित्रों और राजपूती कलम का वर्गसौष्ठव ग्रहण किया है। उनके चित्रों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें काट-छाँट की गुंजाइश नहीं होती। अभी हाल ही में (मार्च १९६०) दिल्ली की आल इंडिया फाइन आर्ट्स सोसाइटी में उनके चित्रों की जो प्रदर्शनी हुई उससे उनके नये-दृष्टिकोण भी प्रकाश में आये। उनके इन प्रदर्शित चित्रों की प्रायः सभी वर्ग के कलाकरों ने प्रशंसा की।

इस प्रदर्शनी में उनके कुछ नये चित्र भी थे, जिनमें रेखाओं की बारीकी विशेष रूप से आकर्षक थी। इन चित्रों से यह भी ज्ञात हुआ कि हेब्बर में मनुष्याकृति को अंकित करने की अद्भुत क्षमता है। **ब्रज, श्रीनगर** आदि उनके चित्रों में नयी थीम थी। उनके तैलचित्र भी सराहनीय थे। कला में नयी उपलब्धियों की ओर उनका अधिक ध्यान है।

इस परम्परा के कुछ अन्य कलाकार

समसामयिक प्रगतिशील वर्ग के कलाकारों में **गादे** का नाम मुख्य है। उनकी कृतियों में स्वतंत्र भावाभिव्यक्ति देखने को मिलती है। यद्यपि उनमें कुछ विदेशीपन का आग्रह है, तथापि अपनी सच्चाई और सादगी के लिए उनके चित्रों का स्वतंत्र स्थान है। श्री **रथीन मित्र** का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कलाकारों में है। अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड और भारत में कई बार उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हो चुकी है और उनके कुछ चित्रों को मुक्तकण्ठ से सराहा गया है। अपने चित्रों के लिए उन्हें लाल, पीले, नीले और रक्ताभ रंग पसंद हैं। उनकी कृतियों का तात्त्विक अर्थबोध उनकी गहन अनुभूति का परिचायक है। श्री **मनीषी दे** का नाम प्रतिष्ठित एवं ख्यातिप्राप्त कलाकारों में है। उनके चित्रों का रेखा-विधान और रंगयोजना अपने ढंग की अनुपम होती है। उनका **संथाल वधु** नामक

नवीन शैली का व्यक्तिचित्र सादगी, सुन्दरता और समुचित भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उनके रेखा-चित्रों के **प्रसाधन पनघट** और **बिदाई** आदि में उनकी वैयक्तिक दृष्टि बड़ी प्रभावोत्पादक हैं। उनके **दीपवेला** शीर्षक जैसे चित्र उनकी रंगयोजना का मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। गहरे और हल्के कथई रंग के बीच से उभरी दीपदान करती हुई रमणी का यह चित्र बड़ा ही रस-भाव-परक है।

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से श्री **भाऊ समर्थ** का अपना स्वतंत्र चिंतन रहा है। वे परम्परा को लेकर आगे बढ़े हैं और उन्होंने वर्तमान में उसका सामंजस्य स्थापित करके अपने रचना-कौशल का अच्छा परिचय दिया है। उनका **बेखुदी** चित्र किसी मुगलकालीन छबि की याद दिलाता है। इसी प्रकार **खेत से वापसी** शीर्षक चित्र में तीन ग्रामीण महिलाओं का जैसा सुन्दर चित्रण किया गया है वैसे ही उसमें रंगों का सौष्ठव भी अवलोकनीय है। उनके चित्रों में शृंगार और सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया है।

श्री **श्रीकृष्ण खन्ना** की कृतियों में स्वदेश और विदेश की कला-शैलियों का सामंजस्य देखने को मिलता है। उनकी कृतियों में अमूर्तवाद या अरूपवाद का विशेष आग्रह देखने को मिलता है, जो कि यूरोप के आधुनिक कला-जगत् की देन है। उनके रेखा-विधान और उनकी रंग-योजना पर दक्षिण भारत की शैली का प्रभाव है। चाहे उन्होंने सामान्य जन-जीवन की आकृतियाँ आंकी हों अथवा उनका विषय कोई दूसरा ही रहा हो——सर्वत्र ही दक्षिण की शैली का प्रभाव है।

श्री **गायतोंडे** आरंभ से अब तक एक ही स्थिर दृष्टि से अपनी कला-साधना में जमे हुए हैं। आरंभ में उन्होंने जो आध्यात्मिक ढंग की कुछ कृतियाँ दी है उनमें भी उनका निजी दृष्टिकोण है। वह दृष्टिकोण है अमूर्तवाद का। उनके कुछ प्रतीकात्मक शैली के चित्र भी उनकी अमूर्तवादी दृष्टिकोण की ही व्याख्या करते हैं।

श्री **भवेश सान्याल** के चित्र वस्तु, भाव और सज्जा-सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वजन सुलभ होते हैं। उनमें स्वाभाविक और सहज दृष्टि होती है। उन्होंने प्रकृतिचित्रों और पर्वतीय वातावरण को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके प्रकृतिचित्र मौलिक और मनोरम होते हैं। काश्मीर और कांगड़ा के दृश्यों को अंकित करने में उनकी विशेष रुचि रही है। उनके इन चित्रों को पर्याप्त ख्याति मिली है।

श्री **प्रदोष दासगुप्ता** कलकत्ता ग्रुप के संमानित एवं सुपरिचित कलाकार हैं। उनके चित्रों को देश-विदेश की प्रदर्शनियों में अनेक बार प्रदर्शित किया जा चुका है। उनके चित्रों की विशेष विधा दर्शनीय होती है। वे एक सफल कलाकार होने के साथ-साथ उतने ही समर्थ कला-समीक्षक और कलापारखी भी हैं। श्री **के० राजैया** ने प्रायः पौराणिक एवं धार्मिक विषयों के चित्र बनाये हैं। उनके इस प्रकार के चित्रों में **राधाकृष्ण** और **लोकमंगला दीपावली** अच्छे चित्र हैं। उनका पहला चित्र नाथद्वारा शैली से प्रभावित है और दूसरे चित्र में प्राचीन जैन शैली का रिक्थ है। उनकी रंगयोजना और पृष्ठभूमि की सज्जा दर्शनीय होती है। श्री **चेतन** ने लोककला, ग्राम्य जीवन और पर्व-त्योहारों पर अच्छे चित्र बनाये हैं। उनके चित्रों में रंगों और रेखाओं की सुघराई पर विशेष ध्यान दिया गया है। **वासन्ती आलोक** जैसे प्रकृतिचित्रों के अंकन में चेतन की कला का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। उनका **चली हाट की ओर** शीर्षक चित्र भी इसी प्रकार का है। उसमें दर्शित किसी ग्रामवधु की सहज गति दर्शनीय है।

श्री **रामचन्द्र शुक्ल** नितान्त वैयक्तिक नयी निष्पत्तियों के माध्यम से आधुनिक कलाकारों में अपना निश्चित स्थान बना चुके हैं। वे एक सफल कलाकार और उतने ही समर्थ कला-समीक्षक भी है। अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में उनका कथन है कि 'मैं अधिकतर सूक्ष्म (एब्स्ट्रेक्ट) चित्र बनाता हूँ और इसे ही युग की चित्रकला-प्रगति का सर्वश्रेष्ठ मील का पत्थर मानता हूँ।'

श्री **भूरिसिंह शेखावत** राजस्थान के जन-जीवन और विशेष रूप से वहाँ के कर्मकर वर्ग का सुन्दर चित्रण कर रहे हैं। राजस्थान के समुन्नत भविष्य की झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले उनके चित्रों **हथकरघा, बढ़ईगिरी** और **लुहारगिरी** में लघु उद्योगों का सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है। वे यथार्थवादी कलाकार है और जलीय तथा तैल, दोनों प्रकार की चित्र-रचना में उनका समान अधिकार है।

आधुनिक शैली के युवक चित्रकारों में श्री **मदनलाल नागर** का नाम उल्लेखनीय है। उनके चित्रों का विषय प्रकृतिचित्रिण और ग्राम जीवन है। जिनमें सरलता के साथ-साथ स्वाभाविकता भी होती है। कृषकों, गाँवों, खेतों, और खलिहानों आदि उनके ग्राम्य-विषयों के चित्र विशेष रूप से आकर्षक हैं। कला में यथार्थवाद पर उनका विश्वास है। पौराणिक प्रतिमानों के आधार पर श्री **अलमेलकर** ने बहुधा पर्व, त्योहार और उत्सवों के चित्र बनाये हैं। किन्तु उनका **मीरा** शीर्षक चित्र अपनी विधा का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार **भारतमाता ग्रामवासिनी** शीर्षक उनके चित्र में एक ओर तो राष्ट्रप्रेम का भाव जगाता है और दूसरी ओर वह भारत के ग्राम्य जीवन का समुन्नत भविष्य प्रस्तुत करता है।

श्री **जे० पी० सिंघल** ने भी लगभग अलमेलकर की परम्परा के चित्र बनाये हैं। उनके चित्रों के रंग, रेखा, वातावरण और पृष्ठभूमि सभी में सज्जा एवं अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया गया है। कहीं-कहीं तो यह सज्जा इतनी उभर आयी है कि चित्र की शेष बातें दब जाती हैं, जैसे **पनिहारिन** शीर्षक चित्र में। उनका **प्रणयशिखा** चित्र अच्छा है। श्री **मुलगाँवकर** के चित्र में नितान्त व्यावसायिक दृष्टिकोण है। उन्होंने **माखनचोर** और **वीणाधारिणी** जैसे धार्मिक एवं पौराणिक विषयों के चित्रों को भी ऐसे सस्ते ढंग से प्रस्तुत किया है मानों वह कोई व्रजबाला या वीणाधारिणी न होकर कोई सिने तारिका हो। उनका **जन्मयात्रा** चित्र अच्छा है, जिसमें बाबा वसुदेव बालक कृष्ण को टोकरी में रखकर यमुना पार ले जा रहे हैं।

श्री **माधव सालवलेकर** ने पौराणिक, ऐतिहासिक और धार्मिक चित्रों की ओर विशेष उत्सुकता दिखायी है; किन्तु उनका रेखा सौष्ठव, वर्णविधान और साज-सज्जा सर्वथा संयत एवं विषयानुरूप है। बुद्ध की शिक्षा, ज्ञानप्राप्ति और महानिर्वाण आदि विषयों को लेकर बनाये गये चित्र अच्छे हैं। **श्रम की प्रखर दुपहरी** उनका नयी शैली का चित्र है। उन्होंने कुछ व्यक्तिचित्र भी बनाये हैं, जो सुन्दर हैं।

आज कला का स्वरूप क्या हो ?

हमारे देश की अभिनव कला-प्रवृत्तियों में आज दो प्रकार की असमानताएँ एकसाथ देखने को मिल रही हैं। एक ओर तो यहाँ का वर्तमान कलाकार परम्परा के मोह में बँधकर अजन्ता तथा पहाड़ी शैलियों का अनुकरण करने तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उद्यत है और दूसरी ओर वह कला-निर्माण के प्राविधिक सिद्धान्तों के लिए पश्चिम का अनुयायी बना हुआ है। ये दोनों ध्येय भारतीय चित्रकला के अच्छे भविष्य के सूचक नहीं हैं। हमारे लिए आवश्यकता आज इस बात की है कि हम वर्तमान के साथ चलें। प्राचीन की अनुकृति और अनागत की अपेक्षा करना असामयिकता है। इस असामयिकता से बचकर वास्तविकता को अथवा युग की आवश्यकताओं को पकड़ना आज पहली बात है।

कुछ लोगों के मुख से आज यह बात सुनने को मिलती है कि पुरातन का सर्वथा बहिष्कार होना चाहिए। पुरातन की अनुकृति के बहिष्कार की बात तो समझ में आती है; किन्तु पुरातन के बहिष्कार की बात कुछ अलग ही अर्थ रखती है। इस प्रकार की बातें कहने वाले लोगों का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो; किन्तु इस सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि कला अतीत की उपलब्धियों की पुनरावृत्ति मात्र या अनुकरण मात्र नहीं होती। वह तो अतीत के गौरव को सहेजकर उसके मौलिक तत्त्वों को लेकर उसको युग के अगले चरणों से जोड़ती है। युग-परिवर्तन के अनुसार पुराने छन्द, पुराने भाव-विधान और पुरानी भाषा-शैली को वह सर्वथा उतार नहीं फेंकती; बल्कि उसमें नयी गति, नयी विधि और नया संगीत भरकर उसे युग के अनुसार ढालती है। क्या साहित्य और क्या संस्कृति, कला, सभी के मूल में यही एक तथ्य देखने को मिलता है। प्राचीन को पूर्वाग्रह या अतिवादिता समझकर यदि हम उसका सर्वथा बहिष्कार कर देते हैं तो हमारे पास फिर बचा ही क्या रह जाता है ? ऐसा करने से तो प्रत्येक पीढ़ी को अपना नया इतिहास बनाना पड़ेगा और वस्तुतः जिससे कि कभी भी इतिहास का निर्माण न हो सकेगा।

परम्परा के प्रति अरुचि की भावना का उद्घोष पश्चिम के प्रभाववादी कलाकारों की ओर से हुआ; किन्तु विचारों की दृष्टि से और निर्माण की दृष्टि से भारत और पश्चिम का एक ही दृष्टिकोण नहीं रहा है। कला में परम्परा की उपादेयता के विरोध में पश्चिमीय प्रभाव से जो आवाज़ उठी है उसका अच्छा उत्तर श्री कुलकर्णी ने श्री पी० एस० नारायणन के एक प्रश्न में दिया है। उन्होंने कहा :

'आधुनिक कला प्रयोगवादी और व्यक्तिपरक है। यह कहना सही नहीं है कि इसका परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है और यह कि इसका कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है। कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कला में प्रकट होता है और व्यक्तित्व का परम्परा, परिस्थितियों, अनुभवों और आदर्शों से इतना घनिष्ट संबंध है कि किसी भी व्यक्ति के लिए इन चीजों से अपने-आप को पूर्णरूप से अलग कर सकना कठिन है। पूर्वीय दृष्टि से व्यक्तिवाद, पश्चिमीय व्यक्तिवाद से भिन्न है। भारतीय मान्यता के अनुसार व्यक्तिवाद तटस्थता या अलगाव नहीं है; बल्कि यह जीवन और समाज के अनुभव की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है; अर्थात् उच्चतम सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों की मूर्त अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारत के कलाकार अपनी वैयक्तिक स्थिति या कीर्ति की परवाह नहीं करते थे; किन्तु वे अपनी रचनात्मक भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त करते थे; तथा उनका उद्देश्य केवल स्वान्तःसुखाय कला की आराधना करना था। आधुनिक भारतीय कलाकार भी ऐसा ही करने का प्रयत्न कर रहे हैं; किन्तु उन्हें अनेक सीमाओं के अधीन कार्य करना पड़ता है। सब प्रकार की महान् कला स्वतः प्रस्फुटित हुई है और उसकी प्रेरणा अन्दर से प्राप्त होती है। केवल ऐसी ही कला अक्षुण्ण रहेगी, जिसमें कुछ स्थायित्व होगा।'

इसलिए वास्तविक अर्थ में कलाकार वही है, जो प्राचीन उपलब्धियों को नयी वाणी दे अथवा उनसे प्रेरणा प्राप्त करके सृजन की नयी दिशाओं को आलोकित करे। ये प्राचीन उपलब्धियाँ नये कलाकार को प्रेरणा तथा भाव ही नहीं देतीं; बल्कि नवीन अभिव्यक्ति के लिए उसे उपकरण, मार्ग और साधन भी सुझाती हैं। किसी बीते युग की सभ्यता एक कलाकार के लिए अपना सम्पूर्ण वैभव, अपने सारे कौशल, अपनी तत्कालीन राजनीतिक समस्याएँ, तत्कालीन समाज की रुचि और तत्कालीन शिल्पों का विकास आदि अनेक बातें उपलब्ध कराती हैं।

इसीलिए पुरातन का बहिष्कार करके अद्यतन बनने की जो भावना कुछ इने-गिने लोगों के मन में घर कर गयी है वह शीघ्र ही दूर हो जानी चाहिए; क्योंकि उसका कोई कारण नहीं दिखायी दे रहा है। कला की निष्पत्तियाँ वर्तमान युग के अनुरूप हों, इसके सभी पक्षपाती हैं; किन्तु पुरातन का बहिष्कार किया जाय, इस बात का आधार कुछ दूसरा ही है।

इस प्रसंग में प्रसिद्ध पत्रकार श्री पी० स्प्राट के उन शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है, जो उन्होंने एक संगोष्ठि के लिए लिखे थे। उनका कथन है कि 'हाल की ज्यादातर चित्रकला अयार्थवादी शैलियों में ही है, जैसे कि योरोप में पिछले साठ वर्षों से पनपी है। ये शैलियाँ योरोप की कला के इतिहास से पनपी, खासकर उसके राजनीतिक और विचारधाराओं के इतिहास से। वे एक ऐसी सभ्यता के तनाओं को अभिव्यक्त करती हैं, जिसने परमात्मा को खो दिया है, और जिसे पता चल गया है कि राष्ट्र, कामकरवर्ग, वैज्ञानिक, प्रयोगशाला या कोई और सुझायी गयी एवजी की वस्तु उसका स्थान नहीं ले सकती। भारत को ऐसा कोई अनुभव नहीं हुआ है। इसलिए ये शैलियाँ रीतिपरक ही रह गयी हैं——अजन्ता की नक़ल जैसी निष्फल। वे लोग इस युग में खुश हो सकते हैं कि वे अद्यतन हैं; किन्तु वे जीवन की कोई नयी झाँकी देते हों, ऐसी बात नहीं है।'

समाज या जीवन से सम्बद्ध संस्कृति, कला, साहित्य और राजनीति आदि अनेक विषयों की सार्थकता इसी बात में है कि वे अपने युगों का प्रतिनिधित्व करते हुए जनरुचि के अनुरूप सिद्ध हों। बौद्धयुग की जनरुचि यदि तत्कालीन संस्कृति या तत्कालीन कला आदि में मुखरित न हुई होती तो उसको न बौद्ध संस्कृति कहा जा सकता और न बौद्ध कला ही। यही बात यदि व्यापकता से ग्रहण की जाय तो संसार के प्रत्येक देशों पर चरितार्थ होती है। जिस पीढ़ी में हम रह रहे हैं, यदि उस पीढ़ी के कलाकार या साहित्यकार अपनी पीढ़ी की कला या साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते, तो उन्हें अभिनव कहना भूल होगी। आज भी यदि हम मुग़ल या राजपूत के दरबारी स्वरूप को अपनी कृतियों में रूपान्तरित करते हैं और तब स्वयं को भारतीय चित्रकला की वर्तमान पीढ़ी का प्रतिनिधि कहते हैं तो यह अज्ञानता के अतिरिक्त कुछ भी न कहा जायगा।

इस संबंध में प्रसिद्ध कला-समीक्षक श्री बार्थो लोम्यू (**संस्कृति,** अंक १, भाग १) के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। उनका कथन है कि 'पुराने जमाने की चित्रकारी के विषय दरबारी या प्रकृति-चित्रों तक ही सीमित थे। वह राजा-महाराजाओं और दरबारियों के मनोरंजन के लिये होती थी; लेकिन आज की चित्रकला धार्मिक और प्रेमपूर्ण कल्पनाओं के प्रतीक कृष्ण और अनेक देवताओं, राज्यों, दरबारियों, नर्तकियों, भीतरी महलों, दृश्यों, जंगल की परियों और गाना गाते हुए ग्वालों को चित्रित करने की हिदायती नहीं है; क्योंकि अब स्थिति बदल चुकी है। अब यथार्थ को चित्रित करने की जरूरत है। इसलिये आज के चित्रों में बीमा एजेन्ट, डाकिया, सामाजिक नारी, बुशशर्टधारी बाबू और मशीनों आदि की ही भरमार है। जब हमारा सारा संसार आधुनिकता की ओर तेजी से बढ़ रहा है, तब भारतीय चित्रकार से भी पुरातनता का दामन पकड़े रहने की आशा नहीं की जा सकती।'

यह विज्ञान का युग है और इस युग की प्रत्येक बातें वैज्ञानिक ढंग से सोची जा रही हैं। विज्ञान दूसरी चीज़ है और वैज्ञानिक ढंग से सोचना दूसरी बात है। इस युग में कला का ही अकेला प्रश्न नहीं है। आज का मनुष्य जीवन के प्रायः सभी स्तरों, वाङमय के प्रत्येक पहलुओं और संस्कृति, कला-कौशल आदि रहन-सहन की सभी बातों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के पक्ष में है।

भारतीय चित्रकारों ने अभी तक रोमांटिसिज्म को पूरी तरह से नहीं छोड़ा है। उनकी शैली यद्यपि आज की है, किन्तु भाव वही पुराने हैं; यद्यपि इस दिशा में इतना परिवर्तन अवश्य हो गया है कि 'पुराने घरों, छज्जों, जंगलों तथा मैदानों की जगह अब बड़ी-बड़ी इमारतों, पार्कों और बगीचों ने ले ली है।'

इन सभी बातों के बावजूद आधुनिक शैली का भारतीय चित्रकार आज अमूर्तवादी शैली की ओर उन्मुख है। दुनियाँ के चित्रकारों के साथ क़दम मिलाकर चलने के लिये आज वह यत्नशील है। फ्रांस के प्रतीकवाद से प्रभावित भारतीय चित्रकारों ने अब लघुचित्रों का निर्माण छोड़कर विशाल चित्रों और जलरंगों की अपेक्षा तैलरंगों को अपनाया है। इसी प्रकार विशाल चित्रों द्वारा पोस्टर शैली का प्रचार भी बढ़ रहा है। इस चेष्टा के फलस्वरूप अधिकांश भारतीय चित्रकार आज नयी प्रतिभा को लेकर सामने आ रहे हैं——यह बात समय-समय

पर विभिन्न नगरों में आयोजित होने वाली चित्रकला-प्रदर्शनियों से सिद्ध हो रही है। ये अधिकांश चित्रकार यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को नहीं प्राप्त कर पाये हैं; और उनमें से बहुतों को तो यह भी सुयोग नहीं मिला है कि अपनी सरकार द्वारा आयोजित प्रदर्शनियों में उनकी कृतियों को भी आमंत्रित किया गया हो; किन्तु इससे उनकी प्रतिभा से इन्कार नहीं किया जा सकता। इतना तो निश्चित-सा है कि न केवल भारत में, अपितु एशिया और योरोप के विभिन्न देशों की प्रदर्शनियों में जब भी भारतीय कलाकारों की कृतियाँ आमंत्रित की गयीं तब-तब उन्हें यथेष्ट सम्मान मिला। हाल ही में रजा की कृतियों पर प्राप्त पेरिस का सर्वोच्च कलाकार पुरस्कार 'क्रिटिक एवार्ड' इसका द्योतक है।

आज का भारतीय चित्रकार नये कथ्यों, नये परिवेशों, नयी कल्पनाओं और नये प्रतिमानों के अनुसंधान में व्यस्त है। कला के क्षेत्र में इधर के दशकों में जो विश्वव्यापी परिवर्तन हुए हैं उनके प्रभाव से भारतीय कलाकार भी प्रभावित हैं। आज कला का उद्देश्य शास्त्रीय संविधानों का करतब दिखाना नहीं रह गया है। उसका उद्देश्य आदर्श, अध्यात्म या नैतिकता का अभिव्यंजन करना भी नहीं है। जिस प्रकार आज का साहित्यकार साहित्य के लिए जीवनदायी और समाज के लिए उपयोगी वस्तु देने की दिशा में व्यस्त है, ठीक उसी प्रकार आज का भारतीय कलाकार पश्चिम के उन्नत कला-धरातल की परिक्रमा करके यह चाहता है कि वह जो कुछ दे वह नवीन तो हो ही, साथ ही उसमें कुछ स्थायित्व भी हो, जिससे भावी कलाकारों के लिए एक मंच का निर्माण हो सके।

आज की कलाकृतियों में वस्तुनिरपेक्षता बढ़ रही है। उनमें सूक्ष्मता या अरूपता की बाढ़-सी आ गयी है। इसका आरंभ योरोप से हुआ और वहाँ आज इसका स्वर्णयुग है। भारत में इस शैली के जन्मदाता रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। उनके चित्रों को भारत में पहले-पहल जो असफलता मिली उसका कारण यह था कि योरोप में हो रहे इस प्रयोग एवं प्रयत्न से तब हम अपरिचित थे। फिर भी वस्तुनिरपेक्षता के उपासक आज के अधिकतर चित्रकारों की कृतियों में यह आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि वे अपने-आप में इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी सफलता एवं उपयोगिता की आशा भविष्य पर निर्भर करना संभव ही नहीं है।

जिन आलोचकों का यह कहना है कि आधुनिक कलाकार जन-अभिरुचि तथा जनता की माँगों से अलग जा रहा है या वह पश्चिम का अंधानुकरण कर रहा है, उनकी ये दोनों बातें आंशिक रूप से ही सत्य हो सकती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो प्रभाव या अनुकरण का यह आक्षेप ही निराधार है। उदाहरण के लिए प्राचीन या मध्ययुगीन भारतीय कलाकृतियों का जो संमान और मूल्यांकन विदेशी कलाकारों ने किया, क्या उसका यह अर्थ लगाना उचित होगा कि पश्चिम के कलाकार भारतीय कलाभिरुचियों का अनुकरण कर रहे हैं? अजन्ता, मुगल, राजपूत और पहाड़ी शैलियों के वे कलाकार देश-काल की सीमाओं से उसी प्रकार परे थे, जैसे आज मातीस. ब्रोक्स, क्ली और पिकासो सारे विश्व के कलाकार हैं।

किन्तु नवीनता, मौलिकता और उपयोगिता के नाम पर आज ऐसी कला-कृतियों की बाढ़-सी आ गयी है, जिनको देखकर यह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि उनका कलात्मक अभिप्राय क्या है! आज के चौंका देने वाले 'वाद' इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। सामाजिक अभिप्रायों के कुछ आधुनिकतावादी कलाकारों ने वादों के मोह में आकर या प्रतीकों के पीछे पड़कर अपनी कृतियों में मौलिकता या नवीनता लाने की अपेक्षा उनको कृत्रिम बना दिया है। क्यूबिज्म, फ्यूचरिज्म और ऐक्प्रेशनिज्म आदि ऐसे आविष्कार हैं, जिनको शेष समाज के लिए समझना असंभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि कला की आराधना आज 'वादों' की खानापूर्ति के लिए हो रही है। 'कला' का अर्थ आज या तो विचित्रता को प्रकट करना हो रहा है या उसको आज नितान्त व्यक्तिगत बना दिया गया है; इसलिए अधिकांश लोगों का आज के कलाकार के प्रति सन्देह बढ़ता जा रहा है। इन नयी प्रयोग-विधियों और शिल्प के नये परिधानों का भावी स्वरूप क्या होगा, इसको समझना कठिन हो रहा है।

राजकीय सहायता का प्रश्न

कलाकारों की व्यावहारिक कठिनाइयों से सम्बद्ध एक प्रश्न आज व्यापक रूप से हमारे सम्मुख यह उपस्थित है कि क्या कलाकारों के लिए राजकीय सहायता अपेक्षित है? यही प्रश्न साहित्यकारों के बीच भी खलबली मचाये हुये है। यह प्रश्न न तो केवल कलाकारों का ही है और न साहित्यकारों का। इसलिये इसका एक निश्चित हल तभी मिल सकता है, जब, वर्ग-भावना के ऊपर उठकर सामूहिक रूप से इस पर विचार किया जायगा।

आज देश के विभिन्न भागों में चित्रकला की प्रदर्शनियाँ हो रही हैं और निरन्तर ही उनकी माँग बढ़ रही है। यह स्थिति हमें बताती है कि समाज में कलाकारों की लोकप्रियता बढ़ रही है। विदेशों में आयोजित होनेवाली प्रदर्शनियों में भी भारतीय कलाकारों की

कृतियाँ सराही जा रही हैं। उन्हें पुरस्कार भी मिल रहे हैं। इधर अपनी सरकार भी इस दिशा में उद्यत है और फलस्वरूप सरकार की ओर से भी पुरस्कार देकर या कलाकृतियों का क्रय करके कलाकारों को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

पिछले १२ वर्षों के अन्दर भारतीय चित्रकारों ने बुद्धिजीवियों, संस्कृतिप्रेमियों, कलापारखियों, आलोचकों और देश की सामान्य जनता का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है। विदेशों में भी भारतीय कलाकारों की कृतियाँ सम्मानित हो रही हैं। जो सम्मान अब तक विदेशों में अजन्ता तथा मुग़ल, राजपूत और पहाड़ी शैली की कृतियों को प्राप्त था, उसका स्थान आज आधुनिक कलाकारों की कृतियों ने ले लिया है। विदेशों में भारत के आधुनिक चित्रकारों की लोकप्रियता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि पिछले कुछ वर्षों के ही भीतर लन्दन (जुलाई,–५८), न्यूयार्क (फरवरी–५९) और जर्मनी (मई–५९) में भारतीय चित्रकारों के चित्र प्रदर्शित किये गये और वहाँ के पत्रों में उनकी बड़ी प्रशंसा की गयी। जून, ५९ में जापान में जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी आयोजित की गयी थी, उसमें १५ चित्र भारत के भी थे। इसके अतिरिक्त हुसैन और सामन्त को अमेरिका जाने का निमंत्रण भी मिला था।

किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। क्या ऐसे कलाकार जिनकी कलाकृतियों को न तो किसी प्रदर्शनी में सम्मिलित होने का सुयोग मिला है; अथवा ऐसे कलाकार, जिनको न तो सरकार की ओर से आमंत्रित किया गया है, या जिन्हें कोई पुरस्कार आदि नहीं दिया गया है—वे क्या इस योग्य नहीं थे कि उनका भी सम्मान-सत्कार किया जाता? किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। किसी कलाकृति की कसौटी और किसी कलाकार के मूल्यांकन का तरीका यह हो ही नहीं सकता। सरकार की ओर से या किसी दूसरे माध्यम से किसी कलाकार का पुरस्कृत होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि दूसरे अपुरस्कृत कलाकारों में प्रतिभा की कमी है। वस्तुतः देखा जाय तो प्रदर्शनी या पुरस्कार किसी कलाकार की प्रतिभा को आँकने की कसौटी है ही नहीं। प्रदर्शनियों या पुरस्कार का एकमात्र महत्व इसी में है कि कलाकार का सम्मान हो और जनता में कला के प्रति अनुराग की भावना का उदय हो। कला की वास्तविक कसौटी कलाकार का अन्तःकरण है. और कला की प्रगति का इससे बढ़कर दूसरा मानदण्ड है ही नहीं।

कुछ असम्भव नहीं है कि राजकीय सहायता, कलाकार के स्वतंत्र चिंतन में बाधास्वरूप सिद्ध हो। उसमें पक्षपात या प्रशस्ति की भावना का उदय हो जाय और उससे उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा तथा उसके संघर्षशील तत्त्व ढक जाँय। इस संबन्ध में **'संस्कृति'** ('वर्ष १, अंक १) में प्रकाशित 'संस्कृति के लिए सहायता : एक संगोष्ठी' इस विषय के अन्तर्गत श्री लक्ष्मी मेनन के ये शब्द ध्यान देने योग्य है–'चूंकि राज्य भी जनता के द्वारा बनायी हुई चीज ही है इसलिए वह संस्कृति के विकास में एक हिस्सा ले सकता है; पर इसके लिए राज्य की सहायता, भले ही वह कुछ मदद दे सकती हो, मेरी राय में जरूरी नहीं है। इससे संस्कृति की उपयोगिता बढ़ जायगी, पर इससे उसकी निष्कलंकता, उसका तेज और संघर्ष—मिट्टी में मिल जायगा। बाँध बन जाने पर नदी ज्यादा उपयोगी हो सकती है; पर वह एक थमा हुआ जलाशय बन जाती है। सहायता मिलने पर सांस्कृतिक विकास बासी बन जाता है; और अपनी ताज़गी, तेज और जिन्दगी देने वाले तत्त्व खो देता है।'

इन सैद्धान्तिक बातों के बावजूद भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिनको सामने रखकर विचार किया जाना चाहिए। सिद्धान्त और व्यवहार में बड़ा अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से यदि आज कलाकार की स्थिति इतनी चिन्तनीय है कि उसको दो जून उदरपूर्ति के लिए जी तोड़कर शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम करना पड़ता है तो कला के सृजन के लिए उसके पास समय है ही कहाँ? यदि उसका व्यावहारिक जीवन स्थिर एवं व्यवस्थित नहीं है तो उस पर सिद्धान्तों का, उपदेशों का भार लादना उस पर एक अनावश्यक बोझा लादना है। समस्या के समाधान का यह सुविचारित ढंग नहीं है।

कलाकार और जनता के बीच संपर्क अपेक्षित

भारतीय चित्रकला के स्तर को उन्नत बनाने के लिए आज बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में चित्रकला की शिक्षा के लिए जो घिसी-घिसायी परिपाटी चली आ रही है उसमें परिवर्तन हो। राष्ट्रीय आधुनिक कला वीथी (नेशनल गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट) के क्यूरेटर श्री प्रदोष दासगुप्त ने अपने एक लेख में (**संस्कृति**, अंक १, वर्ष १) इसी ओर संकेत करते हुए बताया है कि "यह हमेशा जरूरी है कि कला के विकास और कला-सम्बन्धी शिक्षा इन दोनों के बीच एक उचित संतुलन रखा जाय। आज की स्थिति से लगता है कि यह संतुलन बिल्कुल गड़बड़ हो गया है, जिसका कारण है, एक ओर तो कला का बहुत ज्यादा बौद्धिक विकास और दूसरी ओर जनता का कलाकारों को मान्यता न देना; क्योंकि उनकी कला का स्वरूप न समझ में आने योग्य है। कला का समाज में एक निश्चित काम है, और अगर वह उस काम को पूरा नहीं कर पाती, तो वह एक गलत रुझान और एक झूठी भूख जैसी कुछ चीज रह जाती है।'

कला के विकास और कला-सम्बन्धी शिक्षा के बीच संतुलन लाने के लिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि जनता उसको अपनाये; और जनता तभी उसको अपना सकती है, जब कि हमारे कलाकार जनता की रुचियों को पहचानने की कोशिश करें। इस कार्य को बहुत-कुछ हद तक सरकार की कला-अकादमियाँ भी संपन्न कर सकती हैं। चित्रकारों को प्रोत्साहन देने और उनकी कलाकृतियों के प्रचार-प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि उनके चित्रों की प्रदर्शनियाँ बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त छोटे-छोटे शहरों तथा ग्रामों एवं कस्बों में भी आयोजित की जाँय। कलाकार और समाज के बीच समुचित संपर्क एवं सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सरकार का माध्यम बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

कलासंस्थानों और कलाकार संगठनों की आवश्यकता

कला की उन्नति के लिए अधिकाधिक कलाकार-संगठनों की आवश्यकता है। इस दिशा में आज से दस वर्ष पूर्व जो कार्य हुआ उसकी अपेक्षा आज की स्थिति पर्याप्त संतोषजनक है। आज ऐसे अनेक संघ, संगठन तथा संस्थान स्थापित हो चुके हैं, जिनके द्वारा कलाकारों को आगे बढ़ने तथा प्रकाश में आने के लिए अच्छी भूमिका तैयार हुई है। इन संगठनों से पहला लाभ तो यह हुआ कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर बिखरे हुए कलाकारों को एकत्र होकर एक-दूसरे के विचार जानने-सुनने का सुयोग मिला। दूसरे में इन संगठनों के द्वारा कलाकारों तथा जनता के बीच संपर्क स्थापित हुआ।

इसी उद्देश्य से नयी दिल्ली में अक्टूबर १९५४ ई० को 'ललितकला अकादेमी' की स्थापना हुई। उसके द्वारा देश के सभी छोटे-बड़े कलाकारों में सामंजस्य स्थापित होकर कला के प्रचार-प्रसार एवं कला के नये आन्दोलनों को संचालित करने की दिशा में अच्छा कार्य हो रहा है। आधुनिक कला की स्वस्थ प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाना, कलाकारों को हर संभव सहयोग प्रदान करना और कला के अध्ययन-अन्वेषण के लिए भूमिका तैयार करना भी अकादमी की स्थापना का एक लक्ष्य है।

कलाकारों की लोकप्रियता के उद्देश्य से अकादेमी के द्वारा प्रति वर्ष विभिन्न नगरों में राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनियाँ आयोजित होती रही हैं। इसके अतिरिक्त, विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में आधुनिक कला पर जो नये शोध हुए हैं, अपने देश के कलाकारों को, उनकी जानकारी के लिए सरकार के द्वारा अब तक पाँच अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों का आयोजन हो चुका है।

ललितकला अकादेमी के अतिरिक्त आधुनिक कलाकारों को प्रोत्साहित करने और उनकी कलाकृतियों का प्रचार-प्रसार करने वाली संस्थाओं में ऑल इंडिया फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी, शिल्पी कलाचक्र, नेशनल गैलरी आफ माडर्न आर्ट आदि का नाम मुख्य है। इसके अतिरिक्त बम्बई, दिल्ली, मद्रास और लखनऊ आदि विभिन्न नगरों में स्थानीय आर्ट स्कूलों और कला-संस्थानों के द्वारा स्थानीय चित्रकारों के बीच पारस्परिक मेल-जोल के लिए अच्छा कार्य हुआ है।

सरकार ने बम्बई और नयी दिल्ली में एक-एक आर्ट गैलरी स्थापित की है। वहाँ विशेष रूप से आधुनिक कलाकारों की कृतियाँ क्रम के अनुसार रखी जायँगी। देश के युवक चित्रकारों को प्रोत्साहित करने और उनकी आर्थिक स्थिति में आंशिक सुधार के उद्देश्य से इस प्रकार के यत्न पर्याप्त रूप में होने आवश्यक हैं।

ऐसी आशा की जाती है कि असम, राजस्थान, मध्य प्रदेश, आँध्र प्रदेश, जम्मू-काश्मीर और उत्तर प्रदेश में स्थापित ललितकला अकादेमी की शाखाएँ कला की उन्नति और कलाकारों को प्रोत्साहित करने की दिशा में अच्छा कार्य करेंगी। दिल्ली के रवीन्द्र भवन में अकादेमी का केन्द्रीय कार्यालय लगभग तैयार हो गया है। चित्र-प्रदर्शनी के लिए वहाँ आधुनिक ढंग का एक सुन्दर प्रदर्शनी-गृह बनाया गया है, जहाँ देश के श्रेष्ठतम कलाकारों की समय-समय पर चित्र-प्रदर्शनी हुआ करेगी।

केन्द्रीय सरकार की इस घोषणा का सर्वत्र स्वागत किया गया, जिसके अनुसार देश के कलाकारों को चित्रकला-संबंधी सुविधा प्रदान करने के लिए ललितकला अकादेमी द्वारा एक कलागृह का निर्माण किया जाने वाला है। यह कलागृह नयी दिल्ली में, बुद्ध जयन्ती पार्क के समीप, 'बिस्तिदारी मालचा' नामक एक ऐतिहासिक स्मारक में स्थापित किया जायगा। इसमें चार-पाँच कलाकार एक साथ बैठकर चित्रकारी कर सकेंगे। यह योजना इस दिशा में अपने ढंग की पहली सिद्ध होगी।

इसके अतिरिक्त देश में कला की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए नगरपालिका, नगर निगम तथा अन्य स्थानीय निकायों से यह आग्रह किया जायगा कि वे उद्यानों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर कलात्मक मूर्तियों की स्थापना करें। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए देश में सस्ते दामों पर चित्रकला के लिए आवश्यक रंग, ब्रश और कैनवस आदि के निर्माण के लिए भी व्यवस्था की जायगी।

यद्यपि इस प्रकरण में समसामयिक चित्रशैली के संस्थापक एवं प्रवर्तक अधिकतर कलाकारों का परिचय प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है; किन्तु, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, इस क्षेत्र में आज जो नयी प्रतिभाएँ प्रकाश में आ रही हैं और जिनकी कलात्मक उपलब्धियाँ तथा जिनके कलामान सृजन की सर्वथा नयी विधाओं की ओर संकेत करते हैं, वे कलाकार विशेष रूप से अभिचर्चनीय एवं उल्लेखनीय होने पर भी उनके संबंध में यहाँ प्रायः संकेत मात्र किया गया है। किन्तु यह स्वेच्छा से नहीं, विवशता से हुआ। इस विवशता का कारण है देश के कलाकारों एवं साहित्यकारों में पारस्परिक संपर्क स्थापित कराने वाले साधनों का अभाव। ऐसी स्थिति में, जब कि हमारे देश में कलाकारों और साहित्यकारों की वर्तमान पीढ़ी को प्रकाश में लाने वाले माध्यमों की अत्यन्त कमी है, यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। समसामयिक साहित्य और कला की स्थिति एवं प्रगति का परिचय प्रस्तुत करने का मुख्य साधन हैं पत्र-पत्रिकाएँ। कला-विषयक पत्रिकाओं की स्थिति तो और भी शोचनीय है। हिन्दी में तो इसका सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए।

परिस्थितियों और वातावरण से प्रभावित कला तथा साहित्य की अभिनव भावधाराएँ परिवर्तित एवं पुनः पुनः संस्कृत होती हुई आगे बढ़ती रही हैं। उनके संबंध में तात्कालिक निर्णय करना संभव भी नहीं है। इस दृष्टि से समसामयिक प्रवृत्तियों एवं अभिरुचियों का एक सर्वांग संपूर्ण, सर्व समर्थित और संतोषजनक उत्तर देना भी कठिन है।

इस प्रकार समसामयिक भारतीय कलाकार जिस उत्साह और रुचि से आगे बढ़ रहे हैं उससे भारतीय चित्रकला के उन्नत वर्तमान और शुभ भविष्य की सहज ही आशा की जा सकती है। इसके साथ ही देश का शासक वर्ग और जन-सामान्य कला के प्रति जिस हार्दिक प्रेरणा से आकर्षित तथा उसकी उन्नति के लिए उत्सुक है उससे स्पष्ट है कि भारतीय चित्रकला का अधिकाधिक विकास-विस्तार संभव हो सकेगा।

★

परिशिष्ट

संग्रहालयों में सुरक्षित कलानिधि
आधुनिक एवं समसामयिक चित्रकारों की नामानुक्रमी

प्रमुख कला संस्थान

भारतीय चित्रकला के इतिहास का अध्ययन करने के बाद ज्ञात होता है कि देश में पिछले कई सौ वर्षों तक साहित्य, समाज और सम्राटों-शाहँशाहों ने कला की उन्नति में समान रूप से योग दिया और उसका संमान किया। आज के जीवन की सर्वथा परिवर्तित परिस्थितियों में बैठकर अपने उस अतीत कालीन कला-वैभव का सही स्वरूप आँक सकना हमारे लिए निश्चय ही दुष्कर है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि परम्परा से हमें जो कला-थाती मिली है वह पर्याप्त नहीं थी। किन्तु जो उपलब्ध है उसको हम कदाचित् इसलिए महत्व नहीं दे रहे हैं कि उसमें कला की स्वतंत्र चेतना की अपेक्षा सामंती विचारों की प्रमुखता है। अतीतकालीन कला पर यह दोषारोपण वस्तुतः उन लोगों की ओर से किया गया, जो कला की गहराई में आने से हिचकिचाते थे तथा अतीत के नाम को अपनी आधुनिकता के लिए एक खतरा समझते थे।

एक कला-साधक के लिए अतीत की कला-साधना का उतना ही मूल्य और महत्व है, जितना वर्तमान का। अतीत भारत में कला का जिस निष्ठा से सृजन एवं संमान होता रहा है उसका अपना स्थान है। देश-विदेश के आधुनिक कला-संस्थानों में सुरक्षित सहस्रों चित्रों को देखकर इस तथ्य को सहज ही स्वीकार करना पड़ता है कि प्राचीन भारत में कला का कितना व्यापक प्रचार-प्रसार था। यदि हम उन बहुसंख्यक कला-कृतियों को छोड़ भी दें, जो धार्मिक द्रोहों और सुरक्षा-व्यवस्था के अभाव में विनष्ट हो चुकी हैं; और इसी प्रकार देश-विदेश के विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों, पोथीखानों, सरस्वती भंडारों और व्यक्तिगत घरों में सुरक्षित जिस कला-निधि के संबंध में अब तक कुछ लिखा ही नहीं गया उसकी गणना न भी करें——तब भी आज इतनी कला-सामग्री प्रकाश में आ चुकी है, जिस पर नये सिरे से कार्य करके भारतीय कला का वृहद् इतिहास लिखा जा सकता है।

इस प्रसंग में कुछ प्रमुख कला-संग्रहों में सुरक्षित चित्रकला-विषयक सामग्री का यहाँ परिचय मात्र प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त भी देश के अनेक कला-संस्थानों में उत्कृष्ट चित्रों के संग्रह सुरक्षित हैं। इस प्रकार के कुछ कला-संस्थानों की सूची मात्र प्रस्तुत की गयी है। कलासंस्थानों का यह संक्षिप्त परिचय ऐतिहासिक महत्ता या किसी अन्य दृष्टि से न होकर नामानुक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अजमेर संग्रहालय

अजमेर के ऐतिहासिक मुगल दुर्ग का निर्माण शाहँशाह अकबर ने १५७२ ई० में कराया था। इसी दुर्ग के एक प्रमुख कक्ष में १९०८ ई० को अजमेर संग्रहालय को स्थापित किया गया। यह मुगल दुर्ग अजमेर के रेलवे स्टेशन से कुछ ही निकट नया बाजार बस्ती में स्थित है। इस संग्रहालय की स्थापना का यह उद्देश्य रहा है कि वहाँ राजस्थान भर की समग्र महत्वपूर्ण कला तथा इतिहास की वस्तुओं को सुरक्षित रखा जा सके और सामान्यतः सभी लोग उससे लाभान्वित हो सकें। संग्रहालय के विभिन्न कक्षों में अजमेर से लेकर बाँसवाड़ी तक और धौलपुर से लेकर जैसलमेर तक के विस्तृत प्रदेश राजस्थान से उपलब्ध प्राचीन वस्तुओं को सुरक्षित तथा प्रदर्शित किया गया है।

संग्रहालय की संपूर्ण सामग्री पाँच प्रमुख भागों में विभक्त है। यह सामग्री प्रागैतिहासिक, मूर्तिकला, अभिलेख, प्राचीन सिक्के और चित्र——इन विषयों में वर्गीकृत है। इसके अतिरिक्त तीन पृथक् कक्षों में, राजस्थान के विभिन्न स्थानों से प्राप्त शस्त्रास्त्र संगृहीत हैं।

चित्र-कक्ष में लगभग सौ से अधिक चित्र संगृहीत हैं। इन चित्रों में राजस्थान की विभिन्न शैलियों से संबद्ध एक बहुमूल्य चित्र भी सम्मिलित है। ये चित्र अपनी शैलियों का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी कक्ष में प्राचीन समय की सुरक्षित इमारतों के फोटोग्राफ भी दर्शनीय हैं।

अलवर संग्रहालय

स्थानीय पुस्तकशाला, चित्रशाला और सिलहखाना को मिलाकर १९४० ई० में अलवर संग्रहालय की स्थापना हुई थी।

इस संग्रहालय में अलवर के पुराने शासकों की पोशाकें और बीदरी लाख तथा हाथीदाँत की बहुमूल्य वस्तुएँ सुरक्षित हैं। हरितमणि, स्फटिक तथा सुलेमानी पत्थरों की आकर्षक वस्तुओं के साथ-साथ मैसूर और नगीना के काष्ठशिल्प की सुन्दर वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं। चंदन और चाँदी की कलापूर्ण वस्तुओं का भी यहाँ अच्छा संग्रह है।

यहाँ की मूल्यवान् सामग्री तीन भागों में वर्गीकृत है, जिनके नाम हैं : शस्त्रास्त्र, पाण्डुलिपियाँ और चित्रकला। शस्त्रास्त्र-विभाग में अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, दाराशिकोह, नादिरशाह और आलमगीर की तलवारें विशेष रूप से दर्शनीय हैं। कुछ तलवारों पर ईरान के बादशाहों की मुहरें अंकित हैं। यहाँ की लाखी तलवार (एक लाख रुपये की तलवार) विश्व-प्रसिद्ध है। सारे भारत में इस विषय की इतनी अच्छी सामग्री एकमात्र अलवर संग्रहालय में ही देखने को मिल सकती है।

दूसरे पाण्डुलिपि-विभाग में संस्कृत, फारसी और हिन्दी की ७००० पोथियाँ सुरक्षित हैं। इन पोथियों में १८ फुट का कुण्डलीनुमा सचित्र '**भागवत**'; अलवर चित्रशैली की प्रतिनिधि पोथी '**गीतगोविन्द**'; हुमायूँ के शासनकाल में तुर्की से फारसी में अनूदित '**वाकयात-ए-बाबरी**', जिस पर हुमायूँ से लेकर शाहजहाँ तक के मुगल बादशाहों की मुहरें अंकित हैं और जिसके चित्रों में भारतीय-ईरानी शैली का संमिश्रण दर्शित है; अरबी-फारसी में लिखित '**कुरान**'; उत्तर-मुगलकाल की चित्रशैली की प्रतिनिधि पोथी '**शाहनामा**'; '**गुलिस्ताँ**' की वह पाण्डुलिपि जिसको महाराज विनयसिंह ने पौने-दो-लाख रुपये में तैयार करवाया था और जिसको तैयार करने में १५ वर्ष का समय लगा था; अकबर के समय फारसी में अनूदित '**नलदमन**' आदि का नाम उल्लेखनीय है। हाथीदाँत पर लिखित '**हफ्त बद काशी**' पुस्तक विशेष रूप से दर्शनीय है।

अलवर संग्रहालय मुगल और राजस्थानी शैलियों के चित्रों के लिए अति प्रसिद्ध है। ये चित्र संग्रहालय में ऐतिहासिक ढंग से व्यवस्थित हैं। इन चित्रों में, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, बूँदी और किशनगढ़ आदि अनेक शैलियों के चित्र यहाँ देखने को मिल सकते हैं। बूँदी-शाखा के राग-रागिनियों के दुर्लभ चित्र इस संग्रहालय की विशेष निधि हैं। कुछ ऐसे भी चित्र हैं, जिन पर मुगल बादशाहों की मुहर और उसके निर्माता कलाकार का नाम भी अंकित है; और इसलिए इतिहास की दृष्टि से जिनका बड़ा महत्व है।

मुगल शैली के लम्बे चित्रों में अली अहमद देहलवी द्वारा चित्रित शाहंशाह जहाँगीर का चित्र, अबुलहसन द्वारा चित्रित शाहजहाँ का चित्र, सैयद हुसेन अली खाँ तथा तरदिया-त-खाँ के चित्र, जिन्हें जहाँगीर के समय में क्रमशः होनहार और दालचंद ने बनाया था, और हाथ पर बाज पक्षी को लिए हुए हुमायूँ का प्रसिद्ध चित्र, इस सामग्री की विशिष्ठ निधि है। बारहमासा के चित्रों का भी इस संग्रहालय में अच्छा संग्रह है।

कलकत्ता आशुतोष कला संग्रहालय

आशुतोष कला-संग्रहालय की स्थापना, प्रसिद्ध शिक्षाविद् सर आशुतोष मुखर्जी के नाम से, १९३७ ई० में हुई। इस संग्रहालय की स्थापना का उद्देश्य बंगाल की कला-वस्तुओं का संग्रह करना रहा है। यह संग्रहालय कलकत्ता विश्वविद्यालय की व्यवस्था में है। इसकी कला-निधि में पत्थर की मूर्तियाँ, चित्र, मृण्मूर्तियाँ, धातु तथा हाथीदाँत की वस्तुएँ, लकड़ी पर नक्काशी के नमूने, पुस्तकों की सचित्र जिल्दें, भोजपत्र तथा देशी कागद की पाण्डुलिपियाँ, सोने के गहने, सूती कपड़े, सिक्के और लोक-कला की वस्तुएँ सम्मिलित हैं। बाँकुड़ा, बानगढ़ और तामलक आदि स्थानों में बंगाल की प्राचीन सभ्यता के द्योतक जो पाषाणकालीन कुल्हाड़ियाँ मिली हैं, वे भी इसी संग्रहालय में रखी हुई हैं। चंद्रकेतुगढ़ की खुदाई में उपलब्ध चाँदी के लगभग सौ सिक्के, मौर्य, शुंग तथा कुषाणकाल की अपूर्व मृण्मूर्तियाँ, प्राचीन ब्राह्मी तथा यूनानी लिपि के अभिलेख, रोमन ढंग की मिट्टी के बर्तन, छोटी-छोटी यूनानी शैली की मूर्तियाँ और चंद्रगुप्त के दुर्लभ स्वर्णनिर्मित सिक्के विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संग्रहालय में ३०० ई० पूर्व से लेकर अब तक के बंगाल की कला एवं संस्कृति के नमूने संगृहीत हैं। संग्रहालय की इस समृद्धि और अपूर्वता में वहाँ के दानदाता सज्जनों का सहयोग उल्लेखनीय है। यहाँ पर राजपूत और पहाड़ी शैलियों के कुछ मूल्यवान् चित्र भी सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त नेपाल से प्राप्त बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय की एक हस्तलिखित पोथी है, जिसमें बौद्ध देवताओं के आठ सुन्दर चित्र हैं और जिसका लिपिकाल ११०५ ई० है। यह ग्रंथ आज तक के उपलब्ध कागद के सबसे पुराने ग्रंथों में से है।

कोटा संग्रहालय

कोटा का यह संग्रहालय पहले ब्रज विलास बाग में स्थित था। उपयुक्त स्थान के अभाव में १९५१ ई० में यह संग्रहालय हवा महल की इमारत में स्थानान्तरित किया गया था। इस संग्रहालय में सुरक्षित विशिष्ट महत्व की सामग्री में पाण्डुलिपियाँ, पुराने हथियार, पोशाकें और चित्र उल्लेखनीय हैं। यह सामग्री विशिष्ट रूप से राजस्थान की हाड़ोती-संस्कृति का दिग्दर्शन कराती है।

संग्रहालय की सामग्री विषय की दृष्टि से कई भागों में वर्गीकृत है। मूर्तियाँ, सिक्के, शिलालेख, और मुहरें आदि पुरातत्व की सामग्री भी दर्शनीय है। इस सामग्री के द्वारा प्राचीन महत्व की अनेक ऐतिहासिक बातों का पता चलता है। राजस्थान के विभिन्न अंचलों की पुरातन संस्कृति का परिचय प्राप्त करने के लिए इस सामग्री का विशेष महत्व है।

संग्रहालय में कोटा, उदयपुर और जयपुर शैली के बहुत-से चित्र सुरक्षित हैं। हाड़ोती शैली के चित्र, मूर्तियाँ और तत्कालीन पाण्डुलिपियाँ इस संग्रहालय की विशिष्ट निधि हैं। जहाँगीरकालीन **'भागवत'** की कथा से संबन्धित चित्र भी यहाँ संगृहीत हैं। हिन्दी, संस्कृत की पाण्डुलिपियों में कुछ तो बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित तथा कुछ बहुत छोटे कलात्मक अक्षरों में लिखी हुई हैं। इनमें **'श्रीमद्भागवत'** की दो पुरानी और दुर्लभ प्रतियाँ भी हैं। एक का प्रत्येक पृष्ठ रंगीन चित्रों से सुसज्जित और दूसरी बहुत छोटे अक्षरों में उल्लिखित तथा सुनहरे काम से युक्त है।

जयपुर संग्रहालय

जयपुर संग्रहालय का शिलान्यास ६ फरवरी, १८७६ ई० को प्रिंस ऑफ वेल्स अल्बर्ट एडवर्ड द्वारा संपन्न हुआ था। उन्हीं की स्मृति में इस भवन का नाम 'अल्बर्ट हाल' पड़ा। इस भवन का निर्माण महाराज सवाई रामसिंह द्वितीय के राज्यकाल (१८३५-१८८० ई०) में आरंभ हुआ और उसका निर्माण-कार्य, सवाई माधवसिंह द्वितीय (१८८०-१९२२ ई०) के समय पूरा हुआ। यह संग्रहालय भवन भारतीय शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना है। २१ फरवरी, १८८७ ई० को इसका औपचारिक उद्घाटन हुआ।

हाल के अन्दर का भाग स्थानीय चित्रकारों द्वारा निर्मित १५०३ ई० के बाद से जयपुर तथा आमेर के विशिष्ट राजाओं के आदमकद चित्रों और साथ ही **'रामायण'**, **'महाभारत'** एवं बौद्ध-कथाओं पर आधारित भित्तिचित्रों से सुसज्जित है। दीवारों पर मिस्र, असीरिया, चीन, जापान आदि की चित्रकला के नमूने भी अंकित हैं। बाहर की दीवारों पर **'कुरान'**, **'गीता'**, **'रामायण'**, **'महाभारत'**, **'बाइबिल'**, **'हितोपदेश'**, **'शार्ङ्गधर संहिता'** **'किरातार्जुनीय'** आदि की नीति विषयक सूक्तियाँ एवं श्लोक उत्कीर्णित हैं।

संग्रहालय की सामग्री अनेक वर्गों में विभाजित है। आँगन के चारों ओर के बरामदों में देवयानी, सांभर, पेशावर तथा वाराणसी आदि स्थानों से प्राप्त मूर्तियाँ रखी हुई हैं। वाराणसी से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति सर्वाधिक प्राचीन है। संगमरमर की मूर्तियों में बुद्ध, पार्वती, दुर्गा, शिव, महावीर, पार्श्वनाथ, गणेश, काली, ब्रह्मा, हनुमान और कृष्ण प्रमुख हैं। यहाँ पर जैन-मूर्तिकला के भी उत्कृष्ट नमूने हैं।

जयपुर संग्रहालय में सिक्कों का अद्भुत संग्रह देखने को मिलता है। शक, पल्लव, मौर्य, गुप्त, चालुक्य, मुगल आदि राजवंशों के महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ सिक्के यहाँ संगृहीत हैं। बर्तन और शस्त्रास्त्र विभाग में भी आकर्षक वस्तुओं का संग्रह है। हंगरी, जापान, डेनमार्क, इंग्लैंड, बर्मा, लंका, फारस आदि विदेशों के बर्तन वहाँ की भाण्ड-निर्माण-कला का परिचय देते हैं। बंगाल, मुरादाबाद, मुल्तान, दिल्ली और ग्वालियर के बर्तनों के उत्कृष्ट नमूने भी यहाँ सुरक्षित हैं। संग्रहालय के हथियार-विभाग में विभिन्न कवच, ढाल, तलवार, छुरा आदि के अतिरिक्त भारत और जापान के खंजर भी हैं, जिन पर अति सुंदर चित्र बने हुए हैं।

संग्रहालय मे सुरक्षित हाथीदाँत की वस्तुएँ भी दर्शनीय हैं, जिनमें देवी अम्बिका की मूर्ति अति सुंदर है। यह जयपुर की कृति है। जयपुर, कश्मीर, बर्मा, सूरत आदि की चंदन, पेपियर आदि की वस्तुएँ भी अमूल्य हैं।

मुख्य हाल के पीछे गलियारे की दीवारों पर **'रज्मनामा'** के छः ऐसे चित्रों की प्रतिलिपियाँ अंकित हैं, जो अकबर के युग में सर्वोत्तम कलाकारों द्वारा बनवायी गयी थीं। मध्य के तीन कक्षों में राजस्थान और उसके बाहर के चित्र सज्जित हैं। पहले हाल में राजस्थान के कुछ उच्चकोटि के कलाकारों की अपूर्ण कृतियाँ हैं। दूसरे हाल में राजपूत, काँगड़ा, बसौली, तंजोर, त्रिचनापल्ली और चीन के चित्र लगे हैं। तीसरे कक्ष में जयपुर शैली के राग-रागिनियों के चित्र, जोधपुर शैली के बारहमासा के चित्र और उदयपुर, नाथद्वारा, किशनगढ़ तथा बीकानेर शैलियों के उत्कृष्ट चित्र सज्जित हैं।

तिरुअनन्तपुरम् संग्रहालय

तिरुअनन्तपुरम् के राजकीय संग्रहालय में कला-कृतियों का अच्छा संग्रह विद्यमान है। यह संग्रहालय लकड़ी पर खुदाई की हुई वस्तुओं के लिए देश भर का अनुपम संग्रहालय माना जाता है। संग्रहालय के प्रवेश-द्वार के समीप लकड़ी का मण्डप केरल के कलाकारों की बेजोड़ खुदाई का उत्कृष्ट नमूना है। मण्डप के ऊपर ताण्डव नृत्य की मुद्रा में नटराज शंकर की काँस्य प्रतिमा बहुत ही भव्य है। संग्रहालय में ९ फुट ऊँचा और १३ फुट लम्बा लकड़ी का एक रथ है, जो कि ३०० वर्ष पुराना बताया जाता है। लकड़ी की इस बेजोड़ कलाकृति पर देवी-देवताओं की आकृतियाँ, जानवर और फूल-पत्तियों के दृश्य खुदे हुए हैं। केरल की वास्तविक कला की झाँकी पुष्पक-विमान में देखने को मिलती है। संग्रहालय की एक अनोखी दर्शनीय वस्तु लकड़ी की नृत्यशाला (कूथापलम्) है। यह नृत्यशाला बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से बनायी गयी है।

संग्रहालय की काँस्यमयी कला-कृतियों का भी प्रमुख स्थान है। उत्तर तिरुवांकुर की खुदाई में प्राप्त भगवान् विष्णु की एक १००० वर्ष प्राचीन मूर्ति अलंकरण-सज्जा और कारीगरी के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार शिव और सती की मूर्ति तथा तिरुअनन्तपुरम् के समीप उपलब्ध नृत्य करती हुई तीन नर्तकियों की मूर्तियाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। केरल की विख्यात कत्थकली नाट्यकला की छः छोटी मूर्तियाँ भी अपनी भाव-भंगिमा , चित्रण और आकर्षक मुद्राओं की दृष्टि से दर्शनीय हैं।

नागपुर संग्रहालय

नागपुर के संग्रहालय की स्थापना १८६३ ई० में हुई थी। इस संग्रहालय की वस्तुएँ चार मुख्य भागों में वर्गीकृत हैं, जिनके नाम हैं पुरातत्व, प्राकृतिक, मानवशास्त्र और कला।

पुरातत्व-विभाग की प्रागैतिहासिक वस्तुओं में प्राचीन शिल्पकला के नमूने, शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के उल्लेखनीय हैं। इस विभाग की महत्वपूर्ण वस्तु बेबीलोन की एक मुद्रा है, जो लगभग चार हजार वर्ष पुरानी है। इसके अतिरिक्त कलचुरी राजवंश के सिक्के, दिल्ली, गुजरात, मालवा के सुलतानों, मुगलों और बहमनी राजाओं के सिक्के भी सम्मिलित हैं। प्राकृतिक विभाग में मध्य प्रदेश में पाये जाने वाले पक्षी, कीड़े-मकोड़े तथा अन्य जानवर सम्मिलित हैं। मानवशास्त्र-विभाग में मध्य प्रदेश की गोंड, कोरक जैसी आदिवासी जातियों की विविध वस्तुएँ रखी हुई हैं।

संग्रहालय का कला-कक्ष, शिल्प और चित्रों की अद्वितीय कृतियों से संपन्न है। शिल्प-वीथी में शिव, विष्णु, बोधिसत्व और जैन तीर्थंकरों की मध्ययुगीन मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। चित्र-वीथी में कुछ पुराने और नये चित्र संगृहीत हैं। इस विभाग की मुख्य सामग्री नागपुर के भोंसले राजवंश की पाण्डुलिपियाँ हैं, जिन्हें कुशल कलाकारों ने लिखा एवं चित्रित किया है।

कला-विभाग में सुरक्षित मिट्टी तथा धातु के बर्त्तन, पत्थर और लकड़ी की खुदाई की वस्तु है। मीनाकारी की वस्तुएँ और सुसज्जित सूती कपड़े भी दर्शनीय हैं।

प्रयाग संग्रहालय

प्रयाग संग्रहालय जिस वर्तमान भवन में संस्थापित है उसका शिलान्यास १९४७ ई० में प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा संपन्न हुआ। तब से निरन्तर उसका विकास होता रहा है और आज वह देश के मुख्य संग्रहालयों में से एक है।

प्रयाग संग्रहालय की कला-सामग्री विभिन्न विषयों से संबद्ध है। नेहरू जी को भेंटस्वरूप प्राप्त सामग्री बड़े महत्व की है। जहाँ तक चित्रों का संबंध है, राजपूत और मुगल, दोनों शैलियों के सुन्दर चित्र संग्रहालय में सुरक्षित हैं। पहाड़ी शैली में काँगड़ा और गढ़वाल शाखाओं के चित्रों की अधिकता है। संग्रहालय का विशाल कक्ष महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ चित्रों से सुसज्जित है।

आधुनिक चित्रकारों में सुधीर खास्तगीर, स्वेतोस्लाव रोरिक, रामगोपाल विजयवर्गीय और के० सिंह के चित्र विशेष रूप से आकर्षक हैं। अनागारिक गोविन्द के चित्रों का विशेष महत्व है। 'शिवताण्डव', 'परमोल्लास', 'तिब्बती मठ', 'दुल्हन', 'राजस्थान का चित्र', 'रूरल इंडिया' और 'तूफान' शीर्षक चित्र विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न युगों और शैलियों की मूल्यवान् सचित्र पाण्डुलिपियाँ प्रयाग संग्रहालय की महत्वपूर्ण कला-सामग्री है। फिर भी आधुनिक चित्रकारों के चित्रों का जितना संग्रह अपेक्षित है उसकी ओर संग्रहालय के प्रबंधकों का ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है।

बड़ौदा संग्रहालय

१९१४ ई० में बड़ौदा संग्रहालय की चित्र-गैलरी का निर्माण हुआ। १९२१ ई० में उसे जनता के लिए खोल दिया गया। इस गैलरी में इस प्रकार के उत्तम चित्र संग्रह करके रखे गये हैं, जिनकी तुलना समस्त एशिया के किसी भी संग्रहालय के चित्रों से नहीं की जा सकती। भारतीय चित्रों के अतिरिक्त, इस गैलरी में योरप के अनेक तैलचित्र भी सुरक्षित हैं, जिनका निर्माण रुबेन्स, टिटिअन, वैण्डैक, मिलेट और रेनाल्ड्स सोलोमैन आदि उच्च कलाकारों ने किया है।

यह संग्रहालय दो भागों में विभक्त है, जिनमें एक विभाग तो कला तथा इतिहास विषयक वस्तुओं के लिए और एक विभाग विज्ञान तथा वंशशास्त्र की सामग्री का है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति विषयक उच्चकोटि की प्रामाणिक सामग्री इस संग्रहालय में सुव्यवस्थित है। राजस्थान शैली के सूक्ष्म पटचित्र, संभवतया जिन्हें किशनगढ़ से प्राप्त किया गया है, दर्शनीय हैं। पहाड़ी शैली के सूक्ष्म चित्रों का संग्रह इस संग्रहालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण निधि है। इतिहास तथा पुरातत्व-विषयक सामग्री में सीथियन, गुप्त आदि युगों की मूर्तियाँ, ताँबे की जैन मूर्तियाँ विशेष महत्व की हैं, जो कि ५वीं से ११वीं शताब्दी तक की हैं।

संग्रहालय का एक कक्ष 'बड़ौदा' का है, जिसमें गुजरात और महाराष्ट्र की कला-कृतियाँ दर्शित हैं। इसी प्रकार बरमा, स्याम तथा मलाया की कला कृतियों को 'विशाल भारत' नामक कक्ष में प्रदर्शित किया गया है। बरमा से उपलब्ध मन्दिर का एक घण्टा इस संग्रहालय की विशिष्ट वस्तुओं में से है। संग्रहालय में एक 'इस्लामी कक्ष' है, जिसमें ताँबे की मूर्तियाँ, मिट्टी के बर्तन और अनेक चित्र रखे हुए हैं। इसी प्रकार चीन, तिब्बत, नेपाल और योरप की मूल्यवान् कला-सामग्री भी विभिन्न कक्षों में व्यवस्थित है।

बीकानेर गंगा स्वर्णजयन्ती संग्रहालय

मध्ययुगीन राजस्थान का प्रमुख नगर होने के कारण शिल्प और कला के क्षेत्र में बीकानेर का मौलिक महत्व रहा है। लकड़ी, धातु, शीशा, पत्थर, चमड़ा और शुतुरमुर्ग के अंडों पर लाख का काम करने में बीकानेर के शिल्पियों का नाम भारत तथा विदेशों तक विख्यात है। ऊँट के चमड़े की लाख से मढ़ी कुप्पियाँ बीकानेर की कला के सर्वोच्च नमूने हैं। लकड़ी और पत्थर पर नक्काशी करने में भी वहाँ के कलाकारों की कुछ कम ख्याति नहीं है। इस प्रकार की अनेक कला-वस्तुएँ बीकानेर के संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

बीकानेर का यह संग्रहालय १९३७ ई० में महाराज गंगासिंह की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर स्थापित हुआ था। ऐसा अनुमान किया गया है कि मृण्मयी मूर्तियों का जितना सुंदर संग्रह इस संग्रहालय में सुरक्षित है वैसा भारत के किसी दूसरे संग्रहालय में नहीं है। ये मूर्तियाँ पूर्व-गुप्तकाल की हैं और इन्हें डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने बीकानेर डिवीजन में सूरतगढ़-हनुमानगढ़ के बीच में स्थित रंगमहल, बड़ोपाल तथा पीर सुल्तानरी-थेरी आदि प्राचीन स्थानों से प्राप्त किया है। ये थेरियाँ मोहेन-जो-दारो जितनी प्राचीन बतायी जाती हैं।

बीकानेर के इस संग्रहालय में स्थापित संगमरमर से बनी एक भव्य सरस्वती प्रतिमा, जैन-कला के क्षेत्र में निर्मित, अपने ढंग की ११वीं १२वीं शताब्दी की, अनुपम प्रतिमा कही जाती है। अपनी सुंदरता, भाव-भंगिमा, मुस्कान, मनोहारिता, स्वप्निल दृष्टि की स्निग्धता के कारण यह प्रतिमा राजस्थानी वास्तुकला की उच्चतम कृति कही जाती है।

संग्रहालय की चित्र-दीर्घा में बीकानेर, बूंदी, उदयपुर, जयपुर और अकबर आदि सभी शैलियों के चित्रों का वृहद् संग्रह सुरक्षित है। इसी से संबद्ध मुगल और ईरानी चित्रकला के संग्रह भी अपना महत्व रखते हैं। कुछ सचित्र पाण्डुलिपियाँ और पाण्डुलियोंके स्फुट पृष्ठ भी इस सामग्री की उल्लेखनीय निधि हैं।

मद्रास संग्रहालय

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व के प्राचीन संग्रहालयों में मद्रास संग्रहालय की बहुत ख्याति है। आरंभ में इस संग्रहालय की स्थापना का उद्देश्य दूसरा ही था; किन्तु आज वहाँ वनस्पतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भू-गर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, पुरातत्व, कला और प्रागैतिहासिक वस्तुओं का वृहद् संग्रह सुरक्षित है। इसकी स्थापना १८५१ ई० में हुई।

इस संग्रहालय की पुरातत्व-वीथी देश की सर्वोत्तम पुरातत्व-वीथियों में से एक है। उसमें पल्लव, चोल, पाण्डय, विजयनगर,

चालुक्य, नोलम्बा, होयशाल, गांधार, गुप्त, पाल और सेन आदि विभिन्न राजवंशों के मंदिर, मूर्तिकला एवं तक्षण के नमूने कालक्रम से रखे गये हैं। अमरावती (गुंटूर जिला) की कृष्णा घाटी से प्राप्त आरंभिक बौद्ध मूर्तियों में संगमर्मर की पट्टियों पर अंकित जातक-कथाओं के दृश्य, स्फटिक की अत्युत्तम अस्थिमंजूषा, स्वर्णाभूषण और काँस्यमूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

संग्रहालय में मौर्ययुग से लेकर ईस्ट इंडिया कंपनी तक देश भर में प्रचलित सभी सिक्के सुरक्षित हैं। यहाँ की खुदाई से प्राप्त कुछ ऐसे सिक्के भी संग्रहालय में हैं, जिनसे दक्षिण भारत और भू-मध्य सागर के देशों के प्राचीन व्यापारिक संबन्ध का पता चलता है। संग्रहालय की दर्शनीय सामग्री में ४०० ताम्रपत्र भारतीय इतिहास की बहुमूल्य निधि हैं।

मध्य एशियाई संग्रहालय

भारत सरकार के सूचना कार्यालय से प्रकाशित एक परिपत्र (८ मार्च, १९५८) के अनुसार मध्य एशियाई संग्रहालय की सामग्री का विवरण इस प्रकार है।

मध्य एशियाई प्राचीन वस्तु संग्रहालय (सेंट्रल एशियन एंटिक्विटीज म्यूजियम) १९२९ ई० को नयी दिल्ली में स्थापित हुआ था। इसमें रखी वस्तुओं को एकत्र करने का श्रेय सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सर आरेल स्टीन को प्राप्त है। उन्हें भारत सरकार ने, इस शताब्दी के आरंभ में, तीन बार चीनी-तुर्किस्तान भेजा था, जहाँ से वे बहुत-सी अनोखी एवं प्राचीन वस्तुएँ साथ लाये हैं।

चीनी-तुर्किस्तान एशिया का केन्द्र-प्रदेश है। चीन से ईरान को और भारत से दुनियाँ के अन्य देशों को जाने वाला पुराना स्थल मार्ग इसी क्षेत्र से होकर जाता था। उत्तरी मार्ग कूचा, काराशहर और तुरफान होकर तथा दक्षिण मार्ग यारकन्द, खोतान, निया और मीरान होकर जाता था।

चीनी-तुर्किस्तान में चार महान् सभ्यताओं : भारतीय, चीनी, ईरानी और यूनानी का संगम हुआ था। इसके फलस्वरूप वहाँ कला का नया एवं मिश्रित रूप विकसित होकर प्रकाश में आया, जिसमें उक्त चारों सभ्यताओं की छाप है। वहाँ से जो पलस्तर के खिलौने या मूर्तियाँ, मिट्टी के बर्तन, रेशमी कपड़ा और भीतों पर बने चित्र मिले हैं उनमें इन चारों देशों की कलाओं का मेल हुआ है। उन सब कृतियों पर बौद्धधर्म की छाप होते हुए भी उनके शिल्प में चारों महान् सभ्यताओं का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

तानहुआंग में सहस्रबुद्ध गुफा

सर आरेल स्टीन १९०१ में तकलामकान रेगिस्तान के दक्षिण-पश्चिम भाग खोतान में खुदाई कर रहे थे। १९०६ में वे रेगिस्तान में पूरब की ओर आगे बढ़े और उसे पार करके बौद्ध तीर्थस्थान तान-हुआंग पहुँचे और यहाँ उन्होंने सहस्त्रबुद्धों की प्रसिद्ध गुफा का पता लगाया। इस गुफा के निकट ही एक चैत्य के अन्दर सुरक्षित अनगिनित पांडुलिपियाँ और हजारों रेशमी चित्रपट पाये गये। ये नयी दिल्ली के इस संग्रहालय की सबसे मूल्यवान चीजें हैं।

आरेल स्टीन ने दूसरी यात्रा में खोतान, दोमोको और निया में खुदाई की। यहाँ से उन्हें संस्कृत की पुरानी पांडुलिपियाँ और खरोष्टी लिपि के बहुत-सी लकड़ी पर खुदे लेख मिले। ये भी इस संग्रहालय में हैं।

सर आरेल स्टीन १९१३ में तीसरी बार फिर वहाँ गये और इस बार उन्होंने सीस्तान तक खोज की, जहाँ उन्हें अनेक कलावस्तुओं के अलावा, एक विशाल विहार के खण्डहर में सुन्दर भित्तिचित्र भी मिले। ये चित्र संग्रहालय के केन्द्रीय कक्ष और उसके बगल के दो कमरों में सजे हुए हैं।

ये भित्तिचित्र, काराखोजा और तुरफान के पुराने बौद्ध मन्दिरों में खुदे हुए थे। उनमें से एक चित्र बहुत बड़ा है, जो केन्द्रीय कक्ष की एक दीवाल के आधे भाग को घेरे हुए है। उसमें बुद्ध भगवान् के शव के चारों ओर दुःखित लोकपाल और राजागण चित्रित हैं।

रेशमी कपड़े पर चित्र

संग्रहालय में रेशमी कपड़ों पर अंकित चित्रों का भी अच्छा संग्रह है। चित्रों का रंग धुँधला पड़ गया है, परन्तु सब बड़े सुन्दर हैं। उनमें भगवान् बुद्ध को प्रायः अवलोकितेश्वर के रूप में अंकित किया गया है। एक रेशमी पट पर भगवान् बुद्ध के जीवन के विभिन्न दृश्य अंकित हैं। प्रायः सभी रेशमी पटों पर तिब्बत और चीन की पौराणिक कथाओं पर आधारित प्रतीक तथा चित्र हैं।

केन्द्रीय कक्ष के एक पार्श्व में कागज पर अंकित चित्रों और प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह है। इनमें लकड़ी पर खरोष्ठी लिपि में अंकित प्राकृत भाषा के पहली और दूसरी शताब्दी के लेख भी हैं। पहली और दूसरी शताब्दी में दक्षिण-पूर्व तुर्किस्तान की राजभाषा प्राकृत थी। कागज पर अंकित चित्रों में से एक चित्र जल्दी ही दर्शकों का ध्यान आकर्षित कर लेता है। उसमें कुछ घोड़े सरपट भागते हुए दिखाए गये हैं। वह चित्र खारो खोतो में मिला था। उसमें दौड़ते हुए घोड़ों का वेग बहुत अच्छी तरह चित्रित हुआ है, जो चीनी कला की विशेषता है। एक चित्र में ग्यारह सिर वाले अवलोकितेश्वर लाल कमल पर आसीन दिखाये गये हैं।

लकड़ी की मूर्तियाँ

भारतीय शैली का प्रभाव सबसे अधिक लकड़ी और पलस्तर की मूर्तियों पर दिखायी देता है। इस पर सुनहरा काम है और वे चमकदार नीले और हरे रंग में रंगी हैं। पलस्तर की मूर्तियाँ मुख्यतः खोतान और दोमोको में पायी गयीं। उनमें सिरों की गढ़न भारतीय शैली में है और थोड़ी-सी झलक यूनानी शैली की भी है।

अभय मुद्रा में खड़ी या बैठी भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ मथुरा की गुप्तकालीन कला की परम्परा की हैं। मथुरा की बनी मूर्तियाँ और गिलगित के रास्ते तुरफान और बलवस्ते में जाती थीं, उन्हीं के नमूने पर बाद में वहाँ के मूर्तिकारों ने मूर्तियाँ गढ़ीं होंगी।

लकड़ी के बहुत सुन्दर उत्कीर्णित खम्भे, घुड़ियाँ, दरवाजे आदि भी मिले हैं। इनमें उपदेश देते हुए भगवान बुद्ध के चित्र उत्कीर्ण हैं। पहली या दूसरी शताब्दी का कुर्सी का एक पाया निया से प्राप्त हुआ है, इसके ऊपरी भाग को स्त्री के सिर और निचले भाग को घोड़े के रूप में गढ़ा गया है। लकड़ी के एक पाट पर गांधार शैली में धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में भगवान् बुद्ध का चित्र खोदा गया है।

खोतान में मिट्टी के जो खिलौने मिले हैं, उनमें भारतीय, सीस्तानी और चीनी स्त्री-पुरुष दिखायी देते हैं। इसके अलावा, दो कूबड़ वाले ऊँट, घोड़े, मेढ़े, अजगर, चीते और ईरानी शैली के गिद्ध की भी मूर्तियाँ हैं। तरह-तरह की चेष्टा करते हुए बन्दरों की भी मजेदार मूर्तियाँ हैं।

संग्रहालय में भारतीय शैली का एक पट है, जिस पर अलंकृत चार स्तूपों के बीच बैठे हुए भगवान बुद्ध की मूर्ति है। यह एतसिंगोल के मुहाने में मिली थी। विदेशी बौद्ध यात्री, भारत में तीर्थयात्रा से लौटते समय ऐसे पट अपने साथ ले जाते थे।

राष्ट्रीय संग्रहालय

राजधानी का राष्ट्रीय संग्रहालय वैज्ञानिक दृष्टि से स्थापित किया जाने वाला आधुनिक ढंग का प्रथम संग्रहालय है। वहाँ दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह तो है ही, साथ ही उन वस्तुओं को सुरुचिपूर्ण एवं आकर्षक ढंग से व्यवस्थित भी किया गया है। वह सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संगम है। वहाँ पुरातत्व, इतिहास और कला की महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है।

संग्रहालय की कला-वीथि में राजपूत, मुगल, काँगड़ा आदि प्राचीन शैलियों के चित्रों से लेकर आधुनिक, कम्पनी शैली के चित्रों का महत्वपूर्ण संग्रह है। प्रायः श्रेष्ठ चित्र राजपूत शैली के हैं। अन्य शैलियों के कुछ चित्र ऐसे हैं, जो कला और इतिहास, दोनों दृष्टियों से उपयोगी हैं।

इन चित्रों के अतिरिक्त सचित्र हस्तलिखित पोथियों का भी राष्ट्रीय संग्रहालय में बहुमूल्य संग्रह है। इस प्रकार के कुछ दृष्टान्त चित्रों को देखने से यह ज्ञात होता है कि राजपूत शैली के लघुचित्रों में प्राचीन भित्तिचित्रों की रूढ़ियाँ विद्यमान हैं, जो गुजराती कलम के प्रभाव से राजपूत शैली में आयी। जैन धर्म की पुस्तकों में जैन तथा अपभ्रंश शैली के अनेक चित्र संकलित हैं।

फिर भी राष्ट्रीय संग्रहालय एक सांस्कृतिक केन्द्र है, जिसका पुरातत्व तथा इतिहास की दृष्टि से ही नहीं, दुर्लभ कलाकृतियों के संरक्षण की दृष्टि से भी, विकास होना चाहिए। आधुनिक शैली के मुख्य चित्रकारों की कृतियाँ भी वहाँ होनी चाहिएं।

लखनऊ संग्रहालय

लखनऊ संग्रहालय की स्थापना १८६३ ई० में वहाँ की नगरपालिका द्वारा हुई थी। वह देश के पुराने संग्रहालयों में से है और

सारे उत्तर प्रदेश में प्राचीनता की दृष्ट से उसका पहला स्थान है। १९११ ई० में उसका पुनर्गठन हुआ और उसकी सामग्री कुछ प्रधान वर्गों में छाँट कर व्यवस्थित की गयी।

इस संग्रहालय का मुद्रा-विभाग बड़ा ही संपन्न है। अब तक उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन मुद्राओं में अधिक मुद्राएँ इसी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त यवन, शक, पह्लव, कुषाण, गुप्त, उत्तर भारत के मध्यकालीन हिन्दू राजाओं, दिल्ली के सुलतानों, मुगलों, अवध के नवाबों और ब्रिटिश शासकों तक के, लगभग २०० ई० पूर्व से लेकर २०वीं शताब्दी तक के, महत्वपूर्ण सिक्के सुरक्षित हैं।

प्रागैतिहासिक वस्तुओं में आदि-पाषाण युग तथा नव-पाषाण युग के हथियार एवं औज़ार सुरक्षित हैं। मोहेन-जो-दारो सभ्यता की कुछ चीजें भी यहाँ देखने को मिलती हैं। यहाँ ३०० ऐसे ताम्रपत्र हैं, जिन पर राजकीय आदेश अंकित हैं और जो ५वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक के हैं। इनमें बांसखेड़ा का वह ताम्रपत्र अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, जिसमें इतिहास-प्रसिद्ध कनौज के सम्राट् श्रीहर्ष के हस्ताक्षर अंकित हैं।

प्राचीन वस्त्र-विभाग में रखे हुए राजस्थान, काश्मीर, मुर्शिदाबाद, बनारस और लखनऊ के कामदार कपड़े दर्शनीय हैं। प्राकृतिक विभाग और जातिवृत्त-विभाग में सुरक्षित सामग्री भी बड़ी ही आकर्षक और ऐतिहासिक मूल्य की है।

इस संग्रहालय का मूर्ति-विभाग भी दर्शनीय है। ३०० ई० पूर्व से लेकर १५वीं शताब्दी तक की हिन्दू, जैन और बौद्ध मूर्तियाँ संग्रहालय की मूल्यवान् निधि हैं। हाल ही में संग्रहालय को कुछ अच्छी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

लखनऊ संग्रहालय के चित्र-विभाग में बहुत ही अच्छी सामग्री सुरक्षित है। इसमें फारसी, मुगल, राजपूत, पहाड़ी और अवध आदि अनेक शैलियों के चित्र हैं, जो १५वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक के हैं। इनमें पुरानी राजपूत शैली के दो चित्र हैं, जिनमें '**भागवत**' के दृश्यों का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है। नौ चित्र मेवाड़ शैली के हैं, जिनमें आचार्य केशवदास की '**रसिकप्रिया**' में वर्णित नौ रसों का मनोहर चित्रण किया गया है।

दो सचित्र पाण्डुलिपियों में एक तो फ़िरदौसी का प्रसिद्ध '**शाहनामा**' है। उसमें हिन्दू-तुर्की-शैली के २३ चित्र हैं, जो १५४७ ई० में चित्रित किये गये थे। दूसरी पोथी '**हरिवंश**' पुराण के कुछ अंशों का फारसी अनुवाद है। उसके छ: चित्र हैं, जिनका निर्माण अकबर के समय हुआ था। सुन्दर अक्षरों में लिखा हुआ एक कुण्डलीनुमा '**भागवत**' है। उसमें काश्मीर-शैली के १२ चित्र हैं, जो १७वीं शताब्दी के हैं। इसी समय के ३३ चित्र और हैं, जो राजपूत शैली के हैं और जिनका विषय राग-रागिनियाँ है।

इनके अतिरिक्त '**रामायण**', '**महाभारत**', '**भागवत**' और दूसरे पुराण-ग्रंथों पर आधारित बहुत से चित्र भी हैं। ये कुछ वर्ष पूर्व ही उपलब्ध हुए हैं और उनमें राजपूत एवं काँगड़ा शैली के चित्रों की अधिकता है। इस संग्रह में तिब्बत की कुछ रेशमी पताकाएँ भी हैं, जिन पर देवी-देवताओं के चित्र बने हुए हैं।

संग्रहालय के एक कक्ष में सहादत अली खाँ से लेकर वाजिद अली शाह तक के अवध नवाबों के आदमकद चित्र क्रमशः व्यवस्थित किये गये हैं। इस कक्ष में कुछ चित्र दरबारियों तथा बेगमों के भी हैं।

वाराणसी भारत कला भवन

विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर की आजीवन अध्यक्षता में भारत कला-भवन की स्थापना १९२० ई० में हुई थी। यह कला-भवन १९२९ से १९५० ई० तक नागरी प्रचारिणी सभा के अधीन रहा और १९५० में इसको वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने हाथ में ले लिया। विश्वविद्यालय क्षेत्र में इसके लिए जो नया भवन बनाया गया है वह प्राचीन वास्तुकला का एक भव्य नमूना है।

कला-भवन की गणना आज भारत के प्रमुख संग्रहालयों में की जाती है। विषय की दृष्टि से इसकी सामग्री कई भागों में विभक्त है। कला-भवन का एक अंग साहित्य-विभाग है, जहाँ हिन्दी और उर्दू के साहित्यकारों के हस्ताक्षर सहित चित्र तथा अन्य वस्तुएँ और हिन्दी की पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रथम संस्करण एवं प्रथम अंक संगृहीत हैं।

यहाँ अनेक उच्च कोटि की मूर्तियाँ और सुवर्ण सिक्कों तथा दिल्ली के सुलतानों के सिक्कों का अच्छा संग्रह है। घरेलू उद्योग तथा दस्तकारी विभाग में मीने की वस्तुओं, आभूषणों तथा रत्नजड़ित मूल्यवान् वस्तुओं का भी दर्शनीय संग्रह है। इसी प्रकार भारतीय वस्त्र-निर्माण कला के अच्छे नमूने भी यहाँ संगृहीत हैं।

प्राचीन वस्तु-विभाग में ताँबे की तश्तरियाँ, लेख, खुदे हुए पत्थर, राजघाट (वाराणसी) की मिट्टी की अनेक मुहरें, सनदें और मुगल शाहंशाहों के ऐतिहासिक स्मृति-चिन्ह सुरक्षित हैं। मोहेन-जो-दारो की कुछ प्रागैतिहासिक कला-वस्तुएँ भी यहाँ सुरक्षित हैं।

कला-भवन का सर्वाधिक प्रशंसनीय अंग चित्रकला-विभाग है। इस विभाग को धीरे-धीरे इस प्रकार समृद्ध एवं व्यवस्थित किया गया है कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग के प्रतिनिधि चित्र इसमें आ जायँ। ऐसी आशा की जाती है कि यथासंभव शीघ्र ही कला-भवन इस स्थिति को पहुँच जायगा कि जहाँ की सामग्री से भारतीय चित्रकला के समस्त पहलुओं का एक साथ एक स्थान पर बैठ करके अध्ययन किया जा सकेगा।

शिमला संग्रहालय

देश-विभाजन के बाद लाहौर के केन्द्रीय संग्रहालय की संपत्ति का जब बँटवारा हुआ तो गांधार शैली की लगभग एक हजार मूर्तियाँ भारत (पंजाब) के हिस्से में आयीं। ये मूर्तियाँ आजकल अस्थायी रूप से शिमला के पंजाब राज्य संग्रहालय में रखी हुई हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपने समृद्धि-युग में अफगानिस्तान, चित्राल और काश्मीर, गांधार में सम्मिलित थे। इसकी दक्षिण सीमा पर सतलज नदी बहती थी। सम्राट् कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के शासनकाल में गांधार बहुत ही समृद्ध था। गांधार कला के अधिकारी विद्वान् फोचर ने उसका उद्‌भव ग्रीस और बौद्ध संस्कृतियों के सम्मिश्रण से सिद्ध किया है। इस शैली के जो चित्र और मूर्तियाँ उपलब्ध हैं वे बुद्ध की जीवन घटनाओं तथा तत्सम्बन्धी दन्तकथाओं पर आधारित हैं।

गांधार की इन मूर्तियों में उस युग के सभी लोगों के वस्त्र, घरेलू सामान, हथियार, कवच, प्रसाधन सामग्री, डोली, हौदा, गाड़ियाँ, घोड़े, खेती के औजार आदि दर्शाये गये हैं। इन मूर्तियों को देखकर अवगत होता है कि उस समय नर्तक-गायक, यात्री, साधु, पहलवान और डाकू आदि सभी तरह के लोग समाज में होते थे।

गाँधार शैली की मूर्तियों में सबसे बड़ी और अनूठी बात यह देखने को मिलती है कि उन कलाकारों ने बुद्ध को मनुष्य के रूप में अंकित किया है। ये मूर्तियाँ ग्रीस कलाकारों ने बनायीं और उनमें भारतीय संस्कारों का समन्वय है।

गाँधार शैली के कलाकारों ने जिस रूप में बुद्ध को अंकित किया है उसी रूप की मूर्तियाँ अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन और जावा आदि देशों में भी दिखायी देती हैं।

बँटवारा होने से पूर्व लाहौर संग्रहालय में पिछले ५० वर्षों से चित्रों का विशेष संग्रह किया जाता रहा। जब बँटवारा हुआ तो भारत के हिस्से ७०० चित्र आये। इसके अनन्तर पंजाब राज्य के शिमला संग्रहालय के लिए पिछले ४ वर्षों से लगभग १,२०० पहाड़ी शैलियों के चित्र क्रय किये गये और उन पर एक लाख से अधिक रुपया व्यय हुआ। इस पुनर्गठन के कारण राज्य संग्रहालय में संप्रति २००० से अधिक पहाड़ी शैलियों के चित्र संगृहीत हैं। इस दृष्टि से यह संग्रहालय सारे देश का समृद्ध संग्रहालय बन गया है।

सारनाथ पुरातत्व संग्रहालय

सारनाथ का पुरातत्व संग्रहालय भारत के प्रमुख और प्राचीन संग्रहालयों में से है। इतिहासकारों के लिए इस संग्रहालय की सामग्री का बड़ा महत्व रहा है। भारत की राजमुद्रा का प्रतीक सिंह-स्तम्भ इसी संग्रहालय की अविस्मरणीय कृति है। इस संग्रहालय में पुरातत्व विषयक दस-हजार वस्तुएँ सुरक्षित हैं, जो ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी ई० तक की हैं।

इस संग्रहालय की अधिकांश महत्वपूर्ण सामग्री बौद्धधर्म से सम्बन्धित है। जब बौद्धधर्म भारत में अपने चरमोत्कर्ष पर था, उस युग की सुन्दर प्रस्तर-प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में देखने को मिलती हैं। बोधिसत्व की वृहदाकार मूर्ति और कुषाण युग की निर्मित एक बुद्ध-प्रतिमा के अतिरिक्त इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं दर्शनीय मूर्ति वह है, जिसमें भगवान् बुद्ध मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन कर रहे हैं। यह गुप्त युग की है। गुप्त युग की मूर्तिकला के नमूने मैत्रेय अवलोकितेश्वर, बज्रसत्व और मंजुश्री आदि की मूर्तियों में भी देखने को मिलते हैं। एक वीथी बनारस जिले में प्राप्त उन मूर्तियों की है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है और जिनसे बौद्ध युगीन संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है।

एक वीथी में बौद्धयुग के महत्वपूर्ण अभिलेख सुरक्षित हैं। वीथियों और गलियारों में सज्जित ये सभी अभिलेख और मूर्तियाँ

तिथिक्रम से व्यवस्थित हैं। बौद्धधर्म का आरंभ, विकास और भारतीय जीवन तथा कला पर उनके प्रभाव का अध्ययन करने वाले विद्वानों के लिए सारनाथ का संग्रहालय बहुत ही उपयोगी है।

सूरत विचेस्टर संग्रहालय

सूरत का यह संग्रहालय देश के प्रमुख संग्रहालयों में गिना जाता है; और इसके सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि उसका निर्माण वहाँ के नागरिकों के उदार सहयोग के कारण हुआ। इसमें लगभग ९,००० वस्तुएँ संगृहीत हैं, जिनमें से लगभग ६,००० वस्तुएँ सूरत के नागरिकों की ओर से भेंट-स्वरूप प्रदत्त हैं। इस संग्रहालय की स्थापना १८९० ई० में हुई थी।

विषय की दृष्टि से इसकी सामग्री कई भागों में विभाजित है। यहाँ का वस्त्र-विभाग गुजरात की वस्त्रकला का सर्वोच्च संग्रह है। इसमें खादी, ढाके की मलमल, किमखाब, तनछोई, मश्रु, बाँधनी, पटोला, बंगालू, घाटड़ी और हाथ के कपड़े आदि नाना प्रकार के नमूने हैं। इन व्रस्त्रों पर सौराष्ट्र, कच्छ और सिन्ध के कसीदा, जरी के विविध नमूने तथा उनकी सुन्दर पौराणिक चित्रों से मण्डित पिछावियाँ दर्शनीय हैं।

इस संग्रहालय के धातु-शिल्प-विभाग में बर्तन-भाँड़े, फूलदान, दीवट, थाली, तश्तरी, शंख, मणि, मीनाकारी की वस्तुएँ, रथ, हिंडोले और सिंहासन आदि सामग्री दर्शनीय है। चावल के दाने पर की गयी चित्रकारी और हाथी दाँत तथा लाख पर की गई कारीगरी बड़ी उच्चकोटि की है। इसके अतिरिक्त यहाँ का गुजराती पगड़ियों तथा पोशाकों का विभाग भी अपना अलग महत्व रखता है।

संग्रहालय का चित्र-विभाग भी बड़ा संपन्न है। उसमें राजपूत, मुग़ल, काँगड़ा और गुजरात कलम के चित्र तथा हाथीदाँत पर अंकित मुगल शैली के लघुचित्र उल्लेखनीय हैं। जैनधर्म के कल्पसूत्रों की सचित्र प्रतियाँ, मृण्मयीमूर्तियाँ, संगमर्मर की वस्तुएँ, पुरानी प्रस्तर प्रतिमाएँ, सुलेमानी पत्थर और स्फटिक की सुन्दर वस्तुएँ बड़ी मूल्यवान् हैं। यह सुलेमानी पत्थर अपने ढंग की अद्भुत वस्तु है। यह पत्थर पानी के ऊपर तैरता है। सुलेमानी पत्थर की एक कलाकृति यहाँ ऐसी भी है जिस पर चंद्रमा की विभिन्न कलाएँ दर्शित हैं।

इनके अतिरिक्त ताम्रलेख, ताड़पत्रीय पोथियाँ और चित्रित जन्म-पत्रियाँ आदि अनेकविध सामग्री इस संग्रहालय में सुरक्षित है।

हैदराबाद सालारजंग संग्रहालय

हैदराबाद का सालारजंग संग्रहालय, भारत के उन संग्रहालयों में से है जिनमें देश-विदेश की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं कलात्मक धरोहर सुरक्षित है। इस संग्रहालय को स्थापित करने का श्रेय नवाब सालारजंग तृतीय को है, जिनकी मृत्यु १९४९ ई० में हुई। इस महान् कलाप्रेमी नवाब की यह देन आज राष्ट्रीय संपत्ति के रूप में सार्वजनिक उपयोग के लिए घोषित कर दी गयी है। यह संग्रहालय सारे देश में अपने ढंग का अकेला संग्रहालय है।

इसकी मूल्यवान सामग्री कई भागों में विभक्त है; यथा बालकक्ष, चीनी-जापानी-कक्ष, मुगलकालीन कक्ष, पाण्डुलिपि कक्ष, कला-कृतियों का कक्ष, राग-रागनियों का कक्ष, शस्त्रास्त्रों का कक्ष और विशेष कक्ष आदि। इस संग्रहालय की सामग्री को ७६ कक्षों में विषयक्रम से विभाजितकर सुसज्जित किया गया है।

बाल-कक्ष में नवाब सालारजंग के बचपन से वृद्धावस्था तक के चित्र लगे हुए हैं। इस कक्ष में बालकों की रुचि के उपयुक्त संगमरमर, ताँबा तथा दूसरी धातुओं की कलापूर्ण मूर्तियाँ सज्जित हैं। माता के अंक में खेलते हुए बच्चे का चित्र और बच्चे को दूध पिलाती हुई माता का चित्र बहुत ही आकर्षक हैं।

प्रथम सात कक्षों में चीन की उच्चतम कला-कृतियों के दर्शन होते हैं। लगभग ६०० वर्ष प्राचीन वस्त्रों की अप्रतिहत चमक-दमक को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। चीन में निर्मित एक-से-एक सुन्दर पात्र इस कक्ष में देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के पात्र भी यहाँ सुरक्षित हैं, जिनमें यदि कोई विष-मिश्रित खाद्य-पदार्थ रखा जाय तो उसका तुरन्त पता लग जाता है। चीनी-जापानी कक्ष में सुरक्षित सूत से बनाये गये चित्र विशेष महत्व के हैं। चीनी-मिट्टी के बर्तनों पर किया गया सोने का काम भी दर्शनीय है। इसी प्रकार लकड़ी तथा हाथीदाँत पर अभिलिखित चित्र भी अपने ढंग के अतुलनीय हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन जापानी तलवारें, प्रोकलेन पर सीप का काम, कलापूर्ण सोरे, शृंगारदान और कालीन भी इस कक्ष की आकर्षक सामग्री हैं।

मिस्र, बर्मा और भारतीय-ईरानी कक्षों की सामग्री को देखकर उन देशों के साथ भारत के निकटतम सांस्कृतिक सम्बन्धों का पता चलता है। भारतीय-ईरानी कक्ष में सुरक्षित लैला का चित्र बड़ा ही भावपूर्ण है। दक्षिण भारत की कला-कृतियों के कक्ष में हाथीदाँत से बना मन्दिर का एक नमूना बड़ा ही सुन्दर है। हनुमान तथा कृष्ण-राधा आदि की जो हाथीदाँत की मूर्तियाँ हैं उनकी विशेषता यह है कि उनमें कहीं भी कोई जोड़ नहीं है।

मुगलकालीन कक्ष में कला-कृतियों का दुर्लभ संग्रह विद्यमान है। इस कक्ष में सैकड़ों बहुमूल्य चित्र सज्जित हैं। इस कक्ष में सभी मुगल शाहँशाहों के लघुचित्र (मिनिएचर) क्रमबद्ध रूप में टँके हुए हैं।

इस संग्रहालय के अठारहवें कक्ष में दुर्लभ पाण्डुलिपियों का वृहद् संग्रह सुरक्षित है। लिपि की दृष्टि से भी इन पोथियों का बड़ा महत्व है। कुछ पोथियाँ सचित्र हैं, जिनमें अधिकतर मुग़ल शैली का प्रभाव विद्यमान है। इन चित्रों पर सोने का काम है। कुछ पृष्ठों के चारो ओर सुनहरी कलम के भव्य एवं कलापूर्ण वार्डर बने हुए हैं। **'नौरस नामा'** एक पोथी नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी हुई है। **'तुजुके जहाँगीरी'** इस संग्रह की सर्वाधिक महत्व की सचित्र पोथी है। कुछ पोथियाँ तो एक इंच परिमाण की हैं, जिनको देखकर उनके कुशल लिपिकारों की साधना एवं निष्ठा के प्रति बड़ी श्रद्धा होती है। इस प्रकार की पोथियों को बिना यंत्रों की सहायता के नहीं पढ़ा जा सकता। लिखावट इतनी सुन्दर और स्पष्ट है कि आज की मुद्रण-कला भी उनके समक्ष फीकी पड़ जाती है।

इसी प्रकार की अन्य आश्चर्यजनक एवं सर्वथा दुर्लभ सामग्री से अनेक कक्ष भरे हुए हैं।

स्वर्गीय नवाब सालारजंग के वर्तमान उत्तराधिकारियों ने सालारजंग संग्रहालय और पुस्तकालय को राष्ट्रीय संस्था और संपत्ति के रूप में भारत सरकार को दे दिया है। यह संग्रहालय सारे देश में अपने ढंग का मत्वपूर्ण संग्रहालय है, जिसमें ऐतिहासिक महत्व की बहुमूल्य कला-सामग्री तथा अन्य दुलभ वस्तुएँ सुरक्षित हैं। भारत सरकार इस संग्रहालय को भारत के दक्षिणी भाग के लिए एक राष्ट्रीय संग्रहालय के रूप में विकसित करना चाहती है। अपने १९५८-५९ के बजट में सरकार ने इसकी सुरक्षा-व्यवस्था के लिए २ लाख रुपये की निधि स्वीकार की थी।

अन्य संग्रहालय

इन संग्रहालयों के अतिरिक्त देश में अनेक संग्रहालय हैं, जिनमें महत्वपूर्ण कला-कृतियाँ सुरक्षित हैं। इस प्रकार के संग्रहालयों की नामावली यहाँ दी जा रही है :

इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता (१८६६); नालन्दा संग्रहालय, नालन्दा, नागार्जुनी कोण्डा संग्रहालय, जिला गुंटूर, आंध्र; ताजमहल संग्रहालय, आगरा; ललितकला संग्रहालय, नई दिल्ली (१९०९); नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली; प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई (१९२१); पटना म्यूजियम, पटना (१९१७); खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना; पुरातत्व संग्रहालय मथुरा (१८७४); प्रोविंशियल म्यूजियम, भुवनेश्वर, उड़ीसा; पुरातत्व म्यूजियम, ग्वालियर (१९२२); राजपूताना म्यूजियम, अजमेर (१९०८); पुरातत्व म्यूजियम, जयपुर (१९४२); भूरिसिंह म्यूजियम, चम्बा, हिमांचलप्रदेश; मैसूर गवर्नमेंट म्यूजियम, बंगलौर (१८६५); पुरातत्व म्यूजियम, साँची; एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल (१८१४); पुरातत्व संग्रहालय, उदयपुर; पुरातत्व संग्रहालय, फैजाबाद; पुरातत्व संग्रहालय, भावनगर; पुरातत्व संग्रहालय, त्रिचूर; पुरातत्व संग्रहालय, त्रिवेन्द्रम्; पुरातत्व संग्रहालय, बीजापुर; पुरातत्व संग्रहालय, पूना; राजकीय संग्रहालय, औंध, और स्टेट म्यूजियम ऐंड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा (१८९४)।

केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें, उक्त संग्रहालयों में सुरक्षित राष्ट्रीय महत्व की इन कला-कृतियों एवं इतिहास तथा पुरातत्व की अन्य वस्तुओं की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए यत्नशील हैं। संग्रहालयों के पुनर्गठन की यह योजना १९५५-५६ से क्रियान्वित है। इसके अतिरिक्त सभी राज्यों में कला-पारखी विद्वानों की ऐसी समितियाँ आयोजित की गयी हैं, जिनके परामर्श से प्रति वर्ष राज्य संग्रहालयों के लिए दुर्लभ कलाकृतियों को क्रय किया जाता है। इस प्रकार की योजना से संग्रहालयों की अभिवृद्धि में बड़ा योग मिला है।

संग्रहालयों का पुनः संगठन और कला कृतियों का संग्रह

केन्द्रीय सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट १९५८-५९ में संग्रहालयों के पुनः संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि देश के संग्रहालयों के पुनः संगठन और विकास से सम्बन्धित मामलों और विभिन्न संग्रहालयों के बीच परस्पर और ज्यादा सम्पर्क बढ़ाने में सलाह देने के लिए संग्रहालयों के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड स्थापित

किया गया था। उसकी पहली बैठक सितम्बर १९५६ ई० में हुई। इस बोर्ड ने संग्रहालय-सर्वेक्षण की विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट कुछ संशोधन के बाद स्वीकार कर ली। बोर्ड की दूसरी बैठक दिसम्बर १९५७ ई० में हुई थी। संग्रहालयों के पुनः संगठन और विकास के लिए १९५८-५९ के बजट में अनुमानतः ९.४ लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी थी, जिसकी जगह १९५९-६० में १५ लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली की ओर से १९५८-५९ ई० में काँगड़ा शैली के चित्रों की एक जिल्द प्रकाशित होने का आयोजन था, जिसके लिए २१,००० रुपयों के व्यय की स्वीकृति दे दी गयी थी।

केन्द्रीय सरकार का आधुनिक कलावीथी (नेशनल गैलरी आफ मॉडर्न आर्ट) स्थापित करने का भी विचार है। उसके लिए आरम्भ में जो १,८५,००० रुपयों की व्यवस्था की गयी थी उसके स्थान पर १९५९-६० के बजट में २,४९,००० रुपयों की निधि बढ़ा दी गयी। इस निधि में राष्ट्रीय वीथी के लिए कला-सामग्री प्राप्त करने के लिए भी व्यवस्था की गयी है, जिसके लिए अब तक अलग से व्यवस्था की जाती थी।

इसी प्रकार दुर्लभ कला-कृतियों को क्रय करने के लिए भी क्रय-समिति का पुनर्गठन किया गया है। अब इस कार्य के लिए दो समितियाँ होंगी, एक तो राष्ट्रीय संग्रहालय के लिए और दूसरी राष्ट्रीय आधुनिक कला-वीथी के लिए। राष्ट्रीय संग्रहालय समिति की दो बार बैठकें हो चुकी हैं और दूसरी समिति की एक बार। १९५८-५९ में राष्ट्रीय संग्रहालय और राष्ट्रीय आधुतिक कला-वीथी के लिए कलासामग्री क्रय करने के लिए ४ लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी। १९५९-६० में केवल राष्ट्रीय संग्रहालय क लिए ३ लाख रुपयों की व्यवस्था थी। ३१-१२-५८ तक जिस सामग्री को राष्ट्रीय संग्रहालय में व्यवस्थित किया गया था उसका मूल्य १५३८.५९ रुपये और जिस कला-सामग्री को राष्ट्रीय आधुनिक कला-वीथी में रखा गया उसकी लागत लगभग ३०,००० रुपये थे।

रासायनिक परिरक्षण (प्रिजर्वेशन)

सरकार के द्वारा अनेक प्राचीन स्मारकों और प्राचीन वस्तुओं का रासायनिक उपचार किया जा रहा है। अजन्ता की गुफा नं० १६ तथा १७ के रंग-चित्रों की सफाई का कार्य आरंभ है। दीवालों पर ढीले पड़ गये रंग-चित्रों को भी भली-भाँति जमाया जा रहा है। इसी भाति एलोरा की छतों के चित्रों की भी व्यवस्था की जा रही थी। दरिया दौलत की दीवालों के रंग-चित्रों और त्रिप्रयार, पेरुवनम्, पल्लिमाना, श्रावणबेलगोला तथा चेम्मन्थत्ता के मंदिरों में बने रंग-चित्रों की सफाई एवं परिक्षण का कार्य समाप्त हो चुका है।

सभी ऐतिहासिक महत्व के कला-तीर्थों के चित्रमय पोस्टकार्ड तथा संदर्शक (गाइड) प्रकाशित किये गये हैं, कुछ का कार्य आरंभ है। अजन्ता, एलोरा, हलेबिड, बालूर, सोमनाथपुर, साँची, चित्तौड़गढ़, एलीफेण्टा, ऐहोल, बादामी, पत्तादकाल, मांडू, खजुराहो, भुवनेश्वर और दिल्ली आदि स्थानों में सुरक्षित रंग-चित्रों के चित्रमय पोस्टकार्ड प्रकाशित हो चुके हैं।

भारत के इन कला-स्मारकों की सुरक्षा, सुव्यवस्था के लिए योजनाबद्ध कार्य हो रहा है, और ऐसी आशा की जाती है कि यथा-संभव शीघ्र ही सरकार इस कार्य को पूरा करायेगी। वस्तुतः सदियों से उपेक्षित इन कला-स्मारकों की सामग्री की जो दुर्दशा देखने को मिल रही है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि द्रुतगति से इस दिशा में यत्नशील न हुआ गया तो यह अवशिष्ट कला-निधि भी सदा के लिए समाप्त हो जायगी।

प्राचीन स्मारकों का अन्वेषण-संरक्षण

पुरातत्व-विभाग की १९५८-५९ की गति-विधियों में प्राचीन स्मारकों का संरक्षण, अन्वेषण, खुदाई, उत्कीर्ण लेखों का परीक्षण, विभिन्न संग्रहालयों के सांस्कृतिक संग्रहों को प्राप्त करना और उनका प्रकाशन करना—प्रमुख रहा है। इस बीच पूर्वी मण्डल, मध्य-पूर्व मण्डल, उत्तरी मण्डल, उत्तर-पश्चिमी मण्डल, पश्चिमी मण्डल, दक्षिण-पश्चिम मण्डल और दक्षिण मण्डल आदि अनेक पुरातत्व-महत्व के स्थानों पर योजनाबद्ध कार्य हुआ, जिसके फलस्वरूप इतिहास, कला और संस्कृति से सम्बद्ध सर्वथा अपूर्व बातें प्रकाश में आयीं।

कटक (उड़ीसा) जिले के रत्नगिरि नामक स्थान की खुदाई में एक सुन्दर स्तूप, कुछ उत्कीर्ण लेख और मूर्तियाँ मिली हैं। उदयपुर (त्रिपुरा) के चतुर्दश देवता के मंदिर की, कटारा (मुर्शिदाबाद) की मस्जिद की, वृन्दावनचन्द्र ठाकुर (हुगली) के मठ के अहाते के मन्दिर की और कोणार्क के सूर्य मन्दिर की विशेष व्यवस्था की गयी। नालन्दा के स्मारकों पर भी कार्य हुआ। इफ़्तिखार खाँ का मकबरा (चुनार), लाल खाँ का मकबरा, सारनाथ के स्तूप और जौनपुर के किले आदि का संरक्षण हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्मारक ताजमहल और खजुराहो के मन्दिरों की भी मरम्मत हो रही है।

इसके अतिरिक्त अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा, कुतुबमीनार, सफदरजंग का मकबरा, जहाजमहल, जामा मस्जिद, मेहरौली का हौज शमशी, ईशा खाँ का मकबरा, लाल किला, कोटला फीरोज शाह, हनुमानगढ़, भागनेर किला, पुष्कर (अजमेर) का बादशाही महल और माहिम की शाहजहाँ-बावली आदि स्मारकों पर भी कार्य आरंभ किया गया है।

यमुना की सहायक नदी हिंडन के पूर्वी तट के निकट और मेरट से लगभग १९ मील दूर उखलीना नामक स्थान में हड़प्पा-संस्कृति के अवशेषों का पता लगाया गया है।

चित्तौड़गढ़ के सती वाड़े में खुदाई का कार्य चालू है। जूनागढ़ की खापड़ा कोडिया की गुफाओं में पकाई हुई मिट्टी की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो मथुरा की कनिष्क-मूर्ति से मिलती-जुलती है। अजन्ता, एलोरा, औरंगाबाद, भज और कान्हेरी की गुफाओं का पुनरुद्धार कार्य बड़ी तेजी से हो रहा है। पिट्ठलखोड़ा के मुख्य चैत्य में स्फटिक के महत्वपूर्ण पुण्य-अवशेष मिले हैं, जिनमें तीन स्तूप प्रमुख हैं। मद्रास स्थित तिरुमलय, वेल्लोर, बंगलौर का टीपू सुल्तान-महल और मैसूर राज्य के सोमनाथपुर में श्री केशव मन्दिर के संरक्षण का कार्य भी आरंभ है। नागार्जुन कोंडा का खुदाई-कार्य भी चल रहा है।

आंध्र, बम्बई, मध्य प्रदेश, मैसूर और उड़ीसा आदि राज्यों में खुदाई के फलस्वरूप अनेक महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से कुछ की परीक्षा भी की जा चुकी है। इस प्रकार के पुरातत्व एवं सांस्कृतिक महत्व के स्थानों की सुरक्षा, व्यवस्था, उत्खनन एवं पुनरुद्धार के लिए मंत्रालय की ओर से भविष्य में भी अच्छी योजनाएँ निश्चित की गयी हैं।

प्रमुख कलाकेन्द्रों की सूची

अमृतसर

इंडियन अकादेमी आफ फाइन आर्ट्स, कूपर रोड।

कलकत्ता

अकादेमी आफ फाइन आर्ट्स, इंडियन म्युजियम हाउस, २७ चौरंगी रोड।

इंडियन कालेज आफ आर्ट्स ऐंड ड्राफ्ट्समैनशिप, १३९ धर्मतला स्ट्रीट।

दि कलकत्ता आर्ट सोसाइटी, ७ लिन्से स्ट्रीट।

कोल्हापुर

कला-निकेतन, ११७—बी०, महाद्वार।

माडल आर्ट इंस्टिट्यूट।

गडग

विजय आर्ट इंस्टिट्यूट, गडग (मैसूर)।

गौहाटी

आसाम ललित कला अकादेमी, पान बाजार गौहाटी, (आसाम)।

ग्वालियर

मध्य भारत कला परिषद्।

देहरादून

कला केन्द्र, १ पटेल रोड, (उ० प्र०)।

जयपुर

राजस्थान ललितकला अकादेमी, कृष्ण निवास, महावीर रोड।

नयी दिल्ली

आल इंडिया फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी, ओल्ड मिल रोड।

दिल्ली शिल्पी चक्र, शंकर मैंशन, कनाट सर्कस।

शारदा उकील स्कूल आफ आर्ट, ६६ क्वीन्सवे।

पटना

शिल्पकला परिषद् गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स (बिहार)।

पूना

भारतीय कला प्रसारिणी सभा, ९४७ ए०, सदाशिव पेठ, लक्ष्मी रोड।

बम्बई

इंडियन इंस्टिट्यूट आफ आर्किटेक्चर्स, प्रोस्पेक्ट्स चेम्बर्ट, एनेक्से, महात्मा गाँधी रोड, फोर्ट।

इंडियन स्कलप्चर्स असोसिएशन, भूला भाई देसाई रोड

दि आर्ट सोसाइटी आफ़ इंडिया, सैंडहर्स्ट हाउस, सैंडहर्स्ट रोड।

दि नूतन कला-मन्दिर, ब्लावत्स्की लाज बिल्डिंग, फ्रेंच ब्रिज।

बम्बई आर्ट सोसाइटी, जहाँगीर आर्ट गेलरी, महात्मा गाँधी रोड, फोर्ट।

मार्डर्न आर्ट इंस्टिट्यूट, नून बिल्डिंग, दादर।

बोलपुर

शांति निकेतन (प० बंगाल)।

भागलपुर

कलाकेन्द्र, भागलपुर, (बिहार)।

मदुराई

आर्ट स्कूल, नार्थ अरानिमूला स्ट्रीट, मदुराई (मद्रास)।

मद्रास

नेशनल आर्ट गैलरी, गवर्नमेंट म्युजियम

प्रोग्रेसिव पेंटर्स असोसिएशन, २ कासा मैजर रोड।

साउथ इंडियन सोसाइटी आफ पेंटर्स, म्युजियम हाउस, दगमोर।

राजकोट
सौराष्ट्र कला मण्डल, राजकोट।

राज महेंद्री
दामेरला राव मेमोरियल आर्ट गेलरी ऐंड स्कूल, (आंध्र)।

लखनऊ
यू० पी० आर्टिस्ट असोसिएशन, ३७ हजरतगंज।
ललितकला अकादेमी, उत्तर प्रदेश।

शिमला
पांचाल ललित कला अकादेमी, द्वारा गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स, मोरवेन।

श्रीनगर
जम्मू ऐंड काश्मीर अकादेमी आफ आर्ट ऐंड कल्चर।

हैदराबाद
हैदराबाद आर्ट सोसाइटी, द्वारा गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स, हैदरगुदा।

आधुनिक और समसामयिक चित्रकारों की नामानुक्रमी

आधुनिक और समसामयिक चित्रशैली के निर्माण में जिन चित्रकारों का योग रहा है उनमें से कुछ चित्रकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त भी बहुत-से चित्रकार हैं, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हो पाया है; किन्तु जिनकी प्रभावशाली तूलिका का महत्व किसी भी प्रकार कम नहीं है। उनकी रचना-प्रक्रिया में सर्वथा नयी परिस्थितियाँ मुखरित हैं और कला-सर्जना के संबंध में उनके मान-मूल्य सर्वथा निजी हैं। कलाकारों की जो सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है उसको भी परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आज के कला-स्कूलों से नित्य ही जो नयी प्रतिभायें प्रकाश में आ रही हैं, उन सब का समावेश कर पाना संभव नहीं है। किन्तु जो नाम इस सूची में आ गये हैं उनको देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कलाकारों की वर्तमान पीढ़ी बड़ी तेजी से इस क्षेत्र में आगे बढ़ रही है। इस दृष्टि से कलाकारों और कला-प्रेमी अध्येताओं के लिए आज एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है, जिसमें स्वतंत्र रूप से आधुनिक पीढ़ी के कलाकारों का परिचय, उनकी दृष्टि और सृष्टि के रूप में ही प्रस्तुत किया जाय। हिन्दी के लिए यह कार्य और भी आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी के पाठकों के लिए यह विषय अभी सर्वथा नया है। आधुनिक और समसामयिक चित्रकारों की नामावली इस प्रकार है :

१—अकबर पदमसी
२—अजित चक्रवर्ती
३—अतुल बोस
४—अनागारिक गोविंद
५—अरुण बोस
६—अनादि अधिकारी
७—अनिल मजूमदार
८—अनिल राय चौधरी
९—अब्दुर्रहमान चगतई
१०—अभय खटाऊ
११—अमीना अहमद
१२—अमृत शेरगिल
१३—अकबेरकर
१४—अलमेलकर, एम० ए०
१५—अलाग्री नायडू
१६—अरुण मुकर्जी
१७—अरूपदास
१८—अवतारसिंह पवार
१९—अग्नि सेन
२०—अवनींद्रनाथ ठाकुर
२१—अविनाश
२२—अवान सेन
२३—असितकुमार हाल्दार
२४—आनंदमोहन शास्त्री, के०
२५—आरा, के० एच०
२६—आर्य
२७—इन्द्रलाल मोदी
२८—ईश्वरदास
२९—उर्मिल जैन
३०—उषा पशरिका
३१—उषा मंत्री
३२—एंजिला त्रिनिनाद
३३—एकबाल हुसेन
३४—ओंप्रकाश
३५—कँवल कृष्ण
३६—कनाडीवाला
३७—कमल जैन
३८—कमला दासगुप्ता
३९—कमला मित्तल
४०—कमला राय चौधरी
४१—करुणाकर
४२—कल्याण सेन
४३—कविल गोपाल
४४—कस्तूरिया
४५—काजी, एस० ए० एम०
४६—कार्ल फ्रेडरिक
४७—किरण सिन्हा
४८—कुत्तालम्, एस०
४९—कुमारिल स्वामी
५०—कुलकर्णी, के० एस०
५१—केवटराम
५२—कृपालसिंह शेखावत
५३—कृष्ण, एस०
५४—कृष्णकुमार
५५—कृष्णचंद्र आर्यन्
५६—कृष्णमूर्ति, एम०
५७—क्षितिज चक्रवर्ती

५८—क्षितींद्रनाथ मजूमदार
५९—क्षितींद्रमोहन मजूमदार
६०—क्षितेन दत्त
६१—खाडेलकर, बी० एम०
६२—खोडीदास बी० परमार
६३—गगनेंद्रनाथ ठाकुर
६४—गाँधी, एस० बी०
६५—गादे, एच० ए०
६६—गायतोंडे, वी० एस०
६७—गुप्ता, जे० एस०
६८—गुप्ता, डी० सी०
६९—गुर्जर, बी० एस०
७०—गुलाम मुहम्मद
७१—गोपाल घोष
७२—गोरक्षक, एस० एन०
७३—गोवर्द्धनलाल जोशी
७४—गोवर्द्धन सेन
७५—गोविंद स्वामी, सी० आर०
७६—गौतम डी० बघेला
७७—गोरांगचरण सान
७८—चंद्र घोष, यू० सी०
७९—चंद्रमोहन
८०—चंद्रन योगेश
८१—चंद्रेश सक्सेना
८२—चार्ल्स दास, ए० पी०
८३—चिंचलकर, बी० डी०
८४—चेतन
८५—चोनकर, जे० बी०
८६—छगनलाल यादव
८७—जगदीश गुप्त
८८—जगदीश भट्टाचार्य
८९—जगदीश मित्तल
९०—जग्गू पीठवा
९१—जगन्नाथ मुरलीधर अहिबासी
९२—जयंत पारीख
९३—जयंत सिधपुरा
९४—जहाँगीर सबागला
९५—जान्स, एफ०
९६—जार्ज कीट
९७—जिज्जा, बी० एम०
९८—जितेंद्रकुमार
९९—जेनब रेड्डी, श्रीमती
१००—जोशी, डी० जे०
१०१—ज्योति शाह
१०२—ज्योतिष्मान शंकर भट्ट
१०३—ज्योतिष भट्टाचार्य
१०४—ज्योतिस्वरूप
१०५—ज्योतींद्रनाथ ठाकुर
१०६—झाला
१०७—ठाकुर सिंह
१०८—तरुणिका मंसाराम
१०९—तलबलकर
११०—तारादास सिन्हा
१११—तिरुमल राव, के०
११२—त्रिलोक कौल
११३—थामस, ए० डी०
११४—दक्षमूर्ति, सी०
११५—दत्त, एस० बी०
११६—दत्तात्रेय देवलालीकर
११७—दमयंती चावला
११८—दर, के० एम०
११९—दिनकर कौशिक
१२०—दिनेश शाह
१२१—दिलीप कुमार
१२२—दीनदयालु, के० एस०
१२३—दीपक बनर्जी
१२४—दीपेन बोस
१२५—दुबे, ए० पी०
१२६—देव कुमार राय चौधरी
१२७—देवकृष्ण, जे० जोशी
१२८—देवयानी कृष्णा
१२९—देवललितकर
१३०—देवी प्रसाद राय चौधरी
१३१—द्विजेन सेन
१३२—धनराज भगत
१३३—धनपाल
१३४—धीरेंद्र कुमार देव बर्मन
१३५—धीरेंद्रनाथ ब्रह्म
१३६—धूलिया, डी० पी०
१३७—नगेन भट्टाचार्य
१३८—नंदलाल
१३९—नंदलाल बसु
१४०—नाचनकर
१४१—नारायण श्रीधर बेन्द्रे
१४२—नालबाला, एन० जे०
१४३—निगम, एस० जी०
१४४—नित्यानंद महापात्र
१४५—निवासुलु
१४६—निवेदिता परमानंद
१४७—नीलिमा दे
१४८—नीहार रंजन चौधरी
१४९—नृसिंह मूर्ति, पी० एल०
१५०—पनिक्कर, के० सी० एस०
१५१—परितोष सेन
१५२—पलसीकर, एस० बी०
१५३—पालराज, जी० डी०
१५४—पुलिन बिहारी दत्त
१५५—पूर्णेन्दुपाल
१५६—पैडी राजू
१५७—प्रद्युम्नतारा
१५८—प्रफुल्ल जोशी
१५९—प्राणकृष्ण पाल
१६०—प्राणनाथ मागो
१६१—प्रतिभा जैन
१६२—प्रदोष दासगुप्ता
१६३—प्रभा रस्तोगी
१६४—प्रमोद चटर्जी
१६५—प्रेमजा चौधरी
१६६—प्रेम भटनागर
१६७—फातिमा
१६८—फारूख
१६९—फ्रांसिस न्यूटन सूजा
१७०—बद्री, डी०
१७१—बद्रीनाथ आर्य
१७२—बद्रीनारायण
१७३—बलवत्रे, ए० जोशी
१७४—बाडनगेकर
१७५—बाघुलकर, एस० बी०
१७६—बाल चावड़ा
१७७—बालादत्त पाण्डेय
१७८—बिहारी बरसैया
१७९—भगवान कपूर
१८०—भटनागर, एफ० ए०
१८१—भवानीचरण
१८२—भवानी मित्तल
१८३—भवेश सान्याल

१८४—भाऊ समर्थ
१८५—भागेश्वर, के० शर्मा
१८६—भानु
१८७—भारती, एम० ए०
१८८—भास्वर
१८९—भूपेन्द्र
१९०—भूरिसिह शेखावत
१९१—मंसाराम
१९२—मंगलसिंह, के० एस०
१९३—मदनलाल नागर
१९४—मणींद्रभूषण गुप्त
१९५—मनीषी दे
१९६—महादेव विश्वनाथ धुरंधर
१९७—महेंन्द्रनाथ सिंह
१९८—महेश
१९९—माखनदत्त गुप्त
२००—माधव मेनन, के०
२०१—माली, बी० ए०
२०२—मित्रा बंधु
२०३—मित्रा, बी० एल०
२०४—मुकलचंद्र दे
२०५—मुनीश गुप्त
२०६—मुलगांवकर
२०७—मुहम्मद अहमद
२०८—मैना देसाई
२०९—मोहन बी० सामंत
२१०—मोहम्मद उस्मान
२११—मेंढके, एच० एल०
२१२—मोहिनी दीवान
२१३—मृणाल कांतिवर्धन
२१४—यशपाल
२१५—यज्ञेश्वरनारायण शुक्ल
२१६—योगी
२१७—रंजन सेन
२१८—राचशू
२१९—रजा, के० एस०
२२०—रणदा उकील
२२१—रणवीर
२२२—रणवीर सक्सेना
२२३—रणवीरसिंह बिष्ट
२२४—रतनम्, टी० बी०
२२५—रथीन मित्र
२२६—रमा मुकर्जी
२२७—रमेन चक्रवर्ती
२२८—रमेश गर्ग
२२९—रमेंद्रनाथ चक्रवर्ती
२३०—रवि वर्मा
२३१—रामेश्वर वर्मा
२३२—रविशंकर रावल
२३३—रवीन्द्रनाथ ठाकुर
२३४—रवीन्द्रनाथ देव
२३५—रसिकलाल पारीख
२३६—रागी शर्मा
२३७—राचसू
२३८—राजाराम
२३९—राजैया, के०
२४०—राजेश मेहरा
२४१—राधेश्याम चौधरी
२४२—रानी चंदा
२४३—राम अवतार
२४४—रामकुमार
२४५—रामकुमार शाह
२४६—राम किंकर बैज
२४७—रामगोपाल विजयवर्गीय
२४८—रामचन्द्र शुक्ल
२४९—रामनाथ
२५०—राममोहन शास्त्री, के०
२५१—रामानन्द चटर्जी
२५२—रामाराव
२५३—रामास्वामी, सी०
२५४—राय, एस० एन०
२५५—राय, के० एस०
२५६—राय, बी० आर०
२५७—रेडप्पा
२५८—रेखा
२५९—रेड्डी, कृष्ण
२६०—रेड्डी, पी० टी०
२६१—रेवा, ए० ए०
२६२—रेवा दासगुप्ता
२६३—रोरिक, स्वेतोस्लाव
२६४—रोबिन राय
२६५—लक्ष्मण पाई
२६६—ललितमोहन सेन
२६७—लाल काका
२६८—लीलानन्द नौटियाल
२६९—लोकपाल सिंह
२७०—वरदाचरण उकील
२७१—वर्मा, पी०
२७२—वसन्तराय व्यास
२७३—वसरिया गांगुली
२७४—वाणी प्रसन्न
२७५—विजय लक्ष्मी, पी० डी०
२७६—विद्याभूषण
२७७—विनयभूषण दास
२७८—विनायक मासोजी
२७९—विनोद बिहारी मुखर्जी
२८०—विनोद मजूमदार
२८१—विनोद रे
२८२—विपिन अग्रवाल
२८३—विमल दास गुप्ता
२८४—विश्वनाथ मुखर्जी
२८५—वीरेन दे
२८६—वीरेन्द्र राही
२८७—वीरेश्वर सेन
२८८—वेंकटय्या, के०
२८९—वेद प्रकाश
२९०—व्यास, सी० एम०
२९१—शान्तिलाल एस० दवे
२९२—शान्ति शाह
२९३—शारदाचरण उकील
२९४—शाह, जे० बी०
२९५—शाह, बी० एल०
२९६—शिलीन्द्रनाथ मजूमदार
२९७—शिवबख़्श चावड़ा
२९८—शीला ओडेन
२९९—शुक्ला, वाई० के०
३००—शेषगिरि राव
३०१—शैलेन मित्रा
३०२—शैलेन्द्रनाथ दे
३०३—शैलेश देव
३०४—शैलोज मुकर्जी
३०५—शोभा सिंह
३०६—श्रीकृष्ण खन्ना
३०७—श्रीनिवासुलु, के०
३०८—श्रीपतराय
३०९—सत्येन्द्र घोषाल

३१०--सत्येन्द्रनाथ बनर्जी
३११--सतपुते, बी० जी०
३१२--सतीश गुजराल
३१३--सतीश सिनहा
३१४--समरेन्द्रनाथ गुप्त
३१५--समी-उज्जमां
३१६--सरला कपूर
३१७--सर्वजीत सिंह
३१८--सलीम
३१९--सागरा, पी० सी०
३२०--साथी, आर० सी०
३२१--सांत्वना गुहा
३२२--सिंह, ए० जे०
३२३--सिंहल, जे० पी०
३२४--सिंह नेपाली, के० एन०
३२५--सीताराम माधव जायसवाल
३२६--सुकुमार देउस्कर
३२७--सुकुमार बोस
३२८--सुखदेव
३२९--सुखबीर संघल
३३०--सुखमय मित्र
३३१--सुधीर खास्तगीर
३३२--सुनील पाल
३३३--सुनील माधव सेन
३३४--सुरेन्द्रनाथ गांगुली
३३५--सुरेश्वर सेन
३३६--सुल्तान अली
३३७--सुब्बाराव, ए० बी०
३३८--सुब्रह्मण्य, के० जी०
३३९--सुशील कुमार मुखर्जी
३४०--सुशील सरकार
३४१--सूर्य, बी० तैयबजी
३४२--सूरज सदन
३४३--सेलवाम
३४४--सैयद अहमद
३४५--सैयद बिन मोहम्मद
३४६--सोमनाथ होर
३४७--सोमालाल शाह
३४८--स्टेला ब्राउन
३४९--हकीम मोहम्मद
३५०--हजार्नेस, जी० एम०
३५१--हरकिशनलाल
३५२--हरेनदास
३५३--हान्दानकर, एस० एल०
३५४--हिम्मत शाह
३५५--हुसेन एम० एफ०
३५६--हेब्बर, के० के०
३५७--हेमन्त मिश्र
३५८--हैवेल, ई० बी०

ग्रन्थानुक्रमी

शिल्प और कलाविषयक ग्रंथों की इस नामानुक्रमी को देखकर भारत की कलाभिरुचि का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। इस ग्रंथ सामग्री में कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं,जिनका मुख्य विषय कला तथा शिल्प नहीं हैं; किन्तु उनका महत्त्व इसलिए है कि वे भारत की अतीतकालीन कला परम्परा को और भारत में कला की व्यापक भावना को अभिव्यक्त करते हैं।

विशुद्ध कला-विषय को लेकर जो ग्रंथ लिखे गये उनमें अधिकतर आज विभिन्न हस्तलेख संग्रहों में अप्रकाशित अवस्था में है। किन्तु कुछ कला प्रेमी विद्वानों के उद्योग से इस अर्ध शती के भीतर जो ग्रंथ प्रकाश में आये हैं उनके कारण भारतीय कला के निर्धारित मान-मूल्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ है। अतः भारत की कला-समृद्धि के लिए, आज के कलाकारों का देशव्यापी समान होना तथा उनकी कृतियों का अधिकाधिक प्रचार होना जितना आवश्यक है, उतनी ही आवश्यकता इस बात की भी है कि कलाविषयक प्राचीन ग्रंथसामग्री को प्रकाश में लाया जाय।

१--अंकशास्त्र
२--अंशुमत (काश्यपीय)
३--अंशुमानकल्प
४--अगस्त्य सकलाधिकार
५--अग्निपुराण
६--अत्रिसंहिता
७--अथर्ववेद
८--अपराजितपृच्छा
९--अपराजित वास्तुशास्त्र
१०--अभिलषितार्थ चिन्तामणि
११--आगारविनोद
१२--आत्रेयतंत्र
१३--आनन्दतंत्र
१४--आयतत्व
१५--आयादिलक्षण
१६--आरामादि प्रतिष्ठा
१७--आरामादि प्रतिष्ठा पद्धति
१८--आरूणतंत्र
१९--आर्षतंत्र
२०--आश्वलायन गृह्यसूत्र
२१--ऋग्वेद
२२--कपिंजल संहिता
२३--कर्णागम
२४--कलाविलास
२५--कल्पसूत्रटीका
२६--कापिलतंत्र
२७--कामसूत्र
२८--कामिरागम
२९--कालिकापुराण
३०--काश्यप शिल्प

३१—कूपादि जलस्थान लक्षण
३२—कौतुकलक्षण
३३—क्षीरार्णव
३४—क्षत्रनिर्माण
३५—क्षेमनिर्माणविधि
३६—क्रियासंग्रह पंचाशिका
३७—क्रियासंग्रह
३८—गरुड़पुराण
३९—गार्ग्यतंत्र
४०—गार्ग्य संहिता
४१—गालवतंत्र
४२—गृहनिरूपणसंक्षेप
४३—गृहनिर्माणविधि
४४—गृहपीठिका
४५—गृहवास्तुप्रदीप
४६—गोपुरविमानादि लक्षण
४७—गोमिलसूत्र
४८—ग्रामनिर्णय
४९—घटोत्सर्गसूचिका
५०—चक्रशास्त्र
५१—चित्रकर्मशिल्प शास्त्र
५२—चित्रज्ञान
५३—चित्रपट
५४—चित्रलक्षण
५५—चित्रसार
५६—चित्रसूत्र
५७—चुल्लवग्ग
५८—जयमाधव मानसोल्लास
५९—जलार्गललक्षण
६०—ज्ञानरत्नकोश
६१—ज्ञानसागरतंत्र
६२—तंत्रसमुच्चय
६३—तच्चुशास्त्र
६४—तारालक्षण
६५—तार्क्ष्यतंत्र
६६—त्रैलोक्य मोहनतंत्र
६७—दशतल न्यग्रोध परिमण्डल बुद्ध प्रतिमा
६८—दशाप्रक्षर
६९—दिक्साधन
७०—दीप्तितंत्र
७१—दीप्तिसार
७२—दीर्घ विस्तार प्रकार
७३—देवताशिल्प
७४—देवालयलक्षण
७५—देवीपुराण
७६—द्वारलक्षणपटल
७७—नाटयसूत्र
७८—नारदपुराण
७९—नारदसंहिता
८०—नारदीय तंत्र
८१—नारसिंहतंत्र
८२—नारायणिक तंत्र
८३—नवाशास्त्र
८४—नीतिसार
८५—पंचरात्रप्रदीपिका
८६—पक्षिमनुष्यालयलक्षण
८७—पारस्कर गृह्यसूत्र
८८—पिण्ड प्रकार
८९—पीठलक्षण
९०—पौस्करतंत्र
९१—प्रतिमाद्रव्यादि वचन
९२—प्रतिमामानलक्षण
९३—प्रतिमालक्षण
९४—प्रतिष्ठातंत्र
९५—प्रतिष्ठातत्व
९६—प्रबंधकोश
९७—प्रह्लादतंत्र
९८—प्रासादकल्प
९९—प्रासाददीपिका
१००—प्रासादमंगल
१०१—प्रासादमण्डन वास्तुशास्त्र (राजवल्लभमण्डनशास्त्र)
१०२—प्रासादभानलक्षण
१०३—प्रासादलक्षण
१०४—प्रासादनुकीर्तन
१०५—प्रासादादि वचन
१०६—प्रासादालंकार लक्षण
१०७—बिम्बमान
१०८—बुद्धप्रतिमालक्षण
१०९—बुद्धलक्षण
११०—बोधायनतंत्र
१११—ब्रह्मयामल
११२—ब्रह्मवैवर्तपुराण
११३—ब्रह्मशिल्प
११४—ब्रह्माण्डपुराण
११५—बृहत्संहिता
११६—भविष्यपुराण
११७—भुवनप्रवेश
११८—मंजुश्री मूलकल्प
११९—मंत्रदीपिका
१२०—मठप्रतिष्ठातत्व
१२१—मत्सस्यपुराण
१२२—मनुष्यालयचन्द्रिका
१२३—मयमत
१२४—मयमत शिल्पशास्त्र
१२५—महानिर्वाणतंत्र
१२६—महावग्ग
१२७—मानकथन
१२८—मानसार
१२९—मानव वास्तुलक्षण
१३०—मानसोल्लास
१३१—मानसोल्लासवृत्तान्त प्रकाश
१३२—मूर्तिध्यान
१३३—मूर्तिलक्षण
१३४—मूलस्तम्भनिर्णय
१३५—युक्तिकल्पतरु
१३६—रत्नदीपिका
१३७—रत्नमाला
१३८—राजगृहनिर्माण
१३९—राजवल्लभटीका
१४०—राशिप्रकार
१४१—रूपमण्डन
१४२—लक्षण समुच्चय
१४३—लघुशिल्प ज्योतिष
१४४—ललितविस्तर
१४५—लिंगपुराण
१४६—वलिपीठलक्षण
१४७—वायुपुराण
१४८—वासिष्ठतंत्र
१४९—वास्तुचक्र
१५०—वास्तुतत्व
१५१—वास्तुनिर्णय
१५२—वास्तुपुरुष लक्षण
१५३—वास्तुप्रकाश
१५४—वास्तुप्रदीप

१५५—वास्तुप्रबंध
१५६—वास्तुमंजरी
१५७—वास्तुमण्डन
१५८—वास्तुयोगतत्त्व
१५९—वास्तुरत्नप्रदीप
१६०—वास्तुरत्नावली
१६१—वास्तुराजवल्लभ
१६२—वास्तुलक्षण
१६३—वास्तुविचार
१६४—वास्तुविद्या
१६५—वास्तुविधि
१६६—वास्तुशास्त्र
१६७—वास्तुशिरोमणि
१६८—वास्तुसंख्या
१६९—वास्तुसंग्रह
१७०—वास्तुसमुच्चय
१७१—वास्तुसर्वस्व
१७२—वास्तुसार
१७३—वास्तुसारसर्वस्वसंग्रह
१७४—वास्तुसारिणी
१७५—वास्तुसौरभ
१७६—विनयपिटक
१७७—विमानलक्षण
१७८—विश्वकर्मप्रकाश
१७९—विश्वकर्ममत
१८०—विश्वकर्मज्ञाने
१८१—विश्वकर्मपुराण
१८२—विश्वकर्मासंप्रदाय
१८३—विश्वकर्मीय शिल्प
१८४—विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र
१८५—विश्वविद्याभरण
१८६—विश्वसार
१८७—विष्णुधर्मोत्तर पुराण
१८८—वृत्तान्तप्रकरण
१८९—वेदान्तसार
१९०—वैखानसागम
१९१—वैश्वकतंत्र
१९२—शतपथब्राह्मण
१९३—शाण्डिल्यतंत्र
१९४—शास्त्रजलधिरत्न
१९५—शिल्पकलादीपिका
१९६—शिल्पग्रंथ
१९७—शिल्पदीपिका
१९८—शिल्पनिघण्टु
१९९—शिल्परत्न
२००—शिल्पलेख
२०१—शिल्पशास्त्र
२०२—शिल्पशास्त्रसारसंग्रह
२०३—शिल्पसदाजय
२०४—शिल्पसर्वस्वसंग्रह
२०५—शिल्पसार
२०६—शिल्पार्थशास्त्र
२०७—शेषभाष्य
२०८—शैवपंचरात्र
२०९—शैवागम
२१०—शौनकतंत्र
२११—षड्विदिकसंधान
२१२—संग्रहशिरोमणि
२१३—संप्रश्नतंत्र
२१४—संबुद्धभाषित प्रतिमालक्षणविवरण
२१५—सकलाधिकार
२१६—सनत्कुमार वास्तुशास्त्र
२१७—सर्वविहारीय यंत्र
२१८—समरांगण सूत्राधार
२१९—सात्ययंत्र
२२०—सारस्वतीय समरांगणसूत्रधार
२२१—सारस्वतीय शिल्पशास्त्र
२२२—सुप्रभेदागम
२२३—स्कन्दपुराण
२२४—स्थलशुभाशुभकथन
२२५—स्वायंभुवतंत्र
२२६—हयशीर्षतंत्र

सन्दर्भ ग्रन्थ

हिन्दी

१. अवध उपाध्याय
चित्रकला; प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २००५ वि०।

२. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर
भारत शिल्प के षडंग; इलाहाबाद, नया साहित्य प्रकाशन, १९५८।

३. अशोक मित्र
भारतेर चित्रकला; कलकत्ता, बंगाल पब्लिशर्स, १९५६ (बँगला)।

४. असगर अली कादरी
चित्रकला का इतिहास; द्वितीय सं, आगरा, रामप्रसाद ऐंड सन्स, १९५७।

५. असितकुमार हालदार
भारतीय चित्रकला; इलाहाबाद, चन्द्रलोक, १९५९।
ललित कला की धारा; इलाहाबाद, चन्द्रलोक, १९६०।

६. **चिरंजीलाल झा**
चित्रकला के छः अंग; गाजियाबाद, लक्ष्मीकला कुटीर, १९५२।
भारतीय चित्रकला का विकास; गाजियाबाद, लक्ष्मीकला कुटीर, १९५७।
विश्व की चित्रकला; गाजियाबाद, लक्ष्मीकला कुटीर, १९६१।

७. **जगदीश गुप्त**
भारतीय कला के पदचिह्न; दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६१।

८. **नन्दलाल बसु**
रूपावली; कलकत्ता, विश्वभारती ग्रंथालय, १९४९।
शिल्पकथा; द्वितीय संस्करण। इलाहाबाद, साहित्य भवन, १९५२।
विहार का चित्रित गौरव; पटना, १९४०।
भारतीय कला का सिंहावलोकन; देहली, १९५५।

९. **नानालाल चमनलाल मेहता**
भारतीय चित्रकला; इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी अकेडेमी, १९३३।

१०. **मनोहर लाल**
कला एक अध्ययन; चतुर्थ संस्करण, इलाहाबाद, रामनारायण लाल, १९५५।

११. **माधवराव खंडेराव बागला**
कला आणि कलावन्त; कोल्हापुर, आर्ट सोसाइटी, १९३६-४४ (मराठी)।

१२. **मोतीचन्द्र**
दक्खिनी कलम : बीजापुर; बनारस, भारत कला भवन, (तिथि रहित)।

१३. **राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह**
महाराज संसारचन्द; दिल्ली, आत्माराम, १९५९।

१४. **रामगोपाल विजयवर्गीय**
राजस्थानी चित्रकला; जयपुर, विजयवर्गीय कला मण्डप, १९५३।

१५. **रामचन्द्र शुक्ल**
कला तथा आधुनिक प्रवृत्तियाँ; लखनऊ, सूचना विभाग, १९५८।
नवीन भारतीय चित्रकला; इलाहाबाद, किताब महल, १८८४ श०।
शिल्पलोक; पटना, किताब घर, १९५३।

१६. **राय आनन्द कृष्ण**
अजन्ता के चित्रकूट; देहली, राजकमल प्रकाशन, १९५९।

१७. **राय कृष्णदास**
भारत की चित्रकला; वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, १९३९।

१८. **विद्यावती मालविका**
बुद्ध कला रीतियाँ; वाराणसी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, (तिथि रहित)।

१९. **शिवराम कारंत**
भारतेय चित्रकले; पुत्तूर लेखन, १९३० (कन्नड़)।

२०. **शैलेन्द्रनाथ दे**
भारतीय चित्रकला पद्धति; चतुर्थ संस्करण, इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, १९४०।

२१. **शचीरानी गुर्टू**
कला दर्शन; दिल्ली, साहनी प्रकाशन, १९५६।

२२. **सतीशचन्द्र काला**
भारतीय चित्रकला; इलाहाबाद, बेलवेडियर प्रेस, १९३६।

२३. **सीताराम, के० एन०**
बृहद् भारतीय चित्रकला में रामायण; चतुर्थ संस्करण, लाहौर, मोतीलाल बनारसीदास, १९९० वि०।

अंगरेजी

LIST OF ABBREVIATIONS USED IN THE BIBLIOGRAPHY

An. Bhandarkar Inst.	:	Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
Art & L.	:	Art & Letters, London.
Art As.	:	Artileus Asiae, Ascona.
Art Bull.	:	Art Bulletin, New York.
Art Q.	:	Art Quarterly, Detroit.
Bhar. Vidya.	:	Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay.
Bull. Baroda Mus.	:	Bulletion of the Baroda Museum &Picture Gallery.
Bull. Deccan Col	:	Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona.
Bull. Metr. Mus. Art	:	Bulletin, the Metropolitan Museum of Art, New York.
Bull. PWM.	:	Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India, Bombay.
Bull. Rama Varma Res. Inst.	:	Bulletin of the Sri Rama Varma Research Institute, Trichur.
Burl. Mag.	:	Burlington Magazine, London.
Ind. Art. & L.	:	Indian Art and Letters. (Continued as Art & Letters).
Ind. Hist. Quart.	:	Indian Historical Quarterly, Calcutta.
JAOS	:	Journal of the American Oriental Society.
JBRS	:	Journal of the Bihar Research Society, Patna.
J. Gujarat Res. Soc.	:	Journal of the Gujarat Research Society, Bombay.
JISOA	:	Journal of the Indian Society of Oriental Art, Calcutta.
Jup. Hist. S.	:	Journal of the United Provinces Historical Society, Deptt. of History, Lucknow University.
J. Univ. Bombay	:	Journal of the University of Bombay.
Law Vol.	:	B. C. Law Volume. 2vols. Calcutta-Poona, 1945-46.
Mod. Rev.	:	Modern Review, Calcutta.
NIA	:	New Indian Antiquary, Poona.
PIHC	:	Proceedings of The Indian Historical Congress, Calcutta.
Sc. & Cult.	:	Science & Culture, Calcutta.
VBQ	:	Visva Bharati Quarterly.
Woolner Comm. Vol.	:	Wooolner Commemoration Volume, Lahore, 1940.

BIBLIOGRAPHY

Abul Fazl 'Allami'.
Ain-i-Akbari; tr. by H. Blochmann. Calcutta, 1873-94.

Achan, M. A.
A note on the paintings on the walls of the central shrine of the Vadakkunnathan Temple, Trichur; Archaeological Deptt. Cochin State.

Acharekar, M. R.
Rupadarsini, The Indian Approach to Human Form; Bombay, Rekha publications, 1949.

Agrawal, V. S.
Gupta Art; Lucknow, U. P. Historical Society, 1947.
(A) Jaina Cloth Painting or Chitrapata of Taruna Prabha Suri; JUP. Hist. S., xxii, 1949. pp. 214.
The Romance of Himachal Painting; Roop-Lekha, xx, No. 2, 1948-49. pp. 87—93.

Anagarika, B. Govinda.
Art & Meditation : An Introduction to Twelve Abstract Paintings; Allahabad, 1936.

Anand, Mulk Raj.
The Hindu View of Art; London, George Allen & Unwin, 1933.

Apurva Prakasa.
The Foundation of Indian Art & Archaeology; Lucknow, Oriental Art Press, 1942.

Archer, Mildred.
Patna Painting ; 2nd ed, London, Royal India Society, 1948.

Archer, Mildred & Archer W. G.
Indian Painting for the British; London, Geoffrey Cumberlege, 1955.

Archer, W. G.
Bazar Paintings of Calcutta, the Style of Kalighat; London, Her Majesty's Stationery Office, 1953.
Central Indian Painting; London, Faber & Faber 1958.
Garhwal Painting; London, Faber & faber, 1954.
India & Modern Art; London, George Allen & Unwin, 1959.
Indian Paintings from Bikaner; The Listner, Sept. 29th, 1949.
Indian Painting in the Punjab Hills; London, Her Majesty's Stationery Office, 1952.
Kangra Painting; London, Faber & Faber, 1952.
The Loves of Krishna in Indian Painting & Poetry; Landon, George Allen & Unwin, 1957.
Maithili Painting; Marg III, no. 3, pp. 2, 24-33.
Summary of Lecture on How the English Conception of Indian Paintings Has Changed During the Last Two Hundred Years; Art & L. xxiv, 1950. pp. 63.

Ardeshar, A. C.
Mughul Miniature Painting : Roop-Lekha, I, no. 2, 1940, pp. 1937.
Mughal Miniature Painting : The School of Jehangir; Roop-Lekha, II, no 3, 1940, pp.1 9-43.
Mughal Miniatnre Painting : The School of Shah Jehan; Roop-Lekha, II, no. 4, pp. 23-52.

Arnold, Sir Thomas W.
The Islamic Book, A Contribution to Its Art & History from the 17th-18th century; Paris, Pegarus Press 1929.
Painting in Islam, a Study of the Place of Pictorical Art in Muslim Culture; Oxford, Clerendon Press 1928.

Arnold, Sir Thomas W. & Wilkinson, J. V. S.
The Library of A. Chester Beatty—A Catalogue of the Indian Miniatures; Bloomsbury, Emery Walkar, 1936.

Auboyer, Jeannine.
Composition & Perspective at Ajanta, Art & L. XXII, 1948, pp. 20-28.
Bagh Caves in the Gwalior State; Pub. by the India Society in Co-operation with the Deptt. of Archaeology, Gwalior, 1927.

Barnett, L. D.
Antiquities of India; London, P. L. Warner. 1913.

Barua, Benimadhab.
Bharhut; Calcutta, Indian Research Institute, 1934.

Bazin, Germain.
Indian Art (in his 'A Concise History of Art), pp. 433-452. London, 1958.
Bengal Painter's Testimony; Calcutta, Bengal Library, 1944.

Bernier, Francois.
Travels in the Mughal Empire; Oxford, 1924.

Beveridge, A. S.
The History of Humayun (tr. of the Humayunnamah); London, 1902.

Bharat Kala Bhawan.
Bharat Kala-Bhavan Ka Ek Mahattvapurna Chitra-Sangrah (Arambhik Rajasthani Chitrom Men Ram-Katha); Kalanidhi I, no. 4, pp. 66-70

Binyon, Laurence.
The Court Painters of the Grand Moghuls; London, Humphrey Milford, 1921.

Blacher J. F.
The ABC of Indian Art; London, Stanley Paul & Co., 1922.

Blochet, E.
Musalman Paintings; London, Methuen & co., 1929.

Bose, Nandalal.
The Use of Anatomy in Painting (tr. from Bengali); VBQ, XIV, 1948-49, pp. 33-42.

Bose, Sudha.
A Rare Picture of the Universal Form of God According to the Gita; Mod. Rev. LXXXVII, 1950, pp. 386.

Brown, Percy.
Indian Painting; 5th ed. Calcutta, Y. M. C. A Publishing House, 1947.
Indian Painting Under the Mughals, A D. 1550 to A. D. 1750; Oxford, Clarendon Press, 1924.

Brown, W. Norman.
Manuscript Illustratious of the Uttaradhyayana Sutra; New Haven, American Oriental Society, 1941.
Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra, as executed in the early western Indian style; Washington, Smithsonian Institute; 1934.
(A) Painting of a Jain Pilgrimage; Art & Thought, 1947, pp. 69-72.
Saiva Miniature Paintings in the Early Western Style; Woolner Comm. Vol. 1940. pp. 24—28.
Some Early Rajasthani Raga Paintings; JISOA, xvi, 1948. pp. 1-10.

Burgess, James,
Notes on the Buddha Rock Temples of Ajanta, Their Paintings & Sculptures; and on the Paintings of the Bagh Caves; Bombay, 1879.

Chaghtai, M. A.
The Illustrated edition of the Razmnamah (Persian Version of Mahabharata at Akbar's Court); Bul. Deccan Col. V, 1943-44 pp. 281-329.

Chakravarti, N. P.
Was Manaku a Pahari Painter ? Roop-Lekha, xxii, no. 1, 1951. pp. 17-21

Chanda, R.
Note on Prehistoric Antiquities including Antiquities from Mohen—jo-daro; Calcutta 1924.

Chandra, P.
Bundi Painting; New Delhi, Lalit Kala Akademi, n. d.

Clerk, S. I.
Shri Nathji, Mod. Rev. Lxxxvi, 1949. pp. 20-58. (Nathdwara school).

Codrington, K. de B.
The Study of Indian Art; London, 1944.

Coomaraswamy, A. K.
(The) Aims of Indian Art; Broad-Campden, Essex House Press, 1908.
Ajanta Fresco Fragment in the Boston Museum; Rupam, no. 12, 1922.
The Dance of Shiva ; rev. ed. New York, Noonday press, 1957.
History of Indian & Indonesian Art; London, Edward Goldston, 1927.
Indian Drawings; London, 1910-12.
Introduction to Indian Art; Madras; Theosophical publishing house, 1923.
Notes on Jaina Art; Journal of Indian Art, vol. 16. London, 1914.
Notes on Rajput Painting; Ostasiatische Zeitschrift, N. F. I, heft 1, 1924.
Rajput Painting; London, Humphrey Milford, 1916. N. P. Selected Examples of Indian Art. Broad Compden, Essex House Press, 1910.
(The) Technique & Theory of Indian Painting; JUP Hist. S, xxiii, 1950, pp. 1-34.

Darret, D.
Paintings of the Deccan; London, Faber & Faber, 1958.

Das, R. S.
Nandlal Bose & Indian Painting; Calcutta, The Author, 1958.

Dasgupta, Surendranath.
Fundamentals of Indian Art; Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1954.

Datta Ajit Kumar.
A Pilgrimage to Darkness—(on paints & their painters); Mod. Rev. XCIII, 1953, pp. 383-386.

Datta Bhupendranath.
Indian Art in Relation to Culture; Calcutta, Nava Bharat Publications, 1956.

Datta, Jatindra Mohan.
Mural Paintings of Kerala; Mod. Rev. lxxxv, 1949. pp. 39-43.

Dey, B.
Jamini Roy; New Delhi, Dhoomimal Dharam Das, n. d.

Dey, Mukul Chandra.
My Pilgrimages to Ajanta & Bagh; 2nd ed. London, Oxford University Press, 1950

Dickinson, Eric.
The Way of Pleasure—the Kishangarh Paintings; Marg III, no. 4, 1949. pp. 2, 29-35.

Dimand, Maurice S.
Mughal Painting under Akbar The Great; Bul. Metr. Mus. Art, xii, no. 2, 1953. pp. 46-51.

Eastman, A C.
An Illustrated Jain Manuscript, Transitional to the Rajput Style; JAOS, 63, 1943. pp. 285-288.
Iranian Influences in Svetambara Jaina Painting in the Early Western Style; JOAS, 63, 1943, pp. 93-113.

Fathulla Khan, M.
The Ships & the Boats of the Ajanta Frescoes, Secunderabad; New Hyderabad Publishing Co., 1937.

Foucher, A.
Beginnings of Buddhist Art and other essays; Indian & Central Asian Archaeology; London, Humphrey Milford, 1917.

French, J. C.
Art in Chamba; Art & L. xxv, 1951. pp. 45-48.
Guler Art; Art & L. xxv, 1950, pp. 32-35.
Himalayan Art; London, Oxford University Press, 1931.
Kangra Frescoes; Art & L. xxii, 1948. pp. 57-59.
Sansarchand of Kangra; Ind. Art & L. xxi, 1947, pp. 89-91.

Furtado, R. de L.

Three Painters; (Amrita Sher Gil, George Keyt & M. F. Husain). New Delhi, Dhoomimal Ramchand, 1960.

Ganguli, O. C.

(A) Group of Vallabhacharya, or Nathdwara Paintings & Their Relatives; Bul. Baroda Mus., I, 1943-44 pt. II, pp. 31-39.

Indian Art. & Heritage; Calcutta, Oxford Book & Stationer Co., 1957.

Master-pieces of Rajput Painting; Calcutta, Rupam, 1926.

Nidhamal, The Last Representative of the Mughal School of Painting; Bharat Kaumudi, I, 1945, pp. 243-251.

Portrait Painting during Rastra-kuta times; An. Bhandarkar Inst. xxxiii, 1952. pp. 254-256.

Ragas & Raginis ; Calcutta, Clives Press, 1934

Ghose, Ajit.

A Lost Ajanta Fresco & the date of the Earlist Paintings; Roop-lekha, II, no. 4, pp. 53-61.

Ghose, Aurobindo.

The Significance of Indian Art; Bombay, Sri Aurobindo Circle, 1947.

Gosh, D. A.

Orissan Paintings; JISOA, ix, 1941, pp. 194-200.

Gode, A. K.

The Role of the Courtesan in the Early History of Indian Painting; An. Bhandarkar Inst. XXII. pt. 1-2, 1941, 24-37.

Goetz, Herman.

Indian Painting in the Muslim Period— A Revised Historical Outline; JISOA, xv, 1947, pp. 19-41,

Life & Art in the Mughal Period : the Mental Background of the Mughal Painting & Its Reflection in Art; J. Universisty, Bombay V. 4

(The) Neglected Aspects of Ajanta Art. Marg II, no. 3, pp. 36-64.

Raja Isvari Sen of Mandi & the History of Kangra Paintings; Bul. Baroda Mus. II, 1944-45, pt. I, pp. 35-37.

Gordon, D. H.

The Artistic Sequence of the Rock Painting of Mahadeo Hills; Sc. Cult. V, 1940. pp. 322-327.

Indian Rock Painting; Sc. & Cult. V, 1940. pp. 146-147, 269-270.

Warfare in Indian Cave Art; Sc. & Cult. V, 1940. pp. 578-584.

Gradmann, Erwin.

Indian Miniatures; New York, A. A. Wyn, 1950.

Gray, Basil.

Deccani Paintings : The School of Bijapur; Burl. Mag. Lxxiii pp. 74-6.

(The) Development of Painting in India in the 16th Century; Marg VI, no. 3, 1953. pp. 19-24.

Intermingling of Mogul & Rajput Art; Marg, VI, no. 2, pp. 36-38.

Rajput Painting; London, Faber & Faber, 1938.

Western Indian Painting in the Sixteenth Century; Burl. Marg. XC, 1948. pp. 41-45.

Griffiths, John.

The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta; London 1896-97.

Guha, Jibendrakumar.

The Technique of Wall Painting as reflected in the 'Abhilasitartha Cintamani'; VBQ, VIII, 1949-43, pp. 170—174.

Guide to Ajanta Frescoes, Hyderabad Decan; Archaeological Deptt., Hyderabad Govt., 1949.

Haldar, A. K.
(The) Buddhist Caves of Bagh; Burlington Magazine, October, 1923.

Harshe, R. G.
Two Illustrated Manuscripts on Dreams; Bhar. Vidya, IX, 1948. pp. 246-268.

Hasrat, Bikramajit.
Dara Shikuh & Fine Arts; VBQ, IX, 1943-44, pp. 22-31.

Havell, E. B.
(A) Handbook of Indian Art; London, John Murray, 1920.
The Himalayas in Indian Art; London, John Murray, 1924.
Indian Sculpture & Painting; London, John Murray, 1908.

India, Ministry of Infonrmation & Boardcasting.
Indian Art Through the Ages; 2nd ed. New Delhi, 1951.

India Society, London.
Ajanta Frescoes; London, 1915.

Indian Academy of Fine Arts, Amritsar.
Indian Art Souvenir.... Amritsar, 1955.

Jacob, S. S.
Fresco Painting As Practised at Jeypore; Journ Roy. Int. Brit. Arch, VII, pp. 207-209, 1891.

Jahangir.
Tuzuk-i-Jehangiri or Memoirs of Jahangir; London, 1909-14.

Jouveau-Dubrenil, G.
The Pallava Painting; Indian Antiquary, LII, March, 1923.

Khandalavala, Karl.
(An) Akbar Period Mughal Miniature—Illustration of the Gita Govinda; Roop-Lekha. II, serial no. 3, 1940. pp. 49-55
Amrita Sher Gil. Bombay; New Book co., 1944.
Balvant Singh of Jammu—A Patron of Pahari Painiting. Bul. PWM, II, 1951-52, pp. 71-81.
Indian Sculpture & Painting; Bombay, Taraporevala, 1938.
Leaves From Rajasthan : A dated Bhagavata Purana of the Bhandarkar Oriental Institute, Poona &
Notes on the Chronology of Early Rajput Painting; Marg, IV, no. 3, 1950. pp. 2-24, 49-56.
Pahari Miniature Painting; Bombay, New Book co., 1958.

Kuhnel, E. & Goetz, Herman.
Indian Book Painting. London, Kegan Paul, 1226.

Kramrisch, Stella.
(The) Art of India; Tradition of Indian Sculpture, Painting & Architecture; London, Phaidon Press, 1954.
Painting at Badami. JISOA, IV, pp. 57 61.
(A) survey of Painting in the Deccan; London, India Society, 1937.

Krishnadas, R.
Mughal Miniatures; New Delhi, Lalit Kala Akademi, n. d.

Laud, C. E.
Buddhist Caves of Central India—Bagh, Indian Antiquary, August, 1910.

Law, B. C.
The Genesis of Pahari Painting; Bharat Kaumudi, I, 1945. pp. 369-379.

a i tr a, A. K.

Aims & Methods of Painting in Ancient India; Rupam, nos. 13-14. Calcutta, 1923.

Majumdar M. R.

Earliest Devi Mahatmya Miniatures With Special Reference to Sakti Worship in Gujarat; JISOA, VI, pp. 113-316

Gujarati Secular Paintings of Kakaruta & Citraprasna; Acharya Dhruva Smaraka Grantha. pp. 165-172.

Newly Discovered Durga-path Miniatures of Gujarati School of Painting; NIA, II, 1939-40. pp. 311-316.

Treatment of Goddesses in Jaina & Brahmancial Pictorial Art; JUP, Hist. S. xxiii, 1950. pp. 218-227

P. C.

Indian Painting; JBRS, xxviii, 1942. pp. 8-23.

Marshall, Sir, John H. & Others.

(The) Bagh Caves in the Gwalior State; London, India Society, 1927.

Mohen-jo-Daro & the Indus Civilzation; An Official Account of Archaeological Excavations between 1922-27.

Martin, F. R.

(The) Miniature Painting & Painters of Persia, India & Turkey in the 8th to 18th Century; London, Bernard Quaritch, 1912.

Mehta, N. C.

Gujrati Painting in the 15th. Centuary; London, India Society, 1931.

Manaku, The Pahari Painter; Roop- Lekha, XXI, no. 1, 1949-50. pp. 34-36.

(A) New Document of Gujarati Painting—a Gujarati Version of Gita Govinda; J. Gujarati Res. Soc. VII, Oct., 1945.

Some Remarks on Rajasthani Painting; Roop Lekha, nos. 1 & 2, 1953. pp. 4-6.

Studies in Indian Painting; A survey of some new material ranging from the commencement of the 7th century to circa 1870 A. D. Bombay, Taraporevala, 1926.

Menon, V. K. R.

Kerala Paintings; Bul. Rama Varma Res. Inst. V, p. 123-30.

Mittal, Jagdish.

Pahari Chitron Ka Ankan-Vidhan; Kalanidhi, I, no. 3, pp. 48-62.

Mookerjee, Ajitcoomar.

Kalighat Folk-Painters; Horizon, V, 1942. pp. 417.

Modern Art in India; Calcutta, Oxford Book & Stationery Co., n. d.

Motichandra.

Dakkhini Kalama : Bijapur; Kala-nidhi, I. no. I, 1948. pp. 25-42.

Jain Miniature Paintings from Western India; Ahmedabad, Sarabhai Manilal Nawab, 1949.

(The) Representations of the Musical Ragas in Painting; JUP Hist. xx, 1947. pp. 13-31.

(The) Technique of Mughal Painting; Lucknow, The U. P. Historical Society, 1949.

Mughal Painting; With an Introduction & Notes by J.V.S. Wilkinson. London, Faber & Faber, 1948.

Mukandilal.

Garhwal School of Painting (1658-1858 A. D.); Roop-Lekha, xx, no. 1-2, xxi, No. 1-2, xxii, nos. 1 & 2; xxiii, no. 1-2. Some Notes on Mola Ram; Rupam, No. 8. Calcutta, Oct., 1921.

Mukherji, Radhakamal.

(The) Culture & Art of India; London, George Allen & Unwin, 1959.

Napier, Francis, Baron.
The Fine Arts in India; Madras, Foster Press, 1871.

Padmanabhan, Tampy K. N.
Lofty Creative Works of Art ; Travancore Mural Paintings; Madras, the Hindu, 26 Nov. 1939.
Mural Paintings in Travancore; Roop-Lekha, xx, no. I, 1948, pp. 28-36.

Paramasivan, C.
Indian Wall Paintings; J. Madras University, XII, 1940. pp. 95,128.
(An) Investigation Into the Methods of the Mural Paintings; A. In Cochin & Travancore ; B. Lepakshi & Somapalayan : C. Tirumalai. JISOA vii, 1939. pp. 18-38.
Studies in Indian Paintings; J. Madras University, XIII, 1941, pp. 70-83.
Technique of Painting Process in the Cave Temple at Ajanta; Annual report of the Archaeological Deptt. of the Nizam's Dominion, 1936-37. (1939).
Technique of the Painting Process in the Kailasnath & Vaikuntha Perumal Temples at Kanchipuram; Nature, (London) CXLII, p. 757.

Parviz, N. Firoz Shah Dubash.
Hindoo Art in Its Social Setting; Madras, 1936.

Pillay, K. K.
(The) Sucindram Temple: A Monograph; Madras, Kala-Kshetra Publications, 1953.

Plumes, James Marshall.
Suicide & Sacrifice; Art Q. X, 1947, pp 254-261.

Rahim Bux Khan.
Fresco Painting of Ajanta; Journal of the Oil & Colour Chemists' Association, London, 32, 1949. pp. 24-31.

Ram Chandra Rao, P. K.
Modern Indian Painting; Madras, Rachana, 1953.

Randhawa, M. S.
Kangra Paintings of Bhagavata Purana; New Delhi, National Museum of India, 1960.
Kangra Paintings Illustrating the Life of Shiva & Parvati; Roop-Lekha, XXIV, nos. 1& 2, 1953. pp. 23-29.
Kangra Valley Painting; Delhi, Publications Division, 1954.
(The) Krishna Legend in Pahari Painting; New Delhi, Lalit-Kala Akademi, 1956.
Ravi Varma, the Indian Artist; Allahabad, Indian Press, n. d.

Ray, Sudhansukumar.
Fresco Paintings of the Lepakshi Temple; Mod. Rev. LXXXII, 1947. pp. 124-126.

Rowland, Benjamin.
(The) Wall-Paintings of India, Central Asia & Ceylon; Boston, The Merry Mount Press, 1938.

Saraswati Kumar.
Birds in Moghul Art; Marg, II, no. 2. pp. 28-41.

Sastri, Hiranand.
Gulera Paintings; Law Vol. I, 1945. pp. 642-644.
A Pre Mughal Citrapat from Gujarat; Ind. Hist. Quart., X IV, pp. 425-31.

Schroeder, Eric
The Troubled Image ; An Essay upon Mughal Paintings; Art & Thought, 1947. pp. 73-86.

Shah, Umakant Premanand.
Studies in Jaina Art; Banaras, Jaina Cultural Research Society, 1955.

Sher-Gil, Amrita.

The Art of Amrita Sher-Gil; Allhabad, Kitabistan, 1943.

Simsar, Muhammad A. & Brown, W. Norman.

Late Mughal Illustrations to the Iqbal-Namah-i-Jahangiri; JAOSA, LVIII, pp. 354-65.

Singh, M.

Paintings of Ajanta Caves; Paris, The New York Graphic Society by arrangement with Unesco, 1954.

Sivaramamurti, S.

(The) Indian Painter & His Art; The Cultural Heritage of India, V, III. pp. 555-65.

Vijayanagara Paintings from the Temple at Lepakshi; Vijayanagar Sc. & C. Comm. Vol. pp. 75-85.

Smith, E. W.

Wall Paintings from Fatehpur Sikri; Journal of Indian Art, Vol. 6, London, 1896.

Smith, Vincent A.

(A) History of Fine Arts in India & Ceylon; 2nd ed. Oxford, Clarendon Press, 1930.

Soloman, W. E. Gladstone.

Ajanta & the Indian Museum; Times of India, Bombay, 18th Jan., 1938.

Ajanta & the unity of Art; Paper read at the opening of the Exhibition of Ajanta & Ellora Paintings & Drawings at the Bombay University, organised by the Universal Arts Circle.

Essays on Mughal Art; Bombay, Oxford University Press, 1923.

Master Pieces of Mughal Art, Bomby, Oxford University Press, 1920.

(The) Women of Ajanta Caves; Bombay, 1923.

Soper, Alexandar Coburn.

Early Buddhist Attitude Toward the Art of Painting; Art Bul, XXXII, 1950, pp. 142-151.

Srinivasan, S. R.

South Indian Paintings; a note on the Date of Sittanna Vasal Paintings; PHIC VII, 1944. pp. 168-176.

Stooke, Herbert J. & Khandalavala, Karl.

(The) Land Ragamala Miniatures : A Study in Indian Painting & Music; Oxford, Bruno Cassirer, 1953.

Tagore, Abanindranath.

Sadanga or the Six Limbs of Paintings; Calcutta, Indian Society of Oriental Art, 1921.

Thacker, Manu & Venkatachalam, G.

Present Day Painters India; Bombay, Sudhanshu Publications, 1950.

Tucci, Guiseppe.

Indian Paintings in Western Tibetan Temples; Art. As. VII, pp. 191-204.

Venkatachalam, G.

Contemporay Indian Painters; Bombay, Nalanda Publications, n. d.

Vogel, Ph.

Portrait Painting in Kangra & Chamba; Art As. X, 1947. pp. 200-215.

Vyas, K. B.
Dasavatara Citra, Gujarati Painting in the 17th Century; J. University, Bombay, XVII, 1948. pp. 1359.

Wauchope, R. S.
Buddhist Cave Temples of India; Calcutta, 1933.

Wellesz, Emmy.
Akbar's Religious Thought as Reflected in Moghul Painting; London, George Allen & Unwin, 1952.

Werner, A.
Indian Miniatures; New York, A. D. Wyn, 1950.

Wilkinson, J. V. S.
Mughal Painting; London, Faber & Faber, 1948.

Yazdani, G.
Ajanta; London, Oxford University Press, 1933-35, 1946.
History of the Deccan; (V. 1, pt. 8; Fine Arts), London, Oxford, University Press, 1952.

Zimmer, H.
(The) Art of Indian Asia; New York, Pantheon Books Inc. 1955.
Myths & Symbols in Indian Art & Civilization, New York, Pantheon Books, Inc. 1947.

☆

शब्द सूची

अ

ख

ग

घ

च

ठ

ड

ढ

त

थ

द

फ

ब

भ

य

र

ल

व

श

ह

*

चित्रावली

हड़प्पा के टीलों से प्राप्त चित्रित मिट्टी के बर्तन।

...स्यों से प्राप्त [मि]ट्टी के कलशों पर चित्रित आभूषणों के नमूने।

गेरुए रंग से अंकित आखेट का एक दृश्य

सिंगनपुर——प्रागैतिहासिक पुरा पाषाण-युग का अन्तिम भाग
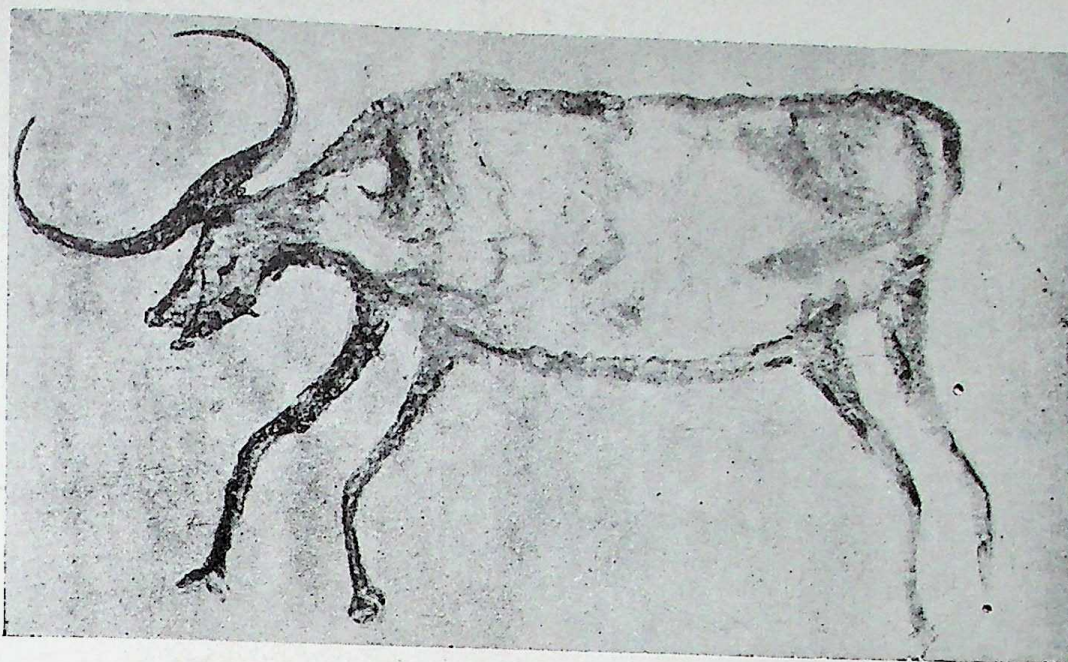
गेरुए रंग से अंकित सीगोंवाला महिष
होशंगाबाद--प्रागैतिहासिक पाषाण युग
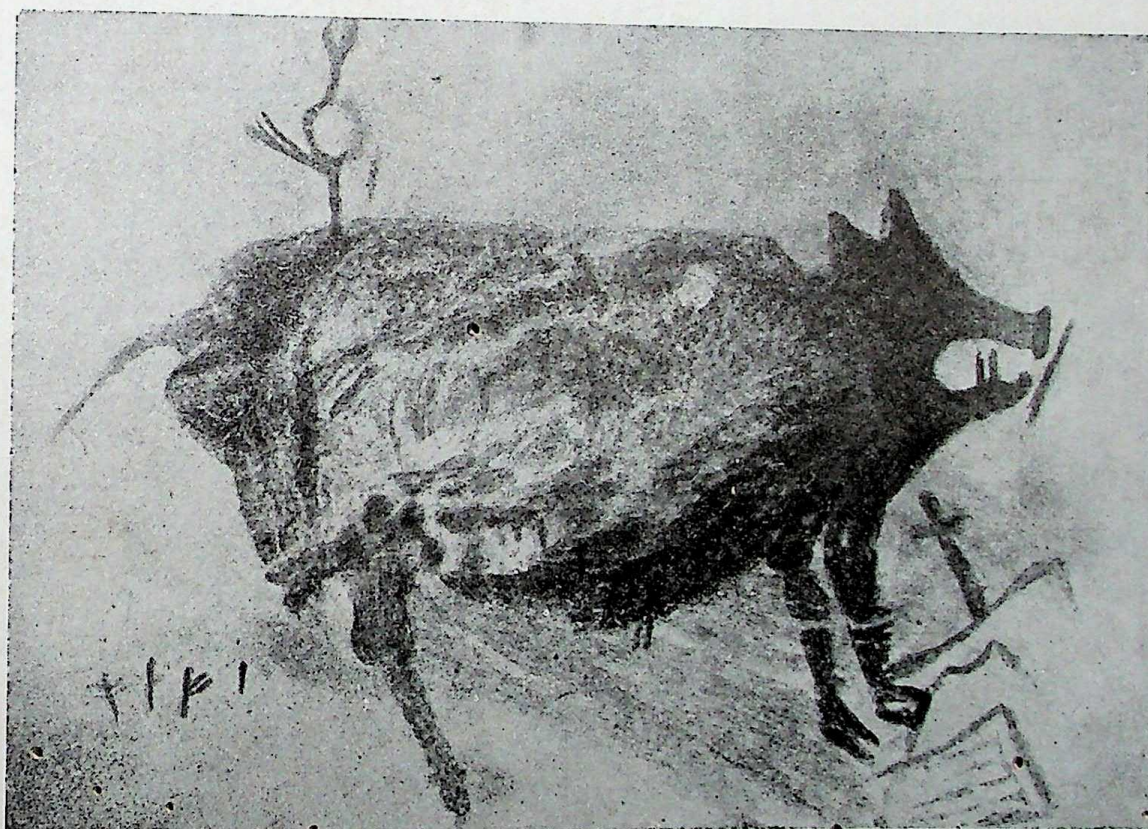
गेरुए रंग से अंकित आहत सुअर
मिर्जापुर--प्रागैतिहासिक नव पाषाण युग

बाघ की गुफ़ा में चित्रित नर्तकी
बौद्ध शैली, ५वीं शताब्दी

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित जिन भगवान्
जैन शैली, ११८२ वि०

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित सरस्वती
जैन शैली, ११८४ वि०

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि पर चित्रित प्रज्ञाप्ति विद्यादेवी
जैन शैली, १४वीं १५वीं श०

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'उपदेशमाला' पर चित्रित
लक्ष्मी का लघुचित्र, जैन शैली १२वीं श०

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'उत्तराध्ययनसूत्र' पर चित्रित
लघुचित्र, जैन शैली १२वीं श०

पार्वती और गणेश
दक्षिण शैली, १५३४ ई०

शास्ता
दक्षिण शैली, १८वीं श०

आजमशाह द्वारा गोलकुण्डा स्थित अपनी आनन्द वाटिका में प्रवेश
विजयनगर शैली, १८वीं श०

दैत्य सहार
राजपूत शैली, मालवा, १६४० ई०

ककुभ रागिनी
राजपूत शैली, मालवा, १६५० ई०

नायक से सखी का वार्तालाप
राजपूत शैली, मालवा १६५० ई०
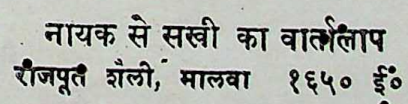
शिकार करती हुई राजपूत ललनाएँ
राजपूत शैली, १७वीं श० ई०

वन प्रदेश में लैला और मजनूँ

राजपूत शैली, १७वीं शती ई० का उत्तरकाल

बरसात में कृष्ण और राधा
राजपूत शैली, बूँदी, १७८० ई०
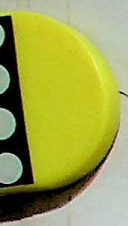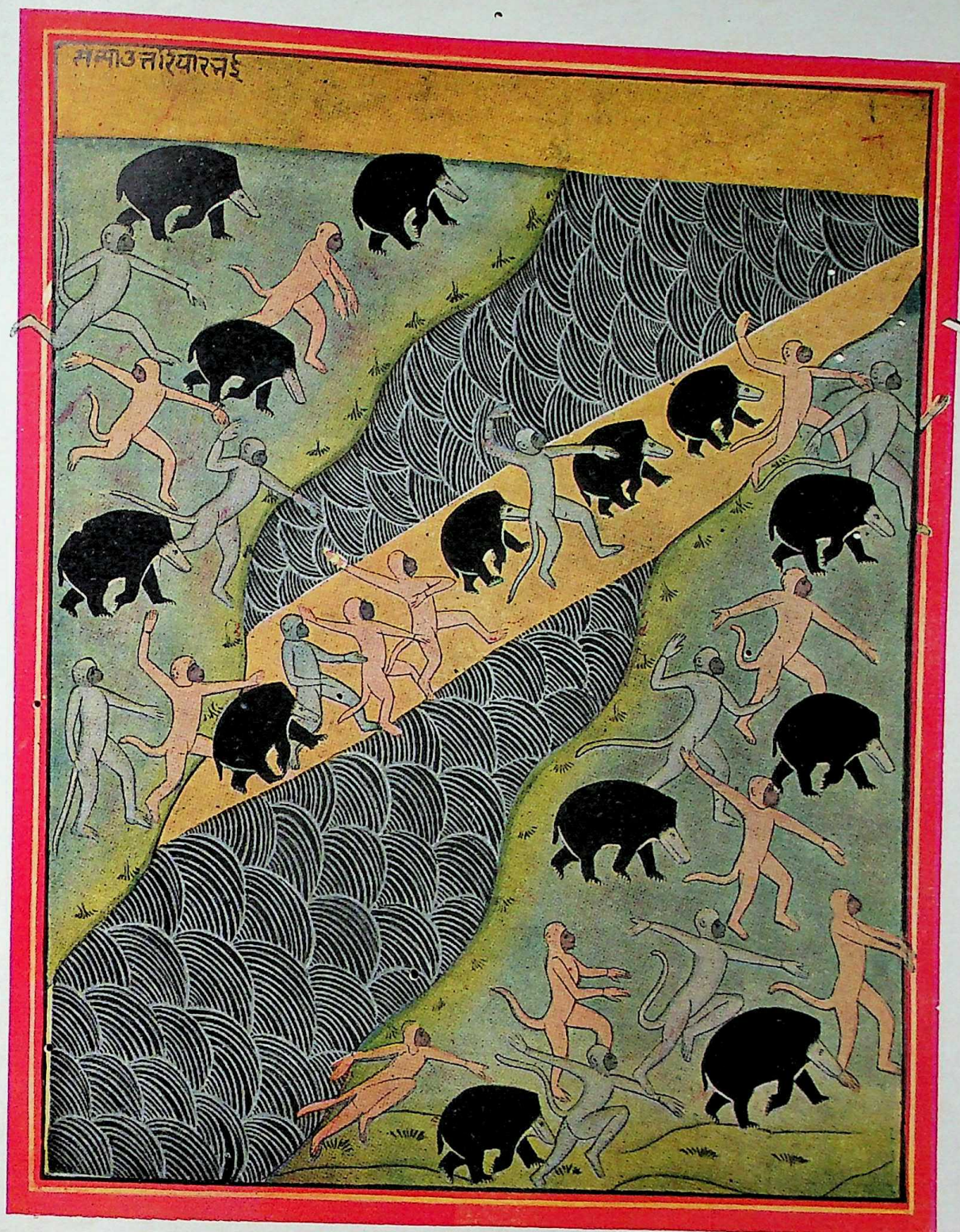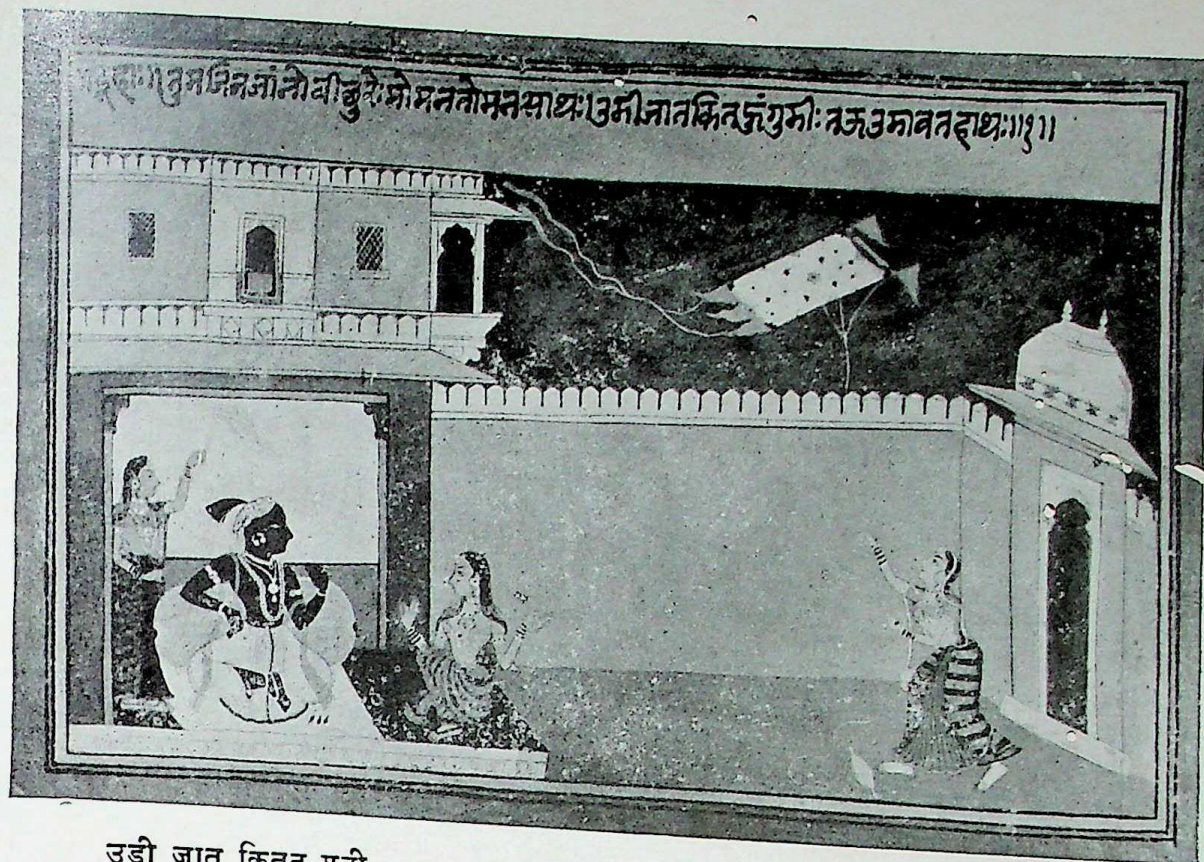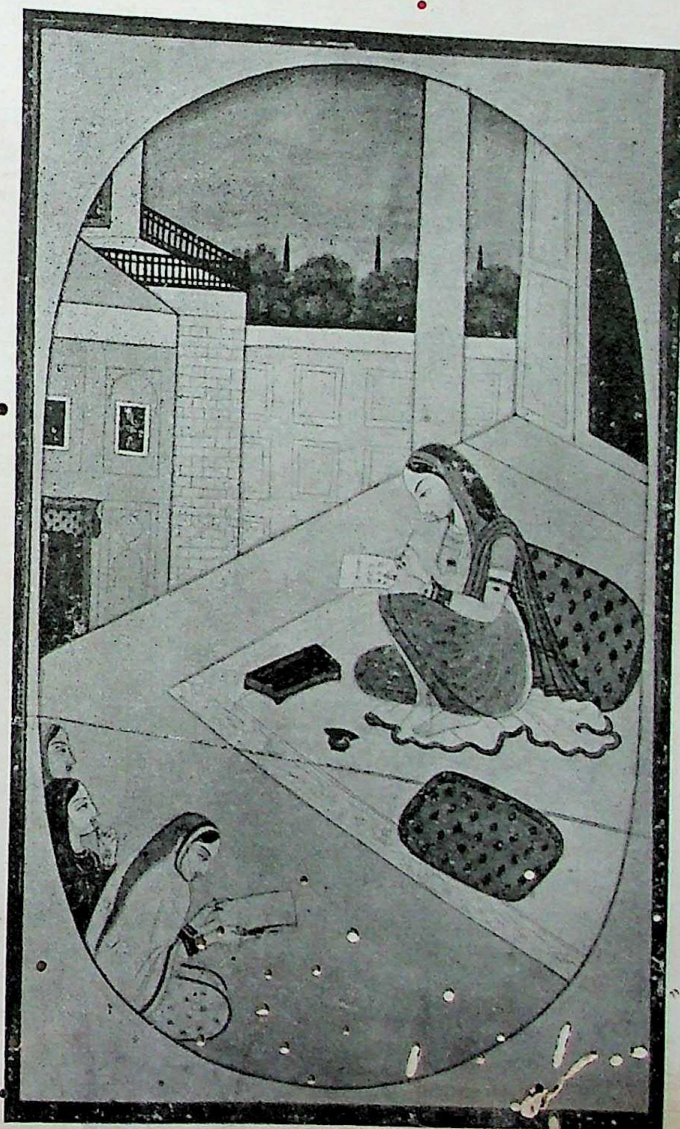
सेतुबन्ध
राजपूत शैली, १८ वीं श० ई०
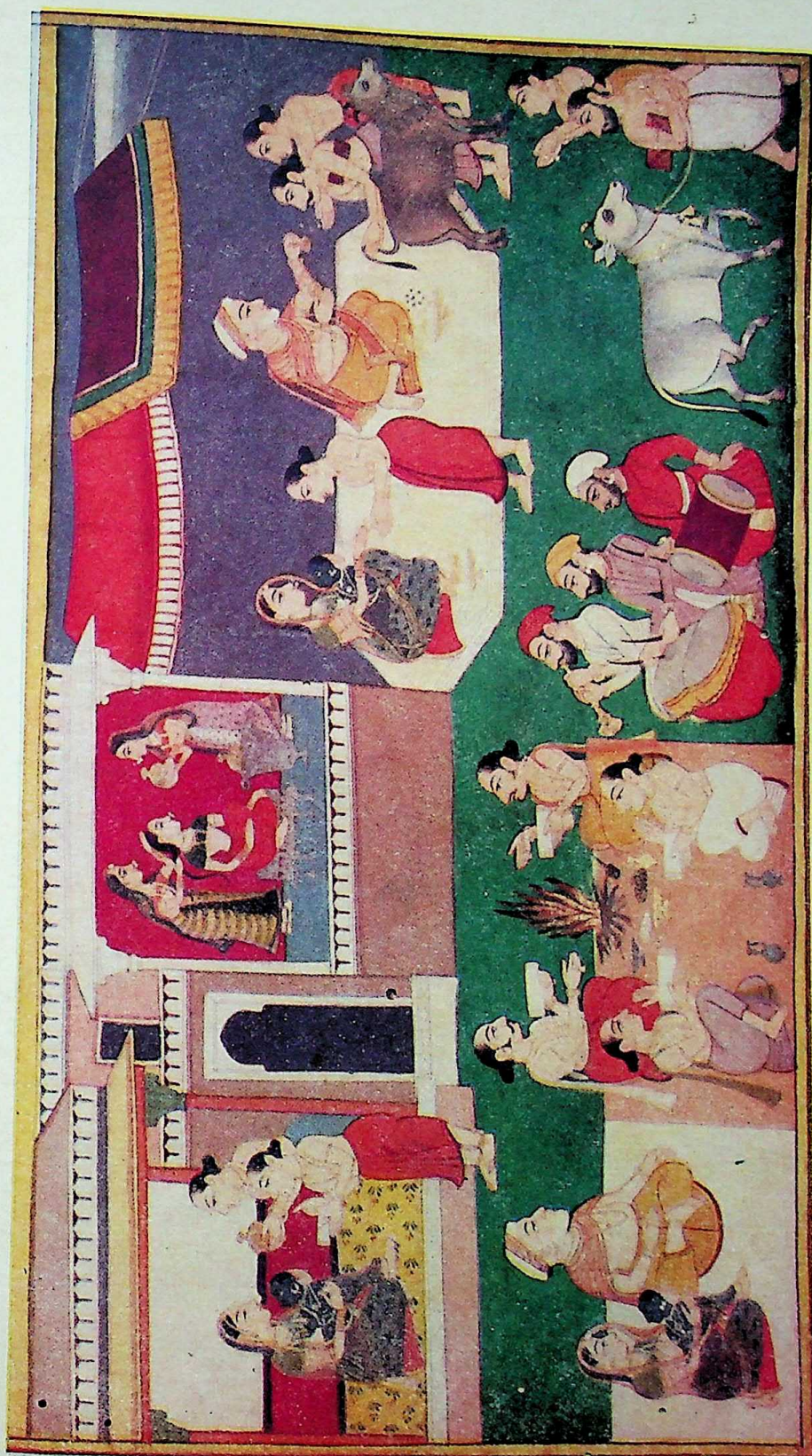
श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव
राजस्थानी चित्रशैली

कजरी बन में जंगली हाथियों को पकड़ना
राजपूत शैली, बूँदी-कोटा, १८०० ई०
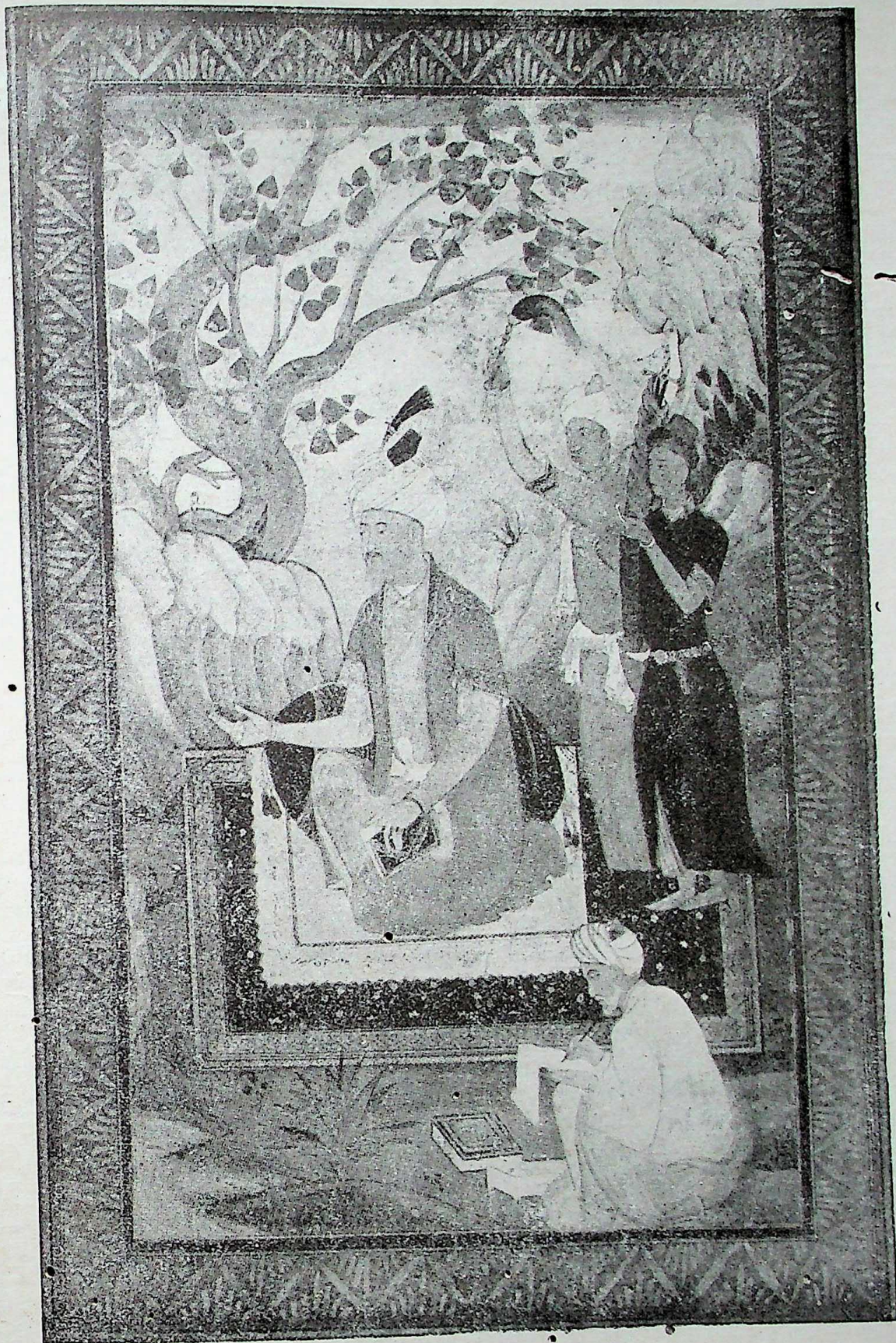
लिपिकार को अपने संस्मरण लिखाते हुए शाहंशाह बाबर

मुगल शैली, १६वीं शताब्दी
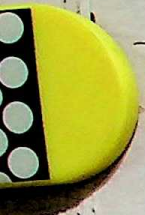
'मीर मुसव्विर'—मीर सैयद अली
मुग़ल शैली, १६वीं शताब्दी

मुग़ल महिला
मुग़ल शैली, १८वीं शताब्दी

अमीर हम्ज़ा का एक पृष्ठ
अकबरकालीन, १६वीं शताब्दी ई०
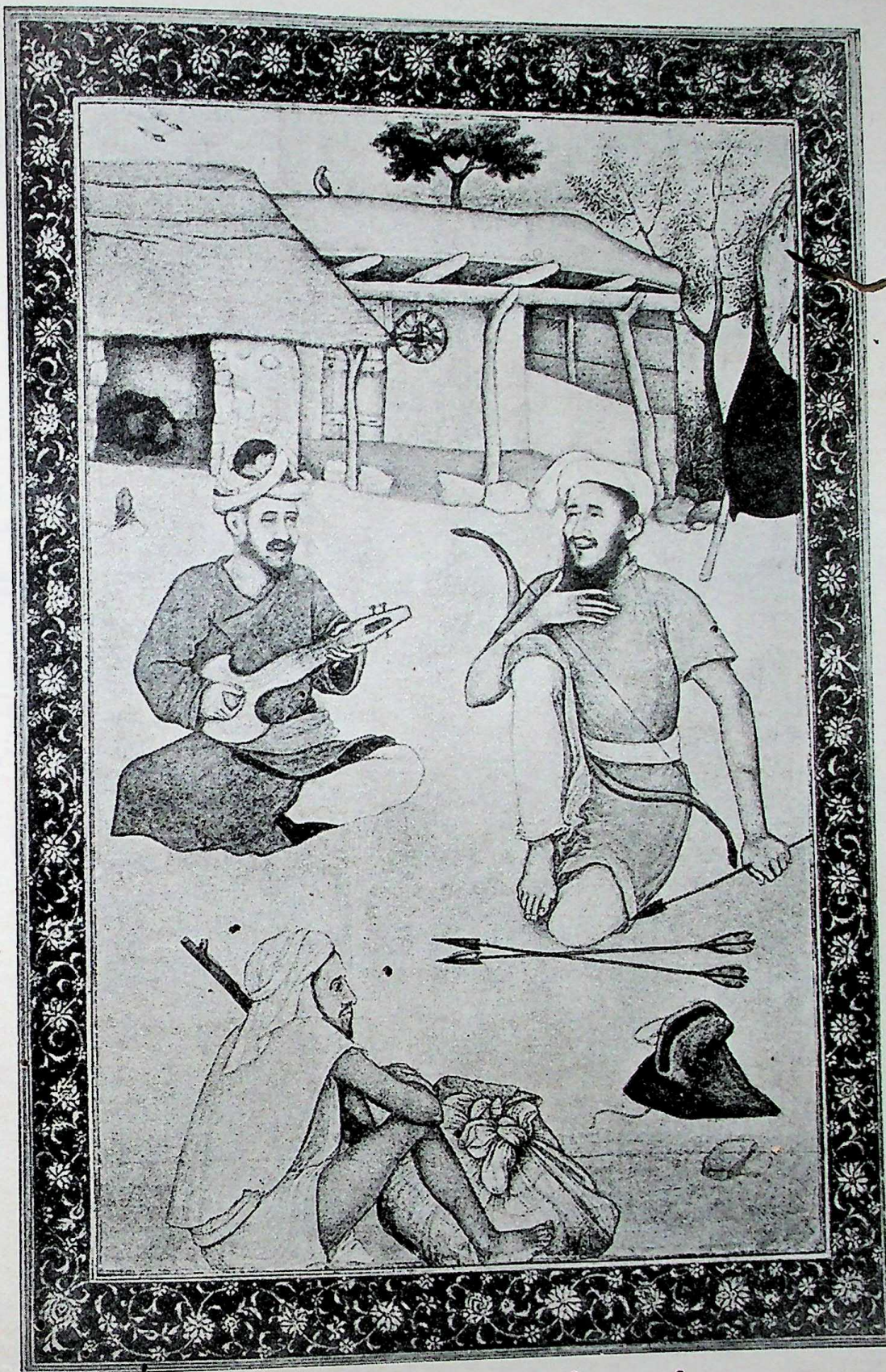
चित्रकार बिचित्तर द्वारा निर्मित्त 'संगीत प्रेमी'
मुग़ल शैली, शाहजहाँ कालीन, १६२८-[illegible]८ ई०

मीर हाशिम द्वारा निर्मित 'एक संभ्रान्त व्यक्ति'
मुगल शैली, १६५० ई०
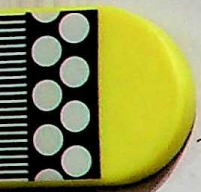
तानसेन
मुगल शैली, १७वीं शती ई० का मध्यकाल
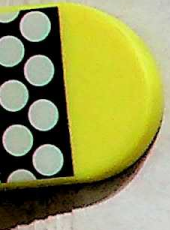
बहादुरशाह

मुगल शैली, १७०७–१७१२ ई०

शृंगारमण्डित नायिका

मुग़ल शैली, १७६०–१७८० ई०
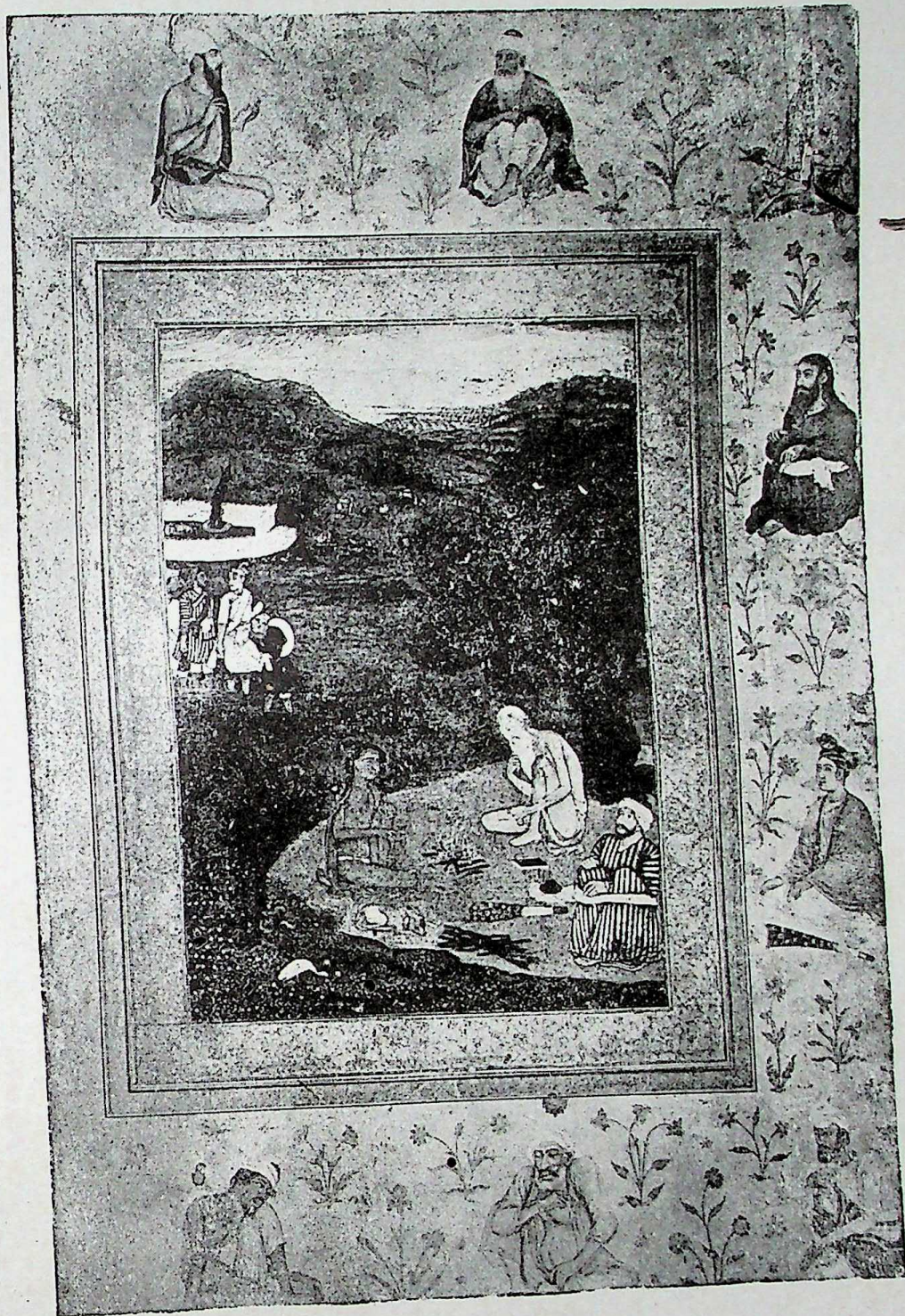
उद्यान में मुल्लाह
मुगल शैली, १७ वीं० श०
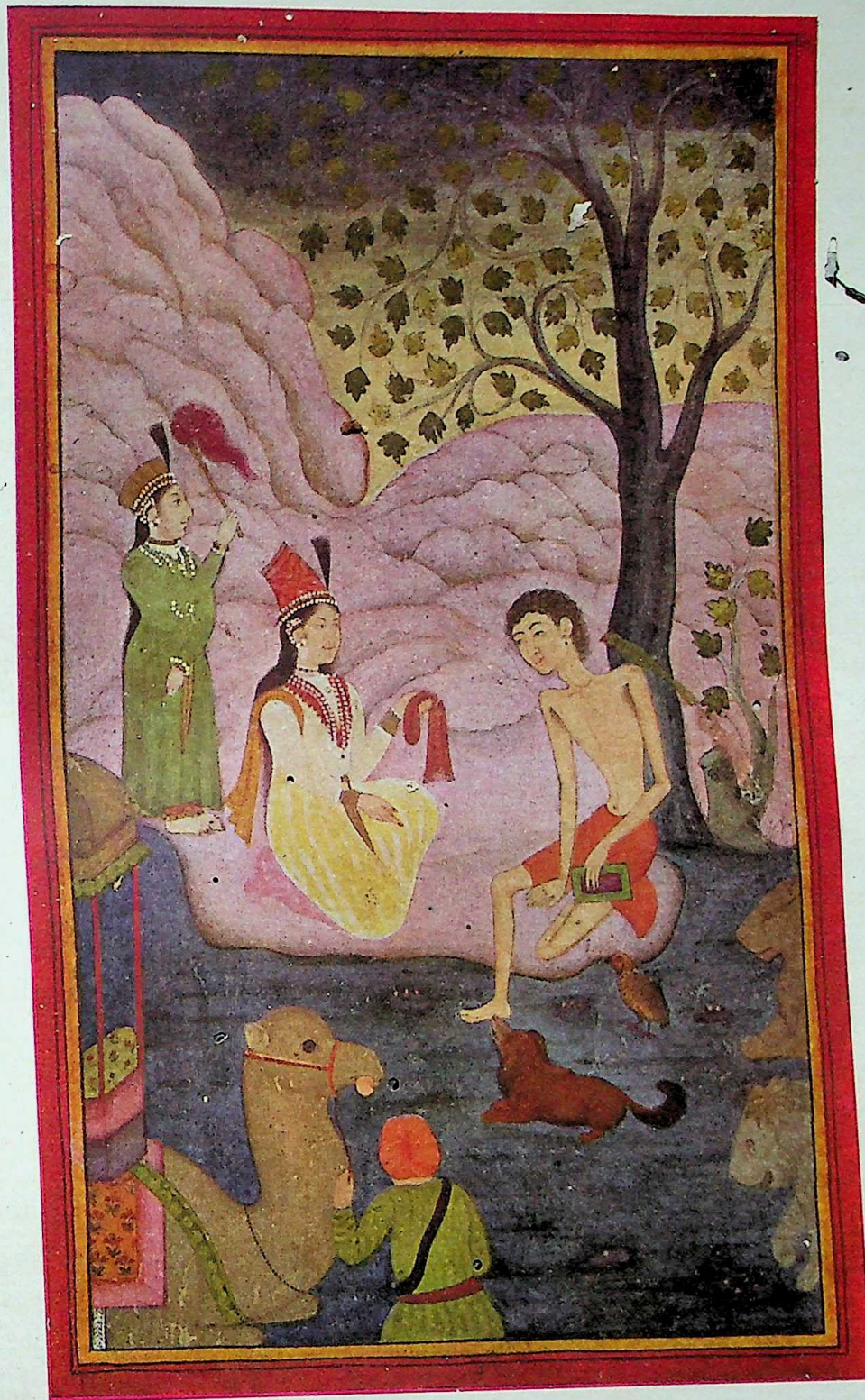
लैला मजनू
मुग़ल शैली, १८ वीं श० ई०
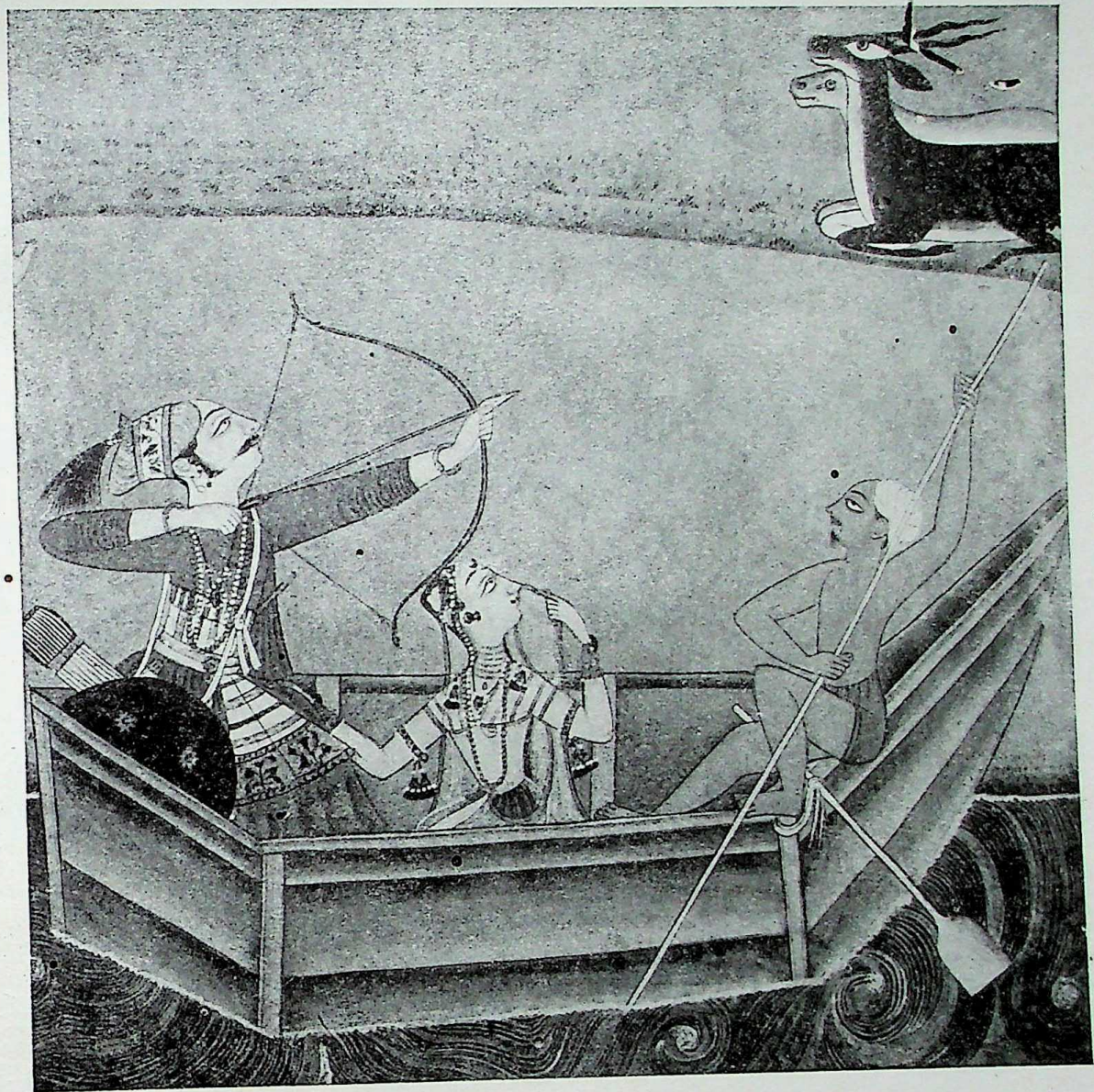
अज्ञात रागिनी
बसोली शैली, १७१० ई०

पालतू हिरण के साथ महिला
पहाड़ी शैली, काँगड़ा, १७८० ई०
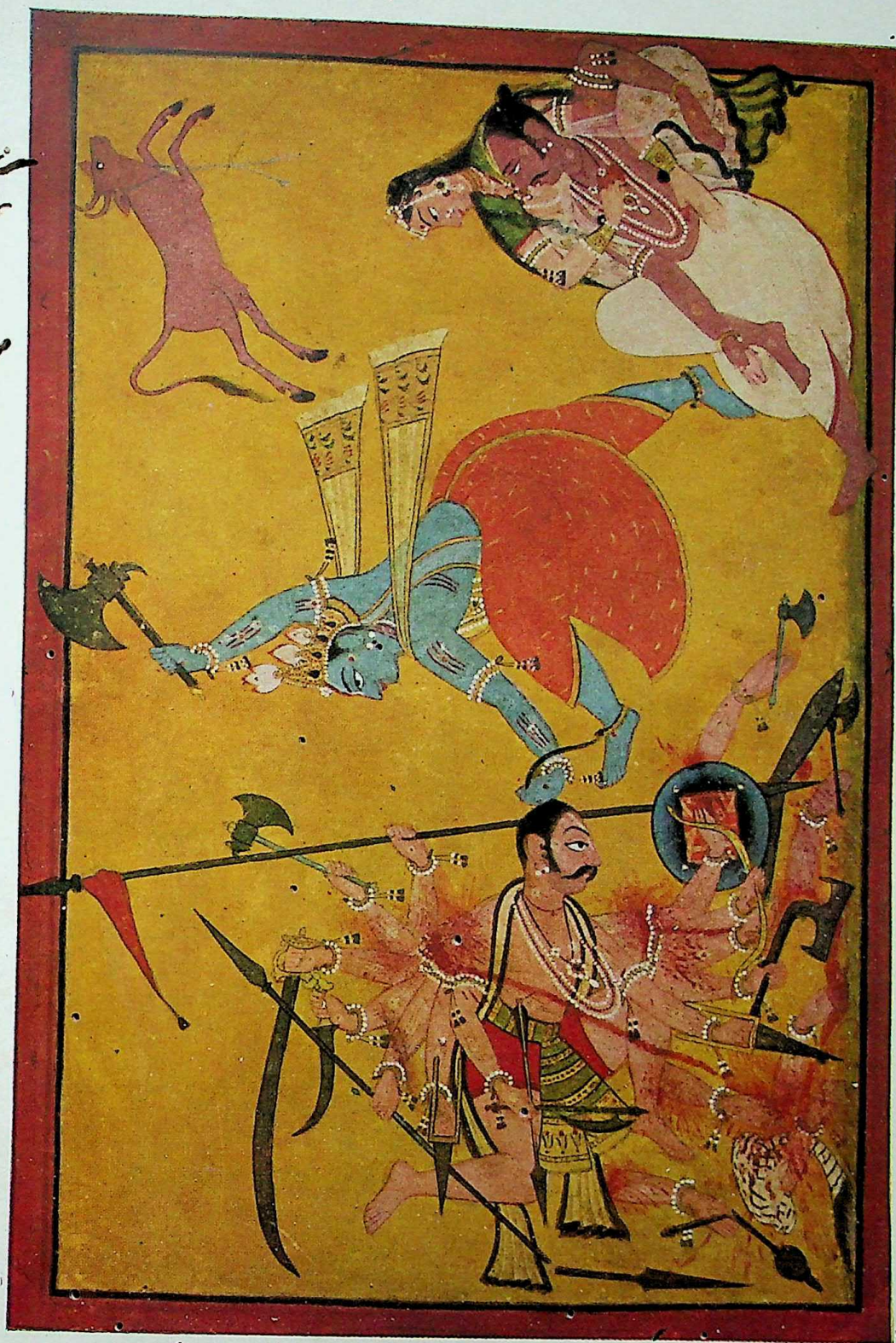
परशुराम द्वारा सहस्रबाहु वध
बसौली शैली, १८ वीं श० ई०
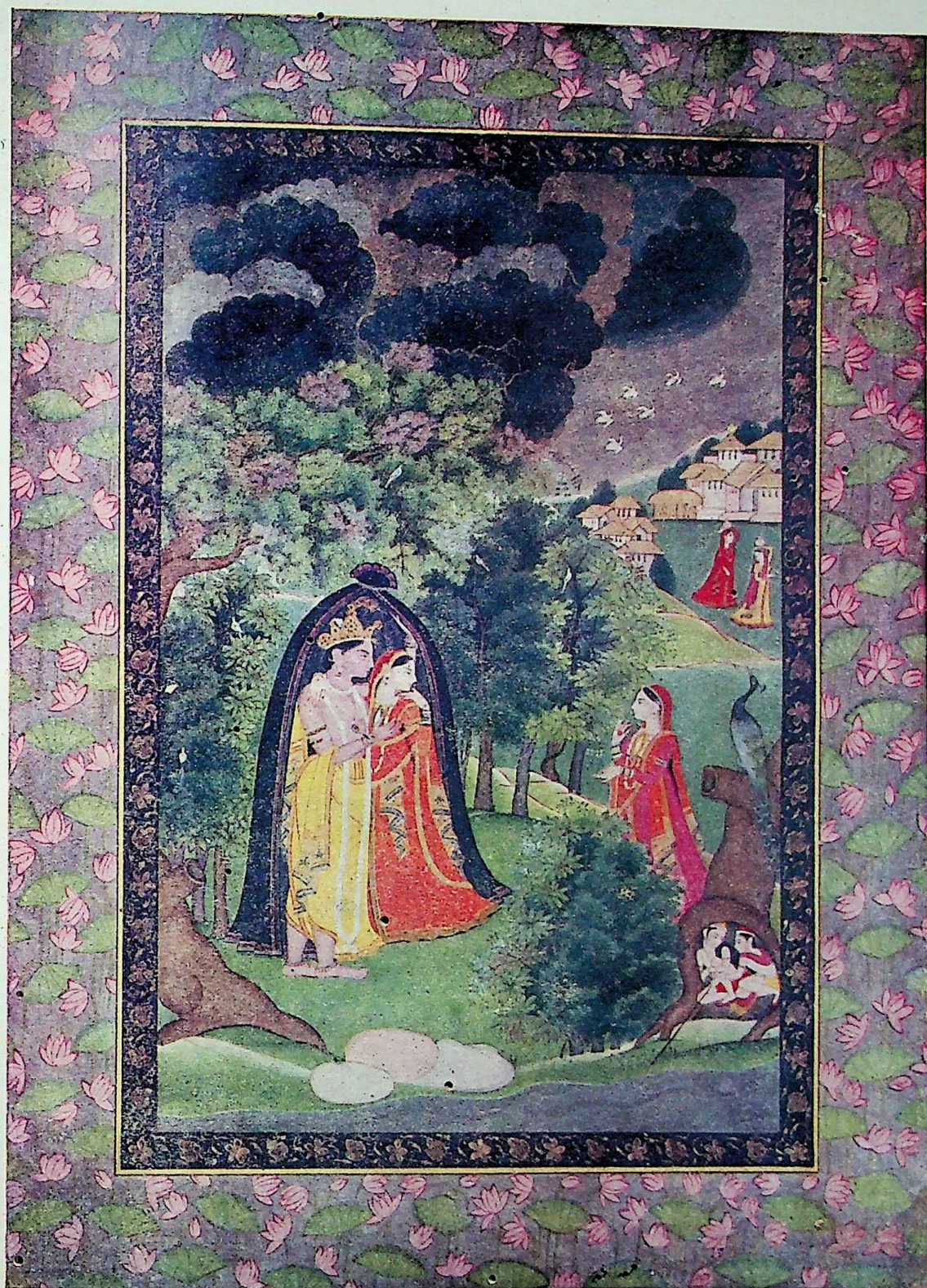
राधा माधव
पहाड़ी शैली, १८वीं शताब्दी

वियोग

काँगड़ा शैली, १८ वीं श० ई० के लगभग

गुलेर की माण्डियाल रानी

...ड़ा शैली, गुलेर, १८वीं शती ई० का उत्तरकाल
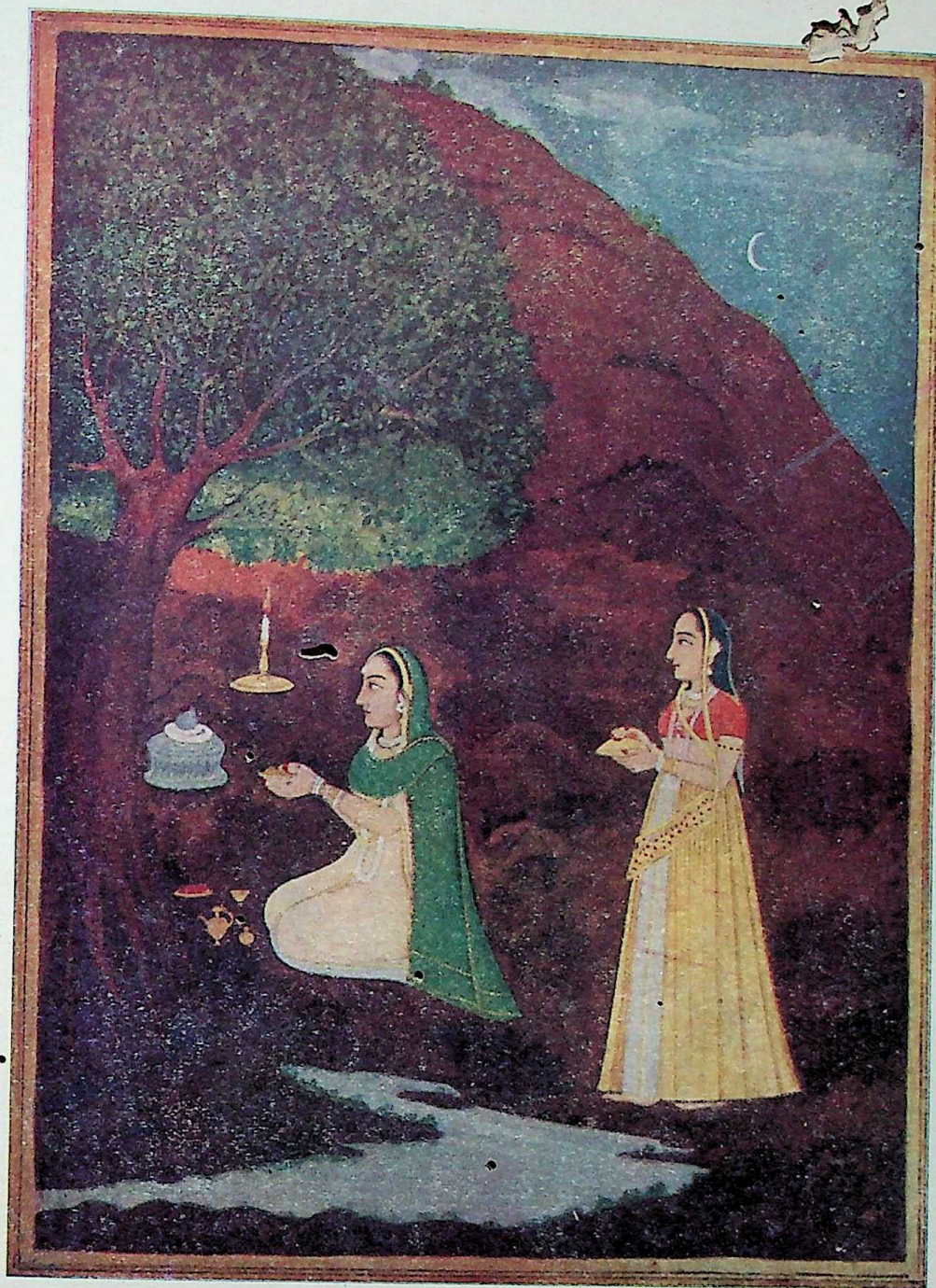
उमा की उपासना
प्राचीन चित्र
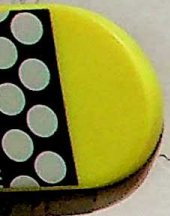
कैलाश पर्वत पर शिव-पार्वती
काँगड़ा शैली, १८-१९वीं श० ई०

दीर्घा पर अवस्थित राधा और कृष्ण।
पहाड़ी शैली काँगड़ा, १९ शती ई० का आरंभ।
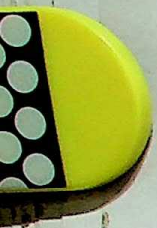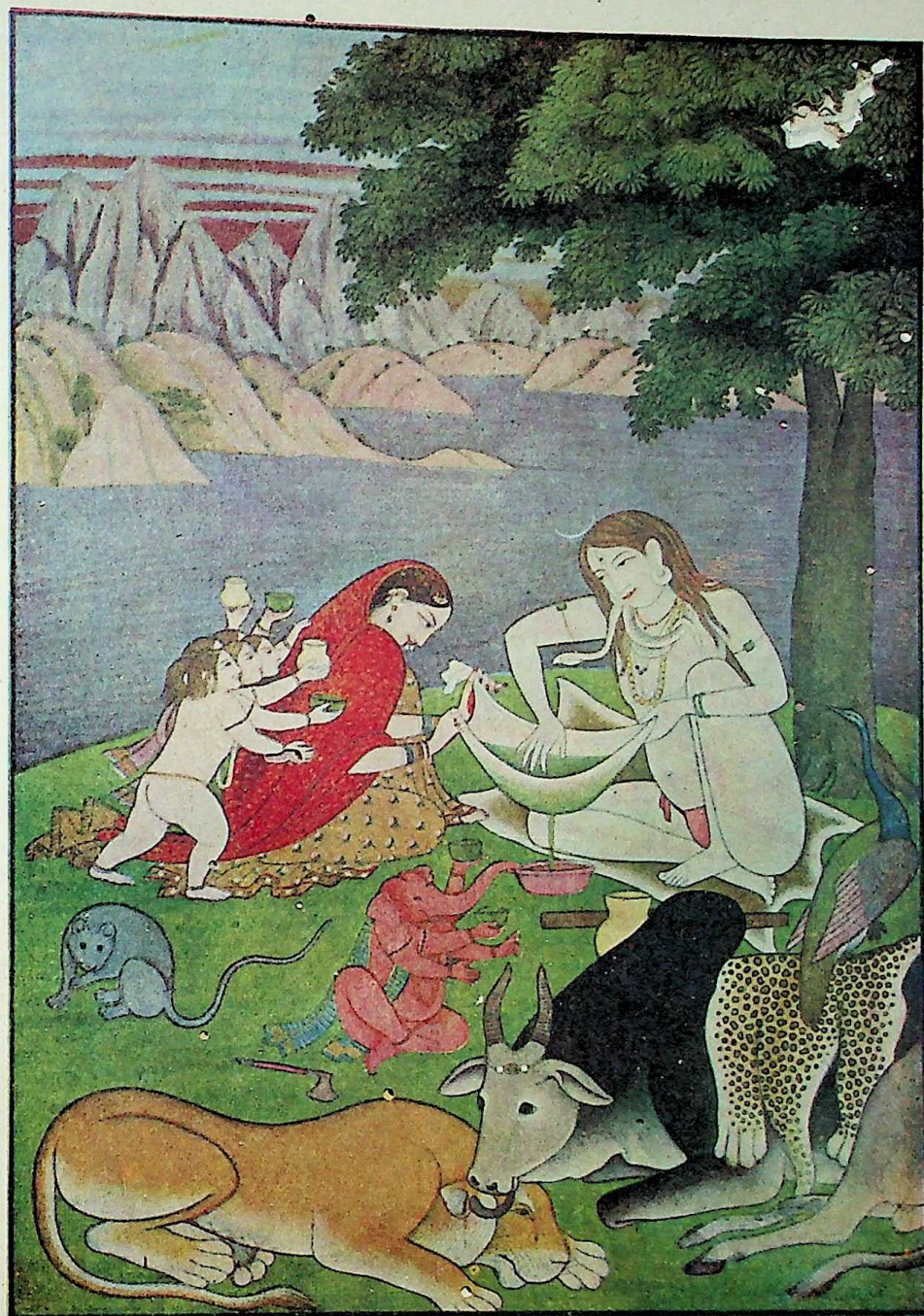
भाँग छानते हुए शिव परिवार
पहाड़ी शैली, १९०० ई०
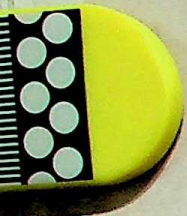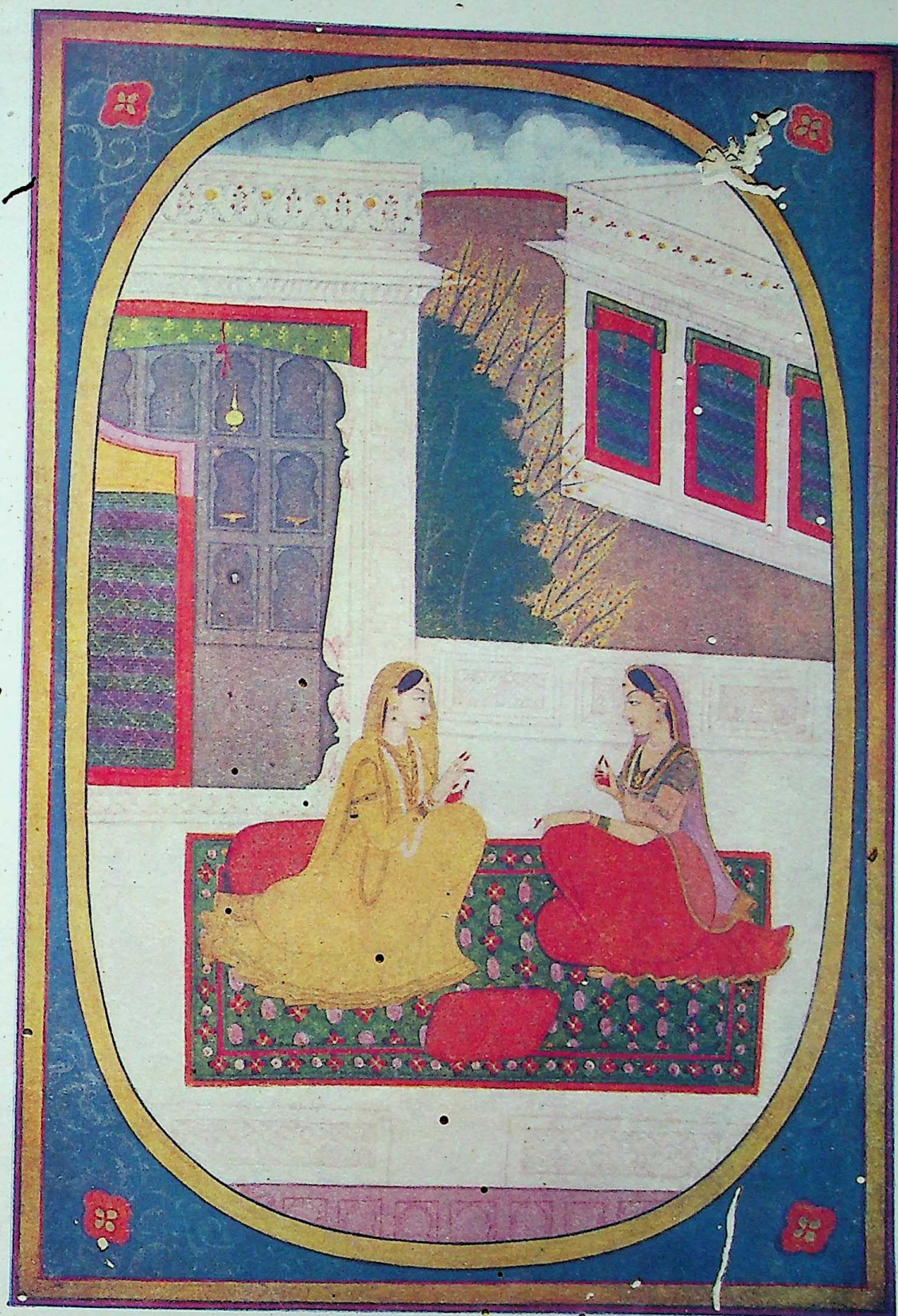
राधा और सखी

पहाड़ी शैली, काँगड़ा, १९वीं श० ई० के बाद
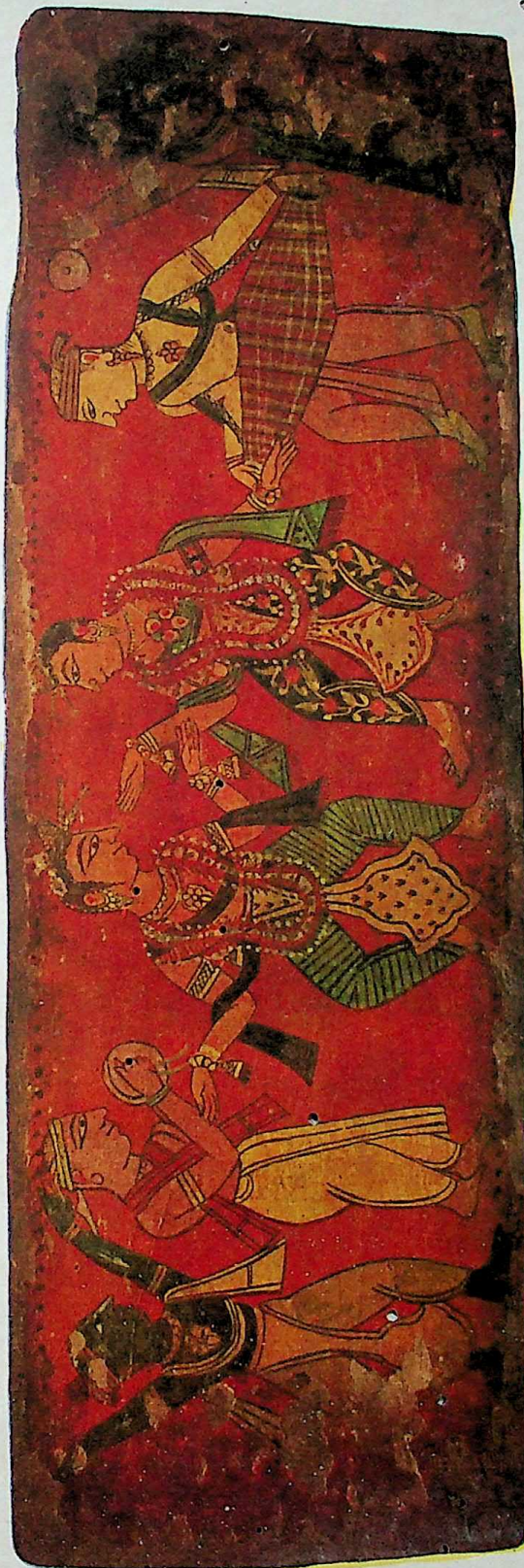
चैतन्य का संकीर्तन (लकड़ी का पुस्तक-वेष्ठन)
बंगाल शैली, १८वीं श० ई०
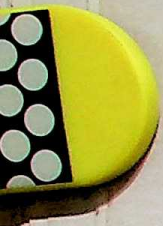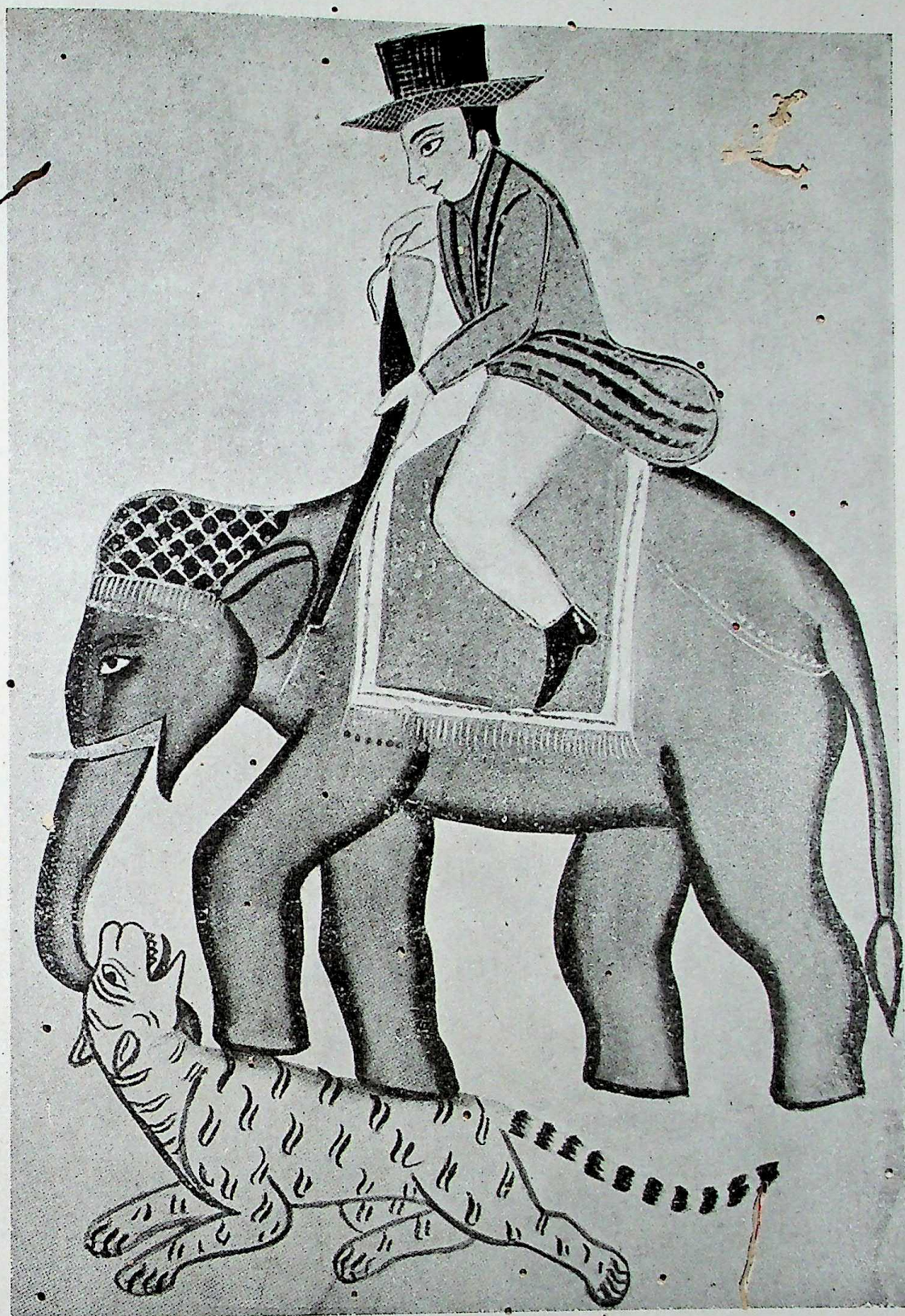
हाथी पर सवार एक अंग्रेज़
बाज़ार शैली, १८३० ई०

संगीतज्ञ

कालीघाट, १८४५ ई०
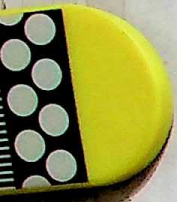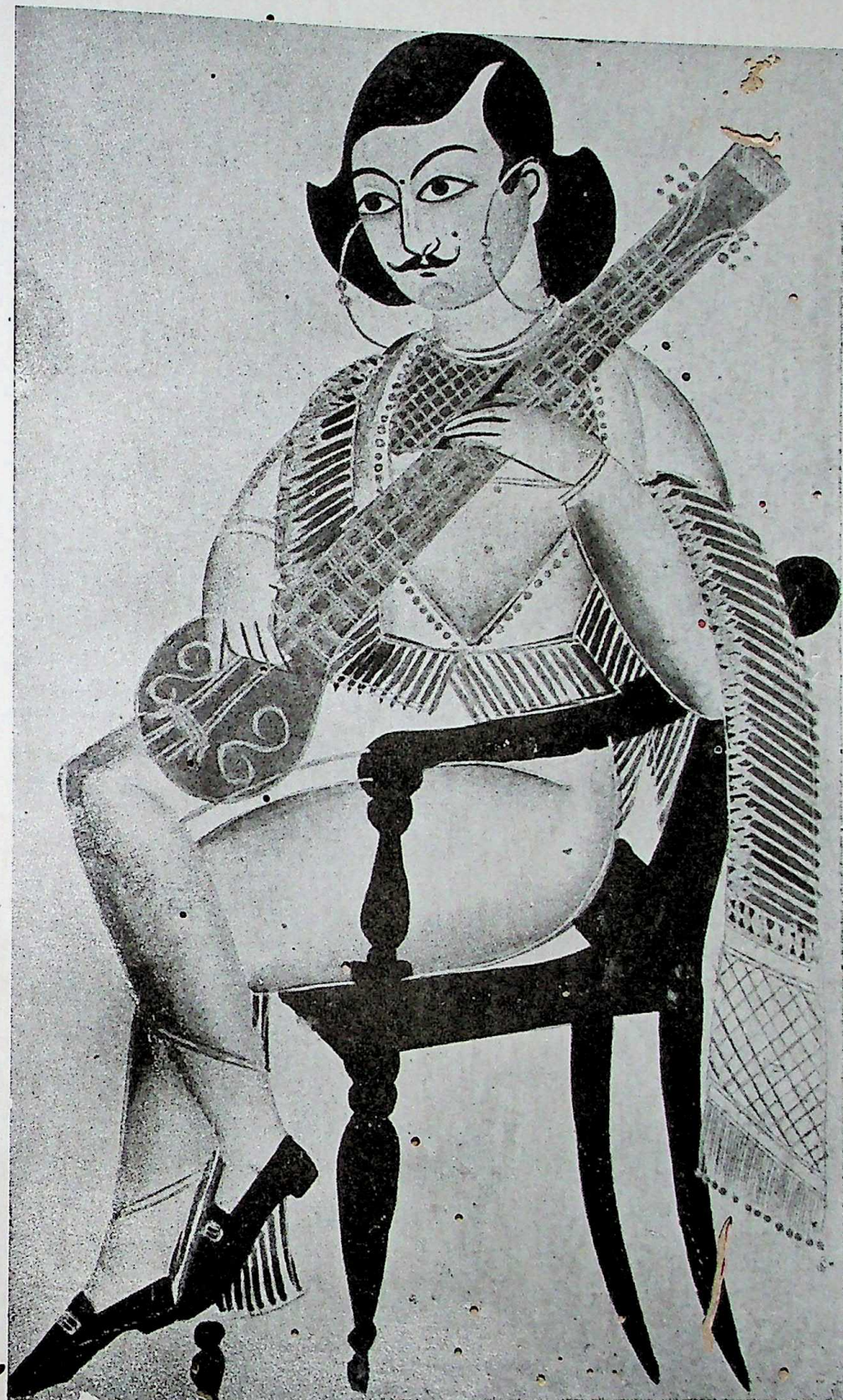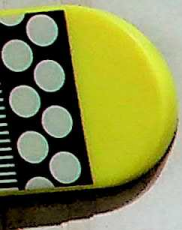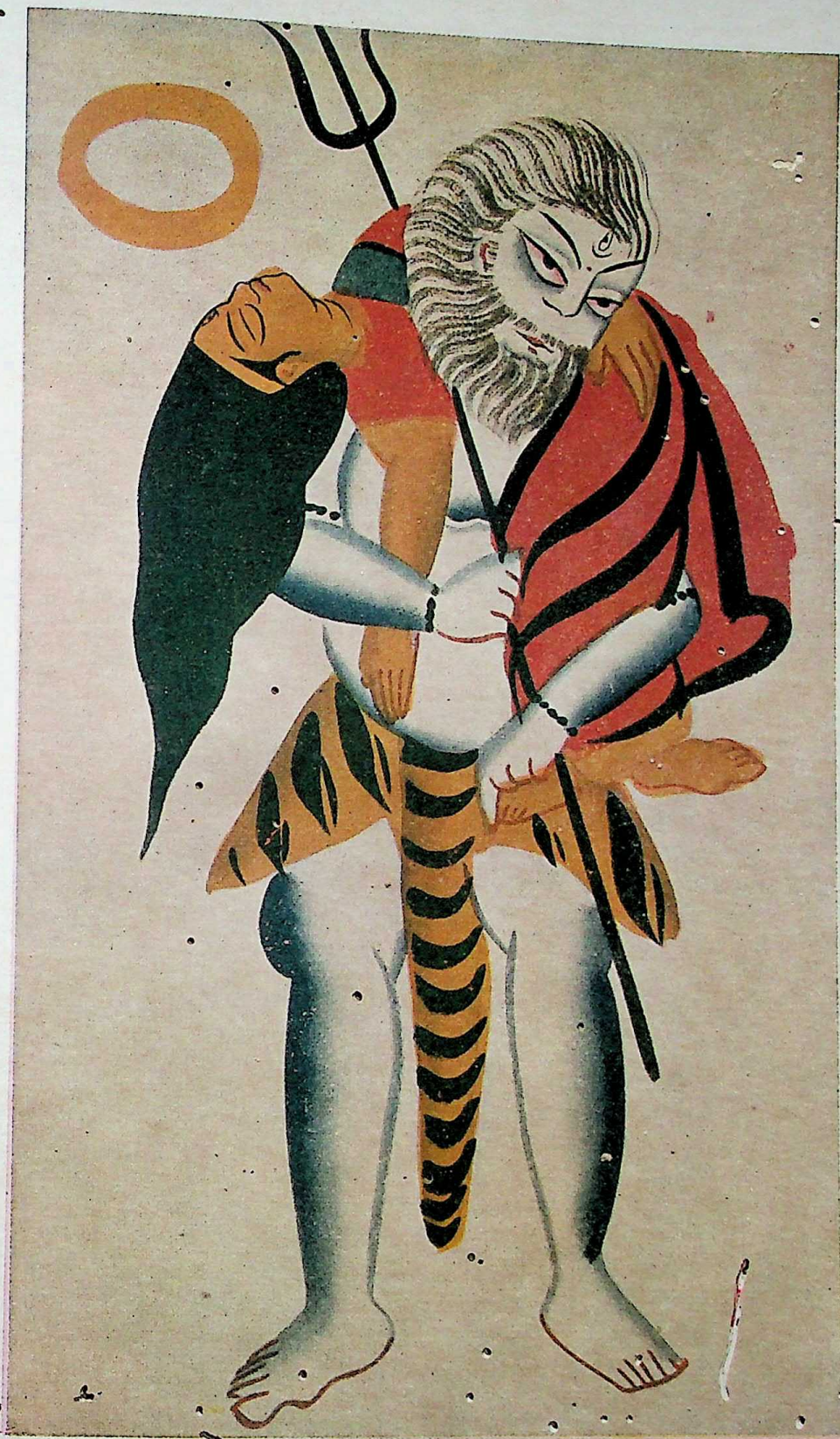
शिव और सती

कालीघाट १८६० ई० के लगभग
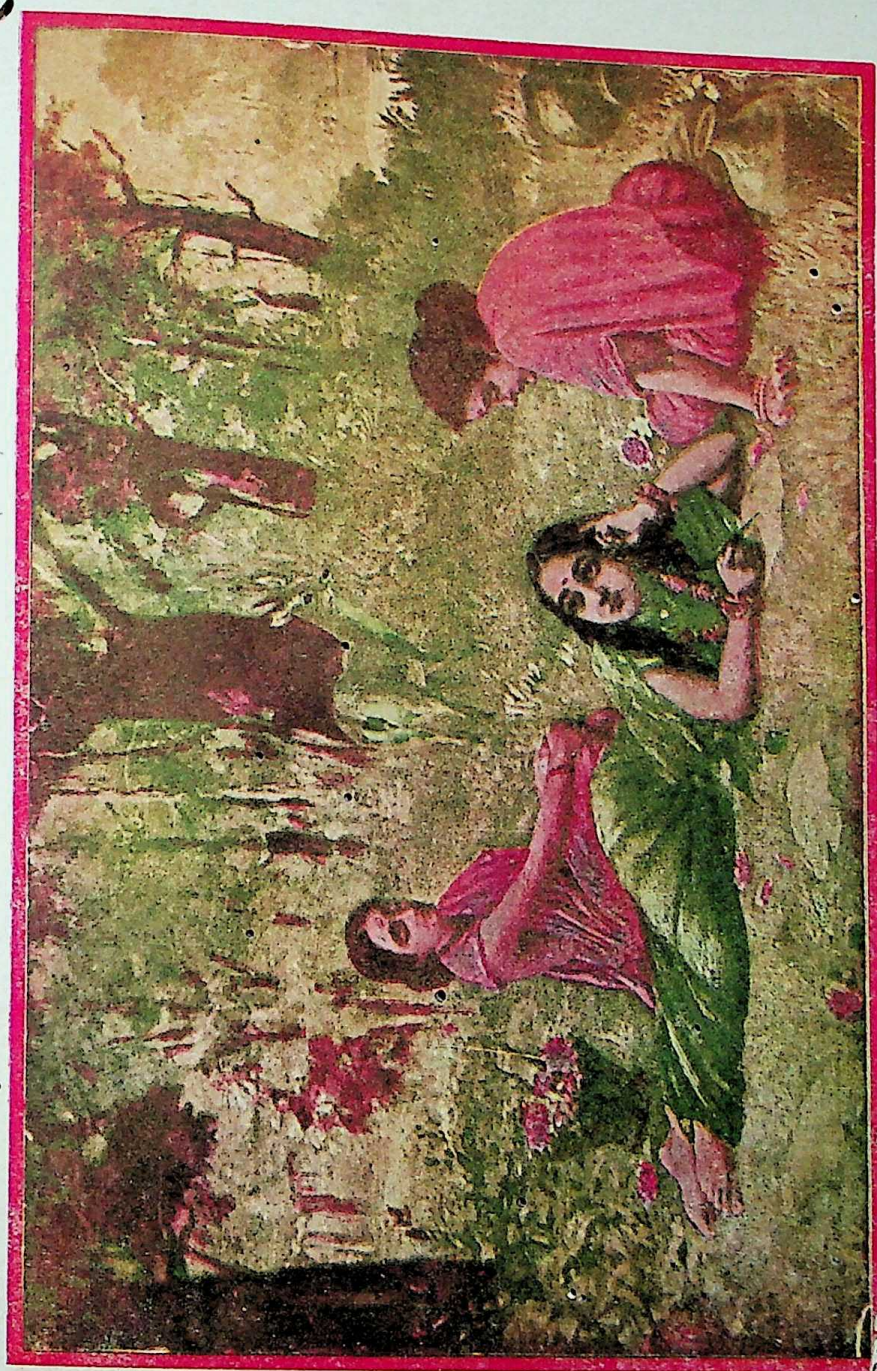
शकुन्तला का पत्र-लेखन
चित्रकार——राजा रवि वर्मा

परशुराम
राजा रविवर्मा, १९०८ ई०

भारतमाता
चित्रकार—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर
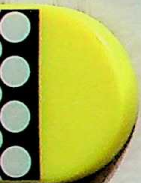
कल्कि अवतार

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

नारी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर
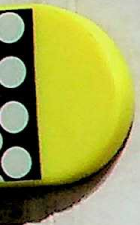
उड़ीसा की एक दुकान
नन्दलाल बसु

उडकट
जगदीश मित्तल
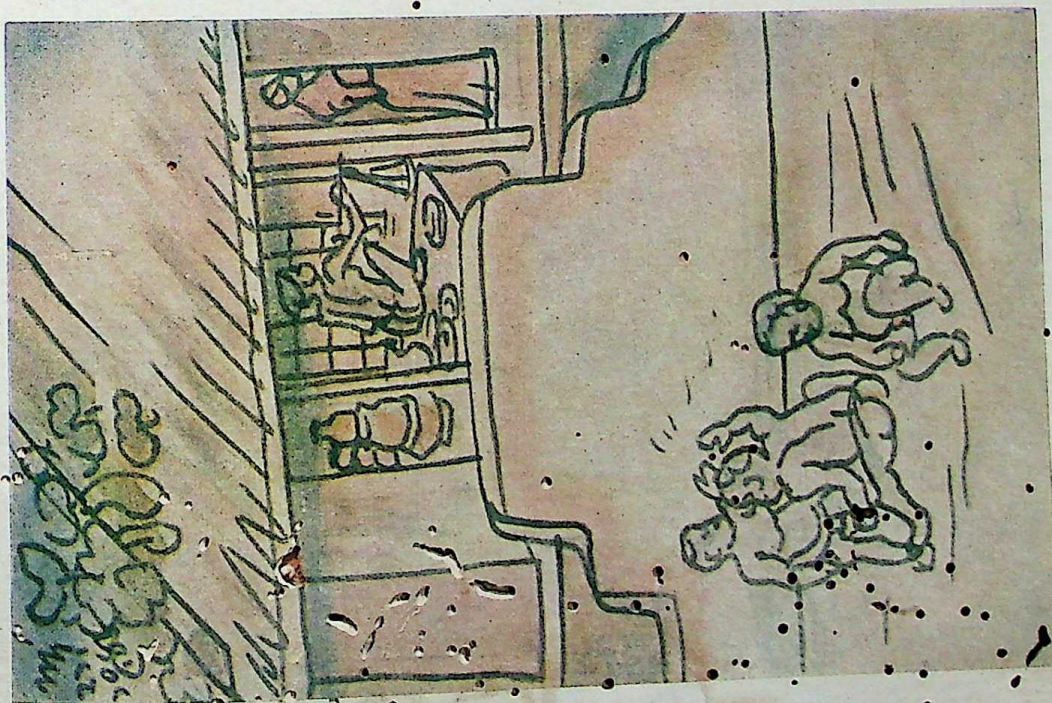
नैपाली हाट जलीय चित्र ११।"×७।।" १९४९ ई०
बिनोदबिहारी मुकर्जी

सहअस्तित्व

असितकुमार हालदार, १९५७ ई०

हुक्का-पीते.
सुधीर खास्तगीर, १९५९ ई०
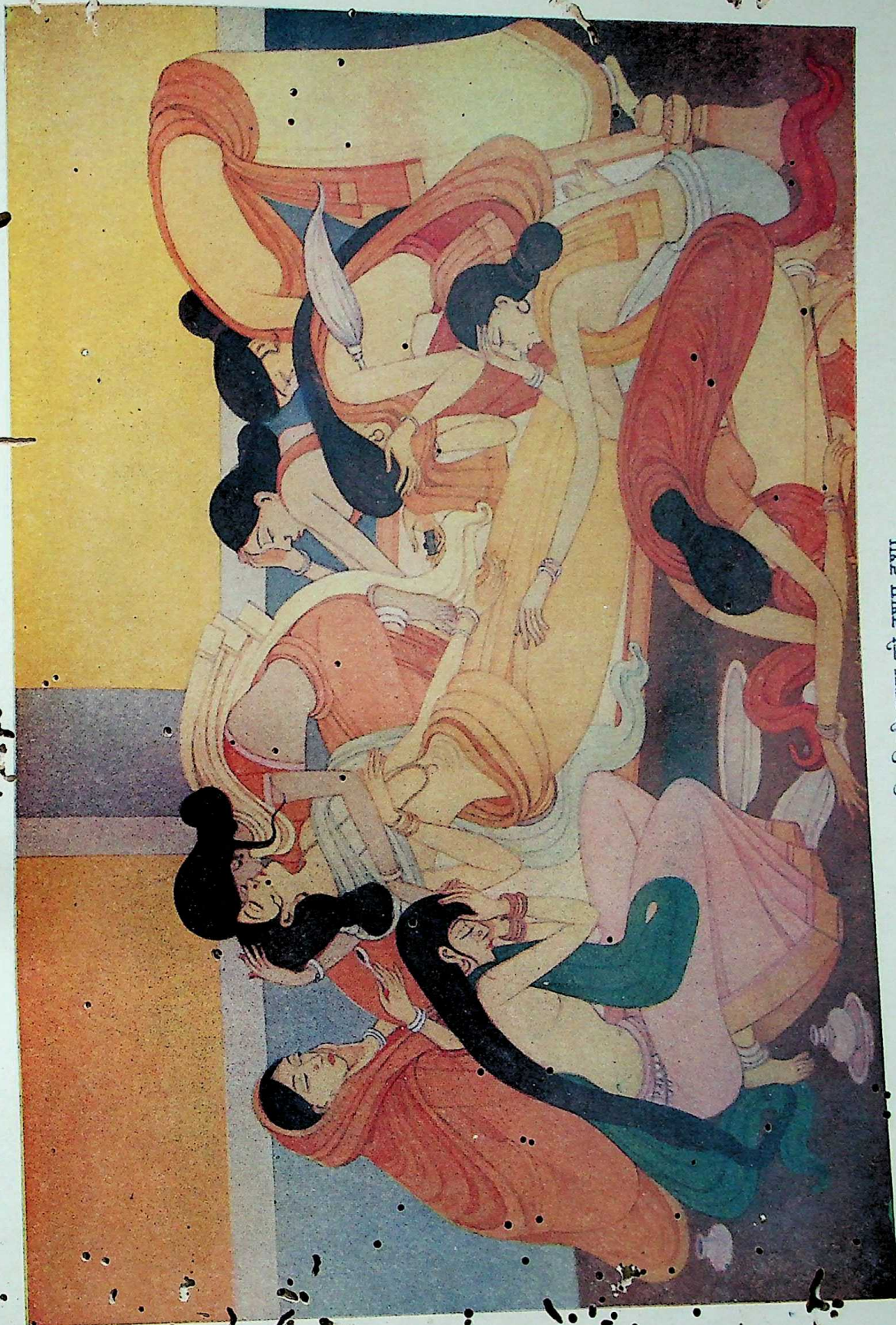
विरहिणी राधा की दशम दशा
क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, १९५० ई०

ढोलकिया (जलीय चित्र १८"×१०")
मक़बल फ़िदा हुसैन, १९५३ ई०

गाँव

—रज़ा

कैफ़े
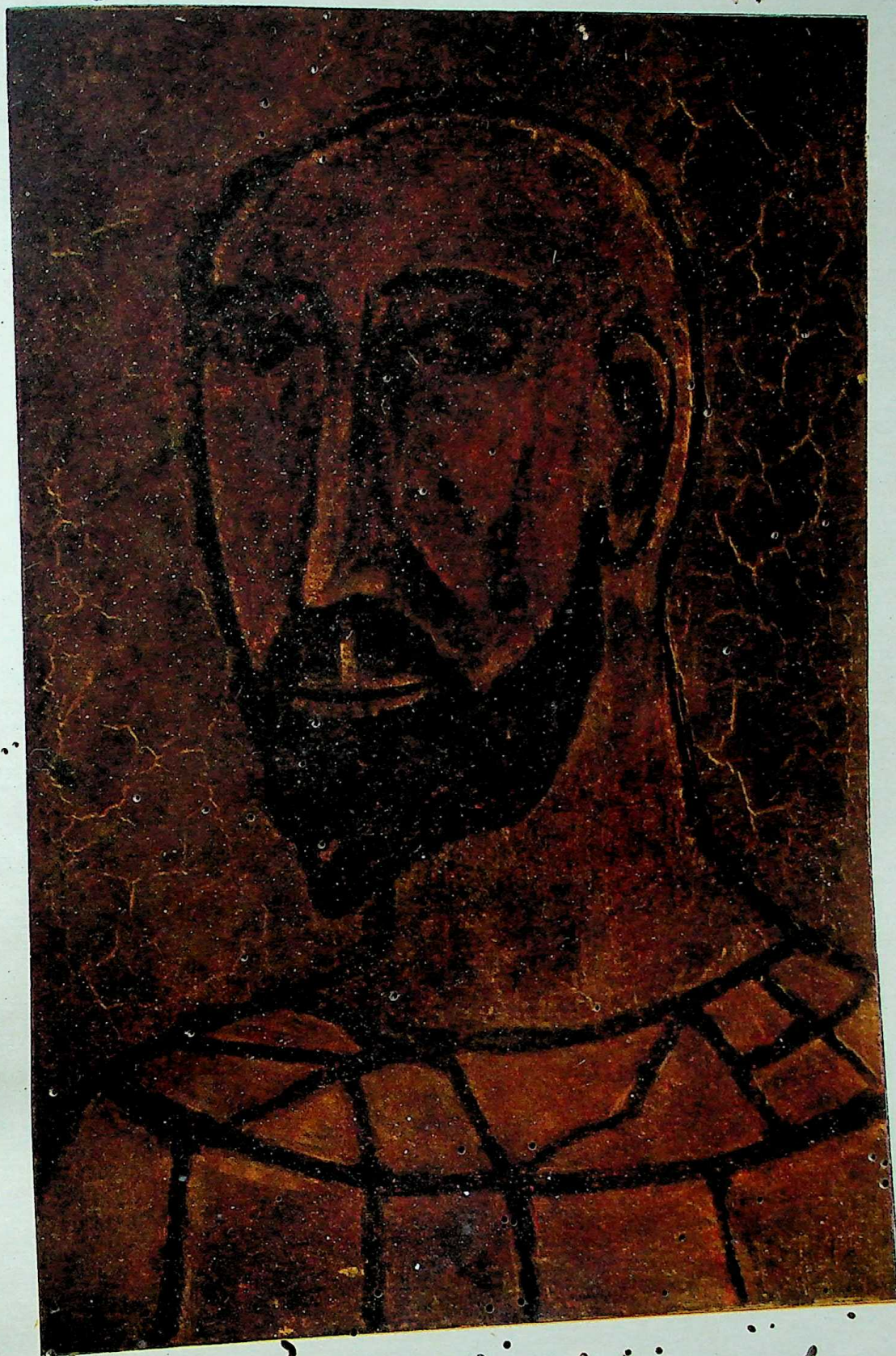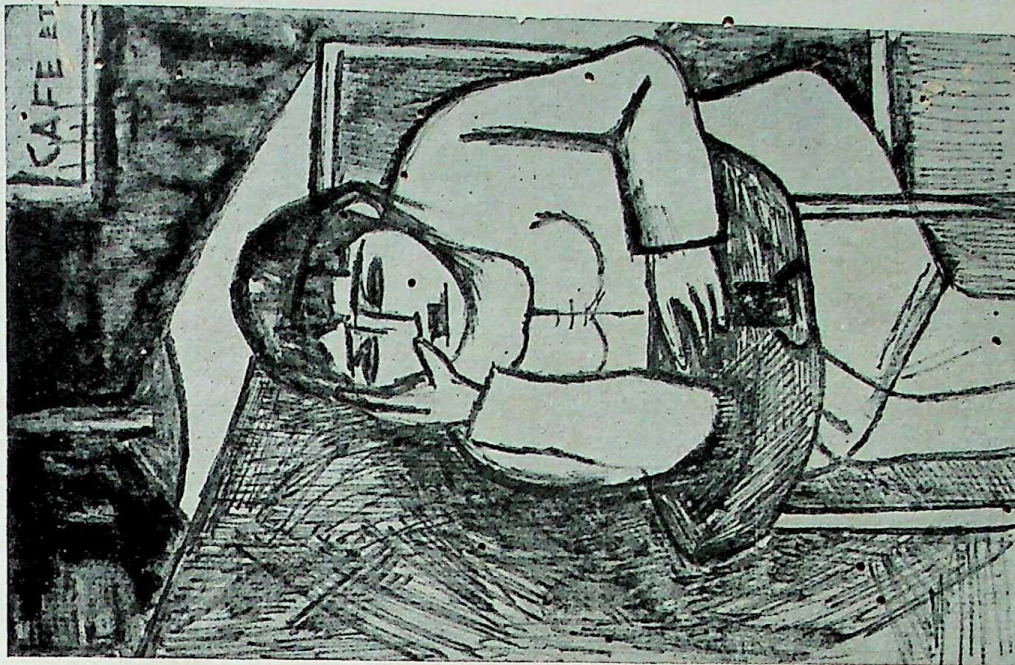
—रामकुमार
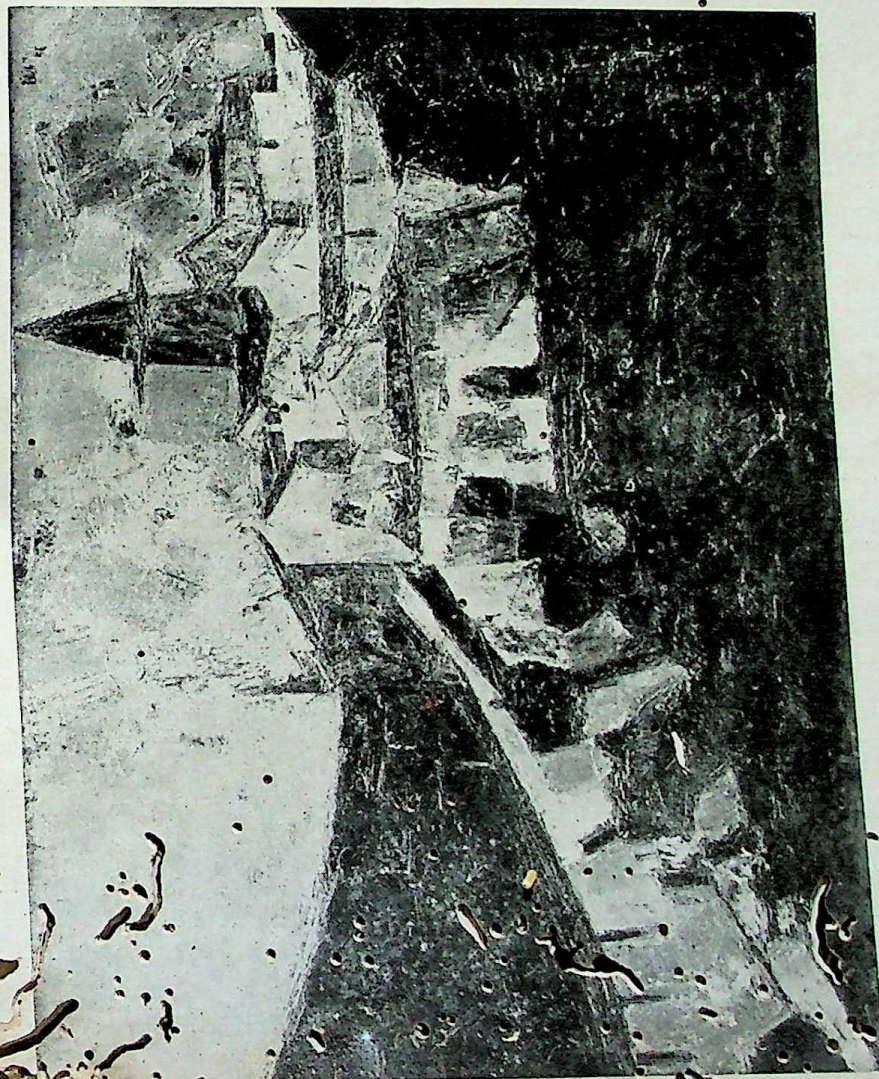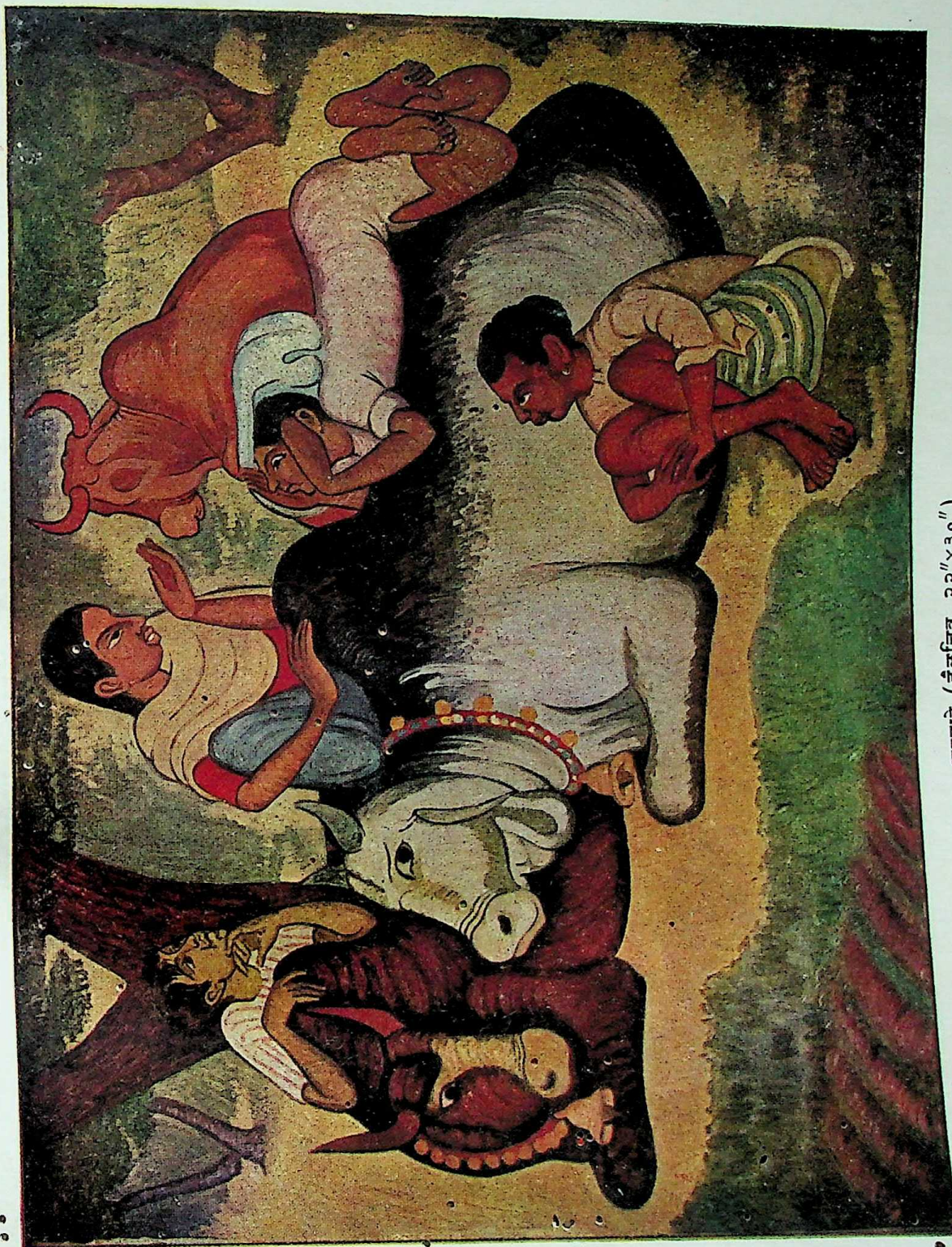
चरवाहे (तैलचित्र, २२"×३०")
प्राणनाथ मागो, १९५२ ई०
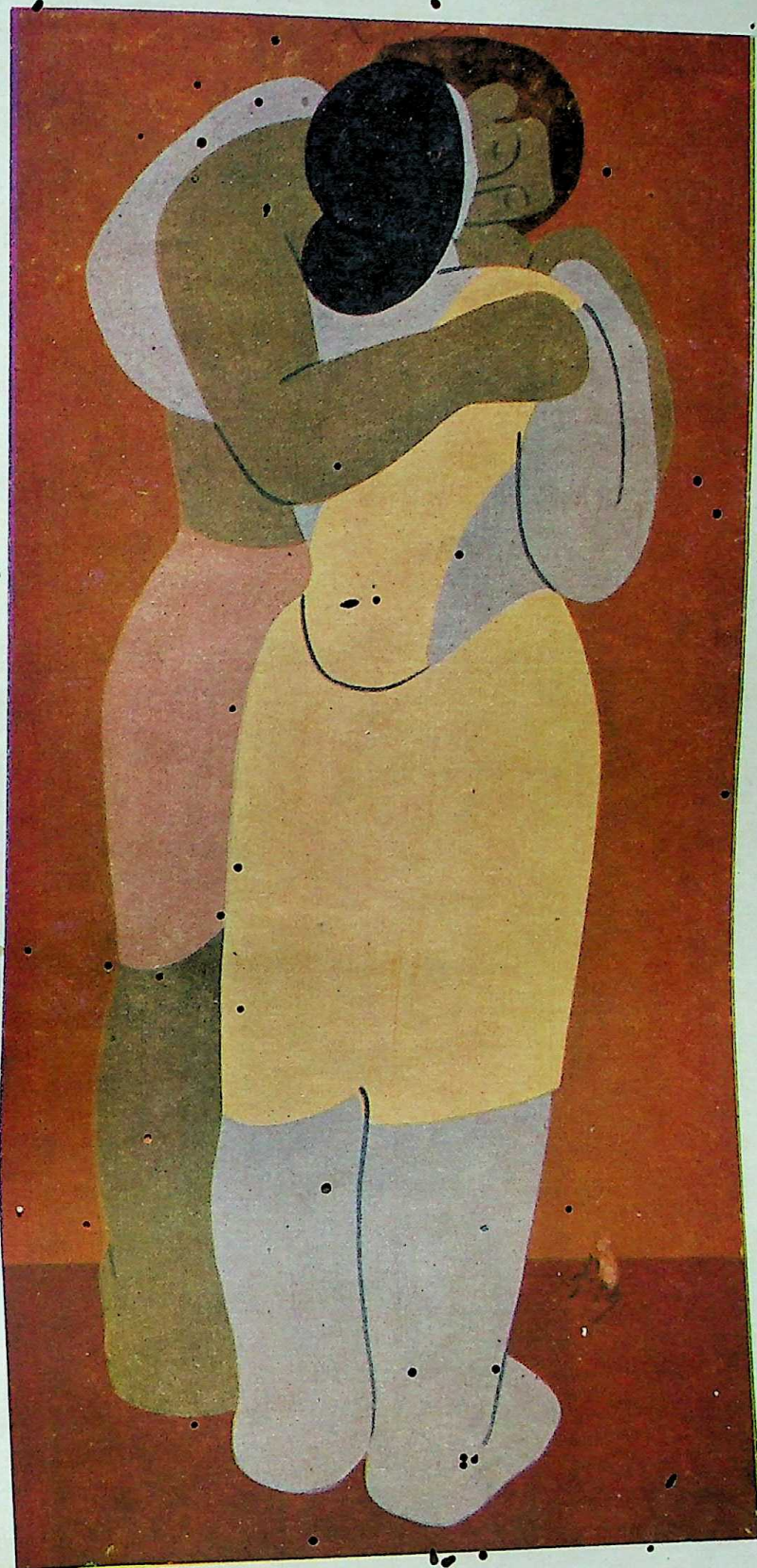
चुम्बन (टेम्परा)
प्रानकृष्ण पाल (१९१५ ई०)

बिनाई
दिनकर कौशिक